THE

CHOWKHAMBA RASHTRABHASHA SERIES

9

*****

BHĀRATĪYA SAṂGĪTA KĀ ITIHĀSA

(The History of Indian Music from Vedic Period to Gupta Period.)

By

DR. ŚARACCANDRA ŚRĪDHARA PARĀÑJAPE

M. A. (Sanskrit, Hindi), Ph. D., LL. B., B. Mus. (Instr.),

Principal, Sanskrit Degree College, Rewa.

THE

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

VARANASI-1 (India)

1969

स्व० पितृपाद

प्रो० श्री० वि० परांजपे जी

के

पुण्यचरणों

में

भूमिका

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्राचीन भारतीय संगीत का प्रमाणबद्ध इतिहास—वैदिककाल से लेकर गुप्त काल तक—प्रस्तुत किया गया है। यह ग्रन्थ अखिल भारतीय संगीत संमेलनों में समय-समय पर मान्य शोध-निबंधों का परिवर्द्धित रूप है तथा आगरा विश्वविद्यालय के द्वारा पी-एच. डी. (संस्कृत) के लिए मान्य किया जा चुका है।

विश्वशान्ति के हेतु किये जाने वाले प्रयासों में सांस्कृतिक अनुष्ठानों का सर्वोपरि महत्त्व सर्वजनस्वीकृत है। इन सांस्कृतिक कृतियों में प्राचीन कला तथा साहित्य का प्रमाणबद्ध इतिहास एक निजी महत्त्व रखता है। अतीत काल से लेकर अनेक शताब्दियों तक कला के क्षेत्र में विभिन्न प्रदेशों में जो आदान-प्रदान प्रचलित रहा, उसका कितना महत्त्व सांस्कृतिक सम्बन्ध-सूत्रों की स्थापना के लिए है, यह तथ्य विद्वज्जनों से प्रच्छन्न नहीं है। जागतिक संगीत में भारतीय संगीत का स्थान प्राचीनतम प्रणालियों में से अन्यतम है। इसमें उपलब्ध सामग्री न केवल प्राचीनता के कारण अमूल्य है, अपितु जागतिक संगीत के इतिहास-निर्माण के लिए नितान्त उपादेय है। संस्कृत भाषा का जो स्थान तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत है, वही स्थान भारतीय संगीत का तुलनात्मक संगीत-विज्ञान में है, यह कथन अत्युक्तिपूर्ण न होगा। भारतीय तथा भारतेतर संगीत के तुलनात्मक अनुसन्धान से विश्व की प्राचीनतम संगीत-प्रणालियों में ऐसे सम्बन्ध-सूत्रों का अन्वेषण किया जा सकता है, जो इन देशों के सांस्कृतिक सख्य की स्थापना कर सकते हैं। यह उपक्रम तभी सम्भाव्य हो सकता है जब हमारे देश के प्राचीन संगीत के अधिकृत इतिहास का निर्माण किया जाय।

इसी दृष्टिकोण से भारतीय संगीत के महत्त्वपूर्ण कालखण्ड के इतिहास का उद्घाटन संस्कृत साहित्य के माध्यम से करने का प्रयास प्रस्तुत प्रबन्ध में लेखक ने किया है। प्रबन्ध की मौलिकता इसीमें है कि इस कालखण्ड का मौलिक अध्ययन संस्कृत साहित्य के आधार पर अधुना तक नहीं हुआ है। जो कुछ लेखन इस विषय पर होता रहा, विकीर्ण रूप में तथा अनूदित साहित्य के आश्रय से हुआ। भरत-संगीत जैसे विषय पर विगत

प्रकाशक : चौ
मुद्रक : विद
संस्करण : प्रथ
मूल्य : रु०

कुछ वर्षों से कुछ चिन्तन-लेखन अवश्य हुआ, किन्तु वह टीकाकारों के आश्रय से तथा आधुनिक संगीत के दृष्टिकोण से होता रहा। लेखक का दृष्टिकोण इससे विभिन्न रहा है। लेखक की विनम्र सम्मति में काल की दृष्टि से अत्यन्त परवर्ती ग्रन्थों से प्राचीन संगीत-ग्रन्थों की मान्यताओं को हृदयंगम नहीं किया जा सकता, आधुनिक संगीत के मापदण्डों से उसके मूल्यांकन की बात तो दूर ही रही। इस दृष्टि से इन प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन प्रस्तुत लेखक ने उन्हीं ग्रन्थों के माध्यम से किया है और केवल निष्कर्ष-पुष्टि तथा परंपरा की अक्षुण्णता को निर्दिष्ट करने के लिए पश्चात्कालीन टीकाकारों का आश्रय लिया है। लेखक का प्रयास प्रायः एतद्विषयक समग्र सामग्री को सामने रख कर निष्कर्ष निकालने की ओर रहा है। इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि प्रमाण-वचनों को प्रबन्ध में अवतरित किया जाय, ताकि निष्कर्ष की परीक्षा के लिए निकष तत्काल सुलभ हो। सन्दर्भ तथा प्रमाणों का सम्पूर्ण प्रस्तुतीकरण (Documentation) प्रस्तुत प्रबन्ध की विशेषता है।

प्रबन्ध-रचना में सब से बड़ी कठिनाई सामग्री (Data) के संकलन की रही है। प्रबन्ध के लिए निर्धारित कालखण्ड में प्रत्यक्ष संगीत के सम्बन्ध में केवल दो-तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं। संगीत के ऐतिहासिक विकासक्रम के अध्ययन के लिए यह ग्रन्थ कथमपि पर्याप्त नहीं—यह कहने की आवश्यकता नहीं। अत एव इस कार्य के समुचित संपादन के लिए प्राचीन संस्कृत, पाली तथा अपभ्रंश ग्रन्थों के साथ ही तामिल ग्रन्थों के शोधपूर्वक संकलन की आवश्यकता रही है।

प्रबन्ध में जहां-कहीं स्वरों के मन्द्रादि स्थान तथा कोमल आदि विकृतियों के अंकन की आवश्यकता रही, पं० भातखण्डे की स्वरांकन-प्रणाली का आश्रय लिया गया है।

प्रबन्ध-रचना के लिए राष्ट्रभाषा का प्रयोग लेखक ने बुद्धिपूर्वक किया है। उद्देश्य यह कि हिन्दी के भारती-भण्डार की श्रीवृद्धि के साथ संगीत के जगत् में इसका अधिकाधिक मूल्यांकन सम्भव हो सके। अंग्रेजी में निबद्ध करने पर उसका उपयोग केवल पाश्चात्त्यभाषाविदों तक एवं ग्रन्थालयों तक सीमित रहता तथा प्रत्यक्ष संगीत का अध्ययन-अध्यापन करने वाले विशाल वर्ग के लिए वह अगम्य होता।

प्रस्तुत विषय के अध्ययन में मल्लिनाथ के निम्न आदर्श का अवलम्बन किया गया है—'नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते'। संस्कृत साहित्य

तथा अन्य स्रोतों से संकलित सामग्री की प्रामाणिकता का पर्याप्त ध्यान रखा गया है तथा प्रमाणों का उपयोग निष्पक्ष निष्कर्ष निकालने की ओर किया गया है। किसी भी पक्ष में यहाँ प्रमाणों का अभाव अनुभूत हुआ, निर्णयात्मक निष्कर्ष प्रस्तुत करने का साहस लेखक ने नहीं किया है। अधिक एवं अखण्डनीय प्रमाणों के उपलब्ध होने तक ऐसे प्रश्न अनिर्णीत रहे तो आपत्तिजनक नहीं, ऐसी लेखक की विनम्र मान्यता है।

सम्पूर्ण प्रबन्ध को एकादश अध्याओं में विभाजित किया गया है।

अध्याय १ में भारतीय संगीत की व्याख्या जागतिक संगीत की पार्श्वभूमि में प्रस्तुत की गई है तथा अन्य ललितकलाओं के मध्य में उसका स्थान निर्दिष्ट किया गया है। संगीत के उद्गम को स्वतंत्र एवं मौलिक उपपत्ति देते हुए भारतीय संगीत की सनातनता पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

अध्याय २ में प्राग्वैदिक तथा वैदिक युग में उपलब्ध संगीत का मौलिक विवेचन किया गया है। वेदों में उपलब्ध संगीतविषयक तथ्यों के स्पष्टीकरण के लिए उस वेद से सम्बद्ध ब्राह्मण तथा सूत्र साहित्य का आश्रय लिया गया है। इस अध्याय को 'सा' तथा 'रि' नामक दो विभागों में विभाजित किया गया है। 'सा' के अन्तर्गत प्रागैतिहासिक संगीतकला का अध्ययन प्रस्तुत है। 'रि' के अन्तर्गत वैदिक युग के संगीत का सविस्तर विवेचन किया गया है। अध्ययन की सुविधा के किए इस विभाग को तीन खण्डों में विभाजित किया गया है। खण्ड १ में ऋक्, यजु तथा अथर्व में उपलब्ध संगीतविषयक सामग्री का मन्थन किया गया है। खण्ड २ में सामवेद से सम्बद्ध सामग्री का सविस्तर अनुशीलन प्रस्तुत है तथा खण्ड ३ में उपनिषद् तथा शिक्षा-ग्रन्थों में उपलब्ध संगीतविषयक सामग्री का मौलिक संकलन किया गया है।

'महाकाव्यकाल में संगीत' शीर्षक तृतीय अध्याय में रामायण तथा महाभारतकालीन सङ्गीत का विस्तृत विवेचन किया गया है।

अध्याय ४ में 'पाणिनिकालीन सङ्गीत विद्या' के अन्तर्गत ई० पू० ७वीं शताब्दी में उपलब्ध सङ्गीत पर प्रकाश डाला गया है।

अध्याय ५ में बौद्ध तथा जैनों के प्राकृत तथा अपभ्रंश वाङ्मय के आधार पर तत्कालीन संगीतोत्कर्ष का वर्णन किया गया है।

न केवल इस विषय में अनुसन्धान करने के लिए लेखक को प्रेरित किया, अपितु संगीत के क्रियात्मक ज्ञान के लिए सदैव प्रोत्साहित किया। भारतीय संगीत का अनुसन्धान संगीत के क्रियात्मक अध्ययन के बिना कथमपि सम्भाव्य नहीं, यह तथ्य स्वतः सिद्ध है।

लेखक का यह अल्प एवं विनम्र प्रयास मनीषियों के सम्मुख प्रस्तुत है। इसकी सफलता अथवा निष्फलता का निकष वस्तुतः उन्हीं का परितोष है। महाकवि कालिदास के शब्दों में—

'आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।'

इत्यलम्।

श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी
वि० सं० २०२६

—श० श्री० परांजपे

प्रकाशक :
मुद्रक :
संस्करण :
मूल्य :

अध्याय सूची

—›o‹—

विषयानुक्रमणिका

भारतीय संगीत का इतिहास

(वैदिक काल से गुप्तकाल तक)

अध्याय प्रथम

विषय-प्रवेश

संगीत की परिभाषा :—

संगीतरत्नाकर के अनुसार संगीत की परिभाषा निम्नानुसार है—

गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते ॥[1]

अर्थात् संगीत एक अन्विति है, जिसमें गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों का समावेश है। 'संगीत' शब्द में व्यक्तिगत तथा समूहगत दोनों विधियों की अभिव्यंजना स्पष्ट है। इसी कारण व्यक्तिगत गीत, वादन एवं नर्तन के साथ समूह-गान, समूह-वादन तथा समूह-नर्तन का समावेश इसके अन्तर्गत होता है। इसी परिभाषा का अनुसरण प्राचीन काल से लेकर अधुना तक बराबर पाया जाता है।

प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में 'संगीत' का व्युत्पत्तिगत अर्थ 'सम्यक् गीतम्' रहा है। वराहोपनिषद् की निम्न पंक्ति से इसी अर्थ का बोध स्पष्टतः होता है—

'संगीतताललयवाद्यवशं गतापि मौलिस्थकुम्भपरिरक्षणधीर्नटीव' ॥[2]

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'सम्यक् गीतम्' का बोधक होने पर प्रचार के अन्तर्गत 'संगीत' गीत, वाद्य तथा नृत्य के अभिन्न साहचर्य का ज्ञापक रहा है। नाट्य-शास्त्र के अनुसार गीत नाटक के प्रमुख अङ्गों में से अन्यतम है तथा वादन एवं नर्तन दोनों उसके अनुगामी हैं।[3] नाट्य के लिए 'तौर्यत्रिक'[4] संज्ञा का प्रयोग उसके अन्तर्गत इस कला-त्रयी के अभिन्न साहचर्य[5] के कारण है। कालिदास के

---

१. अ० १, २१; तुलनार्थ द्र० 'संगीतमकरन्द', 'संगीतसमयसार', 'संगीत-दर्पण' इत्यादि।

२. द्र० 'ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्', निर्णयसागर प्रति, पृ० ५२९।

३. ना० शा० ४, २६०–६५।

४. द्र० 'अमरकोश', नाट्यवर्ग।

५. संगीतप्राधान्य को लेकर कुछ रूपक-प्रकारों के लिए 'संगीतक' संज्ञा प्राचीन ग्रन्थों में पाई जाती है (द्र० भगवदज्जुकम्, कामसूत्र तथा मालती-माधव)। वररुचिकृत उभयाभिसारिका की निम्न पंक्ति इस दृष्टि से द्रष्टव्य है— "कुसुमपुरपुरन्दरस्य भुवने पुरन्दरविजयं नाम संगीतकं यथारसमभिनेतव्यम्।" (द्र० मंकड कृत 'टाइप्स आफ संस्कृत ड्रामा', पृ० ३५)।

प्रकाशक : चौ
मुद्रक : वि
संस्करण : प्र
मूल्य : रु

मेघदूत में 'संगीतार्थ' के उपादानों में गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों की आवश्यकता निर्दिष्ट है।[१] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में गीत, वाद्य, नृत्य तथा नाट्य का उल्लेख सहचरी कलाओं के रूप में हुआ है।[२] विष्णुधर्मोत्तर पुराण में वाद्य तथा नृत्त को गीत का अनुवर्त्ती माना गया है तथा नृत्तकला के सम्यक् अध्ययन के लिए गीत तथा वाद्य का ज्ञान नितान्त आवश्यक निर्दिष्ट है।[३] बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में 'गन्धव्बवेद' के अन्तर्गत गीत, वादित्त, नच्च अर्थात् नृत्य, नाट्य तथा अक्खानम् अर्थात् कथापठन का समावेश है।[४] समाज, सम्मद जैसे प्राचीन लोकोत्सवों से लेकर अद्यतन लोकोत्सवों तक गीत-वाद्य-नृत्य के साहचर्य की परम्परा बराबर उपलब्ध है। प्राचीन शिल्पों तथा भित्तिचित्रों में इन तीनों का साकार दर्शन उपलब्ध होता है।[५]

इसी परम्परा के आधार पर प्रस्तुत प्रबन्ध में 'संगीत'[६] के अन्तर्गत गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों के विकास की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है।

संगीतकला एवं संगीतशास्त्र :—

संगीत के इतिहास में कला तथा शास्त्र दोनों का विवेचन अभीष्ट है। संगीत कला तथा शास्त्र दोनों है। संगीत का माध्यम नाद है और यही नादात्मक कलाकृति प्रस्तुत करने के लिए तत्सम्बद्ध नियमों का अनुसरण आवश्यक है। नृत्यकला को ललितविज्ञान कह कर कालिदास ने संगीत के द्विविध पक्ष का

---

१. द्र० पूर्वमेघ, ५६।

२. २, २७।

३. ३, ३५।

४. इस सम्बन्ध में सविस्तर विवेचन इसी प्रबन्ध के अ० ५ में किया गया है।

५. द्र० इसी प्रबन्ध के अन्त में सामूहिक संगीत की चित्राकृतियां।

६. प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में 'संगीत' तथा 'संगीतक' शब्दों का प्रयोग पर्यायवाचक शब्दों के रूप में किया गया है (द्र० ना० शा० ३२, ४६१–४६४ ; ३३, १७३ तथा ३५, २७)।

संगीत के लिए पाश्चात्य देशों में 'म्यूजिक' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'म्यूजिक' के अन्तर्गत वस्तुत: उन सभी कलाओं का समावेश है, जिसकी अधिष्ठात्री देवता 'म्यूज' है। इस दृष्टि से काव्य तथा अन्य कलाओं का समावेश उसमें होता है। प्रचार में 'संगीत' के अन्तर्गत केवल गायन एवं वादन का अन्तर्भाव है तथा नृत्य उससे पृथक् ललितकला मानी जाती है (द्र० 'न्यू स्टैण्डर्ड एनसायक्लोपीडिया एण्ड वर्ल्ड एटलास', पृ० ९११)।

संकेत किया है। संगीतकला मुख्यतः प्रयोगात्मक कला है, तथापि उसका विज्ञान-पक्ष भी उपेक्षणीय नहीं।[1]

शास्त्र से अभिप्राय अध्येय विषय की वैज्ञानिक व्यवस्था से है, जिसके माध्यम से अनुशासन के साथ शिक्षा की सुविधा सम्पन्न हो सके। शास्त्र का कार्य निगमात्मक प्रणाली से सिद्धान्तों की स्थापना कर कला को स्थायित्व तथा प्रतिष्ठा प्रदान करना है। लक्ष्य तथा लक्षण में सामञ्जस्य-स्थापन शास्त्र का प्रधान उद्देश्य है। शास्त्र से अभिप्राय केवल नीरस एवं निष्प्राण नियमों के तार्किक प्रतिपादन मात्र से नहीं, अपि तु कला की चिरन्तनता बढ़ाने वाले तत्व-चिन्तन से है।

कला तथा शास्त्र के विरोध की कल्पना कदापि ग्राह्य नहीं हो सकती। शास्त्र कला के विपरीत कोई वस्तु नहीं, अपि तु कला के तरल तत्वों को स्थायित्व एवं प्रतिष्ठा प्रदान करने का साधन है। कला पुरोगामी होने के कारण देशकालानुसार नवनवीन तत्त्वों को आत्मसात् करती है तथा जीर्ण एवं पुरातन संकेतों को दूर कर प्रत्यक्ष जीवन से जीवन-तत्व ग्रहण करती है। 'नादरूपो जनार्दनः'—कला का बीजमंत्र है। कला की इसी प्रवाहिता को संयत रखने का कार्य शास्त्र का है। कला का वही प्रवाहित्व शास्त्रसम्मत हो सकता है, जो कला के मौलिक सिद्धान्तों के विपरीत न होते हुए जनरुचि के अनुकूल हो। संगीतरत्नाकर के शब्दों में—

> यद्वा लक्ष्यप्रधानानि शास्त्राण्येतानि मन्वते।
> तस्माल्लक्ष्यविरुद्धं यत्तच्छास्त्रं नेदमन्यथा ॥[2]

कला, चाहे अभिजात अर्थात् क्लासिकल हो अथवा तद्विपरीत, दोनों के अपने नियम होते हैं, जो कला के मूलभूत स्वरूप की सुरक्षा में सहायक होते हैं।

मतंग ने देशी संगीत का विवरण करते हुए निबद्ध तथा अनिबद्ध द्विविध मार्ग का संकेत किया है। निबद्ध 'देशी' वह है, जो आलापादि नियमों से नियन्त्रित रहता है तथा अनिबद्ध 'देशी' वह है जिसमें गान नियमों से नियन्त्रित न होकर स्वच्छन्द रूप से किया जाता है—

> निबद्धश्चानिबद्धश्च मार्गोऽयं द्विविधो मतः।
> आलापादिनिबन्धो यः स च मार्गो प्रकीर्तितः ॥[3]

इनमें से प्रथम को 'शास्त्रीय' अर्थात् क्लासिकल कहा जाता है तथा दूसरा

---

१. द्र० 'मालविकाग्निमित्र', अं० १ तथा २।

२. १, २२, २४; तुलनार्थ द्र० 'संगीतरत्नाकर', प्रबन्धाध्याय, १–३।

३. बृह० श्लो० १४।

विशुद्ध सरल अर्थात् 'लाइट म्यूजिक' के नाम से व्यवहृत है, जो सदैव 'कामचार-प्रवर्तित' हुआ करता है—

'देशित्वं च तत्तद्देशमनुजमनोरंजनैकफलत्वेन कामचारप्रवर्तितम् ।'[1]

संगीतकला का प्रवाह सदैव दो धाराओं से प्रवहित होता रहा है—१. मार्ग तथा २. देशी। प्रथम में शास्त्र के अनुगमन के द्वारा कला की परिष्कृतता तथा अभिजातता पर ध्यान दिया जाता है, दूसरे में लोकाभिरुचि नियामक तत्व होता है तथा शास्त्रपक्ष गौण होता है। प्रथम के लिए विशिष्ट संस्कार एवं शिक्षा-दीक्षा की आवश्यकता होती है, दूसरी सम्पर्क तथा सहज संस्कारों से प्रसूत होकर सर्वजनबोध्य होती है। दोनों में कलाकार की सौन्दर्यानुभूति का विशिष्ट स्थान रहता है, केवल अन्तर यह है कि 'मार्ग' में वह नियमों की सीमा में आबद्ध रहती है तथा 'देशी' में उसकी अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत स्वच्छन्द रूप से होती है।

यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि मार्ग तथा देशी दोनों परस्पर सापेक्ष संज्ञाएँ हैं। प्रत्येक कला जनजीवन से सम्बद्ध होने के कारण उसका देशीत्व निर्विवाद है। कालक्रम से जब उसका अपना व्याकरण बन जाता है, वही कला 'मार्ग' कहलाती है। साम तथा गान्धर्व दोनों का मूलाधार लोकसंगीत रहा है और इस दृष्टिकोण से दोनों मूलतः देशी संगीत का प्रतिनिधित्व करते हैं। संस्कार एवं परिष्कार से संयुक्त होने पर इसी का अन्तर्भाव 'मार्ग' में किया जाता रहा है। सामवेद भारतीय संगीतकला का प्राचीनतम निदर्शन है। इसका स्रोत तत्कालीन लोकसंगीत ही रहा है तथापि यज्ञयाग जैसे धार्मिक समारोहों से तथा समाज के उच्च वर्ग से सम्बद्ध होने के कारण उसमें संस्कार तथा नियमबद्धता की मात्रा बढ़ गई और उसे शिष्टसम्मत मार्ग संगीत का स्वरूप प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त लौकिक समारोहों पर गीत, वाद्य तथा नृत्य का आयोजन बराबर किया जाता रहा। यह संगीत 'देशी संगीत' रहा हो, ऐसी यथार्थ कल्पना की जा सकती है। रामायण में लवकुश के द्वारा श्रीरामचन्द्र के समक्ष 'मार्ग' प्रणाली से गान किए जाने का उल्लेख है।[2] यद्यपि मार्ग तथा देशी का स्पष्ट विभेद रामायणकाल में निरूपित नहीं, तथापि 'मार्ग' से तात्पर्य शिष्टजनसम्मत प्रणाली से रहा हो ऐसा प्रबल अनुमान किया जा सकता है।

संगीत का उद्गम :—

पुराविदों के अनुसार संगीतकला तथा शास्त्र का उद्भव स्वयम्भू परमेश्वर से हुआ है। भारतीय परम्परा के अनुसार नटराज शिव नृत्यकला के आदि स्रोत

१. द्र० संगीतरत्नाकर पर कल्लिनाथ व्याख्या।

२. विस्तार के लिये द्र० इसी प्रबन्ध का अ० ३–'महाकाव्यकाल में संगीत'।

हैं तथा भगवती सरस्वती गीत तथा वाद्यकला की प्रवर्तिका हैं। दत्तिल के अनुसार गान्धर्व के आदि प्रवचनकार स्वयम्भू ब्रह्मा हैं।[1] नाट्यशास्त्र के अनुसार गान्धर्व के तत्वों को समाहित करने वाला नाट्यवेद स्वयं ब्रह्मा की रचना है (१, १६–१८)। नृत्यकला का ताण्डव तथा लास्य रूप भगवान् शिव तथा पार्वती की देन माना जाता है।

अन्य परम्परा के अनुसार संगीत का उद्गम पशु-पक्षियों की ध्वनियों से हुआ है। मतंग की बृहद्देशी में कोहल के नाम से निम्न श्लोक[2] उपलब्ध हैं—

षड्जं वदति मयूर ऋषभं चातको वदेत्।
अजा वदति गान्धारं क्रौञ्चो वदति मध्यमम्॥
पुष्पसाधारणे काले कोकिलः पंचमो वदेत्।
प्राव्रृट्काले तु सम्प्राप्ते धैवतं दर्दुरो वदेत्॥
सर्वदा च तथा देवि निषादं वदते गजः॥

प्रस्तुत लेखक की विनम्र सम्मति से यह सिद्धान्त आंशिक रूप से सत्य माना जा सकता है। अपने पार्श्वस्थ पशु तथा प्रकृति की विभिन्न ध्वनियों को सुन कर तथा उनकी मञ्जुमञ्जुलता को अनुभूत कर स्वयं ऐसी ही ध्वनियों को गाने की प्रेरणा आदिम मानव को हुई हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। आदिम जातियों के नृत्यों में अङ्गवलन तथा वेशभूषा प्राकृतिक पृष्ठभूमि से प्रभावित होती है, यह तथ्य अनुभवजन्य है। आदिम जातियों के वाद्य अपने आकार-प्रकार में पार्श्वस्थ जीवन का अनुकरण करते दिखाई देते हैं। वंश अथवा वेणु की कल्पना उसने सछिद्र वंशवृक्षों से उद्भूत होने वाली ध्वनि को सुनकर की हो, इसमें सन्देहावकाश नहीं।[3] उसी प्रकार मृगया तथा युद्ध के समय पर धनुष की प्रत्यञ्चा से उद्भूत होने वाली टंकार को सुनकर तन्तुवाद्य की परिकल्पना उसने की हो, ऐसी यथार्थ कल्पना की जा सकती है। इसके समर्थन में वैदिक तथा रामायणकालीन वाङ्मय में वीणा के लिए प्रयुक्त होने वाले 'ज्या' शब्द का तथा प्राचीन तामिल साहित्य में इसी के समानार्थक 'याझ' शब्द का उल्लेख किया जा सकता है।[4]

---

१. द० २।

२. बृह० पृ० १२–१३; तुलनार्थ द्र० ना० शिक्षा १, ५, ४–५।

३. प्रकृति से उत्पन्न होने वाले सहज संगीत का वर्णन कालिदास आदि की कृतियों में यत्र तत्र पाया जाता है।

४. द्र० 'रामायण' युद्धकाण्ड, २४, ४२–४३ तथा ५२, २४।

भारत के भाजा, भरहुत, अमरावती आदि शिल्पों तथा जावा जैसे बृहद् भारत के प्रदेशों में धनुषाकृति वीणा के चित्र उपलब्ध होते हैं। इनमें तन्त्री के

नाट्यशास्त्र के अनुसार मृदंग वाद्य की परिकल्पना पत्तों पर गिरने वाले जल-बिन्दुओं के आघात-शब्दों से हुई है।[1]

नृत्य तथा वाद्य के सदृश कण्ठ-संगीत की प्रेरणा आदि मानव को प्रकृति से उपलब्ध हुई, ऐसी कल्पना की जा सकती है। वहीं से ध्वनिमूलक उपादानों को ग्रहण कर परिष्कृत संगीत का निर्माण मानवकण्ठ से सम्पन्न हुआ। मानव का कण्ठ स्वयं एक वाद्य है, जो स्वर की सूक्ष्मताओं को आत्मसात् करने की क्षमता रखता है। प्रकृति के चिरन्तन स्रोत से ऐसी शारीरी वीणा के माध्यम से संगीत का सम्पूर्ण विकास हो गया हो, यह कल्पना तर्कसंगत प्रतीत होती है। संगीत पूर्णांशेन मानवनिर्मित कला है, मानव की तीव्रानुभूतियों की अभिव्यक्ति इसकी जननी रही है तथा मानव-मन के विकास के साथ ही इस कला का विकास होता रहा है।

संगीत, चाहे भारतीय हो अथवा पाश्चात्य, आदिम काल से जन-जीवन के साथ सम्बद्ध रहा है। आदिम मानव की संगीतप्रियता इसकी स्वाभाविक कला-प्रियता का अभिन्न अङ्ग है। स्वयं भारत में संगीतकलाराधना प्रागैतिहासिक काल से अधुना तक चली आ रही है, इसका 'चक्षुर्वै सत्यम्' प्रमाण प्राचीन शिल्पकृतियों से उपलब्ध होता है। इस कला का पल्लवन जनजीवन के माध्यम से निरन्तर होता आया है, इसमें सन्देहलेश नहीं। पाणिनि ने 'साम' का अन्तर्भाव 'दृष्ट' साहित्य के अन्तर्गत किया है, इसका यही अभिप्राय लिया जा सकता है (४, २, ७-९)। ब्लूमफील्ड के अनुसार सामगान का अधिष्ठान लौकिक सङ्गीत की ध्वनियों में है।[2] सामगान के पाश्चात्य अन्वेषक फेलबर के अनुसार सामवेद में लोकगीतों के प्रभावशाली तत्व उपस्थित हैं तथा यज्ञविधियों की प्रभावात्मकता की वृद्धि के लिए युद्धगीत जैसे लोकगीतों का गान सामगान के साथ प्रचलित रहा है।[3] सामगान के अन्तर्गत 'हाउ हाउ' आदि 'स्तोम'[4] संज्ञक

स्थान पर तन्तुओं का प्रयोग किया जाता था तथा इनका वादन 'कोण' नामक काष्ठखण्ड से किया जाता था। ब्रह्मदेश में आज भी 'सॉन' के नाम से इसी प्रकार की वीणा उपलब्ध होती है।

१. ३३-१०।

२. द्र० ब्लूमफील्ड कृत 'रिलिजन आफ दि वेद', पृ० ३९।

३. जरनल आफ म्यूजिक एकेडमी, मद्रास, खण्ड ९, पृ० २० पर द्रष्टव्य।

४. विस्तार के लिए द्र० इसी प्रबन्ध का अ० २, खण्ड ~, 'सामगान की विधि'।

निरर्थक शब्दों का बहुल प्रयोग पाया जाता है, जो उसकी लौकिक व्युत्पत्ति का द्योतक माना जा सकता है।[1]

भरत के नाट्यशास्त्र से संगीत की लोकमूलकता का स्पष्ट संकेत पाया जाता है। भरत के संगीत का आधार तत्कालीन संगीतशैली तथा लोकाभिरुचि पर आधारित रहा है।[2] भरत का नाट्य उन्हीं के कथनानुसार 'लोकानुकरण' की भावना से अनुविद्ध है (१,१०४–११८)। भरतकालीन मागधी, अर्धमागधी आदि गीतियां भारत के विशिष्ट प्रदेशों में तथा बोलियों में प्रचलित परम्परा पर आधारित रही हैं।[3] नाट्यशास्त्र के उपसंहार में नाट्य और पर्यायशः गान्धर्व की लोकमूलकता के सम्बन्ध में स्पष्ट एवं निःसन्दिग्ध संकेत निम्न शब्दों में उपलब्ध है---

> एवं नाट्यप्रयोगे बहु बहु विहितं कर्म शास्त्रप्रणीतं
> न प्रोक्तं यच्च लोकादनुकृतिकरणं तच्च कार्यं विधिज्ञैः ॥ ३६,७९ ॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संगीत का उद्गम मानव-जाति के उद्भव के साथ हुआ है।[4] मानव का जैसे ही नेत्रोन्मीलन हुआ, उसके कण्ठ से ध्वनि निःसृत हुई। रुदन तथा गान इसी सहज ध्वनि के रूपान्तर हैं। कण्ठ मानव की सहज एवं स्वाभाविक विभूति है, जो उसके गीत तथा वाद्य के स्वर-क्षेत्र को निर्धारित करती है। आदिम जाति का गान तथा वाद्य सीमित स्वरों से युक्त होता है, इसका रहस्य यही है। उनके नृत्य में अभिनय की मात्रा कम और

---

१. डा० सूर्यकान्त शास्त्री के अनुसार 'साम' का सम्बन्ध 'शमनिजम' नामक मान्त्रिक संस्था से है, जिसका प्रभाव सामगान में उच्चरित होने वाले स्तोम शब्दों पर लक्षित होता है (द्र० ऋक्तन्त्र, सं० सूर्यकान्त शास्त्री, भूमिका, पृ० १४ ; तथा द्र० जरनल आफ म्यूजिक एकेडमी, मद्रास, खण्ड ५, पृ० ८-९)।

२. ना० शा० ३२, २६८।

३. विस्तार के लिए द्र० इसी प्रबन्ध का अध्याय ९—'भरतनाट्यशास्त्र में संगीत'।

४. पाश्चात्य मनीषी हर्मीस के अनुसार प्राकृतिक रचना-क्रम का प्रतिफलन ही 'संगीत' है। ग्रीक विचारक पायथागरस के अनुसार 'संगीत' विश्व की अणुरेणु में परिव्याप्त है। प्लेटो का मत है कि सङ्गीत समस्त विज्ञानों का मूलाधार है तथा ईश्वर के द्वारा इसका निर्माण विश्व के वर्तमान विसंवादी प्रवृत्तियों के निराकरण के लिए हुआ है (द्र० 'थियरी आफ अरब म्यूजिक', पृ० ६३–६४)।

भारतीय संगीतज्ञ मतंग के अनुसार समस्त विश्व नादात्मक है (द्र० बृह० श्लो० १७)।

प्रकाशक :
मुद्रक :
संस्करण :
मूल्य :

स्थूल अंगसंचालन की मात्रा अधिक लक्षित होती है। प्रबल भावावेग से स्वतः उद्‌भूत होने वाले इसी प्रकार के अङ्गसंचलन तथा अव्यक्त शब्द-ध्वनि में नृत्य की आदिम गाथा निहित है। आदिम जातियों के संगीत में परिष्कार की अपेक्षाकृत न्यूनता पाई जाती है, इसका मूल उनकी संस्कृति की अविकसित अवस्था में खोजा जा सकता है। संगीत के उद्गम-काल में स्वर-क्षेत्र की परिमितता तथा स्वर-संयोजन की अपरिष्कृतता की ही कल्पना सम्भाव्य है। परिष्कृत एवं श्रेणीबद्ध संगीत सदैव प्रौढ मस्तिष्क तथा विकसित सभ्यता का सहचर रहा है।

भारतीय संगीत का वैशिष्ट्य[1] :—

संगीत की परिभाषा प्रस्तुत करते समय हमने स्पष्ट किया है कि 'संगीत' शब्द की सार्थकता गीत के प्राधान्य में है। गीत, वाद्य तथा नृत्य इस त्रयी में गीत सदैव अग्रसर रहा है तथा अन्य दो उसके अनुगामी रहे हैं। शारीरी वीणा अर्थात् कण्ठगत स्वर-रचना का यथार्थ अनुकरण दारवी वीणा तथा अवनद्ध वाद्यों पर होता है, ऐसा भरताचार्य का अभिप्राय है।[2] वीणादि वाद्य प्रायः संगति वाले वाद्य रहे हैं और उनका स्वरूप एवं विकास गीत की अपेक्षाओं तथा आवश्यकताओं से नियन्त्रित रहा है। वीणा तथा अन्य वाद्यों के द्वारा गीत की यथार्थ संगति की जाने की बात नाटयशास्त्र को सम्मत रही है।[3] भारतीय वीणावादक से यह अपेक्षित है कि वह गीति अथवा 'गत' की निर्धारित स्वरावलि से बाह्य स्वरों का कथमपि वादन न करें।[4]

भारतीय संगीत की 'जाति-प्रणाली' अथवा 'राग-प्रणाली' कण्ठसंगीत के विकास की प्रातिनिधिक मानी जा सकती है। कण्ठ की क्षमता स्वाभाविक रूप से स्वरों के क्रमशः गान (Successive Singing) तक सीमित होती है।[5] एक

---

१. भारतीय संगीत महाविद्यालय, ग्वालियर की रजत-जयन्ती (१९६४) पर प्रसारित शोधनिबन्ध।

२. ना० शा० ३३, ३१—३२।

३. वही, ३०, १०; ३३, ३५।

४. यूरोपीय हार्मनी में इस प्रकार का अनुसरण अपेक्षित नहीं। उसमें वादक को सम्पूर्णतः स्वतन्त्र तथा मौलिक स्वरसमूहों को बजाने का स्वातन्त्र्य है। अतएव गीत में जहां 'सा ग प' होगा, वहाँ वाद्यों में उनके संवादी 'प नि सा' जैसे स्वरगुच्छों की लडियां सहज रूप से ग्रथित की जा सकती हैं।

५. हार्मनी के अधिकांश प्रकारों में वाद्यवादन की प्रधानता रहती है तथा गीत गौण रहता है। गीत के विशिष्ट स्वरों के साथ अन्यान्य संवादी स्वर-समूहों के निर्माण के लिए एक तो गायक-समूह की अपेक्षा होती है अथवा वाद्य-

समय पर एक ही व्यक्ति के लिए एकाधिक स्वरों का गान सम्भाव्य नहीं। जाति तथा राग के लक्षणों में 'वर्ण' ऐसी ही गानविस्तारशैली का संकेत करता है, जिसमें स्वरों का विस्तार क्रमशः प्रस्फुटित होता है। राग-प्रणाली के अनुकूल वाद्यों का निर्माण भारतीय संगीत की विशिष्टताओं में से है। जैसा बुधजनविदित है, भारतीय सङ्गीत में गायन सप्तक के केवल १२ स्वरों तक ही सीमित नहीं। विभिन्न स्वर-संगति एवं गमकों के प्रयोग से एक ही स्वर का गायन तथा वादन भिन्न छाया उपस्थित कर देता है। ऐसी स्वरावलि का वादन पाश्चात्य पद्धति के 'टेम्पर्ड' वाद्यों के द्वारा सम्भाव्य नहीं, जिसमें स्वर-स्थानों (Pitch) की स्थिति सदैव अपरिवर्तित रहती है। भारतीय स्वर-व्यवस्था के अनुकूल वीणा जैसे तन्तुवाद्यों का निर्माण तथा वादन सदैव 'प्राकृतिक श्रुति-संस्थान' (Scale of Just Indonation) पर आधारित रहता है।

भारतीय संगीत में 'संवाद' तत्व का विकास कण्ठानुकूलता तथा रागानुकूलता के अनुसार हुआ है। भारतीय संगीत के अन्तर्गत संवादित्व (Consonance) का प्रयोग विशिष्ट राग की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल किया जाना आवश्यक है। भारतीय संगीत की व्यक्तिप्रधानता संवाद-योजना (Harmonic Combinations) के लिए सीमा निर्धारित कर देती है। 'सा ग प' तथा 'सा ग़ प' जैसे मेजर एवं मायनर कार्ड्स कहलाने वाले स्वरसमूहों का गायन अथवा वादन उसी सीमा तक सम्भाव्य हो सकता है, जो विशिष्ट राग की प्रकृति के अनुकूल हो।[1] रागाभिव्यक्ति के लिए बाधक स्वरसमूह का प्रयोग भारतीय संगीत-प्रणाली में कथमपि सम्मत नहीं हो सकता।

भारत के तालवाद्यों का तन्त्र पाश्चात्य तालवाद्यों से अधिक विकासप्राप्त है। पाश्चात्य ताल-प्रणाली में निम्न दो तालों का वादन होता है, जिनमें ताल की गति २, ४, ६ आदि सरल एवं सम मात्राओं पर आधारित रहती है—एक, 'सिम्पल ड्यूपल' तथा दूसरा, 'सिम्पल क्वाड्रूपल'।[2] इनमें किसी प्रकार के बोल-

समूह की। यह होने पर गीत के विभिन्न खण्डों का विभिन्न कण्ठस्वरों के द्वारा गायन तथा विभिन्न वाद्यों के द्वारा एक साथ वादन सहज संभव हो सकता है, जो कि हार्मनी संगीत को अभिप्रेत है।

१. पाश्चात्य संगीत में एक ही गीत के अन्तर्गत मूलभूत मूर्च्छना का परिवर्तन एकाधिक बार किया जा सकता है। यह प्रक्रिया 'चेन्ज आफ की' कहलाती है।

२. इस सम्बन्ध में द्र० 'सङ्गीत,' हाथरस, वर्ष २१, अङ्क ९ में प्रस्तुत लेखक का 'पाश्चात्य सङ्गीत की स्वरांकनप्रणाली' शीर्षक लेख।

वैचित्र्य तथा लय-वैचित्र्य के लिए अवकाश नहीं रहता। इसके विपरीत भारतीय संगीत में ताल 'सम' तथा 'विषम' दोनों प्रकार के पाये जाते हैं तथा इनमें बोल एवं लय के वैचित्र्य के लिए पर्याप्त अवकाश रहता है। भरतप्रणीत संगीत में 'यति' का प्रयोग इसी तत्व का सूचक है।[1]

भारतीय संगीत की सर्वोपरि विशेषता उसकी मौलिक सृजन की क्षमता में है। परम्परा अथवा सम्प्रदाय को अक्षुण्ण रखते हुए गान तथा वादन में मौलिकता की अभिव्यक्ति भारतीय सङ्गीत का वैशिष्ट्य है। राग की अभिव्यक्ति में गायक अथवा वादक का व्यक्तित्व सर्वोपरि है और उसी का प्रस्फुटन राग को सप्राण बनाने के लिए श्रेयस्कर माना जाता है। यही व्यक्तित्व विभिन्न सम्प्रदायों अथवा 'घरानों' का प्रवर्तक होता है। भारतीय संगीत में 'अनुसरण' अपेक्षित है, 'अनुकरण' नहीं।[2]

---

१. इस सम्बन्ध में द्र० इसी प्रबन्ध का अ० ६—'भरतनाट्यशास्त्र में संगीत'।

२. 'कम्पोजर' की रचना का अनुकरण पाश्चात्य संगीत की सफलता का मानदण्ड माना जाता है। उसमें रत्तीमात्र परिवर्तन कदापि सह्य नहीं माना जा सकता।

अध्याय द्वितीय

प्राग्वैदिक तथा वैदिक युग में संगीत

स—प्रागैतिहासिक काल में संगीत

प्रागैतिहासिक काल से अभिप्राय उस सुदूर एवं अतीत काल-खण्ड से है जिसके सम्बन्ध में किसी सूत्रबद्ध ऐतिहासिक सामग्री की उपलब्धि नहीं होती। भारत की अतीत एवं गौरवमयी संस्कृति का प्रथम ऐतिहासिक दर्शन वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध होता है। भारतीय संस्कृति का यह सहस्रदल अनेक शताब्दियों के पश्चात् विकसित हुआ है, इसमें सन्देह नहीं। ऐसी ही विशाल प्रागैतिहासिक सभ्यता का निदर्शन[1] सिन्धु तथा हरप्पा जैसे स्थानों में उपलब्ध

१. यह सभ्यता ऋग्वेद से प्राचीन है अथवा अर्वाचीन, इस सम्बन्ध में मनीषियों में पर्याप्त मतभेद है। सर मार्शल उसे प्राग्वैदिक मानते हैं। डा० मैके, हेवास तथा दीक्षित जैसे पुरातत्वज्ञ इसी मत के अनुयायी हैं। उनके मत से सिन्धु सभ्यता वह शृंखला है जो हिन्द यूरोपीय तथा वैदिक सभ्यता को जोड़ देने वाली है। राव-बहादुर दीक्षित के मतानुसार वैदिक संस्कृति तथा सिन्धु संस्कृति प्राय: समकालीन है (द्र० प्रि-हिस्टोरिक सिविलिजेशन आफ दी इण्डस वैली, पृ० २०—२१)। राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार ऋग्वेद में अनार्यों के संबंध में जो विवरण प्राप्त है, उसी का प्रत्यक्ष प्रमाण सिन्धु सभ्यता में पाया जाता है, अत: यह स्पष्ट है कि सिन्धु सभ्यता वैदिक सभ्यता से बहुत प्राचीन नहीं तथा दोनों परस्पर सूत्र में आबद्ध हैं (द्र० हिन्दू सभ्यता, पृ० ३२)। प्रसिद्ध प्राच्य विद्या-विशारद लक्ष्मणस्वरूप ऋग्वेदीय आर्यों को सिन्धु उपत्यका के अधिवासी तथा सिन्धु सभ्यता के शिल्पी मानते हैं (द्र० इण्डियन कल्चर, खण्ड ४, संख्या २, पृष्ठ १५३ पर डा० लक्ष्मणस्वरूप का 'ऋग्वेद एण्ड मोहिनजोदारो' शीर्षक निबन्ध)। डा० वेक के अनुसार यह सभ्यता किसी विदेशीय सभ्यता की शाखा नहीं, यद्यपि उन संस्कृतियों का प्रभाव इन पर परस्पर सम्पर्क के फलस्वरूप लक्षित होता है (द्र० हिन्दू सिवलीजेशन—राधाकुमुद मुखोपाध्याय)। स्टुअर्ट पिगट इस सभ्यता को मूलत: भारतीय मानने के पक्ष में हैं यद्यपि वे उसे वैदिक अथवा आर्ष संस्कृति से विभिन्न मानते हैं (द्र० प्रि—हिस्टोरिक इण्डिया, पृ० २१०)। भारतीय अन्वेषकों का प्राय: यही मत है कि सिन्धु सभ्यता को निर्माण करने का श्रेय आर्य अथवा अनार्यों में से किसी एक को नहीं दिया जा सकता (द्र० हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ इण्डियन पीपिल—वैदिक एज, खण्ड १, १९५१, पृ० १६७—१६९ तथा हिन्दू सिविलीजेशन, राधाकुमुद मुखोपाध्याय, पृ० ३२ तथा ३२१—३२२)।

प्रकाशक
मुद्रक
संस्करण
मूल्य

है। उनमें प्राप्त अवशेष न केवल उस सभ्यता की भौतिक समृद्धि के परिचायक हैं, अपितु उसके चतुर्दिक् विस्तार का स्पष्ट संकेत करते हैं। भारत की आदिवासी जातियों की संस्कृति का 'चक्षुर्वै सत्यम्' साक्षात्कार कराने के कारण तत्कालीन संगीतकलाविषयक परिस्थिति का सम्यक् दिग्दर्शन इससे संभाव्य है, इसमें सन्देह-लेश नहीं।

दृश्य रूप में उपस्थित तत्कालीन सामग्री के आधार पर पुरातत्वज्ञों का अभिमत है कि इस सभ्यता का विस्तार सिन्धु की उपत्यका से बहुत दूर तक हो चुका था और इसके वाणिज्यादि सम्बन्ध-सूत्र भारत की सीमा से बाहर तक स्थापित हो चुके थे। मेसापोटेमिया, पश्चिमी फारस, मिस्र तथा सेस्टन जैसी प्राचीनतम सभ्यताओं से इस सिन्धु सभ्यता का निकट सादृश्य ऐसे ही पारस्परिक सम्बन्धों के कारण है, ऐसी विद्वानों की मान्यता है।[1] इसमें उपलब्ध मुद्राओं का 'उर' तथा 'किश' जैसे स्थानों पर पाई जाने वाली मुद्राओं से सादृश्य देखकर प्रो० लैंगडन तथा गैंड का अनुमान है कि इस सभ्यता का काल ई० पू० २८०० से अनन्तर कथमपि नहीं हो सकता।[2] श्री राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार इसमें उपलब्ध सामग्री का सादृश्य सुमेर, एलम (शूत्ष) तथा इराक (तिग्रा-इफरातु) जैसी प्राचीनतम संस्कृतियों में पाया जाता है, जो यह मानने के लिए बाध्य करता है कि ई० पू० ४००० तक भारत की सिन्धु सभ्यता का बाह्य संस्कृतियों से आदान-प्रदान आरम्भ हो चुका था।[3] सर जान मार्शल के अनुसार इस सभ्यता का काल ई० पू० ५०००–३००० तक है। डा० मैके के अनुसार मोहेन-जो-दडो की सभ्यता का विकास २५०० ई० पू० तक हो चुका था तथा हरप्पा की सभ्यता इससे बहुत पूर्व विकसित हो चुकी थी[4]।

इन सभ्यताओं का जन्म भारत में हुआ अथवा भारत के बाहर इस सम्बन्ध में पुरातत्वज्ञों में तीव्र मतभेद है तथापि उत्खननों में उपलब्ध उनका भव्य स्वरूप इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि इस सभ्यता की चरम उन्नति भारतवर्ष में हुई। इसका प्रभाव भारत के अन्यान्य प्रदेशों पर पड़ा हो, यह नितान्त स्वाभाविक है। दक्षिण भारतीय जनता आज भी अपने आपको इसी परम्परा का

१. द्र० 'मोहनजोदड़ो', मिहिर चन्द कृत, पृ० २४ तथा 'हिन्दू सिविलिजेशन', राधाकुमुद मुखोपाध्याय, पृ० ४४–५०।

२. 'सङ्गीत ओ संस्कृति', स्वामी प्रज्ञानानन्द, खण्ड १, पृष्ठ २।

३. द्र० हिन्दू सभ्यता, राधाकुमुद मुकर्जी, पृ० २८।

४. द्र० अर्ली इण्डस सिविलिजेशन।

उत्तराधिकारी मानती है, यह तथ्य उल्लेखयोग्य है। विद्वानों के मत से भारत में उपलब्ध लिंगपूजा तथा शक्तिपूजा के बीज इसी युग में निहित हैं।

सिन्धु सभ्यता में उपलब्ध लिंगादि आकृतियों तथा अन्य मूर्तियों से स्पष्ट है कि उनकी धर्म-साधना में मूर्ति पूजा तथा वृक्षादि वस्तुओं की आराधना अन्तर्भूत थी। विद्वानों के अनुसार शिवलिंगों से साम्य रखने वाली आकृतियों से स्पष्ट है कि भारत में प्रचलित शैव-परम्परा का प्रवर्तन इसी काल में हो चुका था। मोहेन-जो-दडो में एक ध्यानमग्न योगी की मूर्ति उपलब्ध है, जिसमें योगी की दृष्टि नासाग्र पर केन्द्रित है। मृत्तिका की एक अन्य मुद्रा में एक देवता की मूर्ति योगासन करती हुई अंकित है, जिसमें दोनों ओर सर्पों को अंजलि-मुद्रा में स्तवन करते हुए बताया गया है। एक अन्य मूर्ति में तीन मुख तथा तीन नेत्रों का अंकन हुआ है। मूर्ति योगासन की मुद्रा में ही है तथा अन्य पशुओं से परिवेष्टित है।[1] विचारकों के मत से यह 'पशुपति शिव' का प्राथमिक स्वरूप है। हरप्पा के उत्खननों में नृत्यरत पुरुष की खंडित मूर्ति उपलब्ध हुई है। मूर्ति सुघड पाषाण से निर्मित है तथा परिष्कार एवं कलात्मकता में अनुपम है। नर्तक का दक्षिण पाद भूमि पर स्थित है तथा वाम पाद नृत्य-क्रिया में ऊपर उठाया गया है।[2] नृत्यकला के मर्मज्ञ इस मूर्ति को नटराज शिव का स्वरूप मानते हैं। मूर्ति की खंडित अवस्था के कारण उसमें अंकित अभिनय का यथार्थ परिचय सम्भाव्य नहीं, तथापि तत्कालीन नृत्य के परिचायक होने के नाते उसका अपार महत्व है। ऐसी मूर्तियों का निर्माण संगीतप्रिय सभ्यता के अन्तर्गत ही हो सकता है इसमें सन्देह नहीं। मोहेन-जो-दडो में उपलब्ध एक कांस्य की मूर्ति इस निष्कर्ष को प्रमाणित करती है।[3] मूर्ति के निर्माण में सुकोमल नारी का ललित अभिनय अंकित है। नर्तकी का शरीर प्रायः अनावृत अवस्था में है, केश जूड़े में आबद्ध हैं तथा दोनों हाथों में विपुल चूड़ियाँ अंकित हैं। दक्षिण पैर एक स्थान पर स्थित है, वाम पैर पदाभिनय में कुछ आगे बढ़ा हुआ है, दक्षिण हस्त दक्षिण कटि पर विन्यस्त है तथा वाम हस्त नीचे की ओर लम्बमान है।[4]

---

१. द्र० हिन्दू सभ्यता।

२. द्र० प्रबन्ध के अन्त में आकृति १।

३. वहीं, आ० २।

४. मूर्ति की अर्द्धनग्न अवस्था तथा साज-सज्जा को देखकर सर जान मार्शल इसे आदिवासी नारी का नमूना मानते हैं (द्र० डा० नरेन्द्रनाथ लाहा का लेख—मोहेन-जो-डारो एण्ड इण्डस वैली कल्चर शीर्षक, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, खण्ड ८, नं० १, पृ० १४३)। इसके आकार-प्रकार केश तथा विन्यास

इन कलात्मक आकृतियों से यह प्रमाणित होता है कि तत्कालीन जीवन में सङ्गीत का पर्याप्त प्रचलन था तथा धार्मिक एवं लौकिक समारोहों पर गीत, वाद्य, नृत्य के द्वारा लोगों का मनोरंजन किया जाता था। गीत तथा वाद्यों के साथ ढोल, दुन्दुभि जैसे वाद्यों से संगति की जाती थी। हरप्पा में उपलब्ध एक चित्र में एक पुरुष को व्याघ्र के समक्ष ढोल बजाते हुए अंकित किया गया है।[1] अथर्ववेद में दुन्दुभि के मांगल्यजनक होने के सम्बन्ध में मान्यता स्पष्टतः मुखरित हो उठी है। सिन्धु सभ्यता में दुन्दुभि वादन के सम्बन्ध में यही धारणा रही हो, तो आश्चर्य नहीं। आज भी आदिवासी जातियों में व्याघ्रादि हिंस्र पशुओं के प्रवेश पर ग्राम के चारों ओर ढोलक के द्वारा भयंकर गर्जना करने की प्रणाली विद्यमान है। यहाँ उपलब्ध अन्य दो मुद्राओं पर दीर्घाकार ढोलक अंकित है, जिनके दोनों मुख चर्म से आबद्ध हैं। एक अन्य स्थान पर ढोलक की आकृति का वाद्य एक मृण्मयी मूर्ति की ग्रीवा से लटकता हुआ दिखाया गया है।[2] झांझ अथवा करताल के समान वाद्य भी यहां उपलब्ध है।[3] ऐसे वाद्यों का प्रयोग सम्भवतः नृत्य की लय को सूचित करने के लिये किया जाता रहा हो। सिन्धु सभ्यता के अन्तर्गत पक्षियों की कुछ ऐसी मूर्तियाँ उपलब्ध हैं, जिनकी पूंछ का आकार सीटी के समान दिखाई देता है।[4] यद्यपि इससे संगीत के किसी वाद्य का कथमपि संकेत नहीं मिलता तथापि प्रकृति के अनुकरण से वाद्यों के निर्माण की प्रवृत्ति इससे स्पष्टतः परिलक्षित होती है।

यद्यपि वीणा जैसे तंतु वाद्य का कोई अवशेष इस सभ्यता में नहीं प्राप्त होता, तथापि मेके के अनुसार तत्कालीन लिपि में वीणा से समानाकृति कुछ चिह्न अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं। मेके का कथन है कि इसी की समकालीन सुमेरी सभ्यता में वीणा जैसे वाद्यों के अवशेष प्राप्त हुए हैं, अतएव यह असम्भव

को देखकर स्टुअर्ट पिगट इसे दक्षिणी बलूचिस्तान की कलाकृति मानते हैं (एन्शन्ट इण्डिया, पृ० १७७–१७८)। मेके का अनुमान है कि प्राचीन ईजिप्ट की भाँति यहाँ के नर्तक भी कुछ नृत्यों में प्रायः अर्द्धनग्न अवस्था में अभिनय प्रदर्शन करते थे (द्र० अर्लि इण्डस सिविलिजेशन)।

१. द्र० 'इण्डियन कल्चर', खण्ड ४, संख्या २, पृ० १५३ पर 'ऋग्वेद एण्ड मोहेन्-जो-डारो' शीर्षक लेख; तथा द्र० मेके, पृ० ७२–७३।

२. वहीं।

३. रा० व० दीक्षित कृत 'प्रिहिस्टोरिक सिविलिजेशन आफ इण्डस वैली,' पृ० ३०।

४. द्र० मेके, 'अर्लि इण्डस सिविलिजेशन,' पृ० १३६, फलक २०, आ० २, ३।

नहीं कि वीणा जैसे वाद्यों का प्रचलन प्राचीन सिन्धु सभ्यता में भी रहा हो। गैल्पिन ने दिखाया है कि उर आदि समकालीन सभ्यताओं में धनुषाकार वीणा तथा अन्य वंशी जैसे वाद्य उपलब्ध थे तथा पाश्चात्य एशिया में इन वाद्यों का प्रचलन प्राचीनकाल से था[1]।

२-वैदिक युग में संगीत

वैदिक युग भारत के सांस्कृतिक इतिहास में प्राचीनतम युग माना जा सकता है। भारत की सांस्कृतिक उपलब्धियों का सर्व-प्रथम रूप इसी युग के वाङ्मय में उपलब्ध है। वैदिक वाङ्मय का गौरव इस बात में है कि संसार की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक का सम्पूर्ण दिग्दर्शन करते हुए समकालीन अन्य प्राचीन संस्कृतियों के सम्बन्ध में अमूल्य सामग्री उससे उपलब्ध होती है। भाषाविज्ञों का मत है कि हिन्द-आर्य परिवार की प्राचीनतम भाषा होने के कारण भारतीयेतर संस्कृति की विलुप्त शृंखलाओं को पुनः स्थापित करने के लिये इसी भाषा में निबद्ध वाङ्मय का अनुसंधान आवश्यक है[2]।

वैदिक युग से अभिप्राय उस सुदीर्घ कालखण्ड से है जिसमें चार वेदों तथा उनके विविध अङ्गों का विस्तार हुआ है। प्राचीन आचार्यों के अनुसार 'वेद-वाङ्मय' इकाई है, जिसके अन्तर्गत विनियोगभेद के कारण ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व का पृथक् संहिता के रूप में निर्माण हुआ। महाभारत के अनुसार वेदों को पृथक् रूप से संकलित करने के कारण कृष्णद्वैपायन को 'व्यास' नाम से अभिहित किया गया—

'वेदान् विव्यास यस्मात्स वेदव्यास इति स्मृतः' ॥

इस सम्बन्ध में दुर्गाचार्य की निम्न मान्यता है—

"वेदं तावदेकं सन्तम् अतिमहत्वात् दुरध्येयमनेकशाखाभेदेन समाम्नासिषुः। सुखग्रहणाय व्यासेन समाम्नातवन्तः" ॥[3]

मीमांसाकार जैमिनी के अनुसार 'ऋक्' उन छन्दोबद्ध मन्त्रों का नाम है, जिनमें अर्थानुकूल पादों की व्यवस्था है—

---

१. वहीं पृ० १४१ तथा मेके कृत 'प्रि-हिस्टोरिक इण्डिया', पृ० २७०-२७१।

२. इन प्राचीन भाषाओं में पाये जाने वाले नाम साद्दश्य से कुछ सांस्कृतिक सामग्री संकलित की जा सकती है, उदाहरणार्थ, वैदिक 'गंधर्व' का यूनान के 'केन्टारास' तथा अवेस्ता के 'गन्दरवा' से रूपसाद्दश्य मूल शब्दार्थ के स्पष्टीकरण में सहायक हो सकता है।

३. निरुक्त वृत्ति १।२०

"तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था"।[१]

इन्हीं ऋचाओं पर जो गान निबद्ध हैं, उनके लिये 'साम' संज्ञा है—'गीतिषु सामाख्या'[२]। ऋक् तथा साम के अतिरिक्त जितने मंत्र हैं, वे 'यजुष्' के नाम से अभिहित होते हैं—'शेषे यजुः शब्दः'[३]। इन्हीं मन्त्रों का संहिता-स्वरूप विभिन्न ऋत्विजों की आवश्यकतानुसार रचित हुआ।

वेद का तात्पर्य केवल मन्त्र-संहिता से नहीं। उसके अन्तर्गत ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् वाङ्मय का भी समावेश है। आपस्तम्ब के अनुसार मन्त्र तथा तत्सम्बद्ध ब्राह्मण दोनों के लिये 'वेद' संज्ञा है—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'[४]। मंत्र वह है, जिसमें महर्षियों की स्वात्मानुभूति अभिव्यक्त हो उठी है—'मननात् मन्त्राः'। 'ब्राह्मण' से अभिप्राय मंत्रसंहिता के अर्थ की परम्परानुगत व्याख्या करने वाले पूरक ग्रन्थों से है। ब्राह्मण ग्रन्थों के तीन विभाग हैं—(१) ब्राह्मण, (२) आरण्यक तथा (३) उपनिषद्। वैदिक वाङ्मय के स्पष्टीकरण के हेतु एक अन्य साहित्य-प्रकार निर्मित हुआ, जिसका नाम 'वेदांग' है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द आदि वेदांगों का निर्माण वेदों की सुरक्षा के लिये हुआ है। मूल वेदों की साक्षात् परम्परा के वाहक होने के कारण वैदिक संस्कृति के सम्यक् ज्ञान के लिये इनका अमूल्य महत्व है।

वैदिक युग के इस विशाल कालखण्ड में तत्कालीन संगीत-साधना के अनेक उल्लेख पाये जाते हैं। अतएव विभिन्न वेदों के अन्तर्गत संगीत का विवेचन करते समय उस वेद के ब्राह्मण, आरण्यक तथा सूत्रग्रंथों का यथावश्यक अध्ययन भी आवश्यक है, जिससे उस वेद की परम्परा में प्रवर्तमान संगीत तथा तत्सम्बद्ध मान्यताओं का समग्र दिग्दर्शन सम्भाव्य हो। वैदिक युग में प्रचलित संगीत का अध्ययन सुविधा के लिये निम्न तीन खण्डों में पृथक्तया किया जा रहा है :—

(१) ऋक्, यजु तथा अथर्व में संगीत।
(२) सामवेद में संगीत।
(३) उपनिषद् तथा शिक्षा ग्रंथों में संगीत।

---

१. जै० सू० २।१।३५
२. वहीं २।१।३६
३. वहीं २।१।३७
४. यज्ञपरिभाषा, ३१

खण्ड १—ऋक्, यजुः तथा अथर्व में संगीत

ऋग्वेदकालीन संगीत

ऋग्वेद काल में गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों का पर्याप्त प्रचलन दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद के शांखायन ब्राह्मण के अनुसार इन तीनों शिल्पों का प्रयोग प्रायः अभिन्न साहचर्य के रूप में प्राप्त होता है।

"त्रिवृद्वै शिल्पं नृत्यं गीतं वादितमिति" (२९-५)।

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार इन शिल्पों की गणना दैवी[1] शिल्पों में है तथा इनकी सहायता से यजमान का व्यक्तित्व सुसंस्कृत हो जाता है—

१—"एतेषां वै शिल्पानां अनुकृतीह शिल्पमधिगम्यते। ओ३म् शिल्पानि शंसन्ति देवशिल्पानि शिल्पमिदमस्मिन्नधि गम्यते स एवं वेद यदिव शिल्पानि"।

२—"आत्म संस्कृतिर्वाव शिल्पानि छन्दोमयं वा एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते"। यही शिल्प देवताओं की प्रसन्नता के लिये साधक बतलाये गये हैं। ऋ० ७।३२।२० में इन्द्र को यह कहते हुए बताया गया है कि रथकार के कौशल से निर्मित रथ-चक्र जिस प्रकार संतोषजनक होता है, उसी प्रकार कुशल रूप से प्रयुक्त संगीत आकर्षण का केन्द्र बन जाता है।

ऋग्वेद में गीत के लिए गीर्, गातु, गाथा, गायत्र, गीति तथा साम शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। ऋग्वेद की ऋचाएं स्वरावलियों में निबद्ध होने पर 'स्तोत्र' कहलाती हैं। विनियोग-भिन्नता के अनुसार इन ऋचाओं का विविध नामकरण पाया जाता है—एक शस्त्र, दूसरा स्तोत्र। होता के द्वारा जिन स्तुति-मन्त्रों का कथन किया जाता है, उनके लिये 'शस्त्र' पारिभाषिक संज्ञा है। इसके अन्तर्गत द्विविध मन्त्रों का अन्तर्भाव होता है—१ पुरोनुवाक्या, जिनके माध्यम से अभीष्ट देवताओं का आवाहन किया जाता है तथा २ याज्या, जिनका पठन यज्ञ में आहुति देने के अवसर पर किया जाता है। ऋचाओं के यही दोनों प्रकार 'ऋग्वेद' में संगृहीत हैं। 'शस्त्र' नामक मन्त्रों का वैशिष्ट्य उनके पठन में है—

"अप्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः शस्त्रम्।"

स्तोत्र मन्त्रों की विशेषता उनके गान में निहित है—

"प्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः स्तोत्रम्।"

सोमयागों में शस्त्र तथा स्तोत्र दोनों का प्रयोग विहित है, किन्तु प्राथम्य स्तोत्र को दिया जाता है। स्तोत्र का गान उद्गाता आदि गायक ऋत्विजों के

---

१. तुलनार्थ द्र० कथासरित्सागर, २५।१७५—'एतद्धि दिव्यं शिल्पं न मानुषम्'।

द्वारा किये जाने पर शस्त्र का पठन होता के द्वारा किया जाता है। ऐसे स्तोत्रों का पर्याय तथा प्रकारान्तर से आवृत्ति पूर्वक गान "स्तोम" कहलाता है, जो प्रायः तृच अथवा तीन ऋचाओं के समूह पर आधारित होता है।[1] आधुनिक संगीत में वैचित्र्य निर्माण के लिये जिस प्रकार गीत की पंक्ति तथा पदों का गान अनेक बार विविध स्वरों के साथ किया जाता है, वही प्रकार वैदिक संगीत में स्तोम के नाम से प्रसिद्ध था।[2]

गीत–प्रबन्धों का उल्लेख ऋग्वेद में गीति, गाथा, गायत्र तथा साम के नाम से पाया जाता है। गाथा एक विशिष्ट तथा परम्परागत गीत प्रकार हैं, जिनका गायन धार्मिक तथा लौकिक समारोहों पर किया जाता था। अश्वमेध यज्ञ में ऐसी गाथाओं का गान ब्राह्मण तथा क्षत्रिय गायकों के द्वारा किये जाने का उल्लेख है।[3] प्राचीन परम्परा पर अधिष्ठित होने के कारण इन गाथाओं को ऋचाओं से तुल्य माना जाता था—

यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति।[4]

इन गाथाओं के गायक "गाथिन्" कहलाते थे।[5] गीत के लिये "गायत्र" शब्द का प्रयोग भी ऋग्वेद में प्राप्त होता है। नवीन गायत्र से प्रसन्न होने की प्रार्थना निम्न शब्दों में की गई है--

स नः स्तवान आ भर गायत्रेण नवीयसा। (ऋ० १–१२–११)

ऐसे गीत के गायक 'गायत्रिन्' कहलाते थे।[6] गायक के लिये "गातुवित्तम' शब्द का प्रयोग भी देखा जाता है।[7] 'साम' के गायन का उल्लेख ऋग्वेद में बाहुल्य से पाया जाता है, जो इस तथ्य का स्पष्ट द्योतक है कि ऋग्वेद के संकलन के पूर्व ही साम-गान का बहुल प्रचार था तथा इन्हीं सामों के आधार पर विभिन्न ऋचाओं का गान किया जाता था। पुरुषसूक्त में ऋक् तथा साम को विधाता की आदिम सृष्टि माना गया है—

---

१. साम के 'तृच' स्वरूप के सम्बन्ध में मनोरंजक निरुक्ति ऐ० ब्रा० (१२–१२) में पाई जाती है।

२. यास्क के अनुसार स्तोम–गायन की विधि अत्यन्त प्राचीन है–"ऋषि-दर्शनात् स्तोमान् ददर्श' (नैगमकाण्ड, २–११)।

३. द्र० शतपथ ब्राह्मण, १३।४–२–८; १३।१–५–६

४. उद्धृत अप्रबुद्ध कृत 'ऋग्वेदाचा संदेश', पृ० २३२ पर

५. १।७।१

६. १।१०।१

७. ९।१०४।५

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ॥[1]

यज्ञ के अन्तर्गत साम गान के गौरवपूर्ण स्थान का संकेत निम्न मन्त्र में प्राप्त होता है—

'ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।'[2]

एक मन्त्र की स्पष्ट उक्ति है कि साम–गान उन्हीं विद्वानों को प्राप्त हो सकता है, जो अध्यवसायी एवं जागरणशील हैं—

'यो तं जागार ऋचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति' ।[3]

एक अन्य मन्त्र के अनुसार साम के गायन से समस्त नभोमण्डल प्रतिध्वनित हो उठता था—'गायत् साम नमन्यं यथा वेः' (१।१७३।१)। ऋग्वेद के निम्न मन्त्र में पक्षियों के कूजन की उपमा उद्गाता के साम गान से की गई है—

उद्गातेव शकुने साम गायसि ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु शंससि ।

(२।४३।२)

ऋग्वेद काल में सामों के आविष्कर्ता आचार्यों में अंगिरस, भरद्वाज तथा वसिष्ठ का उल्लेख हुआ है । ऋ० १।१०७।२ में अंगिरसों के साम के द्वारा स्तोत्र गाये जाने का उल्लेख है—'देवाः अंगिरसां सामभिः स्तूयमानाः' । सामों में वरिष्ठ 'बृहत्साम' के आविष्कर्ता के रुप में भरद्वाज का उल्लेख है—'भरद्वाजो बृहदाचक्रे अग्नेः' ।[4] सोमयज्ञों में बृहत्साम का महत्वपूर्ण स्थान था—'बृहद्गायन्तः सुतसोमे अध्वरे' ।[5] 'रथन्तर' साम के उद्भावक के रूप में वसिष्ठ का नामोल्लेख हुआ है—'रथन्तरमाजभारा वसिष्ठः' (१०।१८१।१)।

सामों का गान कुछ विशिष्ट छन्दों के साथ किया जाता था और ऐसे प्रसंग पर उन्हीं छन्दों के नाम से साम प्रसिद्ध हो जाते थे । गायत्र तथा शाक्वर साम इसी कोटि में आते हैं ।[6] उपर्युक्त सामों के अतिरिक्त निम्न साम—भेदों का उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है, यथा, वेरुप, रैवत, अर्क, भद्र इत्यादि ।[7] इन सामों का गायन यज्ञादि धार्मिक कार्यों के अतिरिक्त अन्य लौकिक प्रसंगों पर किया जाता था ।

---

१. १०।९०।९

२. १०।७१।११

३. ५।४४।१४

४. १०।१८१।२; बृहत्साम की वरिष्ठता के सम्बन्ध में द्र० 'भगवद्गीता', अ० १० में 'बृहत्साम तथा साम्नाम्' ।

५. ऋ० ८।५५।१

६. वहीं ७।३३।४ तथा १०।७१।११

७. द्र० बलदेव उपाध्याय कृत 'वैदिक साहित्य', पृ० १३५

भारुण्ड साम का गान पितृकर्म में किए जाने के सम्बन्ध में सत्यव्रत का मत उल्लेखनीय है। ऋग्वेद के यमसूक्त में अन्त्येष्टि के समय पर साम के गायन का स्पष्ट विधान है—

यं कुमार प्रावर्तयो रथं विप्रेभ्यस्परि तं सामानु प्रावर्तत समितो नाव्याहितम्।[1]

इससे वैदिक आर्यों की यह धारणा स्पष्ट होती है कि अन्त्येष्टि के समय किया गया सामगान मृत व्यक्ति को यम-धाम तक सुलभता से पहुँचा सकता है।

ऋग्वेद काल में गायन के साथ ही वाद्य का निरन्तर साहचर्य रहा है। ऋग्वेद में निम्न वाद्यों के भूरिशः उल्लेख पाये जाते हैं, यथा दुन्दुभि, वाण, नाड़ी, वेणु, कर्करि, गर्गर, गोधा, पिंग तथा आघाटि। दुन्दुभि की धीर गम्भीर ध्वनि का उल्लेख ऋग्वेद में अनेक बार हुआ है। ऋ० १।२८।५ का रचयिता ऋषि उलूखल से प्रार्थना करता है कि वह विजेताओं के द्वारा बजाई जाने वाली दुन्दुभि के समान ध्वनि उत्पन्न करें—'जयतामिव दुन्दुभिः।' दुन्दुभि अपनी ध्वनि मात्र से विपक्षी को पराजित करती थी, ऐसी मान्यता निम्न मन्त्र में पाई जाती है—

स दुन्दुभे सजुरिन्द्रेण देवैर्दूराद् दवीयो अप सेध शत्रून्॥

ऋ० ९।५१।१ में वाण नामक तन्त्री-वाद्य[2] की गम्भीर ध्वनि का उल्लेख है—'उत्तेशुस्मास ईरते'''वाणस्य चोदयापविम्'। इस मन्त्र में सोमरस से प्रार्थना की गई है कि पर्जन्य धारा के समान पात्र में तैलधारावत् गिरते हुए 'वाण' की भाँति गूँजा हुआ स्वर उत्पन्न करें। वाण वाद्य का वादन 'पवमान' सोम के प्रीत्यर्थ किये जाने का उल्लेख निम्न ऋक् में है—

'प्रहंसासः स्तृपलं पवमानं सखायो दुर्मर्षं साकं प्रवदन्ति वाणम्'।[3]

ऋग्वेद में मरुद्गणों को संगीतप्रिय बताया गया है। निम्न ऋक् में मरुतों के वाण बजाकर पराक्रम करने का उल्लेख है—

धमन्तो वाणं मरुतः सुदानवो मदे सोमस्य रण्यानि चक्रिरे॥[4]

---

१. ऋ० १०।१३५।४

२. मेक्समूलर के अनुसार ऋग्वेद में वाण का अर्थ केवल कंठस्वर ही हो सकता है। वेणु अथवा वीणा का बोधक होने के सम्बन्ध में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं। इसी के विपक्ष में यह कहना आवश्यक है कि 'वाण' का वीणा के अर्थ में प्रयोग सूत्र साहित्य की परम्परा में पाया जाता है। सायण के अनुसार वाण 'शततन्त्रीयुक्त वीणा' है—'ते मरुतः वाणं शतसंख्याभिस्तंत्रीभिर्युक्तं वीणाविशेषं धमन्तो वादयन्तः।'

३. ऋ० ७।९७।८

४. वही, १।८५।१०

ऋग्वेद में अन्यत्र भी वाण वाद्य की सप्त तन्त्रियों का संकेत मिलता है—

माता यन्मन्तुर्यूथस्य पूर्व्याऽभि वाणस्य सप्तधातुरिज्जनः ।[1]

तत वाद्यों के अन्तर्गत कर्करि, गर्गर, क्षोणी आदि वाद्यों का उल्लेख ऋग्वेद में उपलब्ध है। ऋग्वेद के निम्न मन्त्र में भाष्यकार वैंकट तथा सायण के अनुसार 'क्षोणी' नामक वीणा का संकेत है—

युवं श्यावाय रुशतीमदत्तं महः क्षोणस्याश्विना कण्वाय ।[2]

ऋग्वेद के "युवमत्रयेऽवनीताय तप्त' के भाष्य में उपर्युक्त दोनों भाष्यकारों की सम्मति में शाट्यायन ब्राह्मण की वीणा विषयक निम्न आख्यायिका का स्पष्ट संकेत है। कथा इस प्रकार है—किसी समय असुरों ने कण्व मुनि को अन्धेरी कोठरी में बन्द कर दिया तथा उनके नेत्रों को भी बन्द कर यह आदेश दिया कि बिना नेत्रों के ही उषागमन की बात कह कर वे अपने ब्राह्मणत्व की प्रतिष्ठा प्रमाणित करें। कण्व के ब्राह्मणत्व के कारण अश्विन देवता ने अपने प्रातःकालीन वीणा वादन से उन्हें उषःकाल की सूचना दी जिस पर असुरों ने उन्हें मुक्त कर दिया ।[3]

शाट्यायन ब्राह्मण के आधार पर स्पष्ट हो जाता है कि उस समय प्रातःकाल पर मंगलवाद्य के रूप में वीणादि वाद्यों का वादन किया जाता था।

ऋ० २।४३।३ में 'कर्करि' नामक वाद्य का उल्लेख है—'यदुत्पन् वदसि कर्करिः यथा'।[4] निम्न मन्त्र में गर्गर तथा गोधा नामक वाद्यों का उल्लेख है—

---

१. १०।३२।४; इस मन्त्र पर सायण की व्याख्या निम्नानुसार है—वाणस्य वाद्यस्य सप्तधातुः निषादादिसप्तस्वरोपेतो जनः अभिगच्छति तद्वत् तद्गुणोपेतं भावः। नाट्य शास्त्र में 'धातु' का प्रयोग विशेषतः तन्त्री स्वरों के लिये किया गया पाया जाता है, जोकि अंगुलियों के अलग-अलग आघात,प्रत्याघात से उद्भूत होते हैं (५।३९,४२ तथा २९।८१–९९)। मध्यकालीन संगीतदामोदरकार के अनुसार धातु स्वर की ही पर्याय है—'तत्र नादात्मको 'धातुः' ।

२. १।११७।८; सायण के शब्दों में—'कण्वाय क्षोणस्य क्षोणः शब्दकारि-वीणाविशेषः महामहतः क्षोणस्य श्रवः शब्दं अध्यधत्तम् उषसो विज्ञानार्थं—।'

३. १।११८।७; सायण इस कथा का संकेत निम्न शब्दों में करते हैं—'ऋषये चक्षुः व्युष्टाया उषसः प्रकाशकं वीणाशब्दं प्रत्यधत्तं कृतवन्तौ—कण्वाय चक्षुरिन्द्रियं प्रत्यधत्तं प्रत्यस्थापयतम् ।'

४. सायण के अनुसार 'कर्करि' एक वाद्य विशेष है। किन्हीं प्रमाणों के अभाव में इस वाद्य का स्वरूप स्पष्ट नहीं किया जा सकता।

अव स्वराति गर्गरी गोधा परि सनिस्यनत् पिङ्गा परि च
निष्कद्दिन्द्राय ब्रह्मोद्यतम् ॥[1]

'आघाटि' नामक वाद्य का उल्लेख ऋ० १०।१४६।२ में पाया जाता है— 'आघाटिभिरिव धावयन्नरण्यानिर्महीयते'। सायण के अनुसार आघाटि के लिये अन्य पर्याय घाटलिका तथा काण्डवीणा है। ऐतरेय आरण्यक में यजमान-पत्नी के द्वारा किये जाने वाले काण्डवीणा तथा भूमिदुन्दुभि के वादन का उल्लेख है— 'भूमिदुन्दुभि पत्न्यश्च काण्डवीणा' (५-१-५)। पं० क्षितिमोहन सेन के अनुसार आघाटि का अर्थ घाट अर्थात् परदों से निर्मित वाद्य से है[2]। किसी प्रबल प्रमाण के अभाव में आघाटि वाद्य का यह स्वरूप ऋग्वेदकालीन नहीं माना जा सकता। ऋग्वेद के दशम मण्डल में गीत तथा वाद्य के मंजुल संयोग की बात उल्लिखित है।[3] यम का सदन नानाविध गीतों से तथा 'नाड़ी' नामक वाद्य की ध्वनि से परिव्याप्त बताया गया है—'इयमस्य धम्यते नाडीरयं गीर्भिः परिष्कृतः'।[4] सायण के शब्दों में—'इयं नाडीः वाद्यविशेषो वेणुः धम्यते वाद्यते यद्वा नाडीति वाङ्नाम इयं स्तुतिरूपा वाक्।' नाडी का नालिका अथवा नलिका से सादृश्य यह स्पष्ट करता है कि वह एक सुषिर वाद्य रहा है, जो फूंक से बजाया जाता था।

ऋग्वेद के ऐतरेय आरण्यक में दैवी तथा मानुषी वीणा का सुन्दर सामंजस्य उपस्थित किया गया है। ऐतरेय आरण्यक का यह अंश इस प्रकार है—

"अथ खल्वियं दैवी वीणा भवति तदनुकृतिरसौ मानुषी वीणा भवति यथास्याः शिर एवममुष्याः शिरः यथाऽस्या उदरमेवममुष्या अम्भणम् यथाऽस्यै जिह्वैव-ममुष्यै वादनम् यथाऽस्यास्तंत्रय एवममुष्या अंगुलयः यथाऽस्याः स्वरा एवममुष्याः

१. ८।६९।९; सायण के अनुसार गर्गर वाद्य गर्गर ध्वनि करने वाला है— 'गर्गरो गर्गरध्वनियुक्तो वाद्य-विशेषः।' स्पष्ट है कि केवल इसी आधार पर इस वाद्य का स्वरूपनिर्णय संभव नहीं। कुछ विचारकों के अनुसार इस मन्त्र में उल्लिखित 'पिङ्गा' धनुष् के आकार का 'तत' वाद्य है तथा रावणास्त्र अर्थात् आधुनिक वायलिन नामक वाद्य से मिलता जुलता है। उनका अनुमान है कि पिंगल वर्ण की अंत्रियों से इसकी तंत्रियां निर्मित होने के कारण यह पिंग कहलाता है (संगीत ओ संस्कृति, स्वामी प्रज्ञानानन्द)। यह अनुमान अन्य प्रमाणों के अभाव से प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

२. 'संगीत ओ संस्कृति', पूर्वाभास, पृ० २८

३. यमसूक्त

४. ऋ० १०।१३५।७

स्वराः यथाऽस्याः स्पर्शा एवममुष्या स्पर्शाः यथा ह्येवैयं शब्दवती तर्दमवत्येव-मेवाऽसौ शब्दवती तर्दमवती यथा ह्येवेयं लोमशेन चर्मणाऽपिहिता भवत्येव-मेवासौ लोमशेन चर्मणाऽपिहिता। लोमशेन ह स्म वै चर्मणा पुरा वीणा अपिदधति।''[1]

तात्पर्य यह है कि दैवी वीणा अर्थात् शारीरी वीणा के जिस प्रकार शिर, उदर, जिह्वा, तन्त्रियां, स्वर, स्पर्श, शब्द तथा चर्म आदि अंगोपांग हैं, ठीक वैसे ही मानव निर्मित काष्ठमयी वीणा के हैं। वीणा के शिर से अभिप्राय तुम्बा-फल से है; काष्ठ की खोह इसका उदर है, जो ध्वनि में गुञ्जन उत्पन्न करता है; वीणा की जिह्वा उसकी वादन-क्रिया है; वीणा की अनेक तन्त्रियां उसकी अंगुलियाँ हैं; वीणा से उद्भूत होने वाले स्वर उसकी वाणी हैं; शारीरी वीणा अर्थात् कण्ठ की ध्वनि जैसे ध्वन्युत्पादक स्थानों के आभ्यन्तर स्पर्श से होती है, वैसे ही वीणा के स्वर-स्थानों के स्पर्श से ध्वनि का निष्पादन होता है। शारीरी वीणा का निर्माण जैसे धमनियों से हुआ है वैसे ही दारवी वीणा भी अनेक तन्त्रियों से निबद्ध है। मनुष्य के देह को आच्छादित करने वाले चर्म की भांति यह वीणा भी चर्म से आच्छादित की जाती है।

ऋग्वेद की साक्ष्य से स्पष्ट है कि बैलों की खाल पकाने की कला तथा उसको विविध उपकरणों के लिए योग्य बनाने की कला ऋग्वेदकाल में अवगत थी।[2] इससे यह प्रबल अनुमान किया जा सकता है कि वीणा तथा अवनद्ध वाद्यों के लिये उपयोगी चर्म तथा तन्त्रियां बनाने की कला भी उस समय प्रचलित थी।

ऋग्वेद में गीत तथा वाद्य के साथ नृत्यकला का प्रचुर अस्तित्व पाया जाता है। नवोदित उषा की स्वर्णिम आभा को देखकर वैदिक ऋषि को सुसज्जित नर्तकी के विभ्रम का स्मरण हो आता है—'अधि पेशांसि वपते नृतुरिवा'।[3] नृत्यकलाकुशल तथा यौवनसम्पन्न नारी की भाँति उषा का अंगाभिनय मुग्धकारी बताया गया है। नृत्य का कार्यक्रम खुले प्रांगण में तथा उन्मुक्त वातावरण में एकत्रित जनता के सम्मुख होता था, जिसमें नर तथा नारी दोनों भाग लेते थे। सामूहिक नृत्य से उत्थित होने वाली धूलि का उल्लेख ऋग्वेद के १०।७६।६ में पाया जाता है। ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में विविध गति-कर्मों से युक्त लोक-

---

१. ३।२५
२. ७।६३।१
३. १।९२।४

नृत्य का उल्लेख पाया जाता है—'प्रान्चो अगाम नृतये हसाय'[1]। महाव्रत नामक सोमयाग में दासियों का समूह–नृत्य आयोजित होता था, जिसमें कम से कम तीन तथा अधिकाधिक छह नर्तकियाँ होती थीं। प्रत्येक नर्तकी मस्तक पर जल भरी गगरी धारण किये हुए बायें से दायें की ओर वर्तुलाकार गति से नृत्य करती थी। नृत्य का पदक्षेप गीत के साथ हुआ करता था—

प्रेष्याः संशास्ति पूर्ण उदकुम्भास्तिस्त्रौवमाः षड्डुत्तमाः। इमं धि[illegible] कुंभं च त्रिः प्रदक्षिणं परिव्रजाय दक्षिणैः पाणिभिर्दक्षिणानूरूनाघ्नाना एहूयेषा ३ इदम्मधू इदम्मधिवति वदन्त्यः। (ऐ० आ० १।१)[2]

विवाह के अवसर पर चार से लेकर आठ तक सुहागनियों को सुरा पिलाकर चतुर्वार नृत्य करने के लिये प्रेरित किया जाता था।[3] सीमन्तोन्नयन विधि में पति वीणावादकों से सोमदेव के सम्बन्ध में वादनयुक्त गान करने को प्रेरित करता था।[4] विवाह विधि में पत्नी के द्वारा गायन किये जाने का उल्लेख वैदिक वाङ्मय में यत्र तत्र पाया जाता है।[5]

यजुर्वेद में संगीत

यजुर्वेद यज्ञ संस्था के उत्कर्ष का प्रतीक है। यज्ञों के विस्तृत कार्य के सम्पादन में श्रमविभाजन तत्व को लेकर चार स्वतन्त्र ऋत्विजों की आवश्यकता मानी गई। यही चार क्रमशः होता, अध्वर्युं, उद्‌गाता तथा ब्रह्मा कहलाते हैं। यज्ञ कार्यों का संचालकत्व अध्वर्यु नामक ऋत्विज के द्वारा किया जाता है। यह यजन–कर्म जिन मन्त्रों के द्वारा किया जाता है, उन्हीं का संकलन यजुः संहिता में हुआ है—

'ऋग्भिः यजुभिः सामभिर्यदेन ऋग्भिः शंसन्ति यजुभिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति'।[6]

सोमयागों में ऋक्, यजु, तथा साम तीनों प्रकार के मन्त्रों का अनिवार्य स्थान है। अन्तर यह है कि यजु का केवल उपांशु उच्चारण किया जाता है,

---

१. १०।१८।३; इस पर सायणभाष्य इस प्रकार है—'तत उत्तरं वयं प्राञ्च प्राङ्मुखानना अयाम नृतये नर्तनाय कर्मणि गात्रविक्षेपाय स्वकर्मानुष्ठानयेति भावः।'

२. तुलनार्थ द्र० शांखायन गृह्यसूत्र, १।११।५

३. शांखायन, १।११।५

४. वहीं, १।२२।११; आश्व १।१४।६

५. वहीं, १।२२।१६

६. सायण

ऋक् का 'पाठ' किया जाता है तथा साम का यथाविधि गान किया जाता है। यजुर्वेद के मन्त्रों का स्वरूप निम्न वचनों से स्पष्ट हो सकता है—

१—'अनियताक्षरावसाने यजुः' अर्थात् यजु वह है जिसमें अक्षरों की संख्या नियत अर्थात् निश्चित न हो।

२—'गद्यात्मको यजुः' अर्थात् अध्वर्यु के द्वारा उच्चरित गद्यात्मक मन्त्रों के लिए 'यजुस्' संज्ञा है।

इससे स्पष्ट है कि यागानुष्ठान के लिए विनियोग वाक्यों के रूप में गद्य-मन्त्रों का मुख्यतः समावेश यजुस् का वैशिष्ट्य है। इन मन्त्रों का उच्चारण प्रायः उपांशु स्वर में किया जाता रहा है। जिन मन्त्रों का उद्देश्य अन्य ऋत्विजों का केवल कार्यनिर्देश मात्र है, उनके लिये निगद संज्ञा रही है तथा उनका उच्चारण उच्चैः स्वर में किये जाने का विधान है। यद्यपि संगीत के विकास की दृष्टि से यजुर्वेद का कोई महत्व नहीं लक्षित होता, तथापि प्राचीन संगीत विषयक परि-स्थिति जानने के लिए तदन्तर्गत उल्लेख कम उपकारक नहीं। यजुर्वेद तथा उससे सम्बद्ध ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा सूत्रग्रन्थों के आधार पर संगीत विषयक तथ्यों का संकलन निम्न प्रस्तुत किया जा रहा है।

यजुर्वेद की शुक्ल तथा कृष्ण उभय शाखाओं में सामवेद का प्रभूत प्रशस्ति-गान हुआ है। तैत्तिरीय संहिता में ऋक् तथा यजु की अपेक्षा साम को अधिक गौरवशाली माना गया है—

देवा वै नर्चि न यजुष्यश्रयन्त ते सामन्नेवाश्रयन्त।[1]

अर्थात् देवताओं का वास्तविक आश्रय-स्थान साम है, न कि ऋक् अथवा यजु। तात्पर्य यह कि देवताओं को प्रसन्न करने के लिये सामगान जितना प्रभा-वात्मक है, उतना ऋक् तथा यजु का पठन नहीं। आवश्यक यह है कि यह गान ऋचा के आश्रय से किया जाना चाहिए—

यद् वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तत्, यदृचा तद् दृढमिति।[2]

यज्ञ कार्य के लिये साम की अपरिहार्यता का संकेत तैत्तिरीयसंहिता में निम्न शब्दों में हुआ है—'अयज्ञो वा एषः। योऽसामा'।[3] अर्थात् जिस यज्ञ में साम गान नहीं, वह यज्ञ अभिधान के लिये पात्र नहीं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ऋग्वेद अग्नि से, यजु वायु से तथा सामवेद आदित्य से उद्भूत हुआ है।[4]

---

१. २।५।७

२. ६।५।१०।३

३. २।५। ८

४. १।१–५–८; तुलनार्थ द्र० ऐत० ब्रा० ५।५।७

चतुर्वर्णात्मक व्यवस्था को लेकर भिन्न रूपक तैत्तिरीय ब्राह्मण में पाया जाता है, जो सामवेद के सम्बन्ध में तत्कालीन मान्यता को स्पष्ट करने वाला है—

"ऋग्भ्यो जातं वैश्यवर्णमाहुः । यजुर्वेदं क्षत्रियस्याहुर्योनिम्। सामवेदो ब्राह्मणानां प्रभूतिः' ।[1]

अर्थात् ऋक् से वैश्य की उत्पत्ति, यजुष् से क्षत्रिय की उत्पत्ति तथा सामवेद से ज्योतिर्मय ब्राह्मण की उत्पत्ति हुई है।

यजुर्वेद के ब्राह्मण तथा आरण्यक वाङ्मय से स्पष्ट है कि साम का गायन न केवल सामगायकों तक ही सीमित था, अपितु अन्यान्य वैदिक शाखाओं में भी प्रचलित था। तैत्तिरीय ब्राह्मण में अध्वर्यु के सामगान का स्पष्ट उल्लेख है।[2] तैत्तिरीय आरण्यक में स्पष्ट विधान है कि शान्ति-विधि में यदि उद्गाता साम न गाता हो, तो सामगान अध्वर्यु के द्वारा किया जाना चाहिये।[3] यजुर्वेदियों में प्रचलित सामगान–प्रणाली का संकेत सायण की निम्न उक्ति में हुआ है—

पादश्च गीतिः।...हाउ इत्यादिकं साम यजुर्वेदे गीतम्।...पादेनार्धर्चेनोपेता वृत्तबद्धा मन्त्राः ऋचः। गीतरूपा मन्त्राः सामानि[4]।

यजुर्वेदीय कर्मकाण्ड में अन्य मन्त्रों के साथ सामगान भी प्रवृत्त होता रहा है, इसके सम्बन्ध में सायण का निम्न कथन मननार्ह है—

एतत्साम गायन्नास्ते इति प्रतिज्ञाय किंचित् साम यजुर्वेदे गीतम्।[5]

यजुर्वेद में निम्न साम–विशेषों का नामोल्लेख हुआ है, यथा रथन्तर, वैराज, वैखानस, वामदेव्य, शाक्वर, रैवत तथा अभीवर्त। इन सामों के विशिष्ट गानकाल तथा स्तोम–संख्या का विवरण निःसन्देह महत्वपूर्ण है, उदाहरण के लिये—

(अ) रथन्तरं साम त्रिवृत्स्तोमो वसन्तऋतुः।
(आ) बृहत्साम पंचदशस्तोमो ग्रीष्मऋतुः।
(इ) वैरूपं साम सप्तदशस्तोमो वर्षाऋतुः।
(ई) शाक्वररैवते सामनी...हेमन्तऋतुः।

'स्तोम' वैदिक संगीत का महत्वपूर्ण अंग रहा है। स्तोम स्तवन की एक विशिष्ट प्रणालि है—'स्तोमः स्तवनात्'।[6] स्तोम का निर्माण ऋचाओं के विशिष्ट

१. ३।१२।९
२. १।२; और द्रष्टव्य कात्यायन श्रौतसूत्र, ३।२२९
३. प्र० ४
४. यजुर्भाष्य
५. ऋग्वेदभाष्य भूमिका
६. निरुक्त, ७–३–६

क्रम तथा आवृत्ति से होता है—'गीत्याश्रयाणामावृतानां ऋचां समूहस्तोमः' (सायण)। क्रम के विविध पर्यायों से इसके निम्न नवभेद माने जाते हैं—(१) त्रिवृत् (२) पंचदश (३) सप्तदश (४) एकविंश (५) त्रिणव (६) त्रयस्त्रिंश (७) चतुर्विंश (८) चतुश्चत्वारिंश तथा (९) अष्टाचत्वारिंश।[१] स्तोम का आधार तृच् अर्थात् तीन ऋचाओं का समूह है तथा इन्हीं के सम्बन्ध में उपर्युक्त सभी पर्याय विहित है। वैदिक स्तोमगान के सदृश प्रकार आधुनिक संगीत की गान-शैली में लक्षित होता है। आधुनिक संगीत में गीत की एक ही पंक्ति को विभिन्न भंगियों से गाकर गायक गीत को नवीनता प्रदान करता है तथा नव-नवीन रागरूपों का निर्माण करता है। ठीक वैसा ही प्रकार स्तोम के विभिन्न पर्यायों में कल्पित किया जा सकता है, अन्यथा एक ही एक ऋचा की अनेकबार आवृत्ति सार्थक नहीं मानी जा सकती। नवनवोन्मेष के अतिरिक्त स्वर समूह को सम्यक् रूप से कंठगत करने का उद्देश्य भी इसमें परिकल्पित किया जा सकता है। ऋचाओं का आवृत्तिमूलक गान विभिन्न स्वरस्थानों को विशुद्ध तथा मधुर बनाने में सहायक होता रहा हो, इसमें सन्देह नहीं।

यजु:संहिता में विशिष्ट सामों का सम्बन्ध विशिष्ट ऋतुओं से निर्दिष्ट किया गया है, जिसका संकेत हम ऊपर कर चुके हैं। रथन्तर साम का गान वसन्त ऋतु मेविहित है, बृहत्साम का ग्रीष्म ऋतु में, वैरूप का वर्षा में तथा शाक्वर और रैवत का हेमन्त ऋतु में। सामों का सम्बन्ध इन ऋतुओं से किस सिद्धान्त पर स्थापित हुआ, इसका निर्णय प्रमाणाभाव से किया जाना कठिन है।

जैसा कि ऊपर संकेतित है, यजुर्वेद का संकलन यज्ञसम्बन्धी कर्मकाण्ड की सुविधा के लिये हुआ है। शुक्ल यजु की वाजसनेयी संहिता तथा कृष्ण यजु की तैत्तिरीय संहिता दोनों में अग्निष्टोम, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध आदि सोमयागों का विशद एवं विस्तृत विवरण है। सोमयाग की प्रमुख संस्थाएँ ७ हैं—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थय, षोडशी, अतिरात्र, अप्तोर्याम तथा वाजपेय[२]। इन सोमयागों के सम्बन्ध में सवन, साम तथा लौकिक संगीत का विस्तृत विवरण यजुर्वेद में पाया जाता है, जो तत्कालीन संगीत विषयक उत्कर्ष तथा व्यापक प्रसार का द्योतक है।

---

१. इन स्तोमों का विवरण तथा उनका विविध छन्दों से सम्बन्ध वाजसनेयी संहिता (अ० ९।३३–३४) में प्राप्त होता है—'मित्रो नवाक्षरेण त्रिवृतं स्तोम-मुद्जयत्—।'

२. तुलनार्थ द्रष्टव्य आश्वलायन तथा कात्यायन श्रौतसूत्र (६।११; १९।२७; १२।३।१९०)

अग्निष्टोम में सोम-सवन का प्रमुख स्थान है। सोम को पत्थर से कूटकर उससे रस निकालने की विधि की पारिभाषिक संज्ञा 'सवन' है। सोम का सवन, हवन तथा पान यही क्रम सोमयागों में प्रवृत्त होता है। सोम को पत्थरों से कूटकर उसका रस निकाला जाता है तथा दूध मिलाकर उसे प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल अग्नि में हवन किया जाता है। विशिष्ट हवनकाल के अनुसार यह अनुष्ठान क्रमशः प्रातःसवन, मध्याह्न सवन एवम् सायं सवन इन नामों से अभिहित होते हैं। विभिन्न देवताओं को सोमरस का अवदान अर्पित करते समय होता के द्वारा शस्त्रपठन तथा उद्गाता के द्वारा स्तोत्र गायन यह क्रम प्रचलित होता है। विशेष बात यह कि सर्वप्रथम उद्गाता अपने अन्य साथियों के साथ स्तोत्रगान करता है और उसके अन्तर उन्हीं देवताओं को उद्देश्य कर होता शस्त्र-पठन अर्थात ऋचाओं का पाठ करता है।

यजुर्वेद में वर्णित सोमयाग में सामगायक का सर्वप्रधान स्थान है। यज्ञकार्य की वृद्धि तथा विस्तार के साथ उद्गाता का कार्यक्षेत्र क्रमशः विस्तृत हुआ तथा गायन के लिये सहयोगियों की आवश्यकता अनुभूत हुई। सोमयाग की प्रत्येक क्रिया एवं प्रक्रिया संगीत से समन्वित हुआ करती थी। अग्न्याधान तथा अन्य महत्वपूर्ण प्रसंगों पर उद्गाता स्वयं गान करता था तथा अन्य गौण प्रसंगों पर गायन का दायित्व प्रस्तोता, प्रतिहर्ता तथा उपगाता नामक सहयोगियों को सौंप दिया जाता था। यज्ञों में उद्गाता तथा सहयोगियों के गायन में कहीं कहीं भिन्नता तथा कहीं सहकार्य पाया जाता है। कुछ प्रसंगों पर केवल उद्गाता का गान विहित है, कुछ अवसरों पर केवल प्रस्तोता के लिये गान करने का विधान है और कहीं कहीं साम के सामूहिक गायन करने की विधि है। ऐसे वृन्दगान में साम के विभिन्न भाग विभिन्न गायकों के द्वारा गाये जाते हैं तथा अन्त में उद्गाता नामक प्रमुख गायक के स्वर में स्वर मिलाकर समूह–गान किया जाता है। इसी सन्दर्भ में साम के निम्न पांच खण्डों का विभिन्न गायकों के द्वारा गायन किये जाने का उल्लेख है---प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव तथा निधन। सामान्यतः प्रस्ताव नामक आरम्भिक भाग का गायन प्रस्तोता का कार्य है और यह कार्य उद्गाता के प्रमुख सहायक के रूप में किया जाता रहा है। दीक्षणीया तथा घर्म[१] नामक साधारण हवन कार्यों में साम गान का सम्पूर्ण दायित्व इस पर अवश्य सौंप दिया जाता था। साम के 'प्रतिहार' नामक तृतीय खण्ड का गान स्वतन्त्र

---

१. घर्म द्रव्य का हवन सोमयाग के अन्तर्गत प्रवर्ग्य विधि में किया जाता है। इसमें घृत-पचन तथा हवन आदि कर्मों के साथ होता ऋग्वेद के मन्त्रों का पाठ करता है तथा प्रस्तोता सामगान करता है।

रूप से जिस गायक के द्वारा किया जाता है, उसी को 'प्रतिहर्ता' कहते हैं। इन तीनों गायकों के अतिरिक्त कुछ अन्य गायकों की आवश्यकता सामगान में रही, जिनका कार्य केवल स्वरभरण अथवा स्वर से संगति देना होता था। इनके लिए 'उपगाता' संज्ञा थी।

उद्गाता तथा उसके सहयोगियों का सोमयागों में विशिष्ट स्थान रहा है। अन्य ऋत्विजों की भांति यज्ञ के अन्तर्गत पुरोडाश आदि द्रव्यों का भक्षण इनके लिये सम्मत था। अन्य ऋत्विजों के साथ अश्वमेध यज्ञ में अश्व का प्रोक्षण करने का कार्य भी उनके लिये निर्दिष्ट है। इसके अतिरिक्त यज्ञयागों के अन्य क्रिया-कलाप से इनका सम्बन्ध प्रायः नहीं के तुल्य है।[1]

शुक्ल यजु की वाजसनेयी संहिता में तत्कालीन व्यवसाय तथा कला कौशल का पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है। अ० ३० में 'पुरुषमेध' का वर्णन है जिसमें देवता के प्रीत्यर्थ उसको रुचने वाले पुरुषों के आलम्भन अथवा आहुति दी जाने की विधि है। इसके अन्तर्गत सूत, शैलूष, नर्तक, गायक, वीणावादक, वंशीवादक, शंखध्म, काहलवादक, दुन्दुभिवादक तथा वीणा के लिये वस्त्रावरण बनाने वालों का उल्लेख है, जो संगीत के विभिन्न व्यवसायी वर्गों का स्पष्ट संकेत करते हैं। गीताभिमानी देवता के लिये ऐसे पुरुष का आलम्भन विहित है, जो वीणावादन में कुशल होते हुए स्वर तथा मात्राओं की गणना में भी कुशल है। नृत्याभिमानी देवता के लिये ऐसे पुरुष की आहुति विहित है, जो हाथ से ताल देने में कुशल है। गन्धर्व तथा अप्सराओं के प्रीत्यर्थ व्रात्य अथवा संस्कारहीन व्यक्ति की आहुति का विधान है—

१—नृत्ताय सूतं। गीताय शैलूषम्।[2]

२—महसे वीणावादम्। क्रोशाय तूणवध्मम्। अवरस्वराय शंखध्मम्। आनंदाय तलवम्।[3]

उपर्युक्त आलम्भन विधि से स्पष्ट है कि इन वाद्यों के व्यवसायी कुशल संगीतकारों के विभिन्न वर्ग उस समय निर्मित हुए थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण में उनके अतिरिक्त तालधारी व्यक्तियों के स्वतन्त्र वर्ग का उल्लेख 'गणक' नाम से पाया जाता है—

'वीणावादकं गणकं गीताय'।[4]

---

१. द्रष्टव्य, हिरण्यकेशी, श्रौतसूत्र प्र० ८ पटल ३ और ४

२. वाजसनेयी, ३०, कं० ६

३. तैत्ति० ब्रा० ३।४।१३; तुलनार्थ द्र० शुक्ल यजुः संहिता अ० ३०।१९

४. तैत्ति० ब्रा० अ० १५

वीणावादन तथा नृत्य के साथ हाथ से ताल देने वाले व्यक्तियों को नियुक्त किया जाता था। वाजसनेयी संहिता में 'वंशनर्तिन्' अथवा वंश पर नृत्य करने वाले वर्ग का उल्लेख है।[1] नटों के लिये 'शैलूष' संज्ञा थी। गायन का व्यवसाय सूत तथा शैलूष जातियों के द्वारा किया जाता था। यद्यपि जन्मतः यह जातियां कुत्सित मानी जाती हैं, तथापि कला-कौशल के कारण इनको समादर की दृष्टि से देखा जाता था। सूत का अन्तर्भाव राजकर्ता तथा 'अर्हत्य' (अहन्य) के रूप में किया गया पाया जाता है।[2]

यजुर्वेद संहिता में वीणा, वाण, तूणव, दुन्दुभि, भूमिदुन्दुभि, शंख तथा तलव आदि वाद्यों का उल्लेख है। अश्वमेध आदि यज्ञों में मनोरंजन के निमित्त गाथा-गान तथा वीणादि वाद्यों का वादन किया जाता था। वाजपेय यज्ञ में महावेदि के चारों कोनों पर १७ दुन्दुभि स्थापित किये जाते थे और रथों की प्रतियोगिता के साथ इनकी तुमुलध्वनि प्रोत्साहन के रूप में प्रचलित रहती थी।[3] माहेन्द्र स्तोत्र के द्वारा सूचना दिये जाने पर वीणाओं के साथ दुन्दुभियों का घोष किया जाता था (आपस्तम्ब, २१।१९)।[4] वीणा, तूणव तथा दुन्दुभि के सम्बन्ध में तैत्तिरीय संहिता में मनोरंजक आख्यायिका पाई जाती है—

"वाग्वै देवेभ्योऽपाक्रामद्यज्ञायातिष्ठमाना सा वनस्पतीन् प्राविशत् सैषा वाग्वनस्पतिषु वदति या दुन्दुभौ या तूणवे या वीणायाम्"।[5]

तात्पर्य यह है कि वाक् देवी देवताओं से किसी कारण अप्रसन्न होकर वनस्पतियों में प्रविष्ट हुई। वही वाणी दुन्दुभि, तूणव तथा वीणादि काष्ठनिर्मित वाद्यों से ध्वनित होती है।

शततन्त्री 'वाण' वाद्य की महत्ता के सम्बन्ध में तैत्तिरीय संहिता में निम्न उल्लेख प्राप्त है—

"वाणः शततन्तुर्भवति शतायुः पुरुषः शतेन्द्रिय आयुष्येवेन्द्रिये प्रतितिष्ठन्ति"।[6]

१. द्र० ३०।२१

२. तै० सं० ४।५।२।१; वाज० १६।१८

३. द्रष्टव्य 'महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश', वैदिक खण्ड, पृ० १३३

४. तुलनार्थ द्र० सत्या० १६।३।३९; कात्या० १३।४८; लाटचा० ४।३।३९ द्राह्या० श्रौ० सू० २०।२१

५. ६।१।४

६. ७।८।९ तथा ७।५।९; तुलनार्थ द्र० कात्या० श्रौ० सू० १३।३३–३४

इस वाद्य की तन्त्रियां मौन्जी की बनी हुई होती थीं तथा उसका वादन 'इषीका' अथवा वेतस् के वक्राकार खण्ड से किया जाता था—

"पृष्ठयस्योपाकरणं वाणेन शततन्तुना। मौन्ज्यास्तन्तवः। वेतसंवादनम्"।[1]

बौधायन सूत्र के अनुसार औदुम्बर की आसंदी पर बैठकर उद्गाता वाण वाद्य को बजाता था—

'औदुम्बरीमुद्गाताऽसन्दीमारोहत्यादत्ते वाणं शततन्तुम्' (१६।२१)।

आपस्तम्ब सूत्र में 'वाण' वाद्य की सम्पूर्ण रचना तथा आकार प्रकार निम्न शब्दों में प्रतिपादित है—

"औदुम्बरस्य वीणादण्डस्य दशदशातिमतिथान्येकैकस्मिन्नतिमथिते मौन्जान्स्तन्तून्प्रवयन्ति स वाणः शततन्तुः। अथैकेषां भूस्त्रयस्त्रिंशतन्तव इति त्रयस्त्रिंशतमध्वर्युः प्रतनोति। भुवस्त्रयस्त्रिंशतन्तव इति त्रयस्त्रिंशत् होता। सुवस्त्रयस्त्रिंशतन्तव इति त्रयस्त्रिंशतन्तमुद्गाता गृहपतिमुत्तमम्[2]।"

अर्थात् औदुम्बर काष्ठ से निर्मित वीणादण्ड के अधोभाग में छोटे-छोटे दस छिद्र बनाये जाते थे तथा हरेक में से मौन्जा के दस तन्तु पिरोये जाते थे। इस प्रकार शततन्त्री वाले वाण वाद्य का निर्माण होता था। इसके तैंतीस तार अध्वर्यु के द्वारा समन्त्र पिरोये जाते थे, तैंतीस होता के द्वारा तथा तैंतीस उद्गाता के द्वारा। शेष एक तार गृहपति नामक यजमान के द्वारा निबद्ध किया जाता था। इसके वादन के लिये तीन पर्वों से युक्त वेणुकाण्ड अथवा वेतसकाण्ड का प्रयोग किया जाता था—

वाग्भद्रमिति त्रिपर्वोत्कटशलाकया वेणुकाण्डेन वेतसकाण्डेन वा वाणं संवाद्य तेन माहेन्द्रस्तोत्रमुपाकरोति उद्गाता यन्तीति विज्ञायते। तमुद्गातः दक्षिणेंद्वाहाँहुँ प्रतिवादयन्नास्ते।[3]

वाणवादक उद्गाता आसन्दी के उच्चासन पर बैठता था तथा अन्य उपगातागण, अध्वर्यु-गण तथा यजमान-स्त्रियां पार्श्वस्थ दर्भासन पर आसीन होती थीं—

"औदुम्बरीमासन्दीमुद्गात्र उपनिदधाति कूर्चेषु होत्रका उपगातर पत्नय इत्यासते[4]।"

---

१. कात्या० श्रौ० ३।२।

२. २१।१७; तुलनार्थ द्र० सत्या० प्र० १६

३. वहीं, २१।१८

४. तुलनार्थ द्र० तैति० सं० ७।५।८; सत्या० हिरण्य श्रौ० १६।५।६; ऐत० आ० ५।१।४; बौधा० १६।२१।

यजुर्वेद में दुन्दुभि तथा भूमिदुन्दुभि नामक अवनद्ध वाद्यों का गौरवपूर्ण उल्लेख हुआ है। शुक्ल यजु में दुन्दुभि की वन्दना निम्न शब्दों में की गई है—

"नमो दुन्दुभ्याय चाहनन्याय चेति[१]।"

कृष्ण यजु की तैतिरीय संहिता में दुन्दुभि की धीरगम्भीर ध्वनि के सम्बन्ध में निम्न वचन हैं—

"दुन्दुभिन्समाध्नन्ति परमा वा एषा वाग्या दुन्दुभौ परमामेव वाचमव-रुन्धते[२]।"

भूमि-दुन्दुभि के सम्बन्ध में तैत्तिरीय संहिता में निम्न उक्ति पाई जाती है—

"भूमि-दुन्दुभिमाध्नन्ति यैवेमां वाक् प्रविष्टा तामेवावरुन्धतेऽथो इमामेव जयन्ति[३]।"

भूपृष्ठ पर बनाई गई दुन्दुभि के लिये भूमिदुन्दुभि संज्ञा है। भाष्यकार भट्टभास्कर के शब्दों में—'चर्मणा आच्छादितमुखम् भूगर्भम्।' सामान्य दुन्दुभि का निर्माण काष्ठ कुहर पर चर्माच्छादन करने से होता है; भूमिदुन्दुभि के लिये काष्ठ का उपयोग नहीं होता, केवल भूमि पर गहरा गर्त खोदकर उसी को चर्म से आच्छादित किया जाता है तथा 'आहनन' नामक वादनदण्ड से इसका वादन किया जाता है।[४] यजुर्वेद के सूत्रवाङ्मय में इसकी निर्माणविधि सविस्तर उपलब्ध है। बौधायन श्रौत सूत्र के अनुसार—

"अपरेणाग्नीध्रं गर्तं खादयित्वार्षभेण क्रूरचर्मणोत्तरलोम्नाऽभिविध्नन्ति। तस्य लांगूलैरुत्खिद्य हन्तानुपतिष्ठते त्रैतान्दुन्दुभीननर्दुदशमासन्जयन्ति नानाह-ननैरमाध्नत एते हन्तारोऽनूपतिष्ठन्ते[५]।"

अर्थात् आग्नीध्रीय मण्डप के पश्चिम में एक गड्ढा खोदा जाता था तथा उसको बैल के नवीन चर्म से आच्छादित किया जाता था, जिसमें केश वाला भाग ऊपर की ओर होता था। इस चर्म को चारों ओर से खूंटियों के द्वारा भूमि में

---

१. २।१७।५

२. ७।५।९।२९

३. वहीं ७।५।९

४. मध्य अफ्रीका के वन्य प्रदेशों में आज भी ऐसी दुन्दुभि का व्यवहार उपलब्ध है।

५. १६।२०; तुलनार्थ द्र० आप० २१।१८; सत्या० हिरण्य० १६।६; कात्या० १३।३; लाटचा० ३।११।१–३।

पक्का कर दिया जाता था[1]। इस प्रकार की दुन्दुभि को बजाने के लिये उसी बैल का पुच्छ वादनदण्ड के रूप में काम में लाया जाता था।

यजुः संहिता में वीणा के महत्व का भूरिशः गान हुआ है। वीणा तन्तुवाद्य के लिये सामान्य संज्ञा थी और इसी का विशाल स्वरूप वाण कहलाता था। इसी के अन्तर्गत आघाटी, घाटलिका अर्थात् अपघाटलिका, काण्डवीणा, पिच्छोला अर्थात् पिच्छोरा, स्तंबलवीणा, तालुकवीणा, गोधावीणा, अलाबु, कपिशीर्ष्णी, कर्करी अथवा कर्करीका इत्यादि विशिष्ट प्रकारों का विकास सूत्रकाल तक पाया जाता है। वीणा को साक्षात् श्री का स्वरूप माना गया है।

"श्रिया वा एतद्रूपम्। यद्वीणा। श्रियमेवास्मिन्तद्धत्तः। यदा खलु वै पुरुषः श्रियमश्नुते। वीणास्मै वाद्यते। यदुभौ ब्राह्मणौ गायेताम्[2]।"

अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग में वीणावादन से युक्त गान प्रतिदिन विहित था। वीणा राज्यलक्ष्मी का साक्षात् अवतार मानी गई थी तथा यजमान की श्री एवं समृद्धि की द्योतिका मानी गई थी—

"यदा खलु वै पुरुषः श्रियमश्नुते। वीणास्मै वाद्यते[3]।"

तैत्तिरीय तथा शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण गायक का गायन दिन में तथा क्षत्रिय का गायन रात्रि के समय विहित था। इन दोनों के गायन से अश्वमेध करने वाले राजा को ब्रह्म तथा क्षत्र दोनों प्रकार की सम्पत्ति प्राप्त होती है, ऐसी मान्यता उस काल में प्रचलित थी—

अप वा एतस्माच्छ्री राष्ट्रं क्रामति। योऽश्वमेधेन यजते। ब्राह्मणौ वीणा-गाथिनौ गायतः।···॥१॥ प्रश्रं शुक्लास्माच्छ्री स्यात्। न वै ब्राह्मणे श्री रमत इति। ब्राह्मणोऽन्यो गायेत्। राजन्योऽन्यः। ब्रह्म वै ब्राह्मणः। क्षत्रं राजन्यः। तथा हास्य ब्रह्मणा च क्षत्रेण चोभयतः श्रीः परिगृहीता भवति। तदाहुः। यदुभौ दिवा गायेताम्। अपास्माद्राष्ट्रं क्रामेत्॥ २॥ न वै ब्राह्मणे राष्ट्रं रमत इति। यदा खलु वै राजा कामयते। अथ ब्राह्मणं जिनाति। दिवा ब्राह्मणो गायेत्। नक्तं राजन्यः। ब्राह्मणो वै रूपमहः। क्षत्रस्य रात्रिः। तथा हास्य ब्रह्मणा च क्षत्रेण चोभयतो राष्ट्रं परिगृहीतं भवति।[4]

ऐसे प्रसंग पर ब्राह्मण गायक तीन गाथाओं का गान करता था तथा अन्य

---

१. "शंकुभिः परिणिहत्य" आप० २१।१८ तथा सत्या० १६।६

२. तै० ब्रा० ३।९।१४

३. वहीं

४. तै० ब्रा० ३।९।१४; तुलनार्थ द्र० शत० ब्रा० १३।१–५।

तीन का गान क्षत्रिय गायक करता था—'तिस्रोऽन्यो गाथा गायति तिस्रोऽन्यः' ।[1] इन गाथाओं का स्वरूप तैत्तिरीय ब्राह्मण में निम्नानुसार निरूपित है—

"इत्यददा इत्ययजथा इत्यप च इति ब्राह्मणो गायेत ।······इत्यजिना इत्ययुध्यथा इत्यमुं संग्राममहन्निति राजन्यः" ।[2]

अर्थात् ब्राह्मण तीन गाथाओं के द्वारा क्रमशः राजा का दान, यजन तथा उपलब्धि के सम्बन्ध में गायन करें तथा क्षत्रिय गायक अपनी तीन गाथाओं में राजा के जय, युद्ध तथा रण-विक्रम का गान करें। बौधायन श्रौत सूत्र में इसी परम्परा को निम्न शब्दों में निरूपित किया गया है—

"अथैष ब्राह्मणो वीणागाथी···इत्यददा···इति तिस्रो गाथाः ।
अथैष राजन्यो···इत्यजिना···इति तिस्रो गाथाः" ।[3]

अश्वमेध यज्ञ के अन्तर्गत सामगान के साथ ही गाथागान भी प्रचलित रहा है। साम का अन्तर्भाव मन्त्र संगीत में होता है तथा गाथाओं का स्थान लौकिक संगीत के अन्तर्गत है। सामसंगीत विशुद्ध रूप से मन्त्रात्मक अथवा देवस्तुतिपरक संगीत है, गाथा संगीत देवता तथा वीर पुरुष दोनों की स्तुति के लिये गाया जाने वाला मन्त्रबाह्य संगीत है।[4] प्रथम विशुद्ध रूप से वैदिक संगीत है तथा दूसरा लौकिक अथवा देशी संगीत है। साम का गान उद्गाता जैसे वैदिक संगीत प्रणालि में प्रवीण कलाकारों के द्वारा होता है तथा गाथागान लौकिक संगीत में तज्ज्ञ कलाकारों के द्वारा किया जाता है। इन कलाकारों को केवल गायन तथा वादन के लिए तात्कालिक रूप में आमन्त्रित किया जाता था तथा इनको योग्यतानुसार वेतन दिया जाता था—"वीणागाथिभ्यां पृथक् ददाति" ।[5] कात्यायन श्रौत सूत्र[6] गाथाओं के इस रूप का स्पष्टीकरण पाया जाता है—

---

१. शत० ब्रा० १३।१।५।६

२. तुलनार्थ द्र० आप० श्रौ० सू० २१।६; सत्या० हिरण्य श्रौ० १४।२ ।

३. बौधा० श्रौ० १५।८–९ ।

४. सीमन्तोन्नयन विधि में जिन मन्त्रों का गान वीणावादकों के द्वारा किया जाता है, उनमें सात्व जनपद की ऐतिहासिक परम्परा का समावेश पाया जाता है, उनमें सात्व जनपद की ऐतिहासिक परम्परा का समावेश पाया जाता है (द्र० वैदिक साहित्य, बलदेव उपाध्याय, पृ० ३००) (द्र० आप० गृ० सू० १४।३)। शुक्ल यजु के पारस्कर गृह्यसूत्र में विवाह के अवसर पर वर के द्वारा किये जाने वाले गाथागान का उल्लेख है।

५. कात्या० श्रौ० सू० २०।६८

६. वहीं २०।२

१—"प्रयाजेषु दक्षिगतो ब्राह्मगो यजमानस्य यज्ञदानयुक्ताः स्वयंकृतास्तिस्रो गाथा गायत्युत्तरमन्द्रायाम् ।"

२—"राजन्यो धृतिषु युद्धजययुक्ताः ।"

अश्वमेध यज्ञ के अन्तर्गत जिन अनेक इष्टियों का सम्पादन होता है, उनमें एक "सावित्री" नामक इष्टि है। इसमें "प्रयाज" संज्ञक देवताओं के लिए जब यजन किया जाता है, तब यज्ञमण्डप में दक्षिण की ओर बैठा हुआ ब्राह्मण गायक यजमान के यज्ञ तथा दान की प्रशंसा में तीन स्वरचित गाथा गाता है। इस गाथा का गान "उत्तरमंद्रा" वीणा में बतलाया गया है—

तस्यै प्रजाजेषु तायमानेषु ब्राह्मगो वीगागाथी दक्षिणत उत्तरमन्द्रामुदाधनं-स्तिस्त्रः स्वयं संमृता गाथा गायति ।[1]

यहाँ "उतरमन्द्रा" से तात्पर्य सम्भवतः वीणा के विशिष्ट अवरोही स्वरक्रम से रहा है। इस स्थिति में भरतकालीन मूर्च्छना–प्रणाली के बीज इसमें देखे जा सकते हैं।

शतपथ ब्राह्मण के उपरिलिखित मन्त्र में स्वयं रचित गाथाओं के गायन का स्पष्ट उल्लेख है, जिससे प्रमाणित होता है कि यज्ञ में नियुक्त गायक अच्छे गायक तथा वादक होने के अतिरिक्त उत्कृष्ट प्रबन्धकार भी हुआ करते थे। इससे एक अन्य तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि गायन कला का अध्ययन ब्राह्मण तथा क्षत्रिय दोनों वर्णों के द्वारा समानरूपेण होता था तथा इसके अन्तर्गत गायन, वादन तथा प्रबन्धरचना का समावेश था।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में गाथा के एक अन्य भेद का उल्लेख हुआ है, जिसको "नाराशंसी" नाम से अभिहित किया जाता था। वहां इस सम्बन्ध में एक मनोरंजक आख्यायिका उपलब्ध है—

"देवा वै ब्रह्मगश्चान्नस्य च शमलमपाध्नन्। यद् ब्रह्मगः शमलमासीत्। सा गाथा नाराशंस्यभवत्। यदन्नस्य सा सुरा। तस्माद्गायतश्च मत्तस्य च न प्रतिगृह्यम्। यत् प्रतिगृह्णीयात्। शमलं प्रतिगृह्णीयात्[2] ।"

तात्पर्य यह कि देवताओं ने वेदों के तथा अन्न के मलिन भाव को दूर कर दिया। वेदों से निकला हुआ मलिन भाग "नाराशंसी गाथा" के नाम से अभिहित हुआ तथा अन्न का कुत्सित भाग "सुरा" नाम से बोधित हुआ। इसी कारण ऐसे गाथागायक तथा मदिरामत्त पुरुष से किसी वस्तु को ग्रहण करने वाला पुरुष स्वयं मलिन बन जाता है।

१. शत० ब्रा० १३।४–२–८

२. १–३–२

प्रतीत होता है कि नाराशंसी से तात्पर्य सम्भवतः गीत के निकृष्ट प्रकार से रहा है। तत्कालीन लौकिक गायकों के द्वारा गाथाओं के यह दोनों भेद गाये जाते थे, जिनमें विशुद्ध गाथायें उच्चश्रेणीय मानी जानी जाती थीं तथा नाराशंसी को निम्नश्रेणीय माना जाता था।

जैसा ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है, संगीत का विशेष अध्ययन उद्गाता, उसके सहकारी तथा गाथी आदि गायक वर्ग के द्वारा किया जाता था। इनके अतिरिक्त सामान्य परिवार की महिलाओं में भी संगीत का विशेष प्रचार था। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि स्त्रियां ऐसे ही पुरुष से अनुराग करती हैं, जो संगीत कला में प्रवीण हों[1]। तैत्तिरीय संहिता की निम्न पंक्ति महिलाओं की संगीतकुशलता की दृष्टि से उल्लेखार्ह है—"पत्नय उपगन्ति मिथुनत्वाय प्रजात्यै" (७।५।८)। अर्थात् महाव्रत नामक सोमयाग में जब उद्गातृ-वर्ग "भद्र" नामक साम गाते हैं, तब यजमान पत्नी अपने कण्ठस्वर से उनकी संगत किया करती थी। ऐसा उपगान प्रजा की वृद्धि के लिये सहायक माना जाता था।

सूत्रवाङ्मय के अनुसार यजमान की पत्नीयां उपगान के साथ विविध वीणाओं के द्वारा "उपवादन" भी किया करती थीं। बौधायन सूत्र के अनुसार ऐसे प्रसंग पर आघाटी, पिच्छोला तथा कर्कटीका नामक वीणाओं का वादन किया जाता था—"आघाटीभिः पिच्छोलाभिः कर्कटीकाभिरित्युद्गातारं पत्नयः पर्युपविशन्ति" (१६।२१)। आपस्तंब श्रौत सूत्र के अनुसार ऐसे प्रसंग पर अपाघाटलिका, स्तंबलवीणा तथा पिच्छोला वीणा के वादन के साथ उपगान विहित है—'पत्नय उपगायन्ति पत्नयोऽनिकत्पन्तेऽपत्नोऽपाघाटलिका स्तंबलवीणा पिच्छोला इति' (२१।२७)। सत्याः हिरण्यकेशी श्रौत सूत्र के अनुसार उपगान के लिये निम्न वीणाओं का प्रयोग किया जाता रहा है—अपाघाटलिका, ताळुक-वीणा, काण्डवीणाँ, पिच्छोला, अलाबु तथा कपिशीर्ष्णी—'उपगायन्ति पत्न्योऽ-पाघाटलिकास्ताळुकवीणाः काण्डवीणाः पिच्छोला अलाबु कपिशीर्ष्णीति'।[2] शुक्ल कात्यायन सूत्र में गोधावीणा तथा काण्डवीणा का निर्देश पाया जाता है—'गोधावीणाकाः काण्डवीणाश्च पत्न्यो वादयन्ति'।[3] गोधावीणा 'गोधा' नामक प्राणी के चर्म से आच्छादित हुआ करती थी। भाष्यकार के अनुसार काण्ड 'शर'

१. ३।१।१९; ३।२।४।२—६; द्र० 'महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश', वैदिक खण्ड, पृ० १६१।

२. १६।६—२१

३. १०।५०; १३।५०

अथवा बाण के लिये पर्याय है तथा इन्हीं से निर्मित होने के कारण यह वीणा काण्डवीणा कहलाती है—

"काण्डः शर इत्युच्यते तन्मय्यो वीणाः"।

सामगान के साथ स्वर-संगति तथा वीणा-संगति दोनों तत्कालीन महिलाओं की संगीतविषयक कुशलता का संकेत करती है। उद्गाता, उसके दो सहचर गायक, चार उपगायक तथा यजमान-पत्नीयों का एक स्वर में गायन तथा अनेक वाद्यों की संगति तत्कालीन विशाल समूह-संगीत का साक्षात्कार कराती है। नरकण्ठ तथा नारीकण्ठ से उद्भूत एवं नानाविध वाद्यों से समन्वित सामगान तत्कालीन संगीतविषयक उत्कर्ष को प्रमाणित करता है। यजुःसंहिता के अतिरिक्त तत्सम्बन्धी सूत्र वाङ्मय में इसके लिये प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं।

आपस्तम्ब श्रौत सूत्र में[1] उद्गाता तथा प्रस्तोता के द्वारा गाये जाने वाले रथन्तर आदि सामों का उल्लेख है—

१—रथन्तरसाम्ना।

२—सामानि गायति।

३—प्रस्तोता साम गायति।

प्रसंग पड़ने पर अध्वर्यू को सामगान करना पड़ता था। यदि उद्गाता पुरुष सामगान न करता हो, तो अध्वर्यु के लिये आवश्यक था कि वह 'भूर्भुवः स्वः' इस अनुवाक् के साथ सामगान करें। यह तभी सम्भाव्य हो सकता था जब कि अध्वर्यु सामगान की शिक्षा में दीक्षित हो—

"यद्युद्गाता पुरुष साम न गायेदध्वर्युरेवैतेन साम्नोद्गायेद्भूर्भुवः सुवरित्यनुवाकेन'।[2]

उत्सवों के समय पर समस्त रात्रि में वीणा तथा तूणव की ध्वनि में जन-समूह जागरण किया करता था, ऐसा निम्न पंक्ति से स्पष्ट होता है—"वीणा-तूणवेनैनमेतां रात्रिं जागरयन्ति'।[3]

कात्यायन श्रौत सूत्र में साम के विभिन्न भेद, लौकिक संगीत तथा नानाविध वाद्यों का प्रचुर उल्लेख प्राप्त होता है।[4] एक स्थान पर लौकिक संगीत के अन्तर्गत नृत्य, गीत तथा वादित्र का एक साथ उल्लेख हुआ है—'नृत्तगीतवादि-

---

१. ५।११।६; १०।२।६; ५।१६।६ तथा १३।२०।३;

२. वहीं, २५।१९।११; तुलनार्थ द्र० कात्या० श्रौ० ३।२२९

३. वहीं, ५।८।१२

४. द्र० ३,२२८; ३,२२९–२३०; १९,१०९–११०; २१,३८; २१,४२; २२,५९ तथा २०, ६८।

त्रवच्च' (२१।४२)। कात्यायन के निम्न सूत्र से मन्त्र संगीत तथा मन्त्रबाह्य संगीत के बीच स्पष्ट विभेद लक्षित होता है—'ऋचो यजूंषि सामानि निगदा मन्त्राः' (१।४५)। तात्पर्य यह कि मन्त्रों में केवल ऋक्, यजु, साम तथा निगद-मन्त्रों का समावेश है। इन्हीं का वैदिक कर्म-कलाप से अभिन्न सम्बन्ध रहा है और अतएव ये पूर्णरूपेण वैदिक कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त यज्ञों में गान, नृत्य तथा वीणावादन केवल लौकिक अथवा "अवैदिक" संगीत के अन्तर्गत माना जा सकता है। "वीणागणग" आदि आचार्यों के द्वारा गान एवं वादन तथा यजमान-पत्नीयों के द्वारा गान-वादन तथा दासियों का नृत्य इसी लौकिक संगीत का प्रतिरूप माना जा सकता है।[1]

यजुर्वेद के वाङ्मय से स्पष्ट है कि संगीत का प्रसार तत्कालीन दासवर्गों में भी था। महाव्रत नामक सोमयाग में कलशधारिणी दासियों का वर्तुलाकार नृत्य होता था, जिसका पद-क्रम गीत के लयानुकूल हुआ करता था। ये गीत गाथा नामक लोकगीत हुआ करते थे। सूत्र वाङ्मय में इन गाथाओं के निम्न अभिधान पाये जाते हैं—हिल्लका, हिम्बिनी, हस्तावारा, सम्वत्सरगाथा, भिल्लुका इत्यादि।[2] नृत्य के समय प्रत्येक गीत का गान युग्म के द्वारा होता था और सभी गाथाओं के अन्त में—है महा इदं मधु हिल्लहिल्लि—इस पंक्ति का एक स्वर से सामूहिक गान किया जाता था—

उदकुम्भानधिनिधाय दास्यो मार्जालीयं परिनृत्यन्ति पदो निघ्नन्तीरिदं मधु गायन्त्यो मधु वै देवानां परममन्नाद्यं परमेवान्नाद्यमवरुन्धते पदो निघ्नन्ति महीयामेवैषु दधति।[3]

आपस्तम्ब श्रौत सूत्र में इस नृत्य के साथ किये जाने वाले गाथा गान का निम्न शब्दों में स्पष्ट उल्लेख हुआ है—

अत्रैता दासकुमार्य उदकुम्भानधिनिधाय त्रिः प्रदक्षिणं मार्जालीयं परिनृत्यन्ति दक्षिणान्पदो निघ्नन्तिरिदन्मधुं गायन्ति। हिल्लकां द्वे गायेतां हिम्बिनीं द्वे हस्तावारां द्वे संवत्सरगाथां द्वे······है महा इदम्मधु हिल्लहिल्लिवति सर्वासां ऋगन्तेषु।[4]

---

१. द्र० कात्या० श्रौ० सू० ३।

२. द्र० आप० श्रौ० (२१।१९–२०); सत्या० हिरण्य० श्रौ० (१६।६।६। ३९–४१); बोधा० (१६।२२–२३) तथा कात्या० (१३।३)

३. तै० सं० ७।५।१०

४. द्र० लाट्या० श्रौ० सू० ४।३; द्राह्या० ११।३।१७–१९; इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य।

संक्षेप में संगीत विषयक निम्न तथ्यों का परिज्ञान यजुर्वेद के साहित्य से उपलब्ध होता है—

यजुर्वेद-काल यज्ञसंस्था का उत्कर्ष काल है, जिसमें आर्यों के यज्ञयागादि क्रियाकलापों का वैविध्य तथा विस्तार दोनों दृष्टियों से उत्कर्ष पाया जाता है। एक दिन से लेकर अनेक वर्षों तक प्रवर्तित होने वाले यागों का विवरण यजुः-संहिता में उपलब्ध है। इन यज्ञों में सामगान का अनिवार्य स्थान रहा है, यहां तक कि बिना सामगान के यज्ञों की कल्पना तक न की जा सकती थी। सामगान की अनिवार्यता तथा विस्तार के साथ सामगायकों की संख्या में वृद्धि होना नितान्त स्वाभाविक था। उसी के अनुकुल एक ही साम के विभिन्न खण्डों का गायन उद्गाता तथा उसके सहयोगी उपगाताओं के द्वारा किया जाता रहा। ऋक् मन्त्रों की अपेक्षा सामगान का सोमयागों में प्रमुख स्थान था। प्रथम सामगान, अनन्तर मन्त्रपाठ, यही क्रम विधि-विधान में स्थिर हुआ। "दिवाकीर्त्य" नामक साम का गान तथा महाव्रत जैसे विधियों पर अध्वर्यु आदि ऋत्विज भी साम-गान में भाग लेते थे, जिससे यह स्पष्ट है कि सामगान की शिक्षा केवल साम-वेदियों तक ही सीमित न थी, अपितु अन्य वेदानुयायी ऋत्विजों को उसकी दीक्षा दी जाती थी। इस स्थिति में साम गान की सूक्ष्मताओं को जानने वाले रसिक मर्मज्ञों का वर्ग उस समय उपलब्ध था, इसमें सन्देह नहीं। शिक्षा-वाङ्मय से स्पष्ट है कि प्रत्येक वेद की विभिन्न शाखाओं में सामगान की शिक्षा न्यूनाधिक मात्रा में प्रचलित थी। साम जैसे वैदिक संगीत के अतिरिक्त गाथा, नाराशंसी आदि लौकिक संगीत का प्रचार तत्कालीन जनता में था। गाथादि गीतों का स्वरूप परम्परागत वीर-काव्यों के सदृश था तथा इन गीतों के व्यवसायी गायकों को यज्ञयाग तथा तदतिरिक्त लौकिक समारोहों पर आमन्त्रित किया जाता था। सूत नामक जाति ऐसे ही गीत तथा नृत्य का व्यवसाय करती थी तथा राज-सभाओं में उनका गौरवपूर्ण स्थान था। शैलूष, नट, नर्तक तथा वंश पर नृत्य करने वाले लोगों के उल्लेख से स्पष्ट है कि नृत्य तथा नाटक की कला उस समय अंकुरित हो चुकी थी। गीत तथा नृत्य के साथ वीणादि वाद्यों का वादन किया जाता था तथा गीत एवं नृत्य के साथ मात्रा गिन कर ताल देने वाले व्यक्तियों की योजना होती थी।

तत्कालीन महिलाओं में संगीतकलाकौशल प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। अभिजात कुल की महिलाओं को गान तथा वाद्य की शिक्षा दी जाती थी, जिससे वे सामगायकों की संगति सहज रूप से कर सकती थीं। निम्न कुल की महिलाओं का लोकनृत्य यज्ञादि समारोहों पर सम्पन्न होता था। सिर पर कलश

लेकर एक से अधिक नर्तकियां वर्तुलाकार नृत्य करती थीं और मुँह से गीत के चरणों को गाती थीं।

तत्कालीन वाद्यों में वीणा, वंश, शंख, दुन्दुभि के अतिरिक्त भिन्न वाद्यों का उल्लेख प्राप्त होता है—शततंत्री 'वाण', भूमिदुन्दुभि, तूणव, तलव, काण्डवीणा, गोधावीणा, अपघाटलिका, स्तम्बलवीणा, आघाटी, पिच्छोला, अलाबुवीणा, तालुकवीणा, कपिशीर्ष्णी तथा कर्कटीका। वीणा 'तन्तुवाद्य' के लिये सामान्य संज्ञा थी तथा इनके आकार-प्रकार के अनुसार उपर्युक्त अन्यान्य प्रकारों का निर्माण होता था। तत्कालीन लोकोत्सवों में इन वाद्यों के श्रवण से लोग रात भर जागरण किया करते थे।

यजुर्वेद में गन्धर्व तथा अप्सराओं का उल्लेख अर्ध-दैवत के रूप में किया गया है, जिससे स्पष्ट है कि गान, नृत्य तथा कामकला में विशारद इन जातियों की कल्पना लौकिक मान्यता में बहुत पहले स्थिर हो चुकी थी। शुक्ल यजुर्वेद में वर्णित 'पुरूषमेध' में गन्धर्वाप्सराओं के लिए व्रात्य तथा संस्कारहीन व्यक्ति की आहुति विहित है, जिससे यह संकेत स्पष्ट है कि गान्धर्वकला के सम्बन्ध में अभिजात वर्गों में हीनता की भावना उत्पन्न होने लगी थी। सम्भवतः हीन उद्देश्यों के लिये प्रयोग इसके लिये उत्तरदायी रहा हो। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में सामगान के सम्बन्ध में ऐसी ही कुत्सित भावना पाई जाती है, जो लौकिक तथा वेदवाह्य परम्परा की अत्यधिक वृद्धि के कारण सम्भाव्य मानी जा सकती है।[1]

अथर्ववेद में संगीत :—

वेदचतुष्टयी में अथर्ववेद का एक विशिष्ट स्थान है। इसके लिये अंगिरो वेद, अथर्वांगिरस वेद तथा ब्रह्मवेद आदि अन्य अभिधान भी प्राप्त हैं। पाश्चात्य मनीषियों के अनुसार इसका 'अथर्वांगिरस' नाम यथार्थ है। अथर्वन् संज्ञा उन मन्त्रों के लिये हैं, जो सुखमूलक एवं मांगल्यप्रद हैं। आंगिरस का सम्बन्ध उन अभिचार मन्त्रों से है, जिनका प्रयोग जारण—मारण आदि कार्यों के लिये किया जाता है। विष्णुपुराण के अनुसार शान्ति तथा पौष्टिक दोनों कार्यों का सम्पादन अथर्ववेद के द्वारा किया जाता रहा है।

वैदिक वाङ्मय में अथर्ववेद का उल्लेख तथा गौरव अपेक्षाकृत परवर्ती काल में प्राप्त होता है। वेदों का 'त्रयी विद्या' के रूप में उल्लेख प्राचीनतर वैदिक साहित्य की विशिष्टता है। ऋग्वेद के 'पुरुषसूक्त' में ऋक्, यजु तथा साम का नामपूर्वक उल्लेख है।[2] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार परमात्मा के प्रकाश से

१. १।३।१९–२५
२. १०।९०

केवल ऋक्, यजु तथा सामवेद का निर्माण हुआ है।[1] सामवेद से सम्बद्ध छांदोग्य उपनिषद् के अनुसार वेदोत्पत्ति की यही परम्परा है—

"स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासां ताप्यमानानां रसान्प्राबृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात् ।"

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार परमात्मा ने श्रान्त होकर सर्व प्रथम 'त्रयीविद्या' का ही सृजन किया—

"स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजैत त्रयीमेव विद्याम्" ।[2]

तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी इसी त्रयी विद्या का नामोल्लेख पाया जाता है—

(१) वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः ।

(२) यमृपमस्त्रयीविदो विदुः ऋचः सामानि यजूंषि ।

ऐतरेय ब्राह्मण में तीन वेदों से सम्पन्न कर्मों के साथ ही अथर्ववेद से सम्पादित किये जाने वाले ब्रह्म-कर्म का उल्लेख है—

"ऋचा एव हौत्रं क्रियते यजुषा आध्वर्यवं साम्ना औद्गात्रं अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते त्रय्या विद्यया इति ब्रूयात् ।"

ऐतरेय के अनुसार यज्ञ के वाक् तथा मन इस द्विविध मार्ग में से प्रथम का परिष्कार वेदत्रयी से होता है तथा द्वितीय पक्ष का संस्कार अथर्वण से सम्पन्न होता है।[3] अथर्व के ब्रह्मा नामक ऋत्विज् के महत्वपूर्ण स्थान का स्पष्ट संकेत ऋग्वेद के निम्ने मन्त्र में उपलब्ध है—

"ऋचां त्वः पोषमास्ते पूपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः" ॥[4]

छान्दोग्य उपनिषद् के काल में ब्रह्मा की महिमा 'भिषज' अर्थात् दोषनिरासक ऋत्विज् के रूप में स्वीकृत की गई है—

"भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति" ।[5]

अथर्ववेदीय ब्राह्मण 'गोपथ' में भी इसी भाव का समर्थन हुआ है—

"मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोति" ।[6]

---

१. ११।१–५–८

२. वहीं, ६।१।१।९-१०

३. ५।३३

४. १०।७१।११

५. ४।१७।८

६. ३।२

यह कार्य सदैव अथर्वांगिरस् वेद के द्वारा ही सम्पादित किया जाता रहा है—अथर्वांगिरेभिर्ब्रह्मत्वम् । बृहदारण्यक के अनुसार अन्य वेद तथा पुराण इत्यादि के साथ यह वेद भी महत्तत्व का निःश्वासभूत है ।[1] मुण्डक उपनिषद् में परा तथा अपरा विद्याओं का वर्गीकरण पाया जाता है, जिसमें चार वेद तथा वेदांग का समावेश अपरा के अन्तर्गत है—

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्प— ।

अथर्ववेद में सामवेद का भूरिशः गौरवगान हुआ है । यज्ञकर्म के अन्तर्गत तथा अनिवार्यरूप से स्थान सामगान को प्राप्त है । अथर्व के अनुसार ऋक् साम दोनों यज्ञ कर्म के लिये ओज, बल तथा मांगल्यका सम्पादन करने वाले हैं—

ऋचं साम यदप्राक्षं हविरोजो यजुर्बलम् ।
एष मा तस्मान्मा हिंसीद् वेदः पुष्टः शचीपते ॥[2]

इन्हीं के द्वारा क्रियाकर्मों का सम्यक् विधान सम्पन्न होता है तथा यज्ञ अभीष्ट देवता को प्राप्त हो जाता है—

ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते ।
एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः ॥[3]

अथर्ववेद के प्रसिद्ध भूमि-सूक्त में ऋक् तथा साम को नित्य आराधना का माध्यम बताया गया है—

ब्रह्माणो यस्मामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः ।[4]

अथर्ववेद में अनेक स्थलों पर साम की विशिष्ट प्रशंसा उपलब्ध होती है। निम्न मन्त्रों में साम को परब्रह्म के 'लोमभूत' माना गया है—

(१) सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदय उच्यते ।[5]
(२) यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वांगिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥[6]

एक स्थान पर साम विश्वकर्ता परमात्मा की आदिम सृष्टि माना गया है—

यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही ।[7]

---

१. २।४।१०; तुलनार्थ द्र० शतपथ ब्राह्मण, १४।५।४।१०
२. ७ ५४।२
३. ७.५४।१
४. १२।१।३८
५. ९।६।२
६. १०।७।२०
७. १०।७।१४

एक अन्य मन्त्र में ऋक् के साथ साम का भी आविर्भाव परमात्मा के 'उच्छिष्ट' रूप में माना गया है—

ऋचः सामानिच्छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रितः ॥[1]

यज्ञ के अन्तर्गत ऋक्, साम तथा यजु समस्त पापों के निरासक माने गये हैं—

यज्ञं ब्रूमो यजमानमृचः सामानि भेषजा । यजूंषि होत्रा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥[2]

साम के उद्गीथ, प्रस्ताव, हिंकार, स्वर आदि अंगों का विवरण निम्न सूक्तों में पाया जाता है—

(१) ऋक्साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम् ।
हिंकार उच्छिष्टे स्वरः साम्नो मेडिश्च तन्मयि ॥[3]

(२) प्रतीहारो निधनं विश्वजिच्चाभिजिच्च य ।
सह्नातिरात्रावुच्छिष्टे द्वादशाहोऽपि तन्मयि ॥[4]

साम के उपर्युक्त हिंकार, प्रस्ताव आदि पांच विभागों का आलंकारिक विवरण अथर्व के अनेक मन्त्रों में पाया जाता है। उदाहरणार्थ, सूर्य की विविध अवस्थाओं से साम-विभागों का सादृश्य निम्न प्रकार से निर्दिष्ट है—

तस्मा उषा हिङ्कृणोति सविता प्र स्तौति ॥ १ ॥
बृहस्पतिरूर्जयोद् गायति त्वष्टा पुष्ट्या प्रति हरति विश्वे देवा निधनम् ॥२॥
निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

वर्षा की अभ्र से लेकर वृष्टि शान्ति तक की विभिन्न अवस्थाओं को देखकर अथर्व के मन्त्रकार को साम के पंचविध विभाग का स्मरण हो आता है। अभ्रदर्शन "हिंकार" के तुल्य है, गर्जित "प्रस्ताव" के समान है, विद्युत्स्फुरण "प्रतिहार" के तुल्य है, वृष्टि "उद्गीथ" के तुल्य है तथा वृष्टि-शमन "निधन" के तुल्य है—

तस्मा अभ्रो भवन् हिङ्कृणोति स्तनयन् प्र स्तौति ॥ ६ ॥
विद्योतमानः प्रति हरति वर्षन्नुद्गायत्युद्गृह्णन् निधनम् ॥ ७ ॥[5]

---

१. ११।७।२४
२. ११।६।१४
३. ११।७।५
४. ११।७।१२
५. ९।६।१-७

अतिथि सत्कार जैसे नित्यप्रति के व्यवहार में साम के पंचविध विभाग का रूपक रचा गया है, जो निम्नानुसार है—

अतिथीन् प्रति पश्यति हिङ्कृणोत्यभि वदति प्र स्तौत्युदकं याचत्युद् गायति।
उप हरति प्रति हरत्युच्छिष्टं निधनम् ।[१]

सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक के दिनमान में साम के विभिन्न खण्डों की ऐसी ही कल्पना की गई है—

तस्मा उद्यन्त्सूर्यो हिङ्कृणोति संभवः प्र स्तौति ।
मध्यन्दिन उद्गायत्यपराह्णः प्रति हरत्यस्तयन् निधनम् ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सामगान की समृद्धि अथर्व काल में हो चुकी थी तथा नानाविध क्रिया-कर्मों में उसका स्थान अपरिहार्य था। पितरों की इष्टापूर्ति में किये जाने वाले सामगान का उल्लेख निम्न मन्त्र में स्पष्टतः पाया जाता है—

अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः ।
इष्टापूर्तमवतु नः पितृणामामुं ददे हरसा दैव्येन ।।[२]

अथर्व में साम-विशेषों का वर्णन भूरिशः पाया जाता है। विराट् के अंग-प्रत्यंग के रूप में बृहत्, रथन्तर, यज्ञायज्ञिय तथा वामदेव्य नामक सामविशेषों का उल्लेख एक स्थान पर पाया जाता है।[३] दस "शाक्वर" सामों से अन्तरिक्षस्थ देवताओं के स्तवन का विधान है—'तस्मै नमो दशभिः शक्वरीभिः'।[४] बृहत् तथा रथन्तर साम रोहित नामक देवता के दो पक्ष बतलाये गये हैं—

(१) बृहदेन मनु वस्ते पुरस्ताद् रथन्तरं प्रति गृह्णाति पश्चात् ।
(२) बृहदन्यतः पक्ष आसीद् रथन्तरमन्यतः सबले सध्रीची। यद् रोहितमजनयन्त देवाः ।[५]

अथर्व के अनुसार रोहित के मार्ग का उन्नयन गन्धर्व तथा कश्यप करते हैं—

तां गन्धर्वाः कश्यपा उन्नयन्ति तां रक्षन्ति कवयोऽप्रमादम् ।[६]

---

१. ९।६।८-९
२. २।१२।४
३. ८।१०।६–१०
४. ११।२।२३
५. ११।३।११–१२
६. १३।१।२३

सविता उदित होने पर जिस द्विविध स्तवन को प्रेरित करता है, वही बृहत् तथा रथन्तर साम हैं।[1] 'ब्रह्मौदन' नामक विधि-विशेष के विवरण में बृहत् तथा वामदेव्य नामक साम का महत्वपूर्ण स्थान निर्दिष्ट है—

ब्रह्मास्य शीर्षं बृहदस्य पृष्ठं वामदेव्यमुदरमोदनस्य।[2]

इसी विधि से निर्मित ओदन देव तथा यम-लोक को पहुँचाता है, जोकि गन्धर्वों के आमोद-प्रमोद से परिपूरित है।[3]

"व्रात्य" के वर्णन में उपर्युक्त साम-विशेषों का सविशेष वर्णन पाया जाता है। व्रात्य का अनुसरण विभिन्न दिशाओं में विभिन्न साम करते हैं। ऊर्ध्वतम दिशा में उसका अनुगमन ऋक्, साम तथा यजु से किया जाता है—

स उत्तमां दिशमनु व्यचलत् तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन्।[4]

पूर्व दिशा में व्रात्य का अनुसरण बृहत् तथा रथन्तर ये दो साम करते हैं।[5] दक्षिण दिशा में यज्ञायज्ञिय तथा वामदेव्य साम उसका अनुगमन करते हैं तथा पश्चिम दिशा में वैरूप एवं वैराज उसका अनुसरण करते हैं।[6] व्रात्य जिस आसन्दी पर बैठता है, वह बृहत्, रथन्तर, यज्ञायज्ञिय तथा वामदेव्य नामक सामों से निर्मित बतलाया गया है।[7] आसन्दी के तन्तु ऋक् तथा यजु से निर्मित हैं परन्तु वास्तविक आसन साम तथा उद्गीथ से निर्मित बतलाया गया है—

ऋचः प्राञ्चस्तन्तवो यजूंषि तिर्यञ्चः ॥६॥ वेद आस्तरणं ब्रह्मोपबर्हणम् ॥७॥ सामासाद उद्गीथोऽपश्रयः ॥ ८ ॥ तामासन्दीं व्रात्य आरोहत् ॥ ९ ॥

विभिन्न ऋतुओं में व्रात्य का संरक्षण विभिन्न सामों के द्वारा किये जाने का उल्लेख निम्न मन्त्रों में है—

वासन्तौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् बृहच्च रथन्तरं चानुष्ठातारौ।
ग्रैष्मौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं चानुष्ठातारौ॥

---

१. ६।१।३, सायण
२. ४।३४।१
३. ४।३४।३
४. १५।६।८–९
५. १५।२।२–४; १५।४।३
६. १५।२।१०–१२, १६–१८
७. १५।३।५

वार्षिकौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् वैरूपं च वैराजं चानुष्ठातारौ ।
शारदौ मासौ गोप्तारावकुर्वन्छ्यैतं च नौधसं चानुष्ठातारौ ॥[१]

अथर्व में व्रात्य का सम्बन्ध मागध से बतलाया गया है।[२] व्रात्य का सामों से तथा मागध से सम्बन्ध उसकी संगीतप्रियता के द्योतक माने जा सकते हैं। मागधों का उल्लेख "सुकण्ठ" गायक के रूप में अन्यत्र पाया जाता है तथा इसी कारण सम्भवतः उनका कार्य राजसभाओं में गाथा-गान तथा प्रातःकालीन प्रबोधन-संगीत का गान रहा है।

ऋक् तथा साम के घनिष्ठ सम्बन्ध की बात इस वेद में स्थान-स्थान पर पाई जाती है। उदाहरण के रूप में निम्न विवाह-मन्त्र देखिये—

अमोऽहमस्मि सा त्वं सामाहमस्म्यृक् त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम् ।
ताविह संभवाव प्रजामा जनयावहै ॥[३]

अर्थात् वधु तथा वर में वैसा ही आत्मीय सबन्ध अभीष्ट है, जैसा साम के "सा+अम" दोनों पदों के मध्य में है। वर साम है, तो वधू ऋक्। ऋक् के संयोग से साम के जैसे नानाविध प्रकार उद्भूत होते हैं, वैसे ही वर एवं वधू का स्नेह-सूत्र सन्तान-सूत्र को अविच्छिन्न बनाये रखता है। सामगान के अन्तर्गत काव्य तथा गान के मंजुल सामंजस्य का भाव निम्न मन्त्र में प्रतिध्वनित है—

ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावैताम् ।[४]

मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सूर्या के विवाह पर जो रथ-यात्रा निकली थी, उसके बैल वैसे ही सौमनस्य से चल रहे थे, जैसे कि ऋक् तथा साम। "वशा" नामक देवता का नृत्य ऋक्, साम तथा गाथा से समन्वित बतलाया गया है—

(१) वशा समुद्रे प्रानृत्यदृचः सामानि बिभ्रती ।
(२) आसन्नस्ते गाथा अभवन् ।[५]

सोमपान से मत्त होकर किये गये इस नृत्य में गन्धर्व भी सम्मिलित बतलाये गये हैं—'गन्धर्वैः कलिभिः सह' (१०।१०।१३)।

---

१. १५।४।२, ५, ८, ११
२. १५।२
३. १४।२।७१
४. १४।१।११
५. १०।१०।१४,२०

विशिष्ट सामों तथा स्तोभों के अतिरिक्त गाथा, नाराशंसी, रैभी आदि लौकिक गीत-प्रकारों का उल्लेख अथर्व में उपलब्ध होता है। व्रात्य का अनुसरण बृहती दिशा में इतिहास, पुराण, गाथा तथा नाराशंसी जैसे लौकिक साहित्य प्रकार करते दिखलाये गये हैं—

स बृहतीं दिशमनु व्यचलत् ॥

तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन् ॥

(१५।६।१०–११)

गाथा, नाराशंसी आदि लौकिक गीतों का गान विवाहादि प्रसंगों पर किया जाता था। सूर्या की विवाह-यात्रा के अवसर पर जिन गीतों का गान किया गया था, उनमें रैभ्य, नाराशंसी तथा गाथा आदि गीत-प्रकार सम्मिलित थे।[1] यात्रा के साथ नानाविध आमोद-प्रमोदों के साथ ये गीत कुशल गायकों के द्वारा बड़े उल्लास के साथ गाये जाते थे—

रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी। सूर्याया भद्रमिद् वासो गाथयेति परिष्कृता।[2]

विविध व्यवसायों के अवसर पर व्यवसायी जन मनोविनोद के लिये तत्सम्बन्धी गीत गाया करते थे। बुनाई के अवसर पर स्त्रियों के द्वारा किये जाने वाले गान का संकेत निम्न मन्त्र में पाया जाता है—

तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखम्।

प्रान्या तन्तूंस्तिरते धत्ते अन्या नाप वृन्जाते न गमातो अन्तम्।[3]

इमे मयूखा उप तस्तभुर्दिवं चक्रुस्तसराणि वातवे ॥[4]

इन नारियों की तरल गति को देखकर मन्त्रकर्ता को वर्तुलाकार नृत्य करने वाली नर्तकियों के चपल पद-क्षेप का स्मरण हो जाता है—

तयोरहं परिनृत्यन्त्योरिव न वि जानामि यतरा पुरस्तात्।[5]

मरुद्गणों के सघोष तथा सामूहिक गान का उल्लेख भिन्न मन्त्र में है—

गणास्त्वोव गायन्तु मारुताः पर्जन्य घोषिणः पृथक्।[6]

---

१. प्राचीन काल में स्तुतिपाठकों का एक वर्ग 'रेभ' नाम से अभिहित था (द्र० अथर्व का ग्रिफिथ कृत अनुवाद, पृ० १६१, पा० टि० खण्ड २)।

२. १४।१।७

३. १०।७।४२

४. १०।७।४४

५. १०।७।४३

६. ४।१५।४

गीत, वाद्य तथा नृत्य की सामूहिक ध्वनि का संकेत निम्न मन्त्र में हुआ है—

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः ।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः ॥[1]

यज्ञ के अन्तर्गत पत्थर के द्वारा सोम कूटने की प्रक्रिया से वैदिक ऋषि को नृत्य का आभास हो जाता है—

एषा त्वा रशनाग्रभीद् ग्रावा त्वैषोऽधि नृत्यतु ।[2]

दुन्दुभि को उद्देश्य कर ऋषि कहता है—

अंशूनिव ग्रावाधिषवणे अद्रिर्गव्यन् दुन्दुभेऽधि नृत्य वेदः ।[3]

अर्थात् हे दुन्दुभि, तुम युद्ध में शत्रुओं के प्रति वैसे ही नृत्य करते चलो जैसे सोम-सवन में पत्थर करता है ।

वाद्यों के अन्तर्गत आघाट, कर्करी तथा दुन्दुभि का उल्लेख अथर्व में स्थान स्थान पर उपलब्ध है । गन्धर्वों के सम्बन्ध में आघाट तथा कर्करी का उल्लेख निम्न मन्त्र में हुआ है—

"यत्राघाटाः कर्कर्यः संवदन्ति"[4]

गन्धर्व लोक इन वाद्यों की ध्वनि से सदैव प्रतिध्वनित होता रहता है ।[5]

अथर्व में गन्धर्व तथा अप्सराओं का दैवीकरण विशद रूप से पाया जाता है । अप्सरा-गण गन्धर्वों की पत्नियां हैं तथा सदैव नृत्यशील एवं तेजस्विनी होती हुई सर्वत्र प्रमोद का प्रसार करती हैं ।[6]

ये जातियां सदैव गीत, नृत्य, गन्ध तथा कामिनी जैसी विलास-वस्तुओं में लिप्त बतलाई गई हैं ।[7] इनका निवास जन-निवास से दूर जल में तथा वृक्ष आदि में हुआ करता है (४।३७।२–४, १२) ।[8] गन्धर्वों के स्त्री-विषयक अनुराग के

१. १२।१।४१

२. १०।९।२

३. ५।२०।१०

४, ४।८।३७।५; इस पर भाष्य करते हुए सायण कहते हैं—'आहन्यमाना वाद्यमानाः कर्कर्यः वाद्यविशेषाः संवदन्ति युष्मन्नृत्तानुगुण्येन समानं ध्वनन्ति ।'

५. तुलनार्थ द्र० अथर्व० ४।८।३७।४ पर सायण का भाष्य; तैत्ति० सं० ३।४।८।४ ।

६. ४।३८।१–२; ४।३९।३

७. ८।१०।५–८; १२।१।२३

८. ग्रिफिथ के अनुसार इटली की 'फानी" तथा "सैटिरी" नामक वन्य देवताओं से इनका स्वरूप सादृश्य मननीय है (अथर्व का ग्रिफिथ कृत अंग्रेजी अनुवाद, ४।३७।११ पर पाद टिप्पणी) ।

सम्बन्ध में तत्कालीन मान्यता उल्लेखनीय है—"प्रियो दृश इव भूत्वा गन्धर्वः सचते स्त्रियः"[1]। गन्धर्वों में "विश्वावसु" प्रमुख है तथा उसका अपनी पत्नी अप्सरा के साथ दृढ़ साहचर्य है।[2] सोमपान तथा गीत-वाद्य-नृत्य के साथ हर्षोन्मत्त एवं स्वच्छन्द रूप से उनका जीवन-विहार प्रवर्तित होता है।[3] अथर्व काल में वैवाहिक जीवन सुखद होने के लिये गन्धर्वों की प्रार्थना की जाती थी तथा इस युगल को हवि प्रदान किया जाता था।[4] विवाहयात्रा के प्रचलित होने पर पथ में वानस्पत्यों अर्थात् वृक्षों को देखकर इनके निवासी गन्धर्वों से प्रार्थना की जाती थी कि वे नवविवाहित युगल को कभी बाधा न पहुँचायें तथा उनके लिये सदैव मांगल्य का सम्पादन करें—

> ये गन्धर्वा अप्सरसश्च देवीरेषु वानस्पत्येषु येऽधि तस्थुः।
> स्योनास्ते अस्यै वध्वै भवन्तु मा हिंसिषुर्वहतु मुह्यमानम्॥
> (१४।२।९)

अथर्व में गन्धर्वों का अन्तर्भाव स्पष्टतः दिव्य योनि में किया गया है। युद्ध में वे इन्द्र की सहायता करते हुए बतलाये गये हैं।[5] शतौदना गो की रक्षा का उत्तरदायित्व उन्हीं का है।[6] समय पड़ने पर गन्धर्व तथा अप्सरागण पर्याप्त हानि भी पहुँचा सकते हैं। इसलिये भूमि को इनसे निरुपद्रव करने की प्रार्थना "अथर्वा" ऋषि करते हैं—

> ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः।
> पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावया। (१२।१।५०)

तत्कालीन जनता की ये मान्यता रही है कि गन्धर्व आदि जातियों का आकर्षण अजशृंगी इत्यादि वनस्पतियों से है। इस वनस्पति से एक स्थान पर यह प्रार्थना की गई है कि वह गन्धर्वों एवं अप्सराओं से होने वाले उपद्रव का निरास करें (४।३७।२)। अथर्व के एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि मंत्रित मणि तथा तावीजों को धारण करने वाले व्यक्ति को गन्धर्व तथा अप्सरा हानि नहीं पहुँचा सकते (८।५।१३)।

---

१. ४।३७।११
२. १४।२।३३–३६
३. ७।१०९।२–५
४. ७।१०९।२–५; १४।२।३४–३६
५. ८।८।१५
६. १०।९।९

अथर्ववेद के निम्न मन्त्र में क्लीबों के द्वारा किये गये नृत्य का वर्णन है— "क्लीबा इव प्रनृत्यन्तो वने ये कुर्वते घोषं तानितो नाशयामसि" (८।६।११)। ऐसे व्यक्तियों के द्वारा किये गये कोलाहलयुक्त नृत्य को तथा गर्दभस्वर के साथ किये गये सायंकालीन नृत्य को तत्कालीन जनता अनर्थकारक मानती थी इसका प्रमाण निम्न मन्त्र में उपलब्ध है—

ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः ।
कुसूला ये च कुक्षिलाः ककुभाः करुमाः स्त्रिमाः ।
तानोषधे त्वं गन्धेन विषूचीनान् वि नाशय ॥[1]

शत्रुओं को परास्त करने वाले साधनों में दुन्दुभि का विशेष विवरण अथर्व में पाया जाता है। दुन्दुभि की गर्जना वीरों के हृदय में, पौरुष तथा शत्रुओं के हृदय में आतंक का संचार एक साथ ही कराती है।[2] दुन्दुभि का आक्रन्द संग्रामों का नित्य सहायक है। उसकी ध्वनि कृत्या की ध्वनि के समान भयानक बतलाई गई है—"दुन्दुभौ कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्" (५।३१।७)। संग्राम का बल अन्य उपादानों के साथ विशाल दुन्दुभि में निहित बतलाया गया है—

राजन्ये दुन्दुभावायतायामश्वस्य वाजे पुरुषस्य मायौ ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐषु वर्चसा संविदाना ॥[3]

दुन्दुभि का घोष समस्त दिशाओं में परिव्याप्त होने की बात अथर्व में उल्लिखित है—

"ज्याघोषा दुन्दुभयोऽभि क्रोशन्तु या दिशः" ।[4]

अथर्वकालीन दुन्दुभि काष्ठ से बनाई जाती थी तथा उसका मुख चर्म से आनद्ध होता था—

"वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिः" ।[5]

इसकी बादियों को मसृण रखने के लिए तैल का उपयोग किया जाता था—

"प्रत्रासममित्रेभ्यो वदाज्येनाभिधारितः" ।[6]

दुन्दुभि के मुखाच्छादन के लिये हरिण के चर्म का प्रयोग किया जाता रहा हो, ऐसा निम्न मन्त्र से प्रतीत होता है—

---

१. ८।६।१०
२. ५।२०।५; ५।२१।६; ६।१२६।३
३. ६।३८।४
४. ५।२१।९
५. ५।२०।१; ५।२१।३
६. ५।२१।३

परामित्रान् दुन्दुभिना हरिणस्याजिनेन च ॥[1]

उस समय मान्यता विद्यमान थी कि दुन्दुभि की ध्वनि गम्भीर एवं मोहक हुआ करती है। शत्रुओं का त्रासन तथा मोहन दोनों करने की शक्ति उसमें है—

एवा त्वं दुन्दुभे मित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ॥[2]

अथर्व वेद के "गोपथ" नामक ब्राह्मण में विप्रों के लिये संगीत सर्वथा निषिद्ध माना गया है—

तस्माद् ब्राह्मणो नैव गायेन्न नृत्येत् माग्लागृधः ॥[3]

प्रतीत होता है कि संगीतविषयक यह धारणा उसके लौकिक एवं अध्यात्म-विरोधी पक्ष के सम्बन्ध में रही हो, न कि साम आदि जैसे उच्चश्रेणीय संगीत के सम्बन्ध में।

१. ५।२१।७
२. ५।२१।६
३. २।२१

प्रकाशक
मुद्रक
संस्करण
मूल्य

खण्ड २

सामवेद में संगीत

सामवेद का वैशिष्ट्य

वेदचतुष्टयी में सामवेद का संगीत की दृष्टि से एक विशिष्ट स्थान है। यद्यपि साहित्यिक दृष्टि से उसका समावेश पूर्व विवेचित वैदिक युग में संभाव्य है, तथापि संगीतकला के विकास की दृष्टि से वह निजी वैशिष्ट्य से संवलित है और इसी रूप में उसका स्वतन्त्र एवं विस्तृत विवेचन यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

सामवेद का प्राचीन संगीत की दृष्टि से एक विशिष्ट स्थान है। यही वह ग्रन्थ है जिसके रूप में भारतीय संगीत-सरित् के अनादि स्रोत का दृश्य स्वरूप हमारे सामने प्रथम बार अभिव्यंजित होता है। शौनक की बृहद्देवता के अनुसार साम का यथार्थ आकलन अन्य वेदों के यथार्थ ज्ञान की कुञ्जी है—'सामानि यो वेत्ति स वेत्ति तत्वम्।' श्रीमद्भगवद्गीता में सामवेद को ईश्वर का अंश माना गया है—'वेदानां सामवेदोऽस्मि'।[1] श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार समस्त साम-गीतों में बृहत्साम का मूर्धन्य स्थान है तथा छन्दों में गायत्री परमात्म-स्वरूप है—'बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्'। गायत्र साम का स्थान सामवेद के सप्त प्रकृति गानों में आदिम माना गया है। सामवेद से सम्बद्ध छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार सम्पूर्ण सामवेद का सार उद्गीथ में निहित है—"साम्न उद्गीथो रसः"। यही उद्गीथ सामगान का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अङ्ग है और इसी के सम्यक् गान के कारण गायक का नाम उद्गाता रहा है। साम साहित्य में उद्गीथ का सम्बन्ध उच्च स्वर में गाये जाने वाले 'ओंकार' अथवा 'प्रणव' से बतलाया गया है। साम के आरम्भ, मध्य तथा अन्त में सम्यक्तया गाया जाने वाला मूलभूत स्वर ही उद्गीथ का स्वरूप है। इसी स्वर की निर्दोषिता पर साम गान का साफल्य निर्भर रहा है।

साम की व्युत्पत्ति

जैमिनीय सूत्र के अनुसार गीति के लिये ही साम संज्ञा है—"गीतिषु सामाख्या"। अर्थात् जो मन्त्र गाये जाते हैं, वही साम कहलाते है। साम शब्द का मूलार्थ गान अर्थात् गेय वस्तु रहा है, तथापि अधिष्ठान के रूप में ऋचाओं

१. ८।३०

से सम्बद्ध होने के कारण उनके लिये भी 'साम' शब्द का प्रयोग किया जाता रहा। जैसे वैदिक संगीत के अन्तर्गत संकेत किया जा चुका है, साम का गान ऋग्वेद की ऋचाओं के आश्रय से किया जाता रहा है। गान के लिये साहित्य की आवश्यकता सदैव रही है। तत्कालीन संगीतज्ञों के समक्ष ऋग्वेद के छन्दमय मन्त्र इस कार्य के लिये अत्यन्त उपयुक्त थे। ललित एवं छन्दोमय काव्य, जोकि देवताराधन के लिये लोकप्रिय माध्यम थे, संगीत के लिये नितान्त उपयुक्त सिद्ध हुए। काव्य तथा संगीत के मंजुल समन्वय से निर्मित "गेय" ईश्वराराधना के लिये प्रभावशाली माध्यम माना जाने लगा। इन्हीं गेय ऋचाओं के परवर्ती संग्रह के लिये "सामवेद" अभिधान प्राप्त हुआ।

साम का वास्तविक स्वारस्य स्वर में निहित है। छान्दोग्य के अनुसार वाणी का व्यवहार ऋक् में निहित है तथा ऋक् का सार साम में सन्निविष्ट है। यदि वाणी ऋक् है, तो साम उसका प्राणभूत है। साम का प्रधान अङ्ग स्वर ही है—"का साम्नो गतिरिति। स्वर इति होवाच"।[1] साम की गति स्वर-लहरियों से निर्दिष्ट हुआ करती है। स्वर ही साम का सर्वस्व है। विशिष्ट स्वरों का सन्निवेश ही 'साम' शब्द का मूलार्थ है। बृहदारण्यक के अनुसार साम का वैशिष्ट्य उसके स्वरप्राधान्य में है—

"तस्य हैतस्य साम्नः यः स्वं वेद भवति हास्य एवं तस्य स्वर एव एवम्"। साम शब्द का यही अर्थ प्राचीन वैदिक वाङ्मय को अभिप्रेत है। ऋग्वेद की निम्न ऋचा में साम तथा ऋक् की भिन्नता स्पष्टतः प्रतिपादित है—

गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केन साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्त वाणीः॥[2]

पुरुषसूक्त में ऋक् के अतिरिक्त सामका स्वतन्त्र रूप से उद्भव उसकी मौलिक विभिन्नता का परिचायक हैं।[3] अथर्व में यही परम्परा अविच्छिन्न दिखाई देती है। अथर्ववेद के शब्दों में—"ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह" (११।४।२।४)। वैदिक साहित्य में अन्यत्र भी एक ही ऋक् पर विभिन्न सामों का प्रयोग किये जाने का उल्लेख है, जो ऋक् तथा साम के विभेद को स्पष्ट करता है।[4]

१. खण्ड १

२. १-१६४-२४

३. १०।९०।९

४. एक ही ऋचा पर २५ से लेकर ६१ तक सामों की संख्या सामवेद के गान-ग्रन्थों में पाई जाती है (द्र० 'वैदिक वाङ्मय,' बलदेव उपाध्याय)।

जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, साम का यौगिक अर्थ गान अथवा गीति है परन्तु स्वराधिष्ठान के रूप में ऋचाओं से सम्बद्ध होने के कारण साम का अर्थ गेय ऋचायें भी रहा है। ऋक् और साम के दृढ़ गठबन्धन की बात प्राचीन साहित्य में यत्र तत्र उपलब्ध है। यास्क के निरुक्त में साम तथा ऋक् के सम्बन्ध की बात स्पष्टतः निर्दिष्ट है—"साम सम्मितमृचा। अस्यतेर्वाचा समं मेन इति नैदानाः"।[1] जैमिनीसूत्र के भाष्यकार के अनुसार 'साम' शब्द की व्याप्ति निम्न शब्दों में स्पष्ट की गई है—

"सामवेदे सहस्रं गीत्युपायाः। आह कतमे गीत्युपाया नाम। उच्यते। गीतिर्नाम क्रिया साभ्यन्तरप्रयत्नजन्या स्वरविशेषाणामभिव्यंजिका सामशब्दाभिलप्या। सा नियतप्रमाणायामृचि गीयते।"

तात्पर्य यह कि 'साम' शब्द का अर्थ वह गीतिक्रिया है, जो आभ्यन्तर प्रयत्न से उद्भूत स्वरविशेषों की अभिव्यंजिका है। साम शब्द से अभिहित "धुनें" ऋचाओं के आधार से गाई जाने पर "साम" कहलाती हैं—"प्रगीतं मन्त्रवाक्यं सामशब्देनोच्यते"। साम शब्द के वाच्यार्थ के सम्बन्ध में सायण निम्न मत प्रस्तुत करते हैं—

सामशब्दवाच्यस्य गानस्य स्वरूपं ऋगक्षरेषु क्रुष्टादिभिः सप्तभिः स्वरैरक्षरविकारादिभिश्च निष्पाद्यते।[2]

तात्पर्य यह कि साम, जो कि मौलिक रूप से गान का द्योतक है, साहित्य के माध्यम से अभीष्ट विस्तार को प्राप्त होता है। वैदिक वाङ्मय में 'साम' शब्द की बड़ी सुन्दर निरुक्ति दी गई है। बृहदारण्यक के शब्दों में—'सा च अमश्चेति तत्साम्नः सामत्वम्'।[3] ब्राह्मणग्रन्थों में तथा गृह्यसूत्रों में भी ऋक् और साम का यही दाम्पत्य सम्बन्ध बतलाया गया है—

अमोहमस्मि सा त्वं सा त्वमस्यमोहं द्यौरहं पृथिवी त्वं सामाहमृक् त्वं तविह विवहावहै।[4]

वर वधू को सन्तानोत्पादन के लिये आह्वान करते हुए कहता है कि मैं "अम" हूँ, तुम "सा" हो; मैं आकाश हूँ, तुम पृथ्वी हो; मैं सामरूप हूँ, तुम ऋक्रूपा हो। अतः हम दोनों का सम्बन्ध इन्हीं युगलों के समान प्रगाढ़ तथा

---

१. ७।१२

२. सामभाष्यभूमिका।

३. १।३।२२

४. आश्व० गृ० १।५।८

अभिन्न हो। ऋग्वेद की ऋचाओं के साथ साम गान के सम्बद्ध होने की बात निम्न वैदिक कथा से स्पष्ट है—

साम के सुन्दर तथा आकर्षक स्वरूप को देखकर किसी ऋचा का आकर्षण उसके प्रति हुआ तथा उससे विवाह करने की अभिलाषा उसके हृत् में अंकुरित हुई। साम ने अपने रूप गौरव के गर्व से उसकी प्रार्थना अस्वीकार की। दो ऋचाओं के द्वारा प्रार्थना किये जाने पर ही साम ने उन दोनों को अपने अनुरूप न समझा। अन्त में तीन ऋचाओं से प्रार्थना किये जाने पर तीनों से उसने विवाह किया और तभी से इन युगलों को "साम" (सा + अम) संज्ञा पड़ी।

कथा का तात्पर्य यह है कि ऋक् के साथ जब तक साम का सशास्त्र प्रयोग नहीं होता तब तक ऋक् का उचित प्रभाव नहीं पड़ता। जो व्यक्ति ऋक्-पठन के पश्चात् साम स्वरों का यथाविधि गान करता है, वह अग्नि की भांति देदीप्यमान होता है और उसकी दीप्ति सर्वत्र प्रसृत हो जाती है, ऐसी प्राचीन आर्यों की मान्यता रही है। गान के द्वारा देवताओं को वशीभूत किया जा सकता है, ऐसी वैदिक आर्यों की दृढ़ धारणा थी। अतः ऋचाओं को प्रभावोत्पादक बनाने के लिये परम्परागत सामों का सम्यक् आरोपण किया जाने लगा। इसी के परिणाम-स्वरूप ऋग्वेद के समस्त गेय मन्त्रों के लिये "साम" शब्द का प्रयोग होने लगा। जिन ऋचाओं पर यह गान किये जाते थे, उनको "सामयोनि" नाम से अभिहित किया जाता था।[1] सामवेद इन्हीं सामयोनि अर्थात् साममूलक ऋचाओं का संग्रह है, जो साम के साहित्य मात्र को संकेतित करता है। साम का स्वरमय स्वरूप जिस स्वतन्त्र ग्रन्थ में संकलित हुआ है, उसके लिये "गानसंहिता" अर्थात् "गानग्रन्थ" संज्ञा है।

सामसंहिता का स्वरूप

यज्ञ याग की वृद्धि के कारण उद्गाता नामक ऋत्विजों का एक स्वतन्त्र वर्ग बन गया और इनके उपयोग के लिये स्वतन्त्र संहिता ग्रन्थ की आवश्यकता अनुभव हुई। यज्ञयागों की प्रारम्भिक अवस्था में इस कार्य के लिये ऐसे गायक विद्वान् को चुना जाता था, जो आवश्यक ऋचाओं को सुस्वर स्वरावलि में गा सकता। इन स्वरावलियों का ज्ञान परम्परा से तथा तत्कालीन लोक-संगीत से ग्रहण किया जाता रहा हो, यह सन्देहास्पद नहीं। संगीत का उपयोग जैसे धर्मकृत्यों में आवश्यक था, वैसे ही लौकिक समारोहों पर भी। यज्ञयाग की वृद्धि के साथ जैसे ही संगीतनिपुण ऋत्विजों की आवश्यकता आ पड़ी, सामगों का एक

१. "छन्दोनामके ग्रन्थे नानाविधानां साम्नां योनिभूता एवर्चः पठिताः" (सामवेदभाष्य, सायण, भाग १, पृ०२२)।

स्वतन्त्र वर्ग बन गया, जिनका कार्य था ऋग्वेद की ऋचाओं का शास्त्रीय तथा परम्परानुगत गायन करना। इन्हीं ऋचाओं को एक स्थान पर संकलित करने से सामवेद का निर्माण हुआ।

सामवेद के दो प्रधान भाग हैं—आर्चिक तथा २ गान। आर्चिक भाग केवल ऋग्वेद की ऋचाओं का संग्रह मात्र है।[१] आर्चिक के दो भाग हैं—पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक में ६ अध्याय या प्रपाठक हैं। इनमें से प्रथम पांच अग्नि, इन्द्र, पवमान आदि देवताओं की स्तुति-परक है। ध्यान देने की बात है कि पूर्वार्चिक का बृहत् अंश अर्थात् द्वितीय से लेकर चतुर्थ अध्याय तक इन्द्र-विषयक मन्त्रों का संकलन है। प्रथम से लेकर पंचमाध्याय तक की ऋचायें "ग्रामगान" के नाम से अभिहित हैं; केवल षष्ठ अध्याय "आरण्यगान" के अन्तर्गत है।

उत्तरार्चिक नामक द्वितीय विभाग में ९ प्रपाठक हैं तथा समग्र मन्त्र संख्या १२२५ है। पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक की रचना में थोड़ी विभिन्नता प्राप्त होती है। पूर्वार्चिक में सामों की केवल योनिभूत अर्थात् मूलभूत ऋचायें पठित हैं तथा उत्तरार्चिक में इन ऋचाओं की धुन पर गाये जाने वाली तृचों अथवा प्रगाथों का संग्रह है। उत्तरार्चिक में जो प्रगाथ अर्थात् तीन-चार ऋचाओं के सम्मिलित सूक्त संगृहीत हैं, उनमें प्रायः प्रथम ऋचाएँ पूर्वार्चिक में प्रात होती हैं। गान की दृष्टि से दोनों का सम्बन्ध यह है कि उत्तरार्चिक के प्रगाथों के लिये वही स्वरावलि अर्थात् साम नियत है, जो कि पूर्वार्चिक में उपलब्ध उसकी प्रथम ऋचा पर किया जाता है। उदाहरणार्थ, उत्तरार्चिक में उपलब्ध "प्रमंहिष्ठाय" (१, १, १–२–३२) इस तृचात्मक सूक्त का गान पूर्वार्चिक के "प्रमंहिष्ठाय" इसी मन्त्र के अनुसार किये जाने का विधान है—

"प्र मंहिष्ठाय गायत इति योनावुत्पन्नं साम प्र मंहिष्ट शब्दयोगात् प्र मंहिष्ठायां तदत्र तृचे कर्तव्यम्"।[२]

सामगान के अन्तर्गत गाये जाने वाले "स्तोत्रों" का निर्माण इन्हीं उत्तरार्चिक की ऋचाओं से होता रहा है। स्तोत्र का निर्माण एक से लेकर १२ तक

---

१. सामवेद की सम्पूर्ण १८७५ ऋचाओं में से केवल ९९ ऐसी हैं, जोकि ऋग्वेद की शाकल्य संहिता में प्राप्त नहीं (द्र० 'वैदिक साहित्य', बलदेव उपाध्याय)।

२. पंचविंश ब्रा० १२, ६, ५, सायण; तथा द्रष्टव्य, उत्तरार्चिक, १।१।१–२–३२; इस सम्बन्ध में विशेष विवरण के लिये द्र० ऋक्तन्त्र, भूमिका, पृ० २१, सूर्यकान्त शास्त्री।

सूक्तों से किया जाता है तथा इनका गान एक ही स्वरावलि अर्थात् धुन में किया जाता है, जो पूर्वार्चिक के अन्तर्गत उसकी प्रथम ऋक् के लिये नियत हो ।

सामवेद के गान-ग्रन्थ

जैसा कि ऊपर निवेदित किया जा चुका है, सामवेद के द्विविध ग्रन्थों में गान-ग्रन्थों का महत्वपूर्ण स्थान है । आर्चिक ग्रन्थ साम के साहित्य मात्र का संकेत करते हैं; गान-ग्रन्थ साम के स्वरमय स्वरूप के द्योतक हैं । आर्चिक-ग्रन्थों की तुलना आधुनिक परिभाषा में संगीत के ऐसे गीत-ग्रंथों से की जा सकती है, जिनमें केवल स्वरविरहित चीजों का संकलन होता है । गान-ग्रन्थों की तुलना स्वरलिपि सहित चीजों के संकलन-ग्रंथों से की जानी चाहिए। संगीत के इतिहास में वस्तुतः सामवेद के इन्हीं ग्रन्थों का अधिक महत्वपूर्ण स्थान है । ये गान-ग्रन्थ चतुर्विध बतलाये गये हैं, जिनमें से प्रथम दो योनिगान हैं तथा परवर्ती दो विकृति-गान हैं । इनके नाम इस प्रकार हैं—(१) ग्रामगेयगान, (२) आरण्यक गान, (३) ऊहगान तथा (४) ऊह्यगान ।

१—ग्रामगेयगान :—इसके लिये "वेयगान" तथा "प्रकृतिगान" संज्ञा भी है[1] । पं० सत्यव्रत सामश्रमी के अनुसार यह "वेगान" भी कहलाता है, जिसका अर्थ द्वितीय है और आरण्यगान के अनन्तर सिखाये जाने के कारण इसके लिये वेयगान यह संज्ञा प्राप्त है[2] । ग्राम-गान के अन्तर्गत पूर्वार्चिक के केवल प्रथम पांच अध्यायों का समावेश है । इनमें अन्तर्भूत गायत्र, आग्नेय, ऐन्द्र, पवमान आदि सूक्तों को ही मूलभूत सप्तगानों का अंगभूत माना जाता है[3] ।

२—आरण्यक गान—इसका सम्बन्ध पूर्वार्चिक ग्रन्थ के षष्ठ अर्थात् अन्तिम अध्याय से है । साम के सप्त मूलभूत गानों में अर्कद्वन्द्वव्रत, शुक्रिय तथा महा-साम्नी का अन्तर्भाव आरण्यक गान में होता रहा है। इसी गान के लिये 'रहस्य'

---

१. दक्षिण भारत में कृष्णस्वामी श्रौतिन् के द्वारा सम्पादित सामवेद में पूर्वार्चिक के गेय रूपान्तर को 'वेयगान' संज्ञा दी गई है, जो उसकी पुष्पिका "इति वेयगानं समाप्तम्" से स्पष्ट है (द्र० केटेलाग आफ संस्कृत मेनस्क्रिप्ट, खण्ड १, भाग १, पृ० ७३) ।

२. द्र० सामश्रमी कृत त्रयीटीका, पृ० २०५ (ऋक्तन्त्र, पृ० १९ पर उद्धृत); वेबर के मत से वेयगान ग्रामगेयगान के लिये अशुद्ध रूप है (केटेलाग आफ संस्कृत मेनस्क्रिप्ट भाग १, पृ० ७३) ।

३. द्र० सामवेद, स्वाध्यायमण्डल प्रकाशन, भूमिका ।

तथा 'रहस्यगान' भी संज्ञाएं है[१]। इसके स्वरूप की किंचित कल्पना उसके 'आरण्य' नामकरण से की जा सकती है। सम्भव यही है कि इन गानों का स्वरूप वन्य संगीत की स्वर-लहरियों से निर्मित हुआ हो और ग्रामेगेय के परिमार्जित एवं परिष्कृत रूप से सर्वथा पृथक् रहा हो। ग्रामीण तथा नागर संगीत के मध्य में जो अन्तर अनुभूत है, उसी अन्तर की कल्पना वेयगान तथा आरण्य गान के बीच में की जा सकती है। यद्यपि ग्रामगेय तथा आरण्यक दोनों मूलभूत गान हैं, तथापि संगीत-शैली की भिन्नता ही इन दोनों का भेदक तत्व रहा होगा। वन्य संगीत की अपेक्षा ग्रामगत संगीत परिष्कार की दृष्टि से कुछ उन्नत रहा हो, तो आश्चर्य नहीं।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, ग्रामगेय तथा आरण्यक दोनों प्रकृति-गान हैं। हैं। ऊह तथा ऊह्य नामक अन्य दो प्रकार इन्हीं दोनों पर आधारित होने के कारण इनके लिये 'योनिगान' भी संज्ञा है।

ऊहगान तथा ऊह्यगान

ऊह तथा ऊह्य इन दोनों गान-प्रकारों का आधार उपरिनिर्दिष्ट ग्रामगेय तथा आरण्यगान है[२]। ग्रामगेय पर आधारित गान परिवर्तित स्वरूप में 'ऊहग्रन्थ' में उपलब्ध है; आरण्यगान का गायक की कल्पना से परिवर्द्धित तथा परिवर्तित रूप 'ऊह्यगान' में प्राप्त होता है। सायण के अनुसार उत्तरार्चिक ग्रन्थ के स्तोम—प्रकारों का ज्ञान इन्हीं ग्रन्थों से सम्भाव्य है[३]। सामान्यतः यह देखा जाता है कि ऊहतन्त्र में पूर्वार्चिक की उन ऋचाओं का गान है, जो आग्नेय, ऐन्द्र तथा पवमान सूक्तों में स्थित हैं। पूर्वार्चिक में इनके अतिरिक्त आरुण तथा शुक्रिय सूक्त अवस्थित हैं, जिनका गान ऊह्य अथवा रहस्य-तन्त्र में पाया जाता है[४]। ऊह्य के लिये अपर अभिधान 'ऊह्य रहस्यगान' है, सम्भवतः इसलिये कि वे

१. द्र० पंचविंश ब्रा० भूमिका, पृ० ११; सायमन कृत पुष्पसूत्र, पृ० ५०१ तथा कैलेन्ड द्वारा सम्पादित जैमिनीय संहिता।

२. डब्लू कैलेण्ड कृत 'डाय जैमिनीय संहिता, पृ० १०', उद्धृत 'सम प्रोब्लेम्स रिगार्डिग सामगान' में।

'ऊहगीतौ ग्रामेगेयवत् ऊह्यगानं आरण्यगेयवत्'—पुष्पसूत्र ८, ८७ पर नानाभाई का भाष्य।

३. ए० सी० बर्नेल कृत 'आर्षेय ब्राह्मण', भूमिका द्रष्टव्य।

४. द्र० 'डिस्क्रिप्टिव केटलाग आफ संस्कृत मेनस्क्रिप्ट', खण्ड १, भाग १, पृ० ७३।

रहस्य अर्थात् आरण्यक गान के विकृतिस्वरूप हैं[1]। प्रतीत होता है कि ग्रामगान तथा आरण्यगान के यथावश्यक परिवर्तन तथा परिवर्द्धन में सहायक होने के कारण इनका अन्तर्भाव साम के गान-ग्रन्थों में किया गया है। यद्यपि ऊह तथा ऊह्य गान की परिभाषा सामवेद के वाङ्मय में प्राप्त नहीं होती तथापि निम्न प्रमाणों के आधार पर उसके सम्बन्ध में कथंचित् कल्पना की जा सकती है।

ऊह का अर्थ है तर्क करना अथवा कल्पना करना। इस व्युत्पत्ति के अनुसार ऊह तथा ऊह्य गान गायकों की उर्वर कल्पना तथा स्वतन्त्र प्रतिभा पर आधारित रहा हो, ऐसी यथार्थ कल्पना की जा सकती है। सामगान के प्रत्यक्ष गायन का स्वरूप द्विविध रहा है—१ स्वरूप तथा २ रूपान्तर[2]। सामगान का प्रथम प्रकार मूल सामगान को व्यक्त करता है, जिसमें परिवर्तन के लिये कोई अवकाश नहीं। आधुनिक संगीत की परिभाषा में वह गीत की ऐसी बन्दिश है जिसके परम्परागत स्वरूप में परिवर्तन स्वीकृत नहीं और जो परम्परा का प्रत्यक्ष द्योतक है। 'रूपान्तर' विधि में प्रसंगानुसार प्राचीन बन्दिश में यथायोग्य परिवर्तन के लिये पर्याप्त अवकाश है। सम्भवतः यही रूपान्तर विधि ऊह तथा ऊह्य ग्रन्थों के लिये आधारभूत रही है। सामवेद से सम्बद्ध पुष्पसूत्र[3] में ऊह के अन्तर्गत सन्धि, पद, विश्लेष आदि क्रियाओं का समावेश बतलाया गया है—

> संधिवत्पदवद्गानमत्वमाभविमेव च।
> प्रश्लेषं चाथ विश्लेषानूहे त्वेव निबोधत॥

ऊह तथा ऊह्य ग्रन्थों के काल निर्णय[4] का विवेचन निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

---

१. द्र० उपाध्याय कृत 'वैदिक साहित्य', पृ० १४९–१५०।

२. द्र० डा० वेक का 'प्रेक्टिस आफ सामवेद' शीर्षक लेख :, मुले, भारतीय संगीत। इस सम्बन्ध में निम्न वचन उपादेय है—'यानि निधनानि स्वाध्यायकाले रूपान्तरेणाध्ययनाच्च छन्नानि प्रयोगकाले स्वरूपेण प्रयोज्यानि तानि' (द्र० सायमन कृत पंचविधसूत्र, पृ० २ पर उद्धृत)।

३. इस ग्रन्थ का उद्देश्य ऊह-प्रक्रिया का सम्यक् ज्ञान रहा है। इस सम्बन्ध में अजातशत्रु कृत व्याख्या में उपलब्ध निम्न श्लोक मननार्ह है—

आमहीयवसामादिश्रायन्तीयकृताबधिम्। ऊहसागरमुद्धर्तुम् शक्नुमः फुल्ल-नोकया॥ (पुष्पसूत्र व्याख्या)

४. केलेण्ड के अनुसार ऊह की रचना आर्षेयकल्प इत्यादि सूत्र ग्रन्थों तथा कुछ ब्राह्मणग्रन्थों के बाद की है (द्र० केलेण्ड के द्वारा सम्पादित जैमिनीय संहिता, भूमिका)।

द्राह्यायण श्रौतसूत्र की टीका में धन्विन् का निम्न वचन उपलब्ध है—

"विश्वे देवा इति वसिष्ठस्य निहवमूहेत्'।[1]

इस सूत्र पर व्याख्याकार निम्न आपत्ति तथा समाधान उपस्थित करते हैं—'ननु च ऊहेदिति वचनमनर्थकम्' तस्याध्ययनसिद्धत्वात्। सत्यमेतत्। वचनोत्तरकालमूहः कृतः'। आपत्ति यह है कि 'ऊह' गान तो अध्ययन से सिद्ध होता है और प्रत्यक्ष ऊह-ग्रन्थ के रूप में विदित है। तो ऐसी अवस्था में 'वसिष्ठस्य निहवमूहेत्' यह कहने की क्या आवश्यकता ? समाधान के रूप में भाष्यकार का प्रतिपादन यह है कि ऊह-ग्रन्थ का निर्माण मूल गान-ग्रन्थों के अनन्तर हुआ है और उन ग्रन्थों के निर्माण तक 'ऊहेत्' यह आदेश निरर्थक नहीं माना जा सकता।

प्रत्यक्ष ऊह तथा ऊह्य ग्रन्थों में कालक्रम की दृष्टि से निम्न वचन उपादेय है—

ऊहग्रन्थोऽपौरुषेयः पौरुषेयोऽथवाग्रिमः। वेदसामसमानत्वाद्विधिसार्थत्वतोऽन्तिमः[2] ॥

यद्यपि ऊह तथा ऊह्य दोनों का उद्देश्य समान है तथापि ऊह ग्रन्थ की अपेक्षाकृत प्राचीनता उसको अपौरुषेय मानने के पक्ष में है। सामविधान ब्राह्मण में इसी मान्यता का आभास मिलता है। इस ब्राह्मण में जिन सामों का उद्धरण प्राप्त है, उनमें ग्राम तथा आरण्यगान ही अन्तर्भूत है; ऊह तथा ऊह्य गान के कोई उद्धरण इसमें प्रस्तुत नहीं। ऊह तथा ऊह्य के सम्बन्ध में इसी कल्पना का आभास सामवेद के निदानसूत्र में पाया जाता है, यथा—

"ऋषिकृतः स्विदूहा ३ अन्नृषिकृत इति वै खल्व आहुः—ऋषिकृता इति अपरम्"।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इन ग्रन्थों का कार्य भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर प्राचीन तथा परम्परागत धुनों का आवश्यकतानुकूल परिवर्तन तथा प्रयोग रहा है। अन्तर यह है कि ग्रामगानों का परिवर्द्धन 'ऊह' कहलाया तथा आरण्यगानों का परिवर्द्धन 'ऊह्य' के नाम से प्रथित हुआ।

इनके कालक्रम के आधार पर यही प्रतीत होता है कि भावी उद्गाता को सर्वप्रथम आर्चिक ग्रन्थों की शिक्षा दी जाती थी, जिससे गान की आधारभूत ऋचाएँ उनके लिये कंठगत हो जायें। यह ऋचायें गान की केवल रूपरेखा मात्र थीं तथा अध्ययन की प्रगत अवस्था में इन्हीं में यथायोग्य परिवर्तन तथा परिवर्द्धन

---

१. १०–१–११, लघुशब्देन्दुशेखर ३–९–१२।

२. द्र० जैमिनीयन्यायमालविस्तर, ९, २, १–२।

३. २, १; उद्धृत डा० कैलेण्ड कृत 'पंचविंश ब्राह्मण', भूमिका, पृ० १३ पर।

करने की शिक्षा दी जाती थी। रूपान्तर के साथ गाये गये इन्हीं गानों के लिये ऊह तथा ऊह्य अवधान प्राप्त है। आधुनिक काल में संगीत के विद्यार्थी को अन्यान्य रागों के गीत सर्वप्रथम कण्ठगत कराये जाते हैं, ताकि उन उन रागों की प्रतिमा उनके मस्तिष्क में स्थिर हो जायें। इसके अनन्तर ही प्रतिभाजन्य परिवर्तन करने की शिक्षा श्रेष्ठ संगीतज्ञों के दिग्दर्शन से उपलब्ध होती है, जिससे पंजर-मात्र गीतों में नानाविध रंगीनियों का समावेश स्वतन्त्र रूप से किया जा सके।

सामवेद का साहित्य एवं उसकी शाखाएँ

जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, साहित्य की दृष्टि से सामवेद की स्वतन्त्र सत्ता नहीं। वह ऋग्वेद का गेय रूपान्तर मात्र है। यही गेय रूप सामवेद के गान ग्रन्थों में संकलित हुआ है तथा इन गीतों का साहित्य साम संहिता के आर्चिक भाग में हुआ है। ब्राह्मण तथा पुराणों की परम्परा के अनुसार साम का विस्तार विपुल है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार साम मन्त्रों की गणना चार बृहती छन्द के परिमाण की है (१०–४–२–२)। एक बृहती छन्द में ३६ अक्षर होते हैं अतः साम मन्त्रों की गणना ४००० × ३६ = १४४००० पद के रूप में निष्पन्न होती है। चरणव्यूह के अनुसार सामवेद की आर्चिक संहिता में कुल ८००० मंत्र थे और इनके गान की संख्या १४८२० थी—

अष्टौ साम सहस्राणि छन्दोगार्चिकसंहिता। गानानि तस्य वक्ष्यामि सहस्राणि चतुर्दश ॥

अष्टौ शतानि ज्ञेयानि दशोत्तरदशैव च।
ब्राह्मणं चोपनिषदं सहस्रं त्रित्रयं तथा ॥

वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार ऊह, आरण्य आदि भागों को मिलाकर कुल शाम ८०१४ है, जिनका गायन सामगायक करते हैं—

अष्टौ सामसहस्राणि सामानि च चतुर्दश। आरण्यकं सहोहं च एतद्गायन्ति सामगाः।[1]

सामवेद के विस्तार का परिचय पतंजलि की निम्न उक्ति से प्रमाणित होता है—'सहस्रवर्त्मा सामवेदः'। सामवेद मुख्यतः गानवेद है, अतः व्याख्यानभेद से सहस्रों भागों में विभक्त हो जाना एक स्वाभाविक बात है। आधुनिक संगीत में गानभेद से परम्परा तथा घरानों का विभेद हो जाता है, यह तथ्य बुधजनविदित

१. द्र० वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, भगवद्दत्त कृत, पृ० ३२४–३२५; वायुपुराण, १।६१।६३, ब्रह्माण्ड पुराण २।३५।७१–७२।

है। अतः 'सहस्रवर्त्मा' से तात्पर्य यहां सामगान की अनेक परम्पराओं से लिया जाना युक्तियुक्त है।

बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान के अनुसार सामवेद की १०८० शाखायें हैं— 'ब्राह्मणा सर्वं एते छन्दोगाः पंक्तिरित्येका भूत्वा साशीतिसहस्रधा भिन्ना'।[१] प्रपंच-हृदय के द्वितीय अर्थात् वेदप्रकरण के अनुसार सामवेद की केवल १२ शाखायें हैं। आथर्वण परिशिष्ट चरणव्यूह के अनुसार साम की सहस्र शाखाओं में से केवल निम्नलिखित अवशिष्ट है, जैसे राणायनीय, सात्यमुग्र, कालाप, महाकालाप, कौथुम और लांगलिक। सामगायकों के अन्तर्गत निम्न १३ आचार्यों के लिये तर्पण विहित है। यही आचार्य साम की विभिन्न शाखाओं के प्रवर्तक रहे हैं—

राणायन-सात्यमुग्र-व्यास-भागुरि-ओलुण्डि-गोल्मुलवि-मानुमानोपमन्यवका-राटि-मशक-गार्ग्य-वार्षगण्य-कौथुमि-शालिहोत्र-जैमिनि त्रयोदशेते मे सामगाचार्या स्वस्ति कुर्वन्तु तर्पिताः ॥[२]

इन आचार्यों के साथ निम्न दश प्रवचनकारों के लिये तर्पण का विधान है, जैसे, शटि, भाल्लवि, काल्यवि, ताण्डव, वृषाण, शमबाहु, रूरुकि, अगस्त्य, बष्कशिरा, तथा हूहू।[३] जैमिनि गृह्यसूत्र के तर्पण प्रकरण में निम्नलिखित १३ आचार्यों के नाम उपलब्ध हैं—

जैमिनिं-तलबकारं-सात्यमुग्रं-राणायनिं-दुर्वाससं च भागुरिं–गौरूण्डिगौर्गुल्जिं-भगवन्तमौपमन्यव-कारडिं-सावर्णिं-गार्ग्यवार्षगण्यं-दैवन्त्यम् इति (१।१४)।

इन १३ आचार्यों में से केवल ३ ही आचार्यो की शाखायें अधुना उपलब्ध है—कौथुमीय, राणायनीय, तथा जैमिनीय। चरणव्यूह के अनुसार कौथुमीय के सप्त भेद हैं तथा राणायनीय के सप्त तथा नव भेद है।[४] दिव्यावदान के अनुसार छन्दोगों के ६ भेद हैं—कौथुम, वारायणीय (राणायनीय ?), लांगल, सौवर्चस, कपिन्जलेय तथा आर्ष्टिषेण।[५] ब्राह्मण में सामगों की सम्प्रदाय परम्परा

---

१. उद्धृत 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास', भाग १ में, लेखक भगवद्दत्त।

२. द्र० सुब्रह्मण्य शास्त्री कृत गोभिलगृह्यकर्मप्रकाशिका, नित्यान्हिक; यही नाम कुछ अन्तर से चरणव्यूह की महीदास कृत टीका में पाये जाते हैं।

३. द्र० खादिर गृह्यसूत्र (३।२।१४) पर रुद्रस्कन्द की टीका; वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृ० ३०९, भगवद्दत्त कृत।

४. 'सामवेदस्य किल सहस्रभेदा भवन्ति। एष्वनध्यायेष्वधीयानास्ते शतक्रतु-वज्रेणाभिहताः। शेषान्व्याख्यास्यामः। तत्र राणायनीयानां सप्तभेदा भवन्ति'।

५. द्र० पृ० ६३७।

प्रजापति, बृहस्पति, नारद, व्यास, जैमिनि, ताण्डि तथा शाट्यायनि इस क्रम से ली गई है।

पुराणों के अनुसार मूल साम-शाखाओं के प्रवर्तक वेद व्यास हैं। यज्ञ की आवश्यकता को ध्यान में रखकर उन्होंने अपने चार शिष्यों को चार स्वतन्त्र संहिताओं की शिक्षा दी, जिसमें जैमिनि को साम का अध्ययन कराया—'सामगो जैमिनिः कविः'[1]। वायु, विष्णु आदि अन्य पुराणों के अनुसार जैमिनि ही साम के आद्य आचार्य के रूप में गौरवान्वित हैं। जैमिनि से आरम्भ कर परम्परागत रूप से साम का अध्ययन प्रसृत हुआ। जैमिनि से अपने पुत्र सुमन्तु को, सुमन्तु से पुत्र सुन्वान को तथा सुन्वानु से उसके पुत्र सुकर्मा को सामवेद को संहिता तथा गान की शिक्षा प्राप्त हुई। समस्त भरतखण्ड में साम को प्रसृत करने का श्रेय पुराणों के अनुसार सुकर्मा को है, जिनकी शिष्य परम्परा प्राच्य तथा उदीच्य दो रूपों में आविर्भूत हुई। इनके दो शिष्यों में एक थे हिरण्यनाभ कौशल्य, जो पूर्वीय प्रान्त के होने के कारण 'प्राच्य सामग' कहलाये। इन्हीं के शिष्य का नाम था राजकुमार कृत, जिसकी परम्परा का निर्देश पाणिनि की अष्टाध्यायी में पाया जाता है[2]। इस आचार्य ने प्राच्य देश में संहिताओं का प्रचार किया[3]। सुकर्मा की दूसरी शिष्य परम्परा 'उदीच्य' कहलाई, जिसमें प्रमुख शिष्य पौष्यन्जि थे। भागवत के अनुसार इनके पांच शिष्य हैं—लौगाक्षि, भांगलि, कुल्य, कुसीद तथा कुक्षि (१२।६।७९)। वायु तथा ब्रह्माण्ड के अनुसार पौष्यन्जि के चार शिष्य थे—लौगाक्षि, कुथुमि, कुसीदी तथा लांगलि। इनकी परम्परा का प्रचार उत्तर भारत से सम्बद्ध रहने के कारण 'उत्तरीय सामग' नाम से इनकी ख्याति रही है।

जैसा ऊपर कहा गया है, सामवेद की तीन शाखाओं का प्रचार भारत के विभिन्न भागों में पाया जाता है—'गुर्जरदेशे कौथुमी प्रसिद्धा। कार्णाटके जैमिनी प्रसिद्धा। महाराष्ट्रदेशे राणायनीया प्रसिद्धेति' (चरणव्यूह)। प्रचार की दृष्टि से कौथुम शाखा विशेष महत्वपूर्ण है और इनका प्रचलन गुजरात तथा बंग देश में है। अन्य दो–राणायनीय और जैमिनीय— विषय की दृष्टि से एक से हैं, केवल मन्त्रगणना तथा उच्चारण में कहीं-कहीं पार्थक्य अवश्य दृष्टिगोचर होता है[4]। प्रो० कैलेण्ड के अनुसार कौथुम की अवान्तर शाखा 'ताण्डय' नाम

१. भागवत, १।४।२१

२. ६।२।६७

३. विष्णुपुराण ४।१९।५०–५२

४. कौथुमीय लोग जहाँ 'हाउ' तथा 'राइ' कहते हैं, वहाँ राणायनीय शाखा

से प्रसिद्ध है, जिससे सम्बद्ध 'ताण्डय' अथवा 'पंचविंश' ब्राह्मण सर्वाधिक प्रसिद्ध है। शंकराचार्य के मत से ताण्डय तथा शाट्यायन की शाखाऐं स्वतंत्र हैं— अन्येऽपि शाखिनः ताण्डिनः शाट्यायिनः (शां० भा० ३ । ३ । २४, २७)। सामवेद का प्रसिद्ध छांदोग्य उपनिषद् इसी शाखा से सम्बन्ध रखता है :

"यथा ताण्डिनामुपनिषदि षष्ठे प्रपाठके-स आत्मा"[१]।

राणयनीय शाखा कौथुम से छोटी है। इसका प्रचार महाराष्ट्र में अधिकतर है। इनकी एक अवान्तर शाखा सात्यमुग्रि कहलाती है, जिनकी उच्चारण-विषयक विशेषता का निर्देश पतंजलि के महाभाष्य में[२] निम्न रीति से पाया जाता है—

ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारं अर्धमोकारं च अधीयते। सुजाते ए अश्वसूनृते। अध्वर्यो ओ अद्रिभिः सुतम् (सामवेद १। ६।२।३) शुक्रं ते ए अन्यद्यजतम् (साम १।१।८।३)।

आपिशलि शिक्षा में सात्यमुग्रि शाखा के इसी वैशिष्ट्य का प्रतिपादन निम्न शब्दों में हुआ है – 'छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया ह्रस्वानि पठन्ति'[३]।

जैमिनीय शाखा का प्रचार कर्नाटक के तिन्नेवेली और तंजौर जिले में पाया जाता है। तलवकार इसी की अवान्तर शाखा बतलाई गई है, जिससे प्रसिद्ध 'केनोपनिषद्' संबद्ध है। इस पर भाष्य करते समय श्री शंकराचार्य तलवकार ब्राह्मण का वर्णन करते पाये जाते हैं। इस शाखा की प्राचीनता इससे स्पष्ट है कि पाणिनि के 'शौनकादिभ्यश्छन्दसि' (४।३।१०६) में गण के अन्तर्गत इस शाखा का स्पष्टतः समावेश पाया जाता है[४]।

सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में संगीत :—

सामगान के विधिविधान के सम्बन्ध में इन ब्राह्मण ग्रन्थों से पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है। ई० ७वीं शताब्दि के कुमारिल भट्ट अपने तंत्रवार्तिक में

के गायक 'हावु' तथा 'रायि' उच्चारण करते हैं (द्र० बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० १४६)।

१. शंकर भाष्य, ३।३।३६. 'स आतमा' यह छांदोग्य (६।८।७) का अंश है (द्र० वहीं, पृ० १४१, पाद टिप्पणी)।

२. १।१४।४८

३. प्रकरण ६

४. द्र० जैमिनीय (तलवकार) वा उपनिषद् ब्राह्मण, सम्पादित, दयानन्द महाविद्यालय, संस्कृतग्रन्थमाला, डी. ए. वी. कालेज, लाहौर।

सामवेद के आठ ब्राह्मण होने का उल्लेख करते हैं (१।३)। महत्व की बात यह कि उनके स्वरविरहित होने का स्पष्ट उल्लेख इस ग्रन्थ में पाया जाता है। भाषिकसूत्रकार कात्यायन उनके स्वरांकित होने का उल्लेख करते हैं – 'शतपथवत् ताण्डिभाल्लविनां ब्राह्मणस्वरः' (३३)। ई० १४ के सायणाचार्य के सामभाष्य में इन ब्राह्मणों का नामनिर्देश अधिकृत रूप से प्रथम बार प्राप्त होता है। ये ब्राह्मण इस प्रकार हैं – प्रौढ़ ब्राह्मण, षड्विंश, सामविधान, आर्षेय, देवताध्याय, मंत्र वा उपनिषद्, संहितोपनिषद् तथा वंश [१]। इनके अतिरिक्त साहित्य में उद्धृत परन्तु अनुपलब्ध ब्राह्मणों में से कुछ महत्वपूर्ण सामवेदीय ब्राह्मण इस प्रकार हैं – शाट्यायन ब्राह्मण, भाल्लवि ब्राह्मण तथा जैमिनीय या तवलकार ब्राह्मण। सामवेद के प्रसिद्ध सूत्रग्रन्थ 'फुल्लसूत्र' अथवा पुष्पसूत्र में सामवेद के जिन दो पुरातन ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है,[२] वे इस प्रकार हैं – कालभविन् तथा शाटयायनिन् —

"यथादेशं च काल (म ?) विनामपि प्रवचनविहितस्वरः स्वाध्याये। तथा शाटयायनिनाम्"[3]।

इस ब्राह्मण भी महत्ता इससे प्रकट है कि इसके अनेक उद्धरण एवं उल्लेख सायणभाष्य, शांकरभाष्य,[४] फुल्लसूत्र तथा श्रौतसूत्र[५] तथा जैमिनीय आदि ब्राह्मणों में उपलब्ध होते हैं।

दूसरा अनुपलब्ध किन्तु महत्वपूर्ण ब्राह्मण है 'भाल्लवि' जिसका निर्देश पाणिनि (४। ३। १०५),[६] पतंजलि (४। २। १०४), काशिका (४। २। ६६ तथा ४। ३। १०५), जैमिनीय ब्राह्मण (२। ४। ७) तथा नारदीय शिक्षा (१। १। १३) में उपलब्ध है। द्राह्यायण श्रौतसूत्र की घन्विटीका में साम की स्वरसम्पन्नता तथा 'उपगान' के सम्बन्ध में इस ब्राह्मण का निम्न उद्धरण उद्धृत है—

१. द्र० सामवेद भाष्य, मुखबंध, संपादित, पं० सत्यव्रत सामश्रमी।

२. द्र० सामविधान ब्राह्मण, सं० बर्नेल, भूमिका।

३. पुष्पसूत्र भाष्य, पृ० २५ की, पंक्ति ६

४. शां० भा० ३। ३। २७

५. द्र० संहितोपनिषद् ब्राह्मण, सं० बर्नेल।

६. पाणिनी के अनुसार यह पुरातन ब्राह्मण है। 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु (४। ३। १०५) का उदाहरण 'भाल्लविनः' तथा 'शाटयायनिनः' दिया गया है, जिससे यह विधान किया गया है कि भल्लु ऋषि तथा शाट्यायन ऋषि द्वारा प्रोक्त ब्राह्मण प्राचीनतम ब्राह्मणों में से है (द्र० वैदिक साहित्य और संस्कृति, बलदेव उपाध्याय, पृ० २१३-२१४)।

योऽनुपगीतं सामादत्ते मुच्यते रुचो भावुको भवत्युपगातृभ्यः प्रस्तरेत् प्राणो वै स्वरः प्राणेनैव साम संतनोतीति वल्गुतमं सामोपगीतं भवति तस्मादप्युगेयम् (धन्वि० ३ । ४ । २)।

कात्यायन का मत है कि यह ब्राह्मण शतपथ ब्राह्मण की भांति स्वरयुक्त रहा है—'शतपथवत् ताण्डिभाल्लविनां ब्राह्मणस्वरः'[१] ।

सामदेव की जैमिनी शाखा का जैमिनीय ब्राह्मण[२] अधुना उपलब्ध हो गया है। इसी को तलवकार तथा उपनिषद् ब्राह्मण के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इसमें मुख्य रूप से 'गायत्र साम' का वर्णन होने के कारण इसकी अपर संज्ञा 'गायत्र्युपनिषद्' है। साम की हिंकार, प्रस्ताव, आदि, उद्गीथ इत्यादि सप्त 'भक्तियों' का विवरण इसमें बाहुल्य से पाया जाता है। सामगान के मन्द्र साम, उग्र साम, वल्गु साम, क्रौंच साम आदि गान-गुणों के अनुकूल प्रकारों का उल्लेख इसमें हुआ है सामगान के दो प्रकारों का इसमें निर्देश हुआ है—१ ऋचाओं से युक्त साम तथा २ ऋचाओं से विहीन साम—

साम्नाऽनृचेन स्वर्गं लोकम्प्रायन् ।
तेऽब्रुवन्नृच्येव साम गायामेति[३] ।

साम के आश्रय के रूप में ऋक् का गान अवश्य किया जाता रहा है परन्तु उसका प्रमुख एवं मूल रूप स्वरमय ही रहा है। स्वर का संगीतमूलक अर्थ ब्राह्मण काल में विकसित हो चुका था, इसके लिये निम्न प्रमाण असन्दिग्ध है—

एतावद्वाव साम यावान् स्वरः ऋग्वा एषर्ते स्वराद्भवतीति । सोऽब्रवीत् पुनर्वा अहमेषामेतं रसमादास्य इति । तानब्रवीदुप मां गायत । अभि मां स्वरतेति । तथेति । तमुपागायन् । तमभ्यस्वरन् । तेषां पुना रसमादत्त ॥[४]

वाणी की निर्दोषिता साम का आधार बतलाई गई है—'वाग्वाव साम्नः प्रतिष्ठा' 'वागेव साम । वाचा हि साम गायति'[५] । इस ब्राह्मण के अनुसार ऋक् तथा साम का सम्बन्ध मिथुनवत् है—'मिथुनमृक्सामे' ।[६] इनका गान उद्गाता तथा उपगाताओं के द्वारा वीणा की सहायता से किया जाता रहा है,

१. ३३, उद्धृत 'आर्षेय ब्राह्मण' भूमिका में सम्पादित, बर्नेल ।

२. दयानन्द म० विद्यालय, संस्कृत ग्रन्थमाला, प्रकाशन विभाग, डी. ए. वी. कालेज लाहौर ।

३. वहीं पृ० १५

४. अनु० खं० २ । ९-११

५. पृ० ३८-३९

६. पृ० ११९

यह तथ्य इस ब्राह्मण की निम्न उक्ति से स्पष्ट है—'यथा वीणागाथिनो गापयेयुरेवम्'[1]। जैमिनीय ब्राह्मण में निम्न वाद्यों का उल्लेख मिलता है—कर्करी, अलाबु, वक्रा, कपिशीर्ष्णी, ऐषीकी, अपघाटलीका तथा वीणा काश्यपी। वाण वाद्य की रचना तथा वादन विधि का वर्णन भी इसमें उपलब्ध है।[2] इसी में अन्यत्र कलिगन्धर्व का आख्यान पाया जाता है, जिसमें 'कालेय साम'[3] का गान कर गन्धर्व लोक को प्राप्त करने के लिये तत्परता बतलाई गई है। इस ब्राह्मण में ओंकार के सम्यक् गायन का महत्व निर्दिष्ट है—

"ओ इत्यु हैके गायंति। तदु ह तन्न गीतम्। नैव तथा गायेत। ओमित्येव गायेत्। तदैतदेतेन रसेन संदधाति। रसस्तृप्तोऽक्षरं तर्पयति" ॥[4]

अभिप्राय यह कि कुछ गायक प्रणवाकार 'ओम्' का गायक केवल 'ओ' के रूप में करते हैं, जो कि समीचीन नहीं। प्रणव का गान 'ओम्' के सम्पूर्ण उच्चारण के साथ किया जाना चाहिये, जिससे ओम् का वर्ण तथा ध्वनि दोनों ही रूप स्पष्ट हो सकें। इस ब्राह्मण में गन्धर्व तथा अप्सराओं का उल्लेख भी दिव्य योनि के रूप में पाया जाता है।

प्रौढ़ ब्राह्मण—यह ब्राह्मण सर्वाधिक विपुलकाय होने के कारण प्रौढ़ तथा महाब्राह्मण के नाम से विख्यात है। २५ अध्यायों में रचित होने के कारण तथा ताण्डिशाखा से सम्बद्ध होने के कारण इसको 'पंचविंश' तथा 'ताण्डय' भी कहा जाता है। यज्ञ कार्यों में सामगान की विधि तथा उद्गाता के कार्य-कलाप की मीमांसा इसमें सविस्तर पाई जाती है। इसके अध्याय २ तथा ३ में त्रिवृत्, पंचदश, सप्तदश आदि स्तोमों का विवरण है। सोमयाग से सम्बद्ध सामगान का वर्णन इसका प्रमुख विषय है। सामगान कामनाओं का पूरक होने के सम्बन्ध में लौकिक मान्यता इसमें पाई जाती है। उदाहरण के लिये वात्स साम के सम्बन्ध में निम्न आख्यायिका देखिये—

वत्स तथा मेधातिथि दो ऋषि थे, जो साम की रचना में कुशल थे। मेधातिथि ने शूद्रापुत्र कहकर वत्स की भर्त्सना की, जिस पर दोनों निर्णय लेने के लिये स्वरचित सामगान के द्वारा अग्नि के पास पहुंचे। अपने सामगान की शक्ति सिद्ध करने के लिये वत्स ने अपने आपको अग्नि में फेंक दिया परन्तु अग्नि उसके केश को भी क्षति न पहुंचा सका (तस्य लोम च नौषत्)। तब से वत्सरचित

१. पृ० ५९

२. २। ४५। ४१८

३. १। १५४-५५

४. धर्मकोश, पृ० १३३६ पर उद्धृत।

साम इच्छापूरक होने के कारण 'कामसनि' कहलाने लगा (१४।६।६)। इसी प्रकार 'वीड्क' नामक साम यौवनप्रदायक होने के सम्बन्ध में मनोरंजक उपाख्यान इस ब्राह्मण में पाया जाता है (द्र० १४।६।१०)।

इस ब्राह्मण से स्पष्ट है कि आधुनिक संगीत के मियाँ मल्लार, रामदासी मल्लार, सूरदासी मल्लार, मीराबाई की मल्लार, चरजू की मल्लार आदि रागों के सदृश प्राचीन सामों का नामकरण भी उनके रचयिताओं के नाम से किया जाता था। द्युतान ऋषि के द्वारा दृष्ट साम 'द्यौतान,' वैखानस के द्वारा दृष्ट साम 'वैखानस' तथा शर्कर मुनि के द्वारा दृष्ट साम 'शार्कर' कहलाता था, इसका रहस्य यही है[1]। इनके अतिरिक्त रथन्तर, बृहत्, नौधस, कालेय, वारवन्तीय आदि सामों की विधि का तथा प्रातः, मध्य एवं सायं इन तीन सवनों का विस्तृत विवरण भी इस ब्राह्मण में पाया जाता है[2]।

अन्य वेदों की भांति सामवेद के वाङ्मय में भी निम्न वाद्यों के उल्लेख पाये जाते हैं – काण्डवीणा, पिचोल, तुणव, दुन्दुभि इत्यादि। प्रस्तुत ब्राह्मण में भी वाण नामक वीणा की रचनाविधि का स्पष्ट उल्लेख है[3]।

इस ब्राह्मण के अनुसार ऋक् धरित्रीतुल्य है तथा उसके ऊपर गाये जाने वाला साम स्वर्गतुल्य है (५।७।९)। सरस्वती का आवाहन स्वर के देवता के रूप में प्रथम वार इसी ब्राह्मण में पाया जाता है (१।३।१)। इस ब्राह्मण का स्पष्ट कथन है कि स्वर ही उद्‌गीथ का प्राणभूत है तथा ओंकार का गान करते समय प्राणायाम की परम आवश्यकता है (७।१।९–१० तथा ७।३।२८)। इसी प्रकार का गान देवताओं के लिये पुष्टिवर्द्धक माना गया है (७।३।२६)। सामन् देवताओं का अन्न है[4] तथा इसका गान मन्द्र, तारतर तथा तारतम तीनों कण्ठस्थानों में किया जाना आवश्यक है (७ । १ । ७)। यज्ञप्रसंग में उद्‌गाता के लिये आदेश है कि वह साम के प्रथम आवृत् का मन्द्र से, द्वितीय का तारतर से तथा अन्तिम अथवा तृतीय का तारतम से गायन करे[5]।

षड्विंश ब्राह्मण—इसमें २६ अध्याय हैं और यह पांच प्रपाठकों में विभक्त है। पंचम प्रपाठक को 'अद्‌भुत ब्राह्मण' कहते हैं वह इसलिये कि इसमें

१. १७ । १ । ६; १४. । ४ । ७; १४ । ५ । १४
२. १२ । १३ । १७, २९
३. ५ । ६ । १२
४. ५ । ४। १३; ७। ३।२६; तुलनार्थ द्र० सामविधान ब्राह्मण, १ । १ । २
५. ७ । १ । ७; तुलनार्थ द्र० तैत्तिरीत प्रा० २२ । ११, जिसमें तीन स्थानों को क्रमश; मन्द्र, मध्यम तथा तार कहा गया है।

नानाविध उत्पातों के लिए शान्ति का विधान पाया जाता है। सामविधान ब्राह्मण की भांति इसमें शुभाशुभ शकुनों का विवरण हुआ है तथा तन्निमित्त सामगायन के साथ विशिष्ट अनुष्ठानों के करने का विधान है।

सामविधान ब्राह्मण— इसमें साममन्त्रों के आभिचारिक प्रयोग का वर्णन उपलब्ध है, जैसे सुवर्ण प्राप्ति के लिए लिए सामगान के साथ मणिभद्र नामक यक्ष की मांसबलि तथा पूजा का विधान है[1]। विनायक, कार्तिकेय, विष्णु तथा रुद्र की शान्ति के लिए विभिन्न सामों का गान विहित है[2]। भूत-प्रेत, गन्धर्व-अप्सरा तथा अन्यान्य देवताओं को वशीभूत करने के लिये विशिष्ट सामों का प्रयोग कहा गया है।[3] राजवैभव तथा ऐश्वर्य की वृद्धि के लिए सामगान श्रेयस्कर माना गया है। राज्याभिषेक के अवसर पर 'एकवृष' संज्ञक विशिष्ट साम से अभिषिक्त होने पर राजा अजेय सम्राट बन जाता है यह मान्यता इस ब्राह्मण में पाई जाती है।

इस ब्राह्मण के तीन अध्याय हैं, जिनमें से दो अध्यायों में केवल काम्य कर्मों का विवेचन है। साम के गान ग्रन्थों का बारम्बार उल्लेख इस ब्राह्मण में पाया जाता है। सामगायन की स्वरप्रधानता का स्पष्ट विधान निम्न शब्दों में उपलब्ध है—

तस्य ह वा एतस्य साम्न ऋगेवास्थीनि स्वरो मांसानि स्तोमा लोमानि ···यद्धेतद्वागित्यृगेव सर्चि साम प्रतिष्ठितम् ॥ १–१–४ ॥

इस ब्राह्मण में सामगान के क्रुष्टादि सप्त स्वरों का स्पष्ट नाम निर्देश है—

तद्योऽसौ क्रुष्टतम इव साम्नि स्वरस्तं देवा उपजीवन्ति योऽवरेषां प्रथमस्तं मनुष्या यो द्वितीयस्तं गन्धर्वाप्सरसौ यस्तृतीयस्तं पशवो यश्चतुर्थस्तं पितरो ये चाण्डेषु शेरते यः पंचमस्तमसुररक्षांसि योऽन्त्यस्तमोषधिवनस्पतयो यच्चान्यज्जगत् ॥ १ । ३ ॥

साम के सप्त स्वरों की देवताओं के सम्बन्ध में निम्न विवरण इसमें उपलब्ध है—

क्रुष्टः प्राजापत्यो ब्राह्मो वा वैश्वदेव वा आदित्यानां प्रथमः साध्यानां द्वितीयोऽग्नेस्तृतीयो वायोश्चतुर्थः सोमो मन्द्रो मित्रावरुणयोरतिस्वार्यः ॥ १ । ५ ॥[4]

एक ही साम का गान विभिन्न छन्दों पर किये जाने पर भी उसकी मूल धुन में अन्तर नहीं पड़ता, इस सम्बन्ध में निम्न वचन उपादेय है—

---

१. ३ । ३ । ३

२. १ । ४ । ६-१९

३. ३ । ७ । ६

४. तुलनार्थ द्र० बृहद्देवता, ८ । ११६-१२१ ।

स यदा गायत्रं बृहत्यां गायति बार्हतं जगत्यां जागतं त्रिष्टुभि त्रमतां चापद्यते तस्मादेतत्सामेत्याह ॥ १ । १ । ५ ॥[1]

सारा ब्रह्माण्ड साम-स्वरों पर पर आधारित है ऐसी दृढ मान्यता इस ब्राह्मण में उपलब्ध है ।[2]

आर्षेय ब्राह्मण तथा वंश ब्राह्मण विशेषतः अनुक्रमणी-साहित्य के समान होते हुए सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थों में सामविष्ट हैं । वंश ब्राह्मण में सामगाचार्यों की वंश परम्परा उपलब्ध है, जो सामगान की पुरातन परम्परा पर प्रकाश डालती है । आर्षेय ब्राह्मण में सामगान करते समय मूल ऋचाओं में संगीतानुकूल परिवर्तन कैसा किया जाता है इसका विवरण है । साम के नामकरण की विविध प्रणालियां इसमें उल्लिखित हैं, जैसे रचयिता के नाम से, विशिष्ट देवता के नाम से अथवा उसकी विशिष्टताओं के आधार पर ।[3] इस ब्राह्मण में उपर्युक्त आधार पर साम के निम्न अभिधान पाये जाते हैं—काण्व, काण्ववत्स, ऐन्द्र, प्राजापत्य, द्विहिंकार, अयासोमीय, इष्टाहोत्रीय, उदवंशीय, प्रमंहिष्ठीय, यज्ञायज्ञीय, यन्महिष्ठीय इत्यादि ।

देवताध्याय अथवा दैवत ब्राह्मण में साम-देवताओं का नाम निर्देश है तथा इन देवताओं की स्तुति में गाये जाने वाले विशिष्ट सामों के नाम भी दिये गये हैं । इसके अतिरिक्त गायत्री आदि वैदिक छन्दों की निरुक्ति तथा वैदिक देवताओं का विवरण भी इसमें पाया जाता है ।

मन्त्र अथवा उपनिषद् ब्राह्मण सामवेद की ताण्ड्य शाखा से सम्बद्ध बतलाया गया है तथा छान्दोग्य उपनिषद् इसी का अंश माना जाता है । इसमें साम के पंचभक्तिक तथा सप्तभक्तिक दोनों प्रकारों का उल्लेख है (पृ० ४) ।[4]

संहितोपनिषद् ब्राह्मण अल्पकाय है, जिसमें प्रथम खण्ड में साम के उच्चारण एवं गान का प्रभाव निर्दिष्ट है । यास्क के निरुक्त में इस ब्राह्मण के उद्धरण

---

१. इस सम्बन्ध में सायण का निम्न वचन उपादेय है—'न्यूनछन्दस्कायां परिमितं साम अधिकच्छन्दस्कायां नीयमानमपि परिमितमेव भवति, नाक्षरस्तोमविकारैररिक्तं भवति' ।

२. १ । १ । २

३. पाणिनि, शाकटायन, पतंजलि आदि के ग्रन्थों में साम के नामकरण इसी प्रकार से पाये जाते हैं । इस संबंध में विस्तार के लिये द्र० इसी प्रबन्ध का अध्याय ४ ।

४. द्र० सामश्रमि, संपादित सामभाष्य, खण्ड १ पृ० ५४ ।

इसकी प्राचीनता के द्योतक है[1] । खण्ड २ तथा ३ में साम तथा पदों के परस्पर सम्बन्ध का विवेचन है जिसका आगे चलकर फुल्लसूत्र तथा सामतन्त्र जैसे सूत्र-ग्रन्थों में हुआ है । सामगायन के अन्तर्गत सप्तस्वरों का विकाश उस समय हो चुका था, यह तथ्य निम्न उद्धरण से स्पष्ट है —

सर्वत्र चतुर्थस्वरा मन्द्रस्वराश्च प्रस्तावाश्चतुर्थमन्द्रातिस्वार्याः स्वराश्च भवन्ति प्रथमस्वराश्च द्वितीयस्वराश्च प्रथमद्वितीयतृतीयस्वराश्च भवन्ति[2] ॥

सामगान की विधि एवं विभाग :—

जैसा ऊपर विवेचित किया जा चुका है, सामगान का महत्व यज्ञयागों में सर्वोपरि रहा है । यज्ञयाग का व्याप तथा अवधि की वृद्धि के साथ 'सामग' वर्ग का दायित्व वृद्धिगत हुआ और सामगान के लिए एक से लेकर अनेक साम-गायकों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी । गान-पक्ष के सम्यक् निर्वाह के लिए सामगीतों का विभिन्न भागों में विभाजन हुआ तथा प्रत्येक विभाग के सम्यक् ज्ञान का उत्तरदायित्व विभिन्न गायकों पर सौंपा गया ।

प्राचीन वैदिक वाङ्मय में साम पंचविध अथवा सप्तविध बतलाया गया है । यह विभाजन स्पष्टतः साम के विभिन्न खण्डों पर आधारित है, जिनके लिए पारिभाषिक संज्ञा 'भक्ति' है । कतिपय सामों में केवल पांच ही खण्ड होते हैं तथा कतिपय में सामों का गायन सात खण्डों में किया जाता है । सामवेद के पंचविधसूत्र में पंचविध साम का निरूपण निम्न शब्दों में हुआ है—

प्रस्तावोद्गीथप्रतिहारोपद्रवनिधनानि भक्तयः तत्पंचविध्यं स्मृतं व्याख्या-स्यामः ॥

अर्थात् भक्ति पांच हैं—प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन[3] । साम के यह पंच विभाग सर्वसम्मत हैं किन्तु सामगायकों की अन्य परम्परा इनके अतिरिक्त और दो विभागों को मानने के पक्ष में है । ये दो भक्तियां हिंकार तथा प्रणव हैं । अन्य ग्रन्थों के अनुसार यही दो खण्ड हिंकार तथा

---

१. निरुक्त (२ । ४) में 'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम' आदि मन्त्रों को इसी ब्राह्मण से उद्धृत किया गया है (द्र० वैदिक साहित्य और संस्कृति, बलदेव उपाध्याय, पृ० २३०) ।

२ संहितोपनिषद्

३. सामश्रमी द्वारा सं० सामवेद में माधवाचार्य के नाम से निम्न उद्धरण पाया जाता है—"प्रस्तावस्तत उद्गीथः प्रतिहारोपद्रवौ तथा । निधनं पंचमेत्याहु-र्हिंकारः प्रणव एव च" ॥

आदि कहलाते हैं[1]। हिंकार का प्रयोग साम के आरम्भ में तथा आदि का प्रयोग प्रस्ताव एवं उद्गीथ के मध्य में किया जाता है। मन्त्र ब्राह्मण में साम की पंचविध इन दोनों परम्पराओं का उल्लेख है[2]। जैमिनीय ब्राह्मण में गायत्री के सम्बन्ध में सप्तविध साम का बड़ा रोचक तथा आलंकारिक वर्णन व्यावहारिक उपमाओं के द्वारा किया गया पाया जाता है[3]।

मननार्ह है कि इन भक्तियों का मध्यन्तर गान से कदापि विरहित नहीं रहा है। इन विभागों के मध्य में मूल स्वर को अविच्छिन्न रखने के लिए मन्द्र स्वर में उपगायकों का 'उपगान' होता है, जिसमें केवल मूलभूत स्वर के सन्तत गायन से उद्गाता के गान को पुष्टि प्रदान की जाती है—'भक्त्यन्तराणिच्छादयन्ति मन्द्र उपगा भवन्ति'।[4] इन भक्तियों का गान दीर्घकाल तक स्वरों पर दृढ़ रहते हुए किया जाता है. जिससे गायन में गूंज उत्पन्न हो—'ते ते स्वां स्वां भक्तिमनुच्छ्वसन्तो ब्रूयुः'[5]। स्वरों पर दीर्घकाल तक टिके रहने के लिए श्वासप्रक्रिया पर नियंत्रण आवश्यक है, यह तथ्य निसंदिग्ध है। यदि सम्पूर्ण भक्ति तक श्वासनिरोध न किया जा सके, तो पद के अन्त में अथवा स्तोमान्त में उच्छ्वास लेने की अनुमति है—'पदे वोच्छ्वसेयुः स्तोमे वा'।[6] यह श्वासनिरोध की बात शक्याशक्यता को देखकर चरितार्थ की जानी चाहिए। जहां श्वासनिरोध अशक्य हो जाता हो तथा शक्ति एवं योग्यता के अननुकूल हो, सामगायक के लिए यही उचित है कि वह यथास्थान उच्छ्वास लेकर अपने नियत विभाग का गायन करे – 'यत्र वोपपद्येत न तान्तः कुर्यादिति'[7]। ताण्डय ब्राह्मण में निधन भक्ति के गान में इसी गान प्रणाली का गौरव आयुवर्धक के रूप में किया गया है (१२।११।१५)। इसके भाष्य में सायणाचार्य का निम्न कथन इसी परम्परा

---

१. द्र० छान्दोग्य तथा जैमिनीय ब्राह्मण।

२. द्र० प्रकरण ४

३. इस सम्बन्ध में द्र० सामवेद भाष्य, भूमिका, पृ० ५४, पा० टि० सं० सामश्रमी। 'यज्ञतत्वदीक्षा' में उद्गाता के सम्यक् ज्ञानार्थ इन भक्तियों के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं (द्र० वहीं)।

४. द्राह्यायण श्रौ० सू० ३ । ४ । ७; इस पर धन्वि टीका यह है—'साम्नः पंच भक्तीनां छिद्राणि च्छादयन्तो...।'

५. वहीं, ३ । ४ । १२

६. वहीं, ३ । ४ । १३–१४

७. ३ । ४ । १५

को स्पष्ट करने वाला है – 'यावति काले श्वासनिरोधः कर्तुं शक्यते तावन्तं कालमस्य साम्नो निधनमावर्तनीयम्'।

आधुनिक काल में संगीत शिक्षा के अन्तर्गत दीर्घ श्वासनिरोध का अत्यन्त महत्व माना जाता है। गीत के अन्यान्य स्वरों को ओजपूर्ण एवं गम्भीर बनाने के लिये प्राणनिरोध अर्थात् दीर्घ श्वास की नितान्त आवश्यकता मानी जाती है। एक ही सांस में विविध स्वरसमूहों का तथा तानों का गायन दीर्घ एवं दृढ तपस्या की अपेक्षा रखता है। यही उद्देश्य साम के विविध विभागों के गायन में निहित था यह स्पष्ट है। अस्तु।

इन विभागों का विवरण निम्नानुसार है –

१. प्रस्ताव – यह साम का प्रारम्भिक भाग है, जिसको प्रस्तोता नामक ऋत्विज गाता है। यह भाग 'हुम्' से आरम्भ होता है, जोकि 'हिंकार' का स्वरूप है। इस हिंकार का गान साम के प्रारम्भ में सभी ऋत्विज एक साथ करते हैं।[1] बहिष्पवमान स्तोत्र के आरम्भ में हिंकार एक स्वतन्त्र विभाग के रूप में प्रयुक्त होता है तथा इसका गान तीन उद्गाताओं के द्वारा किये जाने का विधान है – 'तत्र हिंकारस्त्रिभिरुद्गातृभिः कर्तव्यः' (सायण, पंचविंश ब्रा० २।१।१)। ताण्डय ब्राह्मण के शब्दों में – 'एष वै साम्नां रसो यद्धिकारो यद्धिकृत्य प्रस्तौति रसेनैवेत्ता अभ्युद्य प्रस्तौति'[2]। तात्पर्य यह कि हिंकार का व्यवस्थित तथा स्वरेल गायन प्रस्ताव नामक खण्ड को गति एवं ओज प्रदान करता है तथा सामगान को रसाप्लावित कर देता है। विभिन्न सामों में 'प्रस्ताव' के अक्षरों की संख्या भिन्न-भिन्न बतलाई गई हैं, जैसे योक्ताश्व आदि दश सामों में प्रस्ताव द्व्यक्षर हुआ करता है; सोम, गायत्री, क्रौंच आदि सप्तदश सामों में प्रस्ताव चतुरक्षर हुआ करता है[3]।

२. उद्गीथ—इस विभाग को साम का प्रधान ऋत्विज उद्गाता गाता है। इसके प्रारम्भ में 'ओम्' का गान किया जाता है। साम का यह विभाग सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। सभी स्तोत्रों में उद्गीथ विभाग का गान प्रणव अथवा ओंकार से आरम्भ किया जाना आवश्यक है,[4] चाहे साम की अक्षरवृद्धि उससे क्यों न हों। इस सम्बन्ध में सामवेत्ताओं में विचार विभेद पाया जाता है। धानंजय मुनि के अनुसार ओंकार के समीचीन उच्चारण के लिये विशिष्ट साम के प्रथमाक्षर

१. द्र० सामवेद भाष्य, भूमिका, पृ० ५४ (सं० पं० सामश्रमी)।

२. ६।८।७।

३. द्र० पुष्पसूत्र, प्रपाठक १० पर अजातशत्रु का भाष्य।

४. 'सर्वेषामोंकारेणोद्गीथादानम्' (लाट्या० श्रौ० ६।१०।१३)।

का लोप किया जाना चाहिए, जिससे साम की विशिष्ट लय में अतिरेक न हो—'प्रथमाक्षरलोपं तु धानंजयः' (लाट्या० ६ । १० । १४)। शांडिल्य के अनुसार ओंकार गान के पश्चात सामाक्षर के लोप करने की आवश्यकता नहीं, कारण यह कि ओंकार गायन साम के लिये प्राणभूत है तथा उससे लय-हानि होने की संभावना नहीं—'अलोपं शांडिल्यः' (लाट्या० ६ । १० । १५, अग्नि भाष्य)। इस सम्बन्ध में निम्न पर्याय भी प्रस्तुत किया गया है। साम का आद्य अक्षर यदि स्वर हो तो उसी को ओंकार के रूप में गाया जाये—'स्वरादिषु तमेव स्वरमोंकारीकुर्यात्' (वहीं, ६ । १० । १६)। यदि आरम्भ व्यंजनाक्षर से होता हो, तो उसके अतिरिक्त आगन्तुक ओंकार के गान में आपत्ति न होनी चाहिये—'आगन्तुमोंकारं व्यंजनादिषु' (वहीं)।

३. प्रतिहार— इसका अर्थ है दो विभागों को जोड़नेवाला। इसी विभाग के कभी-कभी दो उपविभाग भी किये जाते हैं। इस विभाग का गायक प्रतिहर्ता कहलाता है।

४. उपद्रव—प्रतिहार के दो विभागों में से यह अन्यतम है, जिसका गान उद्‌गाता अर्थात मुख्य सामगायक करता है। मुख्य प्रतिहार का गान प्रतिहर्ता के द्वारा किये जाने पर उसी का खण्डशः गान मुख्य उद्‌गाता पुनः करता है। यही खण्ड उपद्रव कहलाता है।

५. निधन—उपर्युक्त प्रतिहार का शेष अंश 'ओम्' को जोड़कर विभिन्न विभाग के रूप में गाया जाता है, जोकि 'निधन' के नाम से ख्यात है। साम के इस अन्तिम खण्ड को प्रस्तोता, उद्‌गाता तथा प्रतिहर्ता तीनों ऋत्विज एक साथ मिलकर गाते हैं। साम चाहे पंचभक्तिक हो अथवा सप्तभक्तिक हो, निधन उसका अन्तिम विभाग हुआ करता है[1]। इसमें किये जाने वाले शब्दालापों के अनुसार निधन द्विविध बतलाया गया है—१ अन्तर्निधन तथा २ बहिर्निधन[2]। पहले प्रकार में 'इह', 'इडा', 'अथ', 'हीवी' इत्यादि शब्दों के आलाप साम के शब्दों को लेकर किये जाते हैं। बहिर्निधन में ऋगक्षरों को छोड़कर केवल अवान्तर अक्षरों से आलाप किये जाते हैं—'बहिर्निधनं ऋगक्षराद्बहिर्भूतम् निधनं यस्य तत्' (सायण)। वरदराज कृत 'निधनसूत्र' के अनुसार इन्हीं आलापसूचक शब्दों का प्रयोग साम के अन्त में तथा साम के अन्तर्गत भी होता है—

१. 'निधनं नाम पंचभिः सप्तभिर्वा भागैरूपेतस्य साम्नोऽन्तिमो भागः '(सायण, सामवेद भाष्य, पृ० ५४)।

२. 'निधनानि तावत् द्विविधानि-अन्तर्निधनानि ··· बहिर्निधनान्यपि सूक्त एवोक्तानि' (सायण, ताण्डय० ब्रा० १० । १० । १)।

'तत्र तावत् निधनानि द्विविधानि सामान्तिकानि अन्तःसामान्तिकानि च'[1]। तत्कालीन लौकिक मान्यता के अनुसार हीषु, उर्ज, ऊ आदि शब्दों का आलापार्थ प्रयोग कामना पूर्ति के लिये सक्षम माना जाता रहा है[2]। साम के निम्न उदाहरणों से भक्ति विषयक विवरण स्पष्ट होगा—

१. अभि ते मधुना पयो (प्रस्ताव)
ओमाथर्वाणो अशिरनादेयुवदेवायदा (उद्गीथ)
हुं आवायो (प्रतिहार)
साम् (निधन) ॥[3]

२. सामभक्ति का दूसरा उदाहरण देखिये[4] जो सामदेव के प्रथम मन्त्र पर आधारित है —
हुं ओग्नाइ (प्रस्ताव)
ओम् आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये (उद्गीथ)
नि होता सत्सि बर्हिषि ओम् (प्रतिहार)

इस प्रतिहार के दो विभाग होंगे –
नि होता सत्सि ब (उपद्रव)
हिर्षि ओम् (निधन)

३. एक ही साम में इन पंच भक्तियों का प्रयोग स्वरांकन के रूप में निम्न द्रष्टव्य है[5] —

प्रस्ताव ओ ग्ना ई ॥
सा सा सा ॥

उद्गीथ आ या ही इ वो इ तो या ऽ इ अ ग्न
ग ग ग रे म म म ग ग ग सा नी
आ या ही वी त या इ गृ णा नो ह व्य दा गृ णा
सा नी नी सा सा म म म म म म म म म म
नो ह व्य दा तो या ऽ इ तो या ऽ इ तो ऽ ऽ या इ ॥
ग ग ग ग म म ऽ ग म स ग ग म ग रे रे ग ॥

१. उद्धृत, आर्षेय ब्राह्मण भूमिका, पृ० २५, बर्नेल कृत।
२. सायण, सामदेव भाष्य, पृ० ५३–५५ (सं० सामश्रमी)।
३. द्र० ऐत. ब्रा. २, पृ० १२०-२१, पा. टि. सं० प्रो० हाग।
४. द्र. 'वैदिक साहित्य' पृ० १५३, बलदेव उपाध्याय।
५. द्र० 'म्यूजिक आफ हिन्दुस्तान' फाक्स स्ट्रेंगवेज, पृ० २५४ तथा 'आर्षेय ब्राह्मण' सं० बर्नेल, भूमिका, पृ० १४।

प्रतिहार न ई हो ता त्स ऽ ऽ ॥
म म ग म म ग रे ॥

उपद्रव त्सा ऽ इ नि हो ता स त्सि बा र्हा ऽ ऽ
रे ग ग म म म ग म म म ग रे
इ षि बा र्हा ऽ इ वा ऽ ऽ ऽ औ हो वा ॥
रे नि म म ग ग रे ग रे सा नी नी नी ॥

निधन र्हीं ऽ ऽ ऽ षी षी ऽ ऽ ऽ ओ हो वा
रे ग रे सा सा रे ग रे सा नी नी नी
ब र्हीं ऽ षी ऽ ऽ ऽ ऽ ॥
ग ग रे रे ग रे सा नी ॥

सामविकार :—

साम के अन्तर्गत प्रयुक्त होने वाले स्वर-विकारों का विवेचन जैमिनि के निम्न सूत्र में पाया जाता है —

'सामवेदे सन्ति सहस्रं गीत्युपायाः, आह कतमे ते गीत्युपाया नाम ? उच्यते—गीतिर्नाम क्रिया ह्याभ्यन्तरजन्या स्वरविशेषाणामभिव्यंजिका सामशब्दाभिलप्या सा नियतप्रमाणायामृचि गीयते। तत्संपादनार्थोऽयं ऋगक्षरविकारो विश्लेषो विकर्षणमभ्यासो विरामः स्तोम इत्येवमादयः सर्वे सामवेदे समाम्नायन्ते, (९।२।७।२)।

अर्थ स्पष्ट है कि गीति – क्रिया स्वरावलि अथवा स्वरावर्त की द्योतिका है तथा नियत प्रमाण वाली विशिष्ट ऋचाओं के आश्रय से इनका गायन किया जाता है। इन सामों के यथार्थ रूप की सुरक्षा के लिये सामयोनि मन्त्रों में संगीतानुकूल शाब्दिक परिवर्तनों की अपेक्षा होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये कुछ शाब्दिक विकार सम्पादित किये जाते हैं, जो इस प्रकार हैं – अक्षर-विश्लेष, विकर्षण, अभ्यास, विराम, स्तोम इत्यादि[1]। साम सम्बन्धी वाङ्मय में इस प्रकार के ६ विकारों का विवरण निम्नानुसार है, जो कि सामवेद के प्रथम मन्त्र 'ओम् अग्न आयाहि बीतये' के आधार पर यहां प्रस्तुत किया जा रहा है –

१. विकार[2] – अक्षर के परिवर्तन पर आधारित रहता है, जैसे साम की

---

१. सायण के शब्दों में – 'सामशब्दवाच्यस्य गानस्य स्वरूपं ऋगक्षरेषु क्रुष्टादिभिः सप्तभिः स्वरैरक्षरविकारादिभिश्च निष्पाद्यते' (साम भाष्य, भूमिका)।

२. द्र० पुष्पसूत्र, ८।८७।

आधारभूत अथवा योनिभूत ऋक् में 'अग्न' के स्थान पर 'ओग्नायि' रूप किया जाता है।

२. विश्लेषण – यह किसी पद अथवा अक्षर का पृथक्करण होता है[1]। मूल ऋक् में 'वीतये' पद है, जिसका विश्लेषण 'वोयि तोया २यि' के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

३. विकर्षण[2] – ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ तथा दीर्घ के स्थान पर प्लुत का उच्चारण विकर्षण कहलाता है, जैसे मूल ऋक् के 'ये' इस स्वर के स्थान पर 'या २ ३ यि' इस प्रकार दीर्घ कर्षणयुक्त उच्चारण इसके अन्तर्गत है।

४. अभ्यास—किसी पद के बारम्बार उच्चारण के लिये यह संज्ञा है, जैसे 'तोयायि। तोयायि'। प्रतीत होता है कि यह द्विवार उच्चारण विभिन्न स्वरों के साथ किया जाता रहा हो।

५. विराम—गानसौकर्य के लिये किसी पद के बीच में विराम करना अथवा ठहर जाना इस विकार का कारण होता है, जैसे 'गृणानो हव्यदातये' के स्थान पर 'गृणानोह' तथा 'व्यदातये' इस प्रकार विरामपूर्वक गायन किया जाता है। यहां 'गृणानोह' इस स्थान पर वास्तविक पदान्त न होते हुए गान-सौकर्य के लिये पद के मध्य में ही विराम किया गया है। सम्भवतः गान के समय पर श्वास की सुविधा के लिए इस शब्दच्छेद से उत्पन्न विराम की योजना हुई हो।

५. स्तोभ—ऋक् के अतिरिक्त अवान्तर वर्णों अथवा अक्षरों का प्रयोग 'स्तोभ' कहलाता है, जो कि गानालाप की सुविधा के लिए किया जाता है—जैसे 'हाउ' तथा 'औहोवा' इत्यादि पद। सायण के अनुसार स्तोभ की व्याख्या निम्नानुसार है—"अधिकत्वे सति ऋग्विलक्षणवर्णस्तोभः"। उनके अनुसार प्रकृतार्थ से असम्बद्ध तथा केवल कालक्षेप के लिये जिस शब्दराशि का प्रयोग किया जाता है, वही स्तोभ है—"प्रकृतार्थानन्वितं कालक्षेपमात्रहेतुं शब्दराशिम्" (सामभाष्य, भूमिका, पृ० १२)। पुष्पसूत्र के अनुसार साम के अन्तर्गत निम्न द्विविध पदों का प्रयोग होता है—(१) आर्चिक अर्थात् ऋक् सम्बन्धी पद तथा (२) स्तोभिक अर्थात् ऋगुव्यतिरिक्त पद (९।२१)।

स्तोभ वर्णों का सामगान में विशेष महत्व है। अक्षरतन्त्रव्याकरण[3] में

---

१. वहीं, ६।१५३।

२. वही, ७।१; विकर्षण एवं संकर्षण दोनों विकारों का विवरण इसमें पाया जाता है।

३. सम्पादित–सामश्रमी; द्र० संज्ञाकरणभाष्य (डिस्क्रिप्टिव केटलाग आफ

स्तोभ का विशेषरूपेण विवेचन प्राप्त है। स्तोभानुसंहार नामक परिशिष्ट ग्रन्थ में स्तोभ[1] तीन प्रकार का बतलाया गया है— (१) वर्णस्तोभ, जैसे इकारादि, (२) पदस्तोभ, जैसे हाउ इत्यादि तथा (३) वाक्यस्तोभ।

वस्तुतः स्तोभ आलाप-प्रकार है, जो प्रायः इसी रूप में जगत की सभी संगीत-प्रणालियों में पाये जाते हैं[2]। आलापों का प्रयोग किसी स्वरावलि के विशेष आविष्कार के लिए किया जाता है। बिना आलापों के गीति अथवा गेय वस्तु एक अचेतन ढांचा मात्र बन जाता तथा भावात्मकता से विरहित हो जाता। स्तोभालापों के प्रयोग से गायक को विविध स्वरसमूहों के माध्यम से रस-सिंचन करने में प्रभूत सहायता मिलती है। यह स्तोभ परम्परागत निधि है और इनका प्रयोग ऋक्पूर्वकालीन संगीत में होता रहा है। प्राचीन संगीत-प्रबन्धों अथवा धुनों को ग्रहण करते हुए उनके आलाप-प्रकारों का चयन 'स्तोभ' के रूप में किया गया, इसमें सन्देहावकाश नहीं।

सामविकार के इस प्रकरण को सम्यक् समझने के लिए 'गौतमस्य पर्कम्' नामक साम की योनिभूत ऋक् तथा साम दोनों को तुलना की दृष्टि से निम्न प्रस्तुत किया जा रहा है—

ऋक्

२३ १ २ ३ १२ ३ २ ३ १ २ १ २२ ३ १ २
अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि॥
(सामसंहिता १।१।१।१)।

साम—

४ २ र र १ २ – ९ –
ओग्नाई। आयाहीऽ ३। वोइतोयाऽ २ ३। तो याऽ २ इ।
१ र २र २ – १ – १ २ र१
गृणानो ह। व्यदातो याऽ २ इ। नो याऽ २ इ ना इ होतासाऽ२ ३।
३ ५र र २
त्साऽ २ ह। बाऽ २ ३ ४ औहोवा। हींऽ २ ३ ४ षी॥ १॥

ऐशियाटिक सोसायटी बंगाल, खण्ड २, पृ० १०५२ में उल्लिखित)। चरणव्यूह में संज्ञालक्षण नामक ग्रन्थ का उल्लेख हुआ है।

१. छान्दोग्य में इन स्तोभों के आध्यात्मिक महत्व का निरूपण विस्तार से उपलब्ध है।

२ द्र० 'ऋक्तन्त्र', भूमिका, पृ० १६–१७, सं० सूर्यकान्त।

साम संगीत की गान प्रणाली

जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट है, सामगान का प्राणभूत तत्व स्वर है। सामगान में आद्योपान्त स्वर का महत्व होता है। साम का आरम्भ 'ओम्' स्वर से किया जाता है—'ओमिति सामानि गायन्ति' (तैत्तिरीय उप० ८।१)। सामगायन का अवसान भी इसी स्वर से होता है। उपगायकों का कार्य इसी स्वर की निरन्तर संगति करना है। साम का स्थायित्व एवं बल इसी स्वर-साधना पर निर्भर है। स्वर-सिद्धि सामगान के लिए स्वर्ण के समान अमूल्य मानी गई है। अतएव साम के अन्तर्गत स्वर की समृद्धि तथा सम्यक् निर्वाह के लिये उपगायकों की योजना साम संगीत में हुई, जिनका कार्य मन्द्र स्वर से 'उपगान' करना रहा है। उपगान से तात्पर्य है मूलभूत स्वर से मुख्य गायकों की संगति करना, जिससे कि मुख्य गायकों को अभीष्ट स्वर की सन्तत स्मृति कायम रहे। यही कार्य आधुनिक संगीत में संगति करने वाले सह-गायकों तथा प्रमुख स्वरों के वादक 'वाद्य' (Drone Instrument) के द्वारा संपन्न होता है। इस सम्बन्ध में लाट्यायन श्रौत सूत्र का निम्न वचन मननार्ह है—

त एतेनाक्षरेणोपगायेयुर्हो इति मन्द्रस्वरेण सन्ततं सहवाचयेष्वारभन्तः॥ तस्मात् त्र्यन्तरेण स्तुयुः ॥ (२६, २७)

तात्पर्य यह कि उपगाताओं का कार्य निरन्तर 'हो' स्वर का गान करना है। इसी के तृतीय स्वर से उद्गाताओं का गान आरम्भ होता है।

प्रमुख गाताओं के पार्श्व में उपगाताओं का स्थान नियत होता है। इनकी संख्या न्यूनात् न्यून तीन तथा अधिकाधिक छः होती है। ये उपगाता-गण केवल 'हो' अथवा 'ओम्' इस ध्वनि के द्वारा संगत करते रहते हैं, जिससे कि उद्गाताओं को मूल अथवा आरम्भिक स्वर (Fundamental note) का सदैव ध्यान रहे। इस स्वर का गायन बुद्धिपूर्वक मन्द्र स्वर से किया जाता है ताकि मुख्य गायकों का गान उससे आच्छन्न न हो। उपगायकों की संख्या सीमित रखने का आशय यही है। सहगायकों का यह उपगान सामगान के आरम्भ से लेकर अन्त तक अनवच्छिन्न रूप से प्रचलित रहता है। सामवेद के प्राचीन 'भाल्लवि' ब्राह्मण में इस सम्बन्ध में निम्न आदेश पाया जाता है—

योऽनुपगीतं सामादत्ते मुष्यते रुक्षो भावुको भवत्युपगातृभ्यः प्रस्वरेत् प्राणो वै स्वरः प्राणेनैव साम संतनोतीति वल्गुतमं सामोपगीतं भवति तस्मादप्युपगेयम्।

अर्थ यह है—जो 'उपगान' से विरहित सामगायन करता है, उसका गायन रसशून्य तथा खण्डित प्रतीत होने की सम्भावना रहती है। साम का वैशिष्ट्य स्वर-सातत्य में है और यह सातत्य निरन्तर प्रवर्तित स्वर-संगति से

होता है।[1] इसके लिए यह आवश्यक है कि गायक अपनी स्वर-समृद्धि के लिए उपगाताओं का नियोजन करें। स्वर-भरण के अभाव में विभिन्न सामविभागों का गान परस्परविच्छिन्न प्रतीत होने की सम्भावना प्रबल रहती है। उपगाताओं के निरन्तर स्वर भरण से गान का सौन्दर्य स्वतः वृद्धिगत हो जाता है।

साम के विभिन्न गायकों के द्वारा गाये जाने का विधान है। ऐसी अवस्था में जब अन्य अन्य विभागों का गान आरम्भ होता है, बीच में अल्पाधिक खण्ड (gap) की सम्भावना होती है। ऐसे समय पर उपगाताओं के द्वारा उच्चारित 'ओम्' इसके निरन्तर गान से विभिन्न विभागों का विच्छेद नगण्य-सा प्रतीत होता है और गाता के लिए अपने स्वर की प्रतीति सहज हो जाती है। इस सम्बन्ध में द्राह्यायण का निम्न धन्विभाष्य मननीय है—

"उपगातृभिः क्रियमाणो यः स्वरः प्रणवात्मकः स साम्नः प्राणः। तेन साम संतनोति। अन्यथा पंचानां भक्तीनां त्रिभिः पुरुषैः पृथगेव गानात् साम्नः पर्वविच्छेदः। यथा शरीरे हस्ताद्यंगानि विच्छिद्येरन्...एवं प्रणवसामपर्याणीत्यर्थः।"

साम-स्वरों का विकास—

पतंजलि के अनुसार 'स्वर' वे हैं, जो स्वयं विराजित होते हैं—'स्वयं राजन्ते इति स्वराः'। ऐतरेय ब्राह्मण में स्वरयुक्त वाणी का निम्न प्रकार से उल्लेख है—'प्रगाथं शंसति। स स्वरवत्या वाचा शंस्तव्यः। पशवो वै स्वराः। पशवः प्रगाथाः। पशूनामवरुध्यै।'[2]

वैदिक वाङ्मय में स्वरान्तर त्रिविध पाया जाता है। नारदीय शिक्षा के अनुसार यह आर्चिक, गाथिक तथा सामिक संज्ञा से व्यवहृत है और क्रमशः एक, दो तथा तीन स्वरों के समूह से निर्मित होता है। यज्ञ प्रयोगों में ऋचाओं का गान एक ही स्वर के आश्रय से बताया गया है; ब्राह्मण-वाक्य तथा गाथाओं का उच्चारण द्विस्वर-समूह से बताया गया है तथा सामगान में प्रामुख्य से तीन स्वरों का प्रयोग होता है तथा यही स्वरान्तर 'सामिक' के नाम से सम्बोधित है। साम के आर्चिक नामक संहिताग्रन्थों में मुख्यतः जिन स्वरों का व्यवहार होता है, वे उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित कहलाते हैं।

---

१. यहाँ स्वर-संगति का अर्थ केवल मूल स्वर के सन्तत गायन से उद्गाता की संगति करना है। विशिष्ट स्वर संचार के रूप में उसका आधुनिक अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं।

२. १२।१३

वैदिक काल में मन्त्रों का गान इन्हीं स्वरों के आधार से होता रहा। समुचित स्वर तथा वर्ण से विहीन मन्त्र का प्रयोग यज्ञ के यजमान के लिए अत्यन्त अनर्थकारक माना जाता रहा। यही कारण है कि प्राचीन वैदिक वाङ्मय के संहिता तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में स्वरांकन विभिन्न प्रणालियों से सम्पन्न हुआ है। साम के सप्त स्वरों की उत्क्रान्ति इन्हीं तीन स्वरों से मानी जाती है। इस सम्बन्ध में 'सामतन्त्र' का साक्ष्य द्रष्टव्य है—

'ऋक्स्वरवत्।'—भाष्य—'ऋक्स्वरवत् वर्तते सामिकस्वरः। उच्चमुच्चेन नीचं नीचेन स्वरितं स्वरितेनेति। यदिदानीमुच्चं वा नीचीभविष्यति नीचं वोच्चीभविष्यति तद्विधेयं यथा गायत्रसाम्नि 'धिकारः'।

साम के ऋक्तन्त्र नामक प्रातिशाख्य में ऋग्वेद आदि के स्वरों का ही उल्लेख पाया जाता है—'प्रथमस्वरैर्वा। चतुरक्षरवृद्धान्तैः। हुं मा वा। अध्यर्धमात्रा स्वरितम्। उन्नीचे मे। नीचं उच्चात्।' स्वरित के अनन्तर सभी प्रचय नामक स्वरों के समानश्रुतिक होने के सम्बन्ध में निम्न सूत्र मननीय है—'अथ स्वरितात्पराणां प्रचयानां समानश्रुतित्वमाह—तस्मादुच्चश्रुतीनिति।'

यद्यपि सामगान में सम्पूर्ण स्वर-सप्तक का उपयोग उपलब्ध है तथापि इसके मूल में उदात्तादि तीन स्वरों के होने की बात स्पष्ट है। उदात्तादि स्वरों की सत्ता वैदिक भाषा की विशेषता है। चाहे वह भाषण हो, काव्य हो अथवा गायन हो, प्रत्येक वर्ण का उच्चारण किसी न किसी स्वर के साथ होता है।

प्रश्न यह है कि उदात्तादि स्वरों का सम्बन्ध केवल वर्णों के विभिन्न उच्चारण से है अथवा गान से है। दूसरे शब्दों में भाषा में उपलब्ध सर्वसाधारण उच्चनीचता से इसका सम्बन्ध है अथवा गान में उपलब्ध निश्चित उच्चनीचता से? इन स्वरों का उच्चारण केवल बलाघात (Stress Accent) का द्योतक है अथवा स्वराघात का (Pitch Accent)? वाणी का व्यापार, चाहे वह भाषण हो अथवा संगीत, नाद पर आधारित है। इस नाद के तीन गुण धर्म माने जाते हैं—१. उच्चनीचता (Pitch), २. स्थूलता अथवा पृथुता (Magnitude) ३. जाति (Timbre)। प्रश्न यह है कि उदात्तादि स्वर विविध स्वरों की उच्चनीचता के द्योतक हैं अथवा केवल एक ही स्वर की पृथुता अथवा तद्विपरीत सूक्ष्मता के निदर्शक हैं? इस समस्या के समाधान के लिए निम्न विवेचन सहायक होगा।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के अनुसार स्वर तथा सघोष व्यंजनों की आधारशिला नाद पर निहित है—'नादोऽनुप्रदानं स्वरघोषवत्सु।'[1] नारदीय शिक्षा

---

१. २।८

के अनुसार उदात्तादि त्रैस्वर्य 'स्वर-प्रधान' हैं और व्यंजन भी उसी से सस्वर होते हैं—

स्वर उच्चः स्वरो नीचः स्वरः स्वरित एव च ।
स्वर प्रधानं त्रैस्वर्यं व्यंजनं तेन सस्वरम् ॥[१]

शौनकीय ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित स्वरों की स्थिति अक्षरों के आश्रय से होती है तथा इसके लिए गात्रों का आयाम, विश्रम्भ तथा आक्षेप नामक त्रिविध प्रयत्न आवश्यक है—

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च त्रयः स्वराः ।
आयामविश्रम्भाक्षेपैस्त उच्यन्तेऽक्षराश्रयाः ॥[२]

यद्यपि उदात्तादि स्वरों के गेय होने के सम्बन्ध में कोई निश्चित निष्कर्ष इससे नहीं निकलता, तथापि अकारादि स्वरों की नादप्रधानता तथा उदात्तादि स्वरों की स्वर-प्रधानता को देखते हुए उसके गेय होने के सम्बन्ध में प्रबल अनुमान किया जा सकता है । पाणिनि सूत्र[३] पर भाष्य करते हुए कैयट उदात्तादि स्वरों का सामंजस्य षाड्जादि स्वरों से स्थापित करते हैं—'अभ्याससमधिगम्यश्चायं स्वरविशेषः षड्जादिवद्विज्ञेयः ।' नारदीय, माण्डूकी तथा पाणिनि शिक्षा में षड्जादि सप्त स्वरों की उत्पत्ति उदात्तादि तीन स्वरों से बतलाई गई है, यथा—

उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्त ऋषभधैवतौ ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपंचमाः ॥[४]

याज्ञवल्क्य शिक्षा में दोनों के ऐकात्म्य के सम्बन्ध में असंदिग्ध विधान पाया जाता है—

गान्धर्ववेदे ये प्रयुक्ताः सप्त षड्जादयः स्वराः ।
त एव वेदे विज्ञेयाः त्रय उच्चादयः स्वराः ॥

नारदीय शिक्षा के अनुसार सम्पूर्ण स्वरशास्त्र का निष्कर्ष इस बात में निहित है कि स्वर उच्च तथा नीच अवस्था से अन्यान्य स्वरान्तरों का कारण बनता है—'उच्चनीचविशेषाद्धि स्वरान्यत्वं प्रवर्तते ।'[५]

---

१. २।५।३
२. द्र० पटल ३,१
३. १।२।२९
४. ना० शि० १।८।८
५. वहीं १।१।१

प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में उदात्तादि संज्ञाओं के प्रयोग के सूक्ष्म अवलोकन से उन स्वरों के सम्बन्ध में तत्कालीन धारणा स्पष्ट हो जाती है। पाणिनि के व्याकरण में 'उच्चैरुदात्तः', 'नीचैरनुदात्तः', 'समाहारः स्वरितः' इस प्रकार इन तीनों स्वरों की परिभाषा पाई जाती है। तैतिरीय प्रातिशाख्य की टीका में इन शब्दों का विशेष विवरण प्राप्त होता है, यथा—

'उच्चलक्षणैर्य उपलभ्यमानः स्वरः स उदात्तसंज्ञो भवति; नीचलक्षणैर्यः स्वर उच्चार्यते सोऽनुदात्तसंज्ञो भवति' (द्र० महीषेवभाष्य, मद्रास, १९३०)।

ऋग्वेद प्रातिशाख्य (१२।२२ तथा ३।३४) में उदात्त स्वर को उच्च स्वर के पर्याय स्वरूप प्रयुक्त किया गया है। पारिशिक्षा में उदात्त को उच्च स्वर कहा गया है और गान्धार तथा मध्यम स्वर का उद्भव इसी स्वर से बतलाया गया है—

'गान्धाराख्यस्वरो मध्यमः तदाख्यस्वरश्चोच्चजात उदात्तजातो भवति'।[१]

नारदीय शिक्षा (१।८।६–७) में स्वरित की उत्पत्ति उच्च तथा नीच नामक स्वर से बतलाई गई है जो कि क्रमशः उदात्त तथा अनुदात्त के पर्याय-वाचक हैं। सामवेद के प्रातिशाख्य ग्रन्थ 'ऋक्तन्त्र' में उदात्त तथा अनुदात्त के पर्यायस्वरूप 'उच्च' तथा 'नीच' संज्ञाओं का प्रयोग हुआ है (२।६।४-५; ३।१।१-२)। स्वरित के पश्चात् आने वाले अनुदात्त स्वर उदात्त में परिवर्तित होते हैं, यह सिद्धान्त ऋक्तन्त्रकार निम्न प्रकार से कहते हैं—'तस्मादुच्च-श्रुतीनि'।[२]

यहाँ उदात्त का सम्बन्ध उच्चश्रुतिक स्वर (High pitched note) से स्पष्टतः निरूपित है। प्राचीन वाङ्मय[३] में उच्च के समानार्थक रूप में 'तार' शब्द का प्रयोग हुआ है, उदाहरणार्थ, भरत नाटच शास्त्र में 'उच्च' स्वर की निम्न परिभाषा उपलब्ध है—

उच्चो नाम शिरःस्थानगतस्तारः स्वरः।[४]

स्वर की उच्चनीचता (Pitch) के अनुरूप साम के तीन सवनों की उद्भूति बतलाई गई है—मन्द्र, मध्यम तथा तार।

१. उद्धृत, सिद्धेश्वर वर्मा का लेख 'वैदिक एकसेन्ट', जर्नल आफ बाम्बे ब्रान्च आफ रायल एशियाटिक सोसायटी, खण्ड २६ पृ० ३ पर।

२ ३।१।१; इसकी व्याख्या निम्नानुसार है—'तस्मात् स्वरितात् पराणि उदात्तश्रुतीनि भवन्ति।'

३. द्र० पंचविंश ब्रा० ७।१।७; तैत्तिरीय पृ० २२।११।

४. ना० शा० चौखम्बा, पृ० ४५९, श्लो० ४१।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्राचीन शिक्षा तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थों में उदात्तादि शब्दों का प्रयोग उच्चश्रुतिक स्वरों के पर्यायस्वरूप हुआ है।

पाणिनि के व्याख्याकार इस सम्बन्ध में विपरीत दृष्टिकोण प्रस्तुत करते पाए जाते हैं। कात्यायन के अनुसार उदात्त का स्पष्टीकरण 'उच्चैः' इस पद से नहीं हो सकता, कारण यह कि उच्च तथा नीच का कोई स्पष्ट मानदण्ड उपस्थित नहीं—'उच्चनीचस्यानवस्थितत्वात्संज्ञाप्रसिद्धिः' (महाभाष्य, पृ० २६)। काशिकाकार के अनुसार 'उच्चैः' इस पद से श्रुति की उच्चता का बोध नहीं होता अपितु तालु आदि स्वरोच्चारणस्थानों में जो स्वर ऊर्ध्व भाग में निष्पन्न होता है, वही स्वर (अच्) उदात्तसंज्ञक[1] होता है—'उच्चैरिति श्रुतिप्रकर्षो न गृह्यते'। यह उच्चता एक विशिष्ट प्रमाण की द्योतक मानी जा सकती है किन्तु उसका सम्बन्ध उदात्तादि स्वरों से न होते हुए उन स्वरों के उच्चारण स्थान से बताया गया है।[2] कात्यायन के मत से उच्च तथा नीच का कोई नियत प्रमाण न होने के कारण 'उच्चैः' का सम्बन्ध उदात्तादि स्वरों से नहीं हो सकता। कात्यायन का यह मत उपर्युक्त उदात्तविषयक परम्परा के विपरीत प्रतीत होता है। जैसा हमने ऊपर देखा है, 'उच्चैः' पद का सम्बन्ध प्राचीन साहित्य में स्वर की तारता से रहा है और इसी अर्थ में उसका प्रयोग भरत, नारद आदि संगीताचार्यों[3] के ग्रन्थों में हुआ है। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में उदात्तादि स्वरों के उच्चारण में होने वाली कण्ठगत प्रक्रिया का उल्लेख है। इस सम्बन्ध में तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में निम्न वचन पाया जाता है—

"आयामो दारुण्यं अणुता खस्येति उच्चैःकराणि शब्दस्य अन्ववसर्गो मार्दवं उरुता खस्येति नीचैःकराणि"।[4]

पारिशिक्षा में[5] इसी तथ्य का निरूपण है। इससे यह स्पष्ट है कि प्राचीन

---

१. पाणिनि १।२।२९ पर; 'ताल्वादिस्थानोर्ध्वभागनिष्पन्नोऽजुदात्तसंज्ञः' (स्वर-सिद्धान्त चन्द्रिका, पृ० ६); द्र० प्रक्रिया कौमुदी (रामचन्द्रकृत) प्रसादव्याख्या सहित (बम्बई), १९२५, पृ० २२-२३।

२. हरदत्तकृत पदमंजरी के अनुसार—'उच्चता नाम प्रमाणविशेष·ऊर्ध्वता परपर्यायस्तत्र ताल्वादिसम्बन्धो वर्णानामंतरंग इति स्थानसम्बन्धिन्युच्चता गृह्यते' (बनारस, १८९५, पृ० १६९)।

३. इस सम्बन्ध में आचार्य तुम्बुरु का निम्न कथन है—'उच्चस्तरो ध्वनी रूक्षो।'

४. २२।९-१०

५. ८१-८२

वाङ्मय में, विशेषतः संगीतविषयक वाङ्मय में 'उच्चैः' तथा 'नीचैः' का सम्बन्ध नाद की उच्चनीचता से रहा है, न कि उच्चारण-स्थानों से।

पतंजलि उदात्त के 'उच्चैः' इस पर्याय पर आपत्ति उठाते हैं। उनका कथन है—"इदमुच्चनीचमनवस्थितपदार्थकम्। तदेव हि कंचित्प्रत्युच्चैर्भवति कंचित्प्रति नीचैः। एवं कंचित्कश्चिदधीयानमाह, किमुच्चैरोरूयसेऽथ नीचैर्वर्तंतामिति। तमेव तथाधीयानमपर आह, किमन्तदंन्तकेनाधीष उच्चैर्वर्तंतामिति"।[1]

पतंजलि की दृष्टि से उच्चैः तथा नीचैः दोनों संज्ञायें सापेक्ष हैं, अतः उदात्त को उच्चैः का पर्याय कहने से स्वर के विशिष्ट प्रमाण तथा ऊर्ध्वता का बोध नहीं होता। जहां तक स्वर की सापेक्षता का प्रश्न है, पतंजलि का कथन यथा-योग्य है, परन्तु उदात्त का अर्थ वे स्वर की उच्चावचता से लेते हैं, यह बात स्पष्ट है। स्वर की उच्चावचता तथा पुष्टापुष्टता इन दोनों में अन्तर है। एक ही स्वर पुष्ट अथवा अपुष्ट अर्थात् स्थूल अथवा सूक्ष्म दोनों प्रकारों से उच्चरित हो सकता है, किन्तु उससे स्वर के स्थान में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसके विपरीत स्वर की उच्चावचता विभिन्न श्रुत्यन्तरों की बोधिका होती है। इस दृष्टि से देखे जाने पर यद्यपि उदात्तादि का कोई नियत प्रमाण प्राचीन वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध नहीं तथापि स्वर की उच्चनीचता (Pitch) का वह द्योतक है, यह तथ्य नितान्त स्पष्ट है। इसकी शिक्षा गुरुशिष्यपरम्परा से दी जाती रही है। वेदाध्ययन से पूर्व वैदिक शब्दों की सस्वर तथा यथासांग शिक्षा दी जाती थी जिसमें उदात्तादि स्वरों का प्रयोग मुख्यतः सम्मिलित था—

"पुराकल्प एतदासीत्। संस्कारोत्तरं कालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते। तेभ्यस्तत्तत्स्थानकरणानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते। तदद्यत्वे न तथा। वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति"। (महाभाष्य, खण्ड १, पृ० ४७)

व्याकरणकारों के साक्ष्य पर प्रतीत होता है कि उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित स्वरों की स्थिति मूलतः भाषण-क्रिया अथवा पाठ्यक्रिया से सम्बद्ध थी[2]। इनमें प्रमुख स्वर 'उदात्त' रहता था, जिसके आधार पर अनुदात्त तथा स्वरित का निर्धारण किया जाता था। संहिता ग्रन्थों में उदात्त स्वर निश्चित-सा होता है, जो उस वर्ण के उच्चारण का बोधक है, गान का नहीं। प्रत्यक्ष शिक्षा ग्रन्थों में एक ही वर्ण में उपाधि-भेद से स्वरों के परिवर्तित होने का उल्लेख है, जोकि

---

१. म० भाष्य, खण्ड १

२. भाषिक स्वर, पाठ्यगत स्वर तथा गानगत स्वर के परस्पर सम्बन्ध के लिए द्र० डा० फ्लेबर का अनूदित लेख (जर्नल आफ म्यूजिक एकेडेमी, मद्रास, खण्ड १९, पृ० ७१-१०६)।

प्रकाशव
मुद्रक
संस्करा
मूल्य

स्वरोच्चारण के सम्बन्ध में चरितार्थ होता है, न कि स्वर-गान के सम्बन्ध में। इन तीन स्वरों का सम्बन्ध भाषण तथा गायन की मध्यवर्ती अवस्था से माना जा सकता है। ऋग्वेद, यजु तथा साम की संहिता इसी सन्धिकाल की द्योतक है। संहिता-पाठ का स्थान वस्तुतः काव्य के सदृश है, जो गद्य तथा गान दोनों की मध्यवर्ती स्थिति का द्योतक है। 'आर्चिक' नामक एकस्वरयुक्त पाठ 'सामिक' नामक त्रिस्वरपाठ गान की दिशा में उत्क्रान्तिरूप ही माना जा सकता है, यद्यपि प्रत्यक्ष संगीत शास्त्र की दृष्टि से यह संगीत की प्राथमिक अवस्था है।

वैदिक काल में 'स्वर' का प्रयोग मुख्यतः अ, इ, उ आदि वाङ्मयीन वर्णों के लिये प्रयुक्त है और गौण रूप से संगीतमूलक ध्वनियों के लिये। तथ्य यह है कि भाषा एवं संगीत के समानान्तर विकास में भाषा की उच्च-नीच अवस्था को संकेत करने वाली ध्वनियों का प्रयोग समकालीन संगीत में किया जाता रहा। भाषा के तीन स्वर किसी विशिष्ट ध्वनि के द्योतक न होते हुए आपेक्षिक अथवा तारतमिक उच्चनीचता के द्योतक रहे हैं। साम के प्रातिशाख्य-ग्रन्थों से स्पष्ट है कि साम में ऋग्वेद के समान तीन ही स्वरों का प्रयोग किया जाता रहा तथा उनके लिए संज्ञा वही उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित रही। इन्ही स्वरों से उच्चतर ध्वनियों के लिये आरम्भ में उदात्ततर तथा अनुदात्ततर संज्ञाओं का प्रयोग होता रहा। साम-संगीत के विकास के साथ सप्तस्वरों का क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय आदि स्वतन्त्र नामाभिधान हुआ। गान्धर्व के षड्ज, ऋषभ आदि स्वर इन्हीं के परवर्ती रूप माने जा सकते हैं। सम्भव है कि गान्धर्व के सप्त स्वरों को प्राचीनता का गौरव देने के हेतु वैदिक परम्परा से सम्बद्ध करना श्रेयस्कर माना गया और इसीलिये गान्धर्व के षड्ज आदि स्वरों का सम्बन्ध उदात्तादि वैदिक स्वरों से दर्शित किया गया।[1]

---

१. उदात्तादि स्वरों के गेय होने के सम्बन्ध में आधुनिक भाषाशास्त्रज्ञों का ऐकमत्य है [द्र० अल्टटिन्डिहो ग्रामाटिक, १८९६, भाग १, पृ० २८४, उद्धृत सिद्धेश्वर वर्मा के लेख 'वैदिक एक्सेन्ट एण्ड इनटरप्रिटर्स आफ पाणिनि' में (जर्नल आफ बाम्बे ब्रान्च आफ रायल ऐशियाटिक सोसायटी, खण्ड २६, १९५०]। इस लेख में बेकरनेजल का निम्न मत उद्धृत है—

"The accent, which we have comc to know from the sources, is essentially musical. The theoreticians always speak of its 'height', never of its 'intensity', to which corresponds the term Vdatta, literally 'high', 'prominent', which is the designation of the chief accent."

संगीत के स्वरसप्तक का उद्गम—

साम-स्वरों का विकास निरूपित करते समय यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि सामगान में न्यूनात् न्यून तीन स्वरों की स्थिति आवश्यक है। नारदीय शिक्षा के अनुसार स्वरों का विकास एक, दो तथा तीन स्वरों से क्रमशः होता रहा है। एक स्वर से युक्त गान 'आर्चिक' कहलाता है, स्वरद्वय से युक्त गान 'गाथिक' कहलाता है तथा तीन स्वरों से युक्त गान 'सामिक' कहलाता है—

> आर्चिकं गाथिकं चैव सामिकं च स्वरान्तरम् ॥
> एकान्तरस्वरो•हृक्षु गाथासु द्व्यन्तरं स्वरः।
> सामसु त्र्यन्तरं विद्यादेतावत्स्वरतोऽन्तरम् ॥[1]

इन्हीं अवस्थाओं से होते हुए संगीत के सप्तस्वरों का विकास कालान्तर से हुआ है। तीनों प्रकारों में संगीत का स्वर विद्यमान है, केवल उनकी अवस्था भिन्न-भिन्न है। संहिता-पठन में एक ही स्वर का प्रयोग किया जाता रहा है। पाणिनि के अनुसार जप, न्यूंख तथा साम के अतिरिक्त अन्य मन्त्रों का पठन 'एक-श्रुतिक' होता है।[2]

पाणिनीय शिक्षा के अनुसार ऋक् मन्त्रों का पठन गान के सदृश न किया जाना चाहिये। स्तोत्र के रूप में प्रयुक्त किये जाने पर तीन स्वरों पर इनका गान किया जा सकता है। सामगान में प्रयुक्त सप्त स्वरों के निम्न अभिधान हैं—प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र, क्रुष्ट एवं अतिस्वार।[3] अन्य वेद के अनुयायियों के द्वारा गान के अन्तर्गत इन्हीं स्वरों का न्यूनाधिक मात्रा में प्रयोग किया जाता रहा है। नारदी शिक्षा के अनुसार ऋग्वेद के अनुयायियों में प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय स्वर का प्रयोग पाया जाता है। यदा कदा इनके अतिरिक्त उच्च अथवा क्रुष्ट स्वर का प्रयोग भी किया जाता है। यजुर्वेद की आह्वरक शाखा में द्वितीय, प्रथम तथा क्रुष्ट स्वरों का प्रयोग विहित है। तैत्तिरीय शाखा में द्वितीय से लेकर मन्द्र तक अर्थात् द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा मन्द्र इन चार स्वरों का क्रमशः प्रयोग किया जाता रहा है। सामवेद की ताण्डि तथा भाल्लवि जैसी पुरातन शाखाओं में तथा वाजसनेयी शाखा में द्वितीय तथा प्रथम स्वर का प्रयोग सम्मत है[4]। पुष्पसूत्र के अजातशत्रु-कृत भाष्य के अनुसार सामगान में शाखानुसार न्यूनाधिक स्वरों का प्रयोग किया जाता है। प्रायः गान पांच

---

१. १।१।२—३

२. १।२।३३—३४

३. ना० शि० १।१।१२; ऋ० प्रा० १३।४४, उवट; तै० प्रा० २३।१२

४. ना० शि० १।१।९-१४, तुलनार्थ द्र० तै० प्रा० २३।१६।१७

तथा छः स्वरों तक सीमित है; केवल दो सामों का गान ही कौथुम शाखा के अन्तर्गत सप्त स्वरों में किया जाता है—

एतैर्भावैश्च गायन्ति सर्वाः शाखाः पृथक् पृथक्।
पंचस्वेव तु गायन्ति भूयिष्ठानि स्वरेषु तु ॥
सामानि षट्सु चान्यानि सप्तसु द्वे तु कौथुमाः।
उनानामन्यथागीतिः पादानामधिकाश्च ये ॥

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के भाष्य में साम-स्वरों की वैदिक स्वरों से एकात्मता बताई गई है—"तित्तिरिणा प्रोक्तं तैत्तिरीयम्, तत्र भवास्तैत्तिरीयका मन्द्रचतुर्थ-तृतीय-द्वितीयाः स्युः। अनुदात्तस्वरितप्रचयोदात्ता इत्यर्थः।"[1] अर्थात् सामगान के मन्द्र, चतुर्थ, तृतीय तथा द्वितीय स्वर क्रमशः अनुदात्त, स्वरित, प्रचय तथा उदात्त हैं। इसके उच्च तथा निम्न स्वरों के लिये उदात्ततर तथा अनुदात्ततर संज्ञा है। सामतन्त्र में केवल पांच ही स्वरों की निम्न संज्ञायें उपलब्ध हैं, जैसे गि, जि, डि, दि तथा बि। सामविधान ब्राह्मण में साम के सप्त स्वरों का उल्लेख है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, बृहद्देवता तथा नारदीय शिक्षा आदि ग्रन्थों में साम के सप्त स्वरों का विधान बराबर पाया जाता है।[2] नारदीय शिक्षा के अनुसार इन स्वरों का सामञ्जस्य षड्जादि लौकिक स्वरों के साथ स्थापित किया जा सकता है।

---

१. २३।१६ पर भाष्य

२. मतंग की बृहद्देशी में नारद के नाम से निम्न श्लोक पाया जाता है—'एकस्वरप्रयोगो हि आर्चिकः सोऽभिधीयते। गाड़िको द्विस्परो ज्ञेयः त्रिस्वरश्चैव सामिक ॥' (पृ० १७)। कल्लिनाथ के अनुसार साम 'सप्तस्वरवान्' होने के कारण प्रस्तुत 'त्रिस्वरत्व' मन्द्रादि त्रिस्थानों से सम्बद्ध माना जाना चाहिये—'साम्नां तु त्रिस्वरवत्त्वं सप्तस्वरवत्त्वेऽपि मन्द्रादिस्थानत्रयविवक्षया'। मन्द्रादि तीन स्थानों का प्रयोग साम के अतिरिक्त अन्य वेदों में भी विहित होने के कारण कल्लिनाथ का यह मत स्वीकृत नहीं किया जा सकता। तथ्य यह है कि ऋक् तथा साम दोनों का विकास भापा-ध्वनियों के साथ होता रहा है। उच्च, नीच तथा मध्य तीन स्वर भाषा में सदैव प्रयुक्त होते हैं जिनका प्रयोग प्रारम्भिक काव्य तथा गीत दोनों के लिये किया जाता रहा है। आर्चिक तथा सामिक संज्ञाओं से अभिप्राय यही हो सकता है कि ऋक् के पठन के लिये न्यूनतम आवश्यकता एक स्वर की रही और इसके विपरीत साम के पठन के लिये न्यूनात् न्यून तीन स्वरों की अपेक्षा रही।

साम तथा गान्धर्व के स्वरों का तुलनात्मक अध्ययन—

साम तथा गान्धर्व के स्वरों का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिये साम के क्रुष्ट, मन्द्र, अतिस्वार्य आदि स्वरों का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है। इसी उद्देश्य से इन स्वरों का विवेचन प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर निम्न किया जा रहा है–

(१) क्रुष्ट—गान के दशविध गुणों में 'विक्रुष्ट' नामक गुण का उल्लेख नारदीय शिक्षा में हुआ है—"विक्रुष्टं नामोच्चैरुच्चारितं व्यक्तपदाक्षरमिति विक्रुष्टम्" (१।३.७)। भाष्यकार के अनुसार 'विक्रुष्ट' संज्ञा उच्चस्थान पर उच्चरित स्वर के लिये है—"उच्चैरुच्चारणेऽपि पदाक्षराणां स्फुटता यत्र भवति"। संगीतरत्नाकर के अनुसार विक्रुष्ट से तात्पर्य तार स्थान में उच्चारित स्वर से है—"उच्चैरुच्चारणादुक्तं विकुष्टं भरतादिभिः"। क्रुष्ट स्वर का स्थान 'मूर्धा' है, जहाँ तार स्थान के स्वरों की निष्पत्ति होती है। गात्रवीणा पर क्रुष्ट का स्थान 'प्रथम' नामक स्वर से उच्च बतलाया गया है—

अंगुष्ठस्योत्तमे क्रुष्टो ह्यंगुष्ठे प्रथमः स्वरः। (ना० शि० १।७।३)

माण्डूकी शिक्षा में इसी का शब्दशः अनुवाद निम्न शब्दों में पाया जाता है—'बाह्यांगुष्ठन्तु क्रुष्टं स्यात्' (१५-१६)। बृहद्देवता तथा नारदीय शिक्षा में सामिक स्वरों का विविध प्राणियों से सम्बन्ध दिखाते हुए क्रुष्ट को उच्चतम माना गया है—'क्रुष्टेन देवा जीवन्ति प्रथमेन तु मानुषाः'। सामविधान ब्राह्मण में इसी तथ्य की आवृत्ति हुई है—'तथोऽसौ क्रुष्टतम इव सा(म्नः)म्नि स्वरस्तं देवा उपजीवन्ति योऽवरेषां प्रथमस्तं मनुष्या—'(१—३)।

क्रुष्टतम संज्ञा 'क्रुष्ट' स्वर के पर्यायस्वरूप है,[1] तथा शेष छः स्वरों में आदिम स्वर के लिये 'प्रथम' संज्ञा है। इस स्वर को संख्या-क्रम में 'प्रथम' मानने पर 'क्रुष्ट' स्वर 'सप्तम' ही होगा[2]। नारदीय शिक्षा के अनुसार इसी सप्तम अथवा सातवें स्वर की संज्ञा गान्धर्व में 'पंचम' है तथा गात्रवीणा पर इसका स्थान अंगुष्ठ के उपरि स्थान पर है—'अंगुष्ठस्योत्तमे क्रुष्टो'[3]। सामविधान ब्राह्मण में मन्द्रसंज्ञक स्वर के लिये 'पंचम' तथा उसके परवर्ती 'अतिस्वार्य' स्वर के लिये 'षष्ठ' तथा 'अन्त्य' संज्ञा से सम्बोधित किया गया है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि वैदिक संगीत में इस स्वर की कल्पना स्वरक्रम के हिसाब से अन्तिम स्वर के रूप में की गई थी। 'प्रथम', 'द्वितीय', 'तृतीय', 'चतुर्थ', 'पंचम' तथा 'षष्ठ' इन

१. द्र० सामविधान ब्राह्मण (१—५)—'क्रुष्टः प्राजापत्यो ब्राह्मो वा—आदित्यानां प्रथमः—मित्रावरुणयोरतिस्वार्यः'।

२. ना० शि० १।५।२ तथा १।७।१-१०।

३. १।७।३

स्वर-संज्ञाओं से यह स्पष्ट है कि तत्कालीन संगीत में 'षाडव' अर्थात् छः स्वरों का ही विकास हुआ था। कालान्तर से सप्तम स्वर की योजना 'प्रथम' से उच्चतर स्थान पर की गई। नारदीय शिक्षा के भाष्य में इसी सप्तम स्वर को 'क्रुष्ट' संज्ञा दी गई है और इसको लौकिक संगीत के 'पंचम' संज्ञक स्वर का पर्याय माना गया है।[1] इसी दृष्टिकोण से साम-विधान ब्राह्मण में इसको 'क्रुष्टतम' कहा गया हो, ऐसी यथार्थ कल्पना की जा सकती है।

(२) मन्द्र—प्राचीन सामसंगीत में 'मन्द्र' संज्ञा स्वर तथा स्थान दोनों के लिये रही है। जहाँ तक स्थान का सम्बन्ध है, वाक् तथा गान दोनों का व्यवहार, मन्द्र, मध्यम तथा उत्तम भेद से त्रिविध बतलाया गया है[2]। मन्द्र उरस् से उद्भूत होता है, मध्यम कण्ठ से तथा उत्तम शिर से। इनमें से प्रत्येक स्थान में सप्त यमों अर्थात् स्वरों का गान किया जा सकता है—'मन्द्रादिषु त्रिषु स्थानेषु सप्त सप्त यमाः' (तै० प्रा० २३।१३)। मन्द्रादि शब्द स्वरविशेष के भी द्योतक माने गये हैं। साम के सप्त स्वरों में से 'मन्द्र' स्वर को 'पंचम' संज्ञा प्राप्त है तथा प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ के पश्चात् उसका स्थान है। नारदीय शिक्षा के अनुसार यह गान्धर्व संगीत का 'धैवत' नामक स्वर है। गात्रवीणा पर इसका स्थान कनिष्ठिका के मध्यम पर्व पर निर्दिष्ट किया जाता है।

(३) अतिस्वार्य—साम के स्वरों में यह स्वर 'मन्द्र' के पश्चात् आता है तथा इसका अपर अभिधान 'षष्ठ', 'अतिस्वार' तथा 'परिस्वार' है। इसके लिये अन्य संज्ञा 'अन्त्य' तथा 'नीच' भी है, जो सम्भवतः इसके परवर्ती विकास की द्योतिका है। गात्रवीणा पर इसका स्थान मन्द्र स्वर के नीचे कनिष्ठिका के मूल में है। नारदीय शिक्षा के भाष्यकार के अनुसार यह स्वर गौण है तथा मन्द्र से इसका स्वरान्तर सूक्ष्म होने के कारण इसका निर्देश अन्य प्रधान स्वरों की भांति अंगुलि के पर्व पर नहीं किया गया। 'अतिस्वार्य' संज्ञा से प्रतीत होता है कि यह मन्द्र स्वर से कुछ उच्चतर गाया जाता रहा हो। कात्यायन के अनुसार सामगान का आरम्भ क्रुष्ट तथा अतिस्वार स्वरों से कदापि नहीं किया

---

१. १।५।१-२

२. द्र० ऋ० प्रा० १३।४१–४२ पर उवटभाष्य—'वाचस्त्रीणि स्थानानि सप्तयमानि—तेषु मन्द्रमुरसि वर्तते। मध्यमं कण्ठे वर्तते। उत्तमं शिरसि वर्तते। एतानि स्थानानि स्वरविशेषाणि अपि भवन्ति। यथा मन्द्रेण स्वरेण अधीयते। मन्द्रया वाचा प्रातःसवने शंसेत्'। (तुलनार्थ द्र० तै० प्रा० २३।४–१२ पर गोपालयज्वन् भाष्य)।

जाता—'अतिस्वारेण क्रुष्टेन प्रारम्भो न कदाचन'[1]। नारदीय शिक्षा के अनुसार यह गान्धर्व का 'निषाद' संज्ञक स्वर है। साभगान की प्रचलित परम्परा से यह 'कोमल निषाद' सिद्ध होता है।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् इनका गान्धर्व-स्वरों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया जा रहा है, जिससे सामकालीन स्वरसप्तक का स्वरूप एवं विकास स्पष्ट हो जायेगा—

शौनककृत ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार संगीत के स्वरों के लिए पारिभाषिक संज्ञा 'यम' है[2]। शौनक के अनुसार 'यम' के अन्तर्गत उन्हीं स्वरों का अन्तर्भाव है, जो एक दूसरे से श्रवणयोग्य अन्तर पर स्थित हैं। किसी स्वर के परःसन्निकर्ष में उद्भूत होने वाली ध्वनियां सूक्ष्मता के कारण पृथक् ज्ञान के लिये योग्य नहीं रहतीं—'सप्त यमानि वाचः। अनन्तरश्च अत्र यमो अविशिष्टः'[3]। 'यम' रूप में केवल श्रवणगोचर नाद-रूप स्वीकृत किये जाने के कारण संगीत के प्रमुख सात स्वरों के अतिरिक्त सूक्ष्म स्वरान्तरों का समावेश उनमें होता है—'सप्त स्वरा ये यमास्ते। पृथग्वा।'[4] इसी परम्परा का समर्थन सायण ने अपने भाष्य में किया है—'अव्यवहितो यमः। स अविशिष्टः अस्पष्टविशिष्ट इत्यर्थः। अनन्तर-मित्यस्य वाक्यस्य अयमर्थः विप्रकृष्टो यमो भेदेन ज्ञातुं शक्यते न सन्निकृष्ट इति।'

अर्थात् संगीत के सप्त स्वरों के लिये 'यम' संज्ञा है, चाहे वे षड्जादि लौकिक संगीत के स्वर हों, चाहे सामवेद के क्रुष्टादि स्वर हों अथवा इन दोनों के अतिरिक्त सूक्ष्म स्वर हों। सायण के अनुसार 'यम' के अन्तर्गत सप्त स्वरों के अतिरिक्त अन्य श्रवणगोचर ध्वनियों का समावेश होना चाहिये—

'सप्त स्वरा इत्यस्य अयमर्थः—ये यमा इत्युक्ताः सप्त ते स्वराः। षड्जादयः। पृथग्वा क्रुष्टादयः। पृथग्वा षड्जादिभ्यो अन्ये वा बोद्धव्याः'।[5]

शौनक के भाष्य में उवट (ई० ११) इसी परम्परा का वहन करते दिखाई देते हैं। उनके अनुसार गान्धर्व वेद में स्वरों के नाम तथा क्रम इस प्रकार हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत तथा निषाद। सामसंगीत में स्वरों की संज्ञायें तथा क्रम इस प्रकार है—क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र

१. द्र० 'वैदिक आक्टेव', सं० आर० सत्यनारायण, पृ० १,२०।

२. १३।४२–४४

३. १३।४२–४३

४. वहीं, ४४–४५

५. सामविधान ब्राह्मण, सायण भाष्य।

तथा अतिस्वार्य[1]। उवट के अनुसार मुख्य सात स्वरों के अतिरिक्त अन्य सूक्ष्म स्वरान्तरों का समावेश 'यम' में होता है—'अथवा स्वरेभ्यः पृथग्भूता अन्ये यमाः स्वरेषु वर्तन्ते। एतेषां मृदुत्वं तीक्ष्णत्वं चेति वेदितव्यम्'। ध्वनियों की श्रुतिगोचर उच्चनीचता से इन स्वरों के स्थान का निर्धारण होता है—'तेषां दीप्तिजोपलब्धिः' (तै० प्रा० २३।१५)। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य पर भाष्य करते हुए टीकाकार ने इनके अवरोही क्रम के प्रति संकेत किया है। उनके अनुसार कुष्ट प्रथम, तथा द्वितीय स्वर 'उत्क्षेपी' अर्थात् मध्य स्वर की अपेक्षा से तारतर हैं तथा चतुर्थ, मन्द्र एवं अतिस्वार्य स्वर उसकी अपेक्षा 'अवक्षेपी' अथवा निम्नतर है—

'एते त्रयः स्वरा आह्वारकाः, आयामो दारुण्यमिति लक्षणवशात् उत्क्षेपिण इत्यर्थः। एतेन तृतीयमवधिं कृत्वा चतुर्थाया अन्ववसर्ग इति लक्षणवशादवक्षेपिणः। तृतीयस्तु धृतप्रचय इति गम्यते।

प्रातिलोम्येन निर्देशात्तृतीयस्त्वविधिः समः।
उत्क्षिप्तोत्क्षिप्ततरकौ द्वितीयप्रथमौ मतौ॥
स्यात् क्षिप्त उत्क्षिप्ततमस्तृतीया उत्तरास्त्रयः।
चतुर्थाद्या अवक्षेप्यास्तारतम्यं तु पूर्ववत्॥

तृतीयस्तु समः। उत्क्षेपावक्षेपयोरित्यर्थः। अस्त्वेवं सामवेदे।

इससे स्पष्ट है कि साम स्वरों का क्रम तार से लेकर मन्द्र तक 'अवरोही' रूप में निर्दिष्ट किया गया है—"ते च उत्तरोत्तरं नीचा भवन्ति"[2]। इस दृष्टि से साम के सप्त स्वरों की संज्ञायें तथा अवस्था निम्नानुसार है—

तृतीय (सम)

कुष्ट	प्रथम	द्वितीय	चतुर्थ	मन्द्र	अतिस्वार्य
उत्क्षिप्ततम	उत्क्षिप्ततर	उत्क्षिप्त	अवक्षिप्त	अवक्षिप्ततर	अवक्षिप्ततम
उत्क्षेपी			अवक्षेपी		

सामविधान ब्राह्मण में स्वरों के नाम तथा क्रम निम्नानुसार पाये जाते हैं—१ कुष्टतम, २ प्रथम, ३ द्वितीय, ४ तृतीय, ५ चतुर्थ, ६ पंचम तथा ७ अन्त्य (१।३)। सायण के अनुसार सामस्वरसप्तक का आरम्भिक स्वर 'कुष्ट' है तथा

१. द्र० तैत्ति० प्रा० २३।१३।१४
२. सायण, साम० वि० ब्रा०

प्रत्यक्ष गान में इन स्वरों के अनेक भेद सम्भाव्य हैं—"क्रुष्टः प्रथमो द्वितीयः तृतीयश्चतुर्थः पंचमः षष्ठश्चैते सप्तस्वराः ते च अवान्तरभेदैर्बहुधा भिन्नाः"[1]। नारदीय शिक्षा में साम तथा लौकिक गान के स्वरों में सामंजस्य स्थापित किया गया है—

> यः सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यमः स्मृतः ।
> यो द्वितीयः स गन्धारः तृतीयस्त्वृषभः स्मृतः ॥ १-५-१ ॥
> चतुर्थः षड्ज इत्याहुः पंचमो धैवतो भवेत् ।
> षष्ठो निषादो विज्ञेयः सप्तमः पंचमः स्मृतः ॥ १-५-२ ॥

अर्थात् जो सामगायकों का 'प्रथम' संज्ञक स्वर है, वह वेणु का 'मध्यम' स्वर है, जो 'द्वितीय' है वह वेणु का 'गान्धार', 'तृतीय' स्वर वेणु का 'ऋषभ' है, 'चतुर्थ' 'षड्ज' है. 'पंचम' 'धैवत' है, 'षष्ठ' 'निषाद' है तथा 'सप्तम' 'पंचम' के पर्यायस्वरूप है ।

नारदीय शिक्षा के उपर्युक्त साक्ष्य से स्पष्ट है कि क्रुष्टादि सप्त सामस्वरों का क्रम म, ग, रि, सा, ध, नि तथा प इस प्रकार रहा है। गात्रवीणा पर स्वरों की स्थिति निर्दिष्ट करते समय नारदीय शिक्षा में इसी क्रम का अवलम्ब किया गया है—

> अंगुष्ठस्योत्तमे क्रुष्टो ह्यंगुष्ठे प्रथमः स्वरः ।
> प्रदेशिन्यां तु गान्धार ऋषभस्तदनन्तरम् ॥ १-७-३ ॥
> अनामिकायां षड्जस्तु कनिष्ठायां तु धैवतम् ।
> तस्याधस्ताच्च योऽन्यस्तु निषादं तत्र निर्दिशेत् ॥ १-७-४ ॥
> अपर्वत्वादसंज्ञत्वादव्ययत्वाच्च नित्यशः ।
> मन्द्रो हिनुहिभूतस्तु परिस्वार इति स्मृतः ॥ १-७-५ ॥

माण्डूकी शिक्षा के अनुसार सामगान में सप्तस्वरों का प्रयोग प्राप्त होता है—'सप्त स्वरास्तु गीयन्ते सामभिः सामगैर्बुधैः । इस शिक्षा के अनुसार साम स्वरों का क्रम गात्रवीणा पर इस प्रकार है—क्रुष्ट का स्थान अंगुष्ठ के ऊपरी स्थान पर है, अंगुष्ठ पर अर्थात् उसके मध्यम-पर्व पर 'मध्यम' स्वर का स्थानहै, प्रदेशिनी अर्थात् तर्जनी पर गान्धार का, मध्यमा पर पंचम का, अनामिका पर

---

१. द्र० सामभाष्य भूमिका; अथर्व के 'ऋक्सामयजुरुच्छिष्ट' पर सायण का निम्न भाष्य है—'कृत्स्नसामाश्रितः क्रुष्ट-प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-मन्द्रातिम-न्द्रात्मकः सप्तविधः स्वरः' ।

षड्ज का, कनिष्ठिका पर धैवत का तथा उससे निम्न कनिष्ठा के मूल में निषाद का स्थान है—

> बाह्यांगुष्ठन्तु क्रुष्टं स्यात् अंगुष्ठे मध्यमः स्वरः।
> प्रदेशिन्यान्तु गान्धारो मध्यमायां तु पंचमः॥
> अनामिकायां षड्जस्तु कनिष्ठायां तु धैवतः।
> तस्याधस्तात्तु योऽन्त्यस्स्यान्निषाद इति तं विदुः॥

स्पष्ट है कि इसके अनुसार स्वरों का क्रम क्रुष्ट, मध्यम, गान्धार, पंचम, षड्ज, धैवत तथा निषाद है।[1] सायण ने साम तथा गान्धर्व के स्वरों में सामंजस्य स्थापित करते हुए निम्न प्रतिपादन किया है—'लौकिके ये निषादादयः सप्त स्वराः प्रसिद्धाः, त एव साम्नि क्रुष्टादयः सप्त स्वरा भवन्ति। तद्यथा—यो निषादः सः क्रुष्टः। धैवतः प्रथमः। पंचमो द्वितीयः। मध्यमस्तृतीयः। गान्धारश्चतुर्थः। ऋषभो मन्द्रः। षड्जोऽतिस्वार्य इति।'

अर्थात् सायण के अनुसार गान्धर्व संगीत के निषाद, धैवत, पंचम, मध्यम, गान्धार, ऋषभ तथा षड्ज सामसंगीत के क्रमशः क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र तथा अतिस्वार्य स्वर हैं। सायण का यह प्रतिपादन शिक्षा तथा प्रातिशाख्यों के उपर्युक्त साक्ष्य से कथमपि संगत प्रतीत नहीं होता। सम्भव है कि आधुनिक सा, रि, ग, म, प, ध, तथा नि को सामगान के स्वर मानकर उसके अवरोही क्रम की क्रुष्ट, प्रथम आदि संज्ञायें उन्होंने कल्पित की हों।

क्रुष्ट तथा निषाद की अपेक्षाकृत परवर्तिता को देखते हुए सामगान की स्वरावलि मूल रूप में 'सा रि ग म ध' इस ओडव जाति की रही हो, ऐसी कल्पना की जा सकती है। नारद तथा माण्डूकी शिक्षाओं का स्पष्ट साक्ष्य है कि

---

१. सामस्वरों के अवरोही क्रम तथा धैवत के वक्रत्व के सम्बन्ध में नारदीय शिक्षा के साथ इसका स्पष्ट सामंजस्य है तथापि सप्तस्वरों में ऋषभतुल्य स्वर का अनुल्लेख एवं 'पंचम' का मध्यमा अंगुलि पर स्थान सदोष परम्परा को सिद्ध करने वाले हैं। हमने ऊपर सिद्ध किया है कि साम का 'क्रुष्ट' स्वर गान्धर्व का 'पंचम' है। माण्डूकी तथा नारदीय उभय शिक्षाओं का परस्पर साम्य देखते हुए यह कहा जा सकता है कि मण्डूक को 'क्रुष्ट' का यही रूप अभिप्रेत हो। अतः पंचम-स्थानीय क्रुष्ट को आरम्भ में बाह्यांगुष्ठ पर स्थापित करने के पश्चात् पुनः मध्यमा अंगुलि पर स्थापित करना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। यदि मण्डूकोक्त पंचम गान्धर्व के 'पंचम' संज्ञक स्वर से तुल्य माना जाय, तो सप्तस्वरयुक्त सप्तक में 'क्रुष्ट' को ऋषभ स्वर का पर्यायस्वरूप मानना पड़ेगा, जो कि वैदिक परम्परा से सर्वथा असंगत है।

इसी में 'प' तथा 'नि' को जोड़कर सम्पूर्ण सप्तक का विकास हुआ था। आधुनिक सामगान में प्रयुक्त कोमल 'ग' तथा कोमल 'नि' के आधार पर इस सप्तक का स्वरूप आधुनिक काफी राग के सदृश लक्षित होता है।[1]

उदाहरणार्थ कौथुमी शाखा के प्रचलित सामगान का निम्नांकित रूप द्रष्टव्य है[2]—

ओ ग्ना इ । आ या ही इ वो इ तो या आ इ ।
सा सा स । गा गा ग रि मा म मा मा गा ग ॥
तो या आ इ । गृ णा नो इ । व्य दा तो या आ इ ।
मा मा गा ग । मा म गा ग । ग मा मा मा गा ग ।
तो या आ इ । ना इ हो ता सा आ आ ।
मा मा गा ग । मा म गा मा मा गा रि ।
त्सा आ इ वा आ आ आ । औ हो वा । हीं इ इ इ षि ॥
मा गा ग रि गा रि सा । धा धा धा । रि गारिसाधा ॥

सामसाहित्य का स्वरांकन—

सामवेद का स्वरांकन निजी विशिष्टता से संवलित है। अन्य वेदों तथा ब्राह्मणों से इसका विभेद इसी बात में है कि यहां स्वर-संकेतों के रूप में १,२,३ जैसी संख्याओं का प्रयोग इसमें उपलब्ध है, जो क्रमशः उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित के द्योतक माने जाते हैं।

साम के गान-ग्रन्थों में स्वरांकन के रूप में १ से लेकर ७ तक अंकों का प्रयोग पाया जाता है। इनका स्थान अक्षरों के ऊपर तथा मध्य में दोनों स्थानों पर दिखाई देता है। इन अंकों में से ७ अंक क्रुष्ट अर्थात् उच्चतम स्वर के लिए

---

१. फाक्स स्ट्रैंगवेज के अनुसार दाक्षिणात्य 'आभोगी' राग सामगान का मूल सप्तक है। श्री०एम्०एल्० सीताराम के अनुसार हनुमतोडी, शंकराभरण वा सामगानवराली मूल सामसप्तक है। श्री० के० सी० केर के अनुसार वह भैरवी, हरिकांभोजी अथवा कल्याणी में से एक होने की सम्भावना है। (द्र० आर० सत्यनारायण कृत 'वैदिक आक्टेव्ह', पृ० २५)।

२. द्र० 'डिस्क्रिप्टिव्ह कैटेलाग आफ संस्कृत मैनेस्क्रिप्ट', खण्ड १ तथा बर्नेल द्वारा सम्पादित 'आर्षेय ब्राह्मण', भूमिका, पृ० ४५।

राणायनीय शाखा में इसी गान के अन्तर्गत कोमल नि' का अल्प प्रयोग उपलब्ध है। इस सम्बन्ध में द्र० 'एनशन्ट मोड आफ सिंगिग सामगान', द्रविड, पृ० १५ तथा २१।

प्रकाशव
मुद्रक
संस्करण
मूल्य

प्रयुक्त होता है तथा अङ्क १,२,३,४,५,६ क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र तथा अतिस्वार के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं। इन स्वरों की शुद्ध तथा बिकृत अवस्था अंकों के विशिष्ट स्थान पर निर्भर मानी जाती है, जैसे सामाक्षरों के ऊपर स्वरांकन स्वर की शुद्ध अवस्था का द्योतक माना जाता है तथा अक्षरों के बीच में अंकन स्वरों की विकृतावस्था का द्योतक माना जाता है। इन सात अंकों के अतिरिक्त कुछ अन्य चिह्नों का प्रयोग गान-ग्रन्थों में पाया जाता है,[1] जिनका सांकेतिक अर्थ निम्नानुसार निर्दिष्ट किया जाता है—

१. 'र' अक्षर के विशिष्ट स्वर को दीर्घ करना।
२. 'उ' उच्च स्वर।
३. 'क' नीच स्वर।
४. '–' स्वर को बढ़ाना।
५. '॒' पूर्ववर्ती वर्ण की ध्वनि अग्रिम अवग्रह ।ऽ। तक जारी रखना।
६. 'ऽ' पूर्ववर्ती वर्ण की ध्वनि को जारी रखना।

साम-स्वरांकन के उदाहरण के रूप में 'तार्क्ष्य-प्रथम' नामक साम का संहिता तथा गान दोनों रूपों में स्वरांकन निम्न अवलोकनीय है—

ऋचा ॥

३३२। ३ १२। ३१२। ३१ २।३ १३२ ३ १२ । १२। ३ १
त्यमूषु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतार ँ रथानाम् ॥ अरिष्टनेमि
।२१ २ ३ १ २ ९ २।३।२।
पृतनाजमाशु ँ स्वस्तये तार्द्यमिहाहुवेम ॥

सामन्[2] ॥

५ ४ ५ २ २ २ ५ १ र २र
ओऽ६ म् ॥ त्य मू षु ॥ वा जि ॥ नाऽ २ ३ ४ ५ म् ॥ दै व जू
सानि ऽ रे ॥ सासा सा। म ऽम। गम ऽ ग ऽ रेऽसा। म म म
३ ५ र आ २ १ २ २ ३४५
ता २ ३ ४ म् ॥ स हो वा नं ता ॥ रु खा ३ ॥ र थानाम् ॥
गऽ मऽगऽ रे। सा सा ग म प । म ऽ मग । मऽगरेसा ।

१. साम के स्वरांकन-सम्बन्धी विस्तृत विवरण के लिए द्र० 'सामवेद-गानग्रन्थ', भूमिका, पं० सातवलेकर।

२. द्र० 'ध्वनिमुद्रितसामानि', द्रविड कृत तथा 'एन्शेन्ट मोड आफ सिंगिग सामगान, पृ० १६, सामगायक द्रविड कृत।

२ ३ ५ २ २३२५
आ रि ष्टे ना २ ३ ४ इ मी म् ॥ घृ त नो ३ ४ ३ जमाशूस् ॥
मऽ मऽ म ऽग ऽम ऽगऽ रिऽसा सा । म म म म ग रे गमगसा ।

२ १ १ १ ३ २ २ ४
स्वस्त ॥ या इ ॥ ता वर्य मि हा ३ ४ ३ ॥ हू ३ वा ५ इमा ६ ५ ६ ॥
मप । पऽ प । पऽमऽ गऽमऽ गऽरेऽगऽ। म ग रे साऽ सानिसानि ॥

दक्षिण भारत के प्राचीन हस्तलिखितों में स्वरसमूह निर्दिष्ट करने के लिए गान के अक्षरों के बीच कुछ विशिष्ट व्यंजनों का प्रयोग उपलब्ध है, जैसे 'क' से तात्पर्य एक ही स्वर से माना जाता है तथा 'के' से तात्पर्य कम से कम सात स्वरों से लिया जाता है। उदाहरणार्थ, साम के प्रथम मन्त्र का स्वरांकन निम्न द्रष्टव्य है—

ओ ता ग्ना इ । आ चो य हीनवी। इतो या इ ।

यहां 'ता,' 'चो', 'न' आदि अवान्तर अक्षर विशिष्ट स्वर के द्योतक माने गए हैं। 'ता' का अर्थ चतुर्थ स्वर है, 'चो' क्रमशः २,३ तथा १ अर्थात् द्वितीय, तृतीय तथा प्रथम स्वरों का बोधक है तथा 'न' १,२ एवं प्रेंख नामक विकृत स्वर का बोधक माना जाता है[१]।

उत्तर भारत में उपलब्ध सामवेद के हस्तलिखितों में स्वरांकन अंकों के माध्यम से किया गया पाया जाता है, परन्तु प्राचीन तथा आधुनिक ग्रन्थों में उपलब्ध अंकविषयक विभेद के कारण वह साम के प्राचीन स्वरों के जानने के लिए विशेष सहायक नहीं। लन्दन में उपलब्ध[२] पोथी में निम्नानुसार स्वरांकन पाया जाता है—

अभायिमहे २ । ३ । च २ अ २ श २ नी २ धु २ त २ म्म १
घ १ वा २ ना २ ३ मूक्था १ स या ४ ॥

उपर्युक्त से अपेक्षाकृत आधुनिक हस्तलिखित पोथी[३] में स्वरांकन निम्न रीति से हुआ है—

१ २ २ ८ १ १
अभायिभायिमाहे । ३ । चर्षणी घृतम् मृघ वा ना ३ मुच्चा । १ ।
२ १ ८ ८
या २ । मू । ईडांगिरओ बृहतीरम्या ३ तेषा १ । मा । १ ॥[४]

---

१. 'स्वरपरिभाषा' नामक आधुनिक ग्रन्थ में इस प्रकार के तीन सौ अक्षरों की परिभाषा उपलब्ध है।

२. इन्डिया आफिस, लन्दन, नं० ६८—डी० सामवेद, १५८७।

३. इन्डिया आफिस, लन्दन, कोलब्रू० नं० १२९५।

४. द्र० डा० बर्नेल द्वारा सम्पादित 'आर्षेय ब्राह्मण', भूमिका।

साम के स्वरांकन के सम्बन्ध में निम्न तथ्य विचारणीय है। जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है साम के स्वरांकन के सम्बन्ध में निश्चित योजना उपलब्ध नहीं होती। जहाँ तक साम के प्राचीन शिक्षा-ग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध है, किसी स्वरांकन की प्रणालि का निर्देश उनमें नहीं पाया जाता। वेदों के प्रसिद्ध भाष्यकार सायण ने विशिष्ट सामों का विवरण देते हुए उनमें प्रयुक्त स्वरों के नाम तथा क्रम का निर्देश मात्र किया है किन्तु किसी स्वरांकन प्रणालि के प्रचलित होने के सम्बन्ध में उनकी साक्ष्य कथमपि उपलब्ध नहीं। पाश्चात्य पर्यटक अलबेरूनी के अनुसार उनके भारत में आने से कुछ पूर्व ही वेदों को लिपिबद्ध तथा स्वरबद्ध करने की प्रथा आरम्भ हुई है। जहां तक सामगान-सम्बन्धी गात्रवीणा का प्रश्न है, वह भी विभिन्न सामगायकों में परस्पर भिन्न होने के कारण सामस्वरों के सम्यक् निर्णय के लिए कथमपि सहायक सिद्ध नहीं होती। प्रतीत यही होता है कि अलबेरुनी के पश्चात् ही लेखकों तथा गायकों के द्वारा सामगान के स्वरों तथा प्रणालियों को स्थायित्व देने के लिए स्वरों का अंकन व्यक्तिगत सुविधा के अनुसार किया गया है, किसी प्राचीन एवं परिनिष्ठित परम्परा के अनुसार नहीं।

सामगान की प्रचलित परम्पराएँ :—

जैसा हमने ऊपर निर्दिष्ट किया है, सामवेद की सहस्रों शाखाओं में से केवल तीन ही शाखाएँ अधुना अवशिष्ट हैं तथा इन्हीं की गान-परम्परा अल्पाधिक मात्रा में भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित है। यह शाखाएँ निम्नानुसार हैं— जैमिनीय, कौथुमि तथा राणायनीय। प्राचीन सामगान के सम्यक् ज्ञानार्थ इनमें गाए जाने वाले सामों का स्वरमय रूप महत्वपूर्ण है, जिसके आधार पर प्राचीन साम की स्वर-प्रणालि को प्रत्यक्ष रूप से हृदयंगम किया जा सके।

इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि यद्यपि इन गानों का संकलन संहिता तथा गान-ग्रन्थों में उपलब्ध है तथापि इनका यथार्थ स्वरमय रूप गुरु-परम्परा से ही प्रचलित रहा है। जहां केवल तीन स्वर वाली संहिताओं के अध्ययन के लिए गुरुमुख की आवश्यकता अनुभव की गई, वहां न्यूनात् न्यून सप्त स्वरों से निर्मित सहस्रों शाखाओं का यथावत् प्रचलन गुरुपरम्परा के अतिरिक्त अन्य माध्यम से कैसे सम्भाव्य है? प्रत्यक्ष सामवेद की नारदीय शिक्षा केअनुसार स्वरों के क्रियात्मक ज्ञान के लिए आचार्य के श्रीमुख से ज्ञान प्राप्त करना श्रेयस्कर है[1]। इस दृष्टि से भारत के विभिन्न प्रदेशों में उपलब्ध सामगान से प्राचीन स्वरों के ज्ञान की अपेक्षा की जा सकती है। प्रत्यक्ष सामों को सुनने पर अपेक्षा के

१. २, ७, १०

विपरीत वस्तुस्थिति के दर्शन होते हैं। विचारणीय तथ्य यह है कि सामवेद के तीनों प्रचलित शाखाओं तथा गान-ग्रन्थों में स्वर, वर्ण, पर्व तथा स्वरांकन की दृष्टि से सम्पूर्ण सामञ्जस्य है। जहां तक शास्त्रीय आधार का प्रश्न है, सभी शाखाओं के अनुसार नारदीय शिक्षा प्रामाणिक एवं आधारभूत ग्रन्थ है। यह सब होने पर भी विभिन्न शाखाओं के प्रत्यक्ष गान में पर्याप्त विभिन्नता पाई जाती है, जो कि प्राचीन सामस्वरों के समझने में समस्या ही नहीं, अपितु सन्देह उत्पन्न कर देती है। उदाहरण के रूप में 'ज्येष्ठ साम' नामक गान का प्रत्यक्ष स्वरूप कौथुम तथा राणायनीय दोनों शाखाओं के अनुसार निम्न प्रस्तुत किया जा रहा है—

ज्येष्ठसाम ॥ आज्यदोहम् ॥ कौथुम शाखा [डा० फेल्वर की ध्वनिमुद्रिका पर आधारित]

३१२ । ३१ १।३१ ।२३१ ।२ ३ ३२ ३। २ २३ २
॥ ऋचा ॥ मूर्द्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आजातमग्निम् ॥

३२ ३ २ ३१२। ३ १ २। ३ २ ३ १।२ ३ २
कविं सम्राजमतिथिञ्जनानामासन्नाः पात्र जनयन्त देवाः ॥

॥ सामन् ॥ हाउ, हाउ, हाउ ॥ आज्यदोहम् ॥ आज्यदोहम् ॥ आज्यदोहम्
सासा, सासा, सासा ॥ सागरेसासा। सागरेसासा । सागरेसासा

मूर्धानंदाइ । वा अ र तिं पृथिव्याः वैश्वानराम् ऋतया जातमग्नीम् ॥
सारेपपमंपं । गमंधमंप मं गरेसा सागपपमंप गधप गपमंगरेसा ।

कवि सम्राजामतिथिं जनानाम् आसन्नः पात्रा जनयन्त देवाः ॥
सारेपप पपगमंधपग पमरेसा सारेपप प गप धपमंग रेसासा ॥

हाउ, हाउ, हाऊ । आज्यदोहम् । आज्यदोहम् । आज्यदोहम् । उ । वा ॥ ए ॥
सासा, रेसा, रेसा । सापगरेसा । सापगरेसा । सापपपमंमंपम प ग

आज्यदोहम् ए आज्यदोहम् ए आज्यदोहा इ हम् ॥
मंधपमंग प पधपमंप मं पपपगमंमपधपमंगरे सासा ।

[द्र० 'म्यूजिक आफ हिन्दुस्तान', पृ० २७२–७३ फाक्स स्ट्रैंगवेज]

अब यही साम राणायनीय शाखा के अनुसार निम्न प्रस्तुत है—

२ १ २ र २ र २ र २र३ ४र ५ २र३ ४ र ५
॥सामन्॥ ओऽ३ म् ॥ हा उ, हा उ, हा उ ॥ आज्यदोहम् ॥ आज्यदोहम् ॥
साऽनि रे ॥ सा सा सासा सा सा ॥ सानिधप ॥ सानिधप

२र३ ४र ५ २र१र २ १ २ ३६र ५ २र१३

आज्यदोहम् ॥ मूर्द्धानन्दाइ ॥ वाऽ३ अर ॥ तिं पृथिव्याः ॥ वैश्वानराम् ॥

सानिधप ॥ सारेरेरेरे ॥ साऽनि रेरे । सानिधप ॥ सारेरेरेरे ॥

२ १ र २र३४५ २१ २ १ २ र १४ ५ २२१

ऋतओ जातमग्नीम् ॥ कविंसम्रा ॥ जाऽ३ मतिथि जनानाम् ॥ आसन्नः पा ॥

सारेरे ॥ सानिधप ॥ सारेरे रेरे ॥ साऽनि रेरेसा निधप । सारेरे रे

२ १ २ ३ ४५

त्रोऽ३ व्जन ॥ यन्त देवीः ॥

साऽनिधप । सानि धप ।

हा उ, हा उ, हा उ ॥ आज्यदोहम् ॥ आज्यदो ५ हाउ ॥ वा ॥

सासा सासा सासा ॥ सानिधप । सानिध प पप । प ।

सा । आज्यदोहम् ॥ ए ॥ आज्यदोहम् ॥ ए ॥ आज्यदोहा २ ३ ४ ५ म् ॥

सा । सासारेसा । सा । सासरेसा । सा । सासारेनि सानिध प ।

ओ ३ म् ॥

सा नि रे ।

[द्र० लक्ष्मणशास्त्री द्रविड कृत 'ध्वनिमुद्रित साम', रेकार्ड नं० ३—जिसमें कोमल गान्धार का प्रयोग निर्दिष्ट है ।

खण्ड ३

उपनिषद् तथा शिक्षाग्रन्थों में संगीत

उपनिषदों में संगीत

उपनिषद् भारतीय चिन्तन-धारा का प्रमुख स्रोत है। भारतीय तत्वज्ञान तथा धर्मसिद्धान्तों की सरित् इसी स्रोत से प्रवहित हो उठी है। वैदिक काल में कर्मकाण्ड के साथ ही ज्ञानकाण्ड का उन्मेष हुआ जिसका प्रतिफलन 'उपनिषद्' नामक रहस्य-ग्रन्थों में लक्षित होता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, उपनिषदों की रचना ब्राह्मण-ग्रन्थों के परिशिष्ट के रूप में हुई है। अतएव वैदिक युग के चरम कालखण्ड के संगीत को जानने के लिए इनका अनुशीलन भी आवश्यक है।

मुण्डकोपनिषद् में विद्याओं का द्विविध विभाजन किया गया है—१ परा तथा २ अपरा (१, १, ४)। परा वह है जिससे अक्षर तथा अव्यक्त परमात्मा की उपलब्धि होती है। अपरा में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्व के साथ शिक्षादि समस्त वेदांगों का अन्तर्भाव किया गया है—"तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो—ज्योतिषमिति" (१, १, ५)। शिक्षा के षडंगों का विवरण सर्वप्रथम तैत्तिरीय उपनिषद् में पाया जाता है (अनु० २)। यह तभी सम्भाव्य हो सकता है, जब कि सामवेद आदि सभी वेदों के लिये शिक्षा-साहित्य की रचना सम्पन्न हुई हो।

सामगान की प्रचुर प्रशंसा उपनिषदों में पाई जाती है। बृहदारण्यक के अनुसार ऋग्वेद परमपुरुष के वाग्रूप है, यजु मनोरूप तथा सामवेद प्राणरूप है (१, ५, ५)। छान्दोग्य के अनुसार अग्नि से ऋक्, वायु से यजु तथा आदित्य से साम का निर्माण हुआ है (४, १७, २, महोपनि० अ० १)। सामवेद का उद्भव अन्य सभी वाङ्मय के सदृश परमेश्वर के निःश्वास से माना गया है[1]। परम पुरुष का शिर यजु, दक्षिण पक्ष ऋक् तथा उत्तर पक्ष 'साम' कहा गया है[2]। सामवेद से सम्बद्ध मन्त्रब्राह्मणोपनिषत् के अनुसार गीत, वीणा, पणव, लासित सभी उसी के अंगभूत हैं—

---

१. द्र० बृहदारण्यक में—'अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो (२, ४, १०)। तुलनार्थ द्र० सुबालोपनि० खण्ड २, तथा-प्रश्नो० २, ६, मण्डूक, २, १, ६ तथा शतपथ० १४, ५-४-१०।

२. तैत्ति० अनु० ३।

"हसितं रुदितं गीतम्। वीणा पणवलासिलम्।——।अंगानि स्नेव विद्धि तत्"[1]।

छान्दोग्य के अनुसार साम का सम्बन्ध 'स्वः' नामक व्याहृति से है तथा सामविषयक दोष यज्ञ में होने पर 'स्वः स्वाहा' इस मन्त्र से आहवनीय अग्नि में हवन किया जाना चाहिए—"यदि सामतो रिष्येत् स्वः स्वाहेत्याहवनीये जुहुयात्"[2]। तैतिरीयोपनिषद् के अनुसार साम का सम्बन्ध तीन व्याहृतियों में से 'भुवः' से है[3]।

प्राचीन वैदिक परम्परा के अनुसार उपनिषदों के अन्तर्गत ऋक् तथा साम का मंजुल सामंजस्य श्रेयस्कर माना गया है[4]। ऋक् गीत का बहिरंग है और साम उसी का अन्तरंग है—'वागेवर्क् प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथस्तद्वा एतन्मिथुनं यद्वार्क् चप्राणश्चर्क् च साम च"[5]। छांदोग्य के अनुसार साम का आधार 'स्वर' है तथा स्वर का आधार है 'प्राण'—'का साम्नो गतिरिति स्वर इति होवाच स्वस्य का गतिरिति प्राण इति होवाच'[6]। यज्ञ की सफलता के लिए स्वरसंपन्न गान परमावश्यक है। इस सम्बन्ध में बृहदारण्यक का निम्न वचन मननार्ह है—

"तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद भवति हास्य स्वं तस्य वै स्वर एव स्वं तस्मादार्त्विज्यं करिष्यन्वाचि स्वरमिच्छेत तया वाचा स्वरसंपन्नयार्त्विज्यं कुर्यात्तस्माद्यज्ञे स्वरवंतं दिदृक्षन्त एवाथो यस्य स्वं भवति भवष्टत हास्य स्वं य एवमेतत्साम्नः स्वं वेद"[7]॥

स्वर का महत्व सामगान में स्वर्ण के तुल्य बताया गया है—

"तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद भवति हास्य सुवर्णं तस्य वै स्वर एव सुवर्णं भवति हास्य सुवर्णं य एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेद"[8]॥

वाणी पर अधिकार सामगान के लिए प्रतिष्ठावर्धक माना गया है—

---

१. द्र० धर्मकोश, पृ० २९४।
२. ४।१७।६
३. ५।२
४. बृह० ३, २२
५. छान्दो० ३।१।५
६. ८, ४
७. ३, २५
८. ३, २६

"तस्यं हैतस्य साम्नो यः प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठति तस्य वै वागेव प्रतिष्ठा वाचि हि खल्वेष एतत्प्राणः प्रतिष्ठितो गीयतेन्त इत्यु हैक आहुः"[१] ॥

छान्दोग्य के अनुसार ऋचाओं का सार 'साम' में निहित है, 'साम' का सार 'उद्गीथ' अथवा 'ओम्' ध्वनि में है[२]। इसी ध्वनि के सम्यक् गान से उत्पन्न होने वाला रसानन्द अन्य सभी रसों से श्रेष्ठ बतलाया गया है—

"पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः।
स एष रसानां रसतमः परमः पराध्योऽष्टमो य उद्गीथः ॥"[३]

गीत, वाद्य तथा नृत्त से प्राप्त आनन्द को अलौकिक माना गया है। कठोपनिषत् में यमराज नचिकेता को संगीत के दिव्यानन्द का प्रलोभन देते हुए कहते हैं—

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामान्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ॥
× × ×
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्तगीते ॥[४]

बृहदारण्यक के अनुसार शतशः सम्मिलित पितृलोक के आनन्द से एक गन्धर्वलोक का आनन्द श्रेयस्कर है, जो समस्त भोगों से सम्पन्न तथा समृद्ध एकाधिपति नरेश को उपलब्ध नहीं हो सकता। उपनिषद् के शब्दों में—

"ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितृणां जितलोकानामानन्दोथय शतं पितृणां जितलोकानामानन्दः स एको गन्धर्वलोक आनन्दो"[५]।

संगीत से निष्पन्न होने वाला रस विशुद्ध आनन्दमय तथा ब्रह्मानन्दसहोदर बतलाया गया है—

"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" ॥[६]

ब्रह्मानन्द की सर्वश्रेष्ठता बतलाते हुए संगीत के आनन्द को उसी के सोपान के रूप में माना गया है—

"ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्यगंधर्वाणामानन्दः।
ते ये शतं मनुष्यगंधर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः" ॥[७]

---

१. ३, २७
२. तुलनार्थ द्र० बृहदारण्यक, ३, २३
३. ३, १, २
४. १, १, २५–२६
५. ४, ३, ३३
६. तैत्ति० अनु० ७
७. वहीं, अ० ८

इससे स्पष्ट है कि उपनिषत् काल में संगीतकला में निपुण वर्ग को स्वर्गीय आनन्द का उपभोक्ता माना जाता था। सत्यसंकल्प व्यक्ति के लिए 'गीतवादित्र लोक' की उपलब्धि सहज बताई गई है—

"अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतस्तेन गीतवादित्रलोकेन सम्पन्नो महीयते" ॥ ८, २, ८ ॥

नृसिंहपूर्वतापिनी उपनिषद् के अनुसार साम को सांग रूप से जानने वाला पुरुष अमृतत्व को प्राप्त करता है—'तस्मादिदं सांगं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति" (१, ३)।

समस्त उपनिषद् वाङ्मय में 'गान्धर्व' का उल्लेख सीतोपनिषत् के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता। इस के अनुसार यह सामवेद का उपवेद माना गया है। गान्धर्व के प्रणेता के रूप में नारद का उल्लेख प्राचीन उपनिषदों में कथमपि नहीं पाया जाता[1]। छान्दोग्य में नारद का उल्लेख मन्त्रविद् के रूप में है, संगीतज्ञ के रूप में नहीं, यह तथ्य ध्यान देने योग्य है। सनत्कुमार के पास आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए नारद पहुँचते हैं तथा समस्त अधीत विषयों की तालिका प्रस्तुत करते हैं, जिसमें वेदों के साथ इतिहास, पुराण, देवविद्या, क्षत्रविद्या, देवजनविद्या भी अन्तर्भूत है। इस तालिका में गान्धर्व अथवा संगीत का अभाव नितान्त ध्यान देने योग्य है[2]।

सामवेद से सम्बद्ध छान्दोग्य में साम की विशुद्ध उपासना का विस्तृत विवरण पाया जाता है। सामगायन करते समय किन दोषों की स्थिति सम्भाव्य है, इसके स्पष्टीकरण के लिए निम्न उपाख्यान इस उपनिषद् में प्रस्तुत है।

किसी समय प्रजापति के पुत्र देव तथा असुर आधिपत्य के लिए परस्पर कलह करने लगे। देवताओं ने विचार किया कि गान-नैपुण्य से असुरों को अभिभूत किया जाय। स्वरोच्चारण करमें में उन्होंने नासिका, वाणी, चक्षु, श्रोत्र तथा मन का ही प्रयोग किया तथापि स्वरगायन की सम्यक् प्रणाली को आत्मसात् न करने के कारण असुरों को पराजित न कर सके। जब उसी गान में 'प्राण' अर्थात् दीर्घ निःश्वासयुक्त ध्वनि का उच्चारण उन्होंने किया तभी प्रतियोगिता में असुरों का पराजय हुआ[3]।

---

१. परवर्ती उपनिषद् 'नारदपरिव्राजक' में नारद का स, रि, ग, म इत्यादि सप्त स्वरों से गान करने वाले संगीतज्ञ के रूप में उल्लेख है (उपदेश, १)।

२. 'देवजनविद्या' के अन्तर्गत श्री शंकराचार्य गीत, वाद्य, नृत्त तथा गन्धविद्या का अन्तर्भाव करते हैं, परन्तु इस कथन का आधार प्राचीन ग्रन्थों में कहीं उपलब्ध नहीं होता।

३. छान्दो० ३, २, २–६

अंगिरा, बृहस्पति तथा आयास्य के द्वारा इसी प्रकार 'स्वर-साधन' किये जाने का उल्लेख है। दाल्भ्यपुत्र बक ने इसी रहस्य को हृदयंगम कर नैमिषियों के यज्ञ में उद्गाता का कार्य कुशलता से सम्पन्न किया था, ऐसा उल्लेख छान्दोग्य में है[1]।

स्वर-साधना में प्राणतत्व की महती आवश्यकता है। स्वर पुष्ट तथा ओजपूर्ण होने के लिए प्राणायाम परम साधन है। संगीत के अन्तर्गत स्वरों तथा स्वरावलियों को एक ही दीर्घ श्वास में गाने की आवश्यकता होती है और यह तभी सम्भव है जब गायक का श्वासोच्छ्वास की विद्या पर पूर्ण नियमन हो। मनुष्य की श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया सदैव प्रवर्तित रहती है। पुरुष जिस वायु को बाहर निकालता है, वह 'प्राण' है तथा जिसको वह अभ्यन्तर में लेता है, वह 'अपान' है। प्राण और अपान की मध्यन्तर स्थिति 'व्यान' के नाम से अभिहित है। वाणी का व्यवहार इसी व्यान वायु के द्वारा होता है। अतएव सामगान के लिए इस वायु का नियमन नितान्त आवश्यक माना गया है—

"यर्क् तत्साम तस्मादप्राणन्नपानन्साम गायति यत्साम स उद्गीथस्तस्माद-प्राणन्नपानन्नुद्गायति"। (छां० ४)

"स्येतस्य हेताव्यानमेवोद्गीथमुपासीत"। (वही०, ५)

छान्दोग्य के अनुसार साम को गाते समय उसका प्रबन्ध, छन्द, ऋषि तथा देवताओं का चिन्तन परम आवश्यक है[2]। इसी उपनिषद् के अनुसार सामगान परम कल्याण का साधक है। साम के वास्तविक गौरव को न जानते हुए जो केवल धनसंचय के लिए वीणावादन तथा गान करते हैं, वे केवल ऐहिक उपभोगों को प्राप्त कर सकते हैं। इसी के विपरीत जो मनीषी साम के निगूढ़ तत्व को जानकर उसकी आराधना करता है, वह ऐहिक तथा आमुष्मिक दोनों सिद्धियों को प्राप्त करता है[3]।

छान्दोग्य के प्रथम अध्याय में साम के स्तोभाक्षरों का विवेचन उपलब्ध है। इनका प्रयोग सामगान में आलाव लेने के लिए किया जाता रहा है। यह स्तोभ इस प्रकार है—हाउकार, हाइकार, अथकार, इहकार, ईकार, ऊकार, एकार, औहाइकार, हिंकार, स्वर, या, वाक् तथा हुंकार। सामगान का रहस्य इन्हीं क्षालापों के सम्यक् ज्ञान में निहित बतलाया गया है—"य एतामेवं साम्नामुप-

---

१. ३, २, १०—१३

२. १, १०, ९-११

३. छान्दो० ७; तुलनार्थ द्र० बृहदारण्यक ब्राह्मण, ३, २८।

निषदं वेदोपनिषदं वेद"[१]। छान्दोग्य के रचयिता ऋषि ने जगत् के सभी व्यापारों तथा व्यवहारों से संगीत का सामंजस्य स्थापित किया है[२]। उदाहरण के लिए पर्जन्य की विभिन्न अवस्थाओं का सामंजस्य क्रमेण साम के हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार तथा निधन से किया गया है—

"वृष्टौ पंचविधं सामोपासीत पुरोवातो हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः। उद्गृह्णाति तन्निधनं"[३]।

नित्य प्रति पाये जाने वाले ऋतुपरिवर्तन में सामगायक को क्रम से साम के पांच विभागों का आभास होता है—

"ऋतुषु पंचविधं सामोपासीत वसंतो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनम्"[४]।

अर्थात् वसंत हिंकार के तुल्य है, ग्रीष्म प्रस्ताव के, वर्षा उद्गीथ के, शरद् प्रतिहार के तथा अन्तिम ऋतु हेमन्त निधन के समान है।

साम के 'सप्तभक्तिक' प्रकार का परिचय छान्दोग्य में पाया जाता है। इसमें प्रस्ताव के अनन्तर 'आदि' नामक विभाग तथा प्रतिहार एवं निधन के मध्य में 'उपद्रव' नामक विभाग बतलाया गया है। इन विभागों के लघु नाम, जो कि आद्याक्षरों से बनाए गये हैं, इस प्रकार हैं—हुँ, प्र, आ, उत्, पति, उप, तथा नि[५]।

छान्दोग्य के अनुसार निम्न सामों का गान विशिष्ट कामना की पूर्ति करने वाला है—गायत्र, रथन्तर, वामदेव्य, बृहत्, वैरूप, वैराज, शक्वरी, रेवती, यज्ञायज्ञीय, राजन[६]।

इनके अतिरिक्त देवताविषयक विशिष्ट सामों में वासव, रौद्र तथा वैश्वदेव सामों का उल्लेख पाया जाता है, जिनका गायन क्रमशः प्रातःसवन में, माध्याह्न सवन में तथा सायंसवन में विहित है[७]।

इसी उपनिषद् में उद्गीथ गान के विभिन्न गुणों का निर्देश पाया जाता

१ १, १३, ४
२. २, २१, २
३. २, २, ६, २–९
४. २, ५, १
५. २, ८, १–२
६. ३, ११–२०
७. २, २४, ३, ७–११; १–१६

है (२, २२ १)। विभिन्न कंठगत वैशिष्ट्य से गाया जाने वाला साम विशिष्ट देवता के लिये प्रसन्नता देनेवाला तथा विशिष्ट फल को देनेवाला बताया गया है—

"विनर्दिसाम्नो वृणे पशव्यमित्यग्नेरुद्गीथो निरुक्तः प्रजापतेर्निरुक्तः सोमस्य मृदु श्लक्ष्णं वायोः श्लक्ष्णं बलवदिन्द्रस्य क्रौञ्चं बृहस्पतेरपध्वान्तं वरुणस्य तान्सर्वानेवोपसेवेत वारुणं त्वेव वर्जयेत्"।

अर्थात् अग्निदेवता का सामगान 'विनर्दि' गुण से युक्त है, प्रजापति के लिए गाया जाने वाला साम अनिरुक्त अर्थात् अव्यक्त स्वरवाला होता है, सोम देवता का गान व्यक्त स्वर वाला, वायव्य साम का गान मृदु स्वर वाला, इन्द्र का ओज तथा बल वाला होता है। बृहस्पति के लिए प्रयुक्त साम 'क्रौंचं' अर्थात् सारस पक्षी के स्वर से युक्त तथा वरुण देवता का 'अपध्वान्त' अर्थात् काक के समान बतलाया गया है। इसीलिए 'अपध्वान्त' का अवलम्ब सामगान में न किया जाना चाहिए, ऐसा उपनिषद् का आदेश है[१]।

छान्दोग्य में गाथा[२] तथा गेष्ण[३] शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। 'गेष्ण' से अभिप्राय गायक से है। छान्दोग्य में इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध है कि उस काल में संगीतविषयक चिन्तन होने लगा था तथा संगीत के उद्देश्य, गुणदोष आदि के सम्बन्ध में चर्चा विद्वज्जनों में हुआ करती थी। छान्दोग्य में इस सम्बन्ध में निम्न उपाख्यान पाया जाता है[४]।

शिलक, दाल्भ्य तथा प्रवाहण इन सामगों के बीच साम के यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में चर्चा हुई। इस बात पर सभी का एकमत्य रहा कि साम की गति स्वर है तथा स्वर का उद्भव 'प्राणतत्व' से है—

"का साम्नो गतिरिति स्वर इति होवाच स्वरस्य का गतिरिति प्राण इति होवाच"। (८, ४)

मतभेद इस सम्बन्ध में था कि साम का आधार लौकिक है अथवा पारलौकिक। शिलक के अनुसार सामगान लोकाश्रित है। प्रवाहण के अनुसार उसका चरम लक्ष्य पारलौकिक कल्याण है तथा उसी के अन्तर्गत आमुष्मिक अभ्युदय की प्राप्ति सम्भव है[५]।

---

१. तुलनार्थ द्र० जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण, १, ५१, ६ तथा तैत्तिरीय संहिता। ७, ५, ११–१।

२. ४, १७–९

३. १, ७, ५

४. १, ८–९

५. १, ८, ७; १, ९, १–२

उपर्युक्त उपाख्यान से स्पष्ट है कि यज्ञयाग के अवसर पर सामगों के मध्य में संगीतविषयक चर्चा हुआ करती थी (१, १०, ८)। यह चर्चा जिस स्थान पर होती थी, उसके लिए 'आस्ताव' संज्ञा थी। इस उद्गाता वर्ग में महिलाओं के होने की कल्पना तत्कालीन जीवनदर्शन से सहज की जा सकती है[1]।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उपनिषत् काल में सामगान का गौरवपूर्ण स्थान रहा है। इस समय तक सामगान आरम्भिक अवस्था से अत्यधिक प्रगत हो चुका था। साम के मूलभूत तत्व तथा गुणावगुण आदि के सम्बन्ध में सामग विद्वानों में चिन्तन आरम्भ हो चुका था तथा प्रसंगविशेष पर इनके सम्बन्ध में शास्त्रार्थ हुआ करता था। साम का गान न केवल यज्ञयागादि प्रसंगों पर किया जाता था अपितु दैनंदिन जीवन का अभिन्न अंग बन गया था। अन्त्येष्टि के समय पर सामगान का स्पष्ट उल्लेख तैत्तिरीय उपनिषद् में पाया जाता है—

"अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य।———। इमांल्लोकान्कामान्नीकामरूप्यनुसंचरन्॥।एतत्साम गायन्नास्ते॥ हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु[2]।

पश्चात्कालीन उपनिषदों में भी संगीत की महिमा का गान हुआ है[3]। वराहोपनिषत् के अनुसार 'नादानुसन्धान' योगी के लिए परम साधन है—

"नाद एवानुसंधेयो योगसाम्राज्यमिच्छता"। (२, ८३)

नाद परब्रह्म में विलीन होने का परम साधन होने के कारण मंत्रयोग तथा हठयोग से श्रेष्ठ माना गया है[4]। उपनिषत्कार के अनुसार चित्तानुसन्धान वह है जिसमें नानाविध विक्षेपों के होते हुये चित्त अपने अभीष्ट विषय पर केन्द्रित रहता है। जिस प्रकार नटी मौलि पर कलश धारण कर नृत्य करती है तथापि उसका ध्यान सदैव मौलिस्थ कलश पर केन्द्रित रहता है, उसी प्रकार योगी भी 'लययोग' में विलीन रहते हैं—

१. बृहदारण्यक की निम्न उक्ति में दुहिता के विदुषी बनने की महत्वाकांक्षा स्पष्टतः झलक उठी है—'दुहिता मे पण्डिता जायेत' (६, ४, १७)।

२. अनु० १०, ५

३. नारदपरिव्राजकोपनिषद् में यति के लिए 'नटादिप्रेक्षण' निषिद्ध माना गया है—"नटादिप्रेक्षणं द्यूतं—षणना पश्येत्कदाचन" (३, ६९)। नृत्त तथा गान उसके लिए वैसा ही वर्ज्य है जैसा स्त्रीसंग—"नृत्तं गानं सहासं च परिवादांश्च वर्जयेत्"। (६, ३२)

४. योगतत्त्वो० १९, २३; योगशिखो० ३, १–१२

"संगीततालल्यवाद्यवशं गतापि मौलिस्थकुम्भपरिरक्षणधीर्नटीव" ।[1]

शिक्षाग्रन्थों में संगीतशास्त्र का शिलान्यास

शिक्षा-ग्रन्थों का वेद के षडंगों में महत्वपूर्ण स्थान है। वेदवाङ्मय के सम्यक् अध्ययन तथा विशिष्ट वैदिक शाखा की प्राचीन परम्परा के सुरक्षार्थ जिस वेदांग साहित्य[2] का सृजन हुआ, उसमें शिक्षा तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थों का विशिष्ट स्थान है। शिक्षा-ग्रन्थों में जिन छः विषयों का निरूपण प्राप्त होता है, वे निम्नानुसार हैं—वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान। इन ग्रन्थों का सम्बन्ध मूलतः प्राचीन ध्वनिविज्ञान से है तथा इनमें वैदिक ध्वनियों का नाद तथा काल की दृष्टि से विवेचन उन उन वेदों की परम्परा के अनुसार पाया जाता है। शिक्षा-वाङ्मय में प्राचीनता[3] तथा प्रामाणिकता की दृष्टि से निम्न शिक्षाओं की गणना की जाती है, जो क्रमशः ऋग्वेद, यजु, साम तथा अथर्व से सम्बद्ध है—पाणिनीय, याज्ञवल्क्य, नारदी तथा माण्डूकी। इन वेदों से सम्बद्ध विभिन्न वैदिक शाखाओं के स्वरविषयक दृष्टिकोण को समझने के लिए इन्हीं के आधार पर प्राचीन संगीत-विषयक मान्यताओं को स्पष्ट करने का प्रयास यहां प्रस्तुत है।

सामवेद की नारदी शिक्षा में ऋक्, यजु तथा साम तीनों वेदों की विभिन्न शाखाओं के द्वारा प्रयुक्त स्वरों का विवरण प्राप्त है (१, १, १४)। शिक्षाकार के अनुसार स्वर[4] अपने स्थान से उच्च तथा नीच किए जाने पर अन्य स्वरों के उद्भव का कारण सिद्ध होता है—

उच्चनीचविशेषाद् हि स्वरान्यत्वं प्रवर्तते। (१, १, १,)

शिक्षाकार का कथन है कि स्वरशास्त्र के समीचीन अध्ययन के पश्चात् ही वेदों के आर्चिक, गाथिक तथा सामिक स्वरान्तरों का परिज्ञान सम्भाव्य है। विशिष्ट वेदों के स्वरविषयक अज्ञान से उसमें विस्वर होने की सम्भावना बरावर

---

१. अ० २, ८२

२. वेद के छः अंग इस प्रकार हैं—छन्द, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त, शिक्षा तथा व्याकरण। इन वेदांगों की तुलना वेद-शरीर के विभिन्न अंगों से की गई है (पा० शि० ४१-४२)।

३. डा० सिद्धेश्वर वर्मा के अनुसार प्राचीन एवं लुप्त शिक्षाओं का रचना-काल ई० पू० ८००-५०० है।

४. मननीय है कि साम की इस शिक्षा में वर्ण तथा स्वर से तात्पर्य वाङ्मयीन अ, इ, उ इत्यादि स्वरों से नहीं किया जा सकता। शिक्षाकार का तात्पर्य यहां स्पष्टतः उच्चनीचता से विशिष्ट गान-स्वरों से है। यदि ऐसा न होता तो साम के विभिन्न शिक्षाग्रन्थों की आवश्यकता न पड़ती।

बनी रहती है[१]। मन्त्र समीचीन स्वर तथा वर्ण से विहीन होने पर अनिष्ट का उत्पादक माना गया है—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्[२]॥

वर्णोच्चारण का संगीत तथा साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। वर्णोच्चारण के प्रमुख रूप से निम्न तीन स्थान माने गये हैं—उरस्, कण्ठ तथा शिरस्। इन्हीं तीनों से उद्भूत होने वाले स्वरस्थान 'सवन' कहलाते हैं[३]। उरस् से उद्भूत होने वाली ध्वनि के लिए 'मन्द्र' संज्ञा है, कण्ठ से उत्पन्न होने वाली ध्वनि के लिए 'मध्य' अथवा 'मध्यम' तथा शिरस् से उद्भूत होने वाली ध्वनि के लिए 'तार', 'उच्च' अथवा 'उत्तम' संज्ञा है[४]। प्राचीन वैदिक परम्परा के अनुसार यह तीन सवन क्रमशः प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन तथा सायंसवन कहलाते हैं।

(पा० शि० ७–८)।

नादोत्पत्ति के सम्बन्ध में दार्शनिक दृष्टिकोण पाणिनि से लेकर अन्य सभी परवर्ती दार्शनिकों तथा संगीतज्ञों में पाया जाता है। पाणिनि के अनुसार नादोत्पत्ति की प्रक्रिया[५] निम्नानुसार है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युंक्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम्॥ ६–७ ॥[४]

अर्थात् प्राण शरीर के विभिन्न भागों में संचरण कर मन्द्र, मध्य तथा तार इन स्थानों से विभिन्न स्वर-स्थानों का निर्माण करता है।

सामगान का प्रयोग विभिन्न वैदिक शाखाओं में बराबर किया जाता रहा है, यद्यपि गान का प्रकार तथा मात्रा के सम्बन्ध में अन्तर अवश्य बनता रहा। सामगान स्तवनात्मक होने के कारण समस्त वैदिक शाखाओं में उसका अनिवार्य

---

१. १, १, २–४।

२. १, १, ५; तुलनार्थ द्र० पा० शि० ५२।

३. ना० शि० १, १, ७; द्र० पा० शि० ३६–३७। पाणिनि तथा माण्डूकी शिक्षा के अनुसार वाङ्मयीन वर्णों के उच्चारणस्थान आठ हैं—उरस्, कण्ठ, शिरस्, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु (मा० शि० ६८)।

४. द्र० ऋ० प्रा० १३, ४२–४४, तै० प्रा० २२,११, ना० शा० १९, ४०–४५।

५. मतंग की बृहद्देशी में इसी सिद्धान्त का अनुसरण किया गया है।
(द्र० बृह० १९–२२)।

स्थान रहा हो, तो आश्चर्य की बात नहीं। इस तथ्य का स्पष्ट निरूपण नारदी शिक्षा में हुआ है[1] (१,१,९–१४)। यद्यपि साम संगीत में सप्त स्वरों का विकास पाया जाता है तथापि सभी शाखाओं में इन स्वरों का प्रयोग उपलब्ध नहीं। माण्डूकी शिक्षा के अनुसार छन्दोग व्यक्तियों के द्वारा केवल चार ही स्वरों का प्रयोग किया जाता रहा है। यदा कदा इन्हीं छन्दोगों के द्वारा शाखाभेद से केवल 'प्रथम' तथा 'अन्त्य' इन्हीं दो स्वरों का प्रयोग किया जाता था, ऐसी स्पष्ट साध्य इस शिक्षा में उपलब्ध है—

सप्तस्वरास्तु गीयन्ते सामभिः सामगैर्बुधैः।
चत्वार एव छन्दोभ्यस्त्रयस्तत्र विवर्जिताः॥ १,७॥
प्रथमावन्तिमौ चैव वर्तन्ते छन्दसि स्वराः।
त्रयो मध्या निवर्तन्ते मण्डूकस्य मतं यथा॥ २,३॥

नारदीय शिक्षा में स्वर, ग्राम, राग, तान आदि का विवेचन उपलब्ध है। उसके अनुसार स्वरमण्डल के अन्तर्गत सप्त स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्च्छनाएं तथा उनन्चास तानों का अन्तर्भाव है—

तानरागस्वरग्राममूर्च्छनानान्तु लक्षणम्।
पवित्रं पावनं पुण्यं नारदेन प्रकीर्तितम्॥ १,२,२॥
सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्च्छनास्त्वेकविंशतिः।
ताना एकोनपंचाशदित्येतत्स्वरमण्डलम्॥ १,२,४॥

शिक्षाकार के अनुसार मूर्च्छना, तान आदि का प्रयोग केवल मनरंजक ही नहीं, वरन् अभ्युदय तथा निःश्रेयस् का साधक है[2] (१,२,२)। शिक्षा में षड्ज, मध्यम तथा गान्धार नामक तीन ग्रामों का उल्लेख हुआ है। शिक्षाकार के मत से गान्धार ग्राम का प्रचलन अधुना उपलब्ध नहीं—

स्वर्गान्नान्यत्र गान्धारो नारदस्य मतं यथा[3]।

स्वर तथा रागके विशिष्ट संयोजन के लिए 'ग्रामराग' संज्ञा है (१,२,७)। इन ग्रामरागों में प्रयुक्त उनन्चास तानों का विभाजन निम्नानुसार हुआ है—

---

१. इस सम्बन्ध में सविस्तर विवेचन इसी प्रबन्ध में सामसंगीत का विवरण करते समय किया गया है।

२. दत्तिल ने नारदोक्त-अग्निष्टोम आदि तीनों को देवताराधना के लिए उपकारक माना है (३१, दत्तिल) तुलनार्थ द्र० संगीतरत्नाकर की कल्लिनाथ कृत व्याख्या।

३. १, २, ५–६

मध्यमग्राम २० तानें, षड्जग्राम १४ तानें तथा गान्धारग्राम १५ तानें (१,२,८)।

मूर्च्छनाओं की कुल संख्या २१ बताई गई है, जिनमें से सात का सम्बन्ध देवताओं से, सात का पितरों से तथा शेष सात का ऋषियों से स्थापित किया गया है। शिक्षाकार के अनुसार मध्यमग्रामीय मूर्च्छनाओं का प्रयोग यक्षों के द्वारा होता है, षड्ज ग्रामीय मूर्च्छनाओं का प्रयोग ऋषियों तथा लौकिक गायकों के द्वारा होता है तथा गान्धारग्रामीय मूर्च्छनाओं का प्रयोग गन्धर्वों के द्वारा होता है (वहीं १३–१४)। इन इक्कीस मूर्च्छनाओं के नाम निम्नानुसार हैं—

१ - देवमूर्च्छनाएं—१, नन्दी २, विशाला ३, सुमुखी ४, चित्रा ५, चित्रवती ६, सुखा ७, बला।

२—पितृमूर्च्छनाएं—१, आप्यायनी २, विश्वभृता ३, चन्द्रा ४, हैमा ५, कर्पादिनी ६, मैत्री ७, बार्हती।

३—ऋषिमूर्च्छनाएं—१, उत्तरमन्द्रा २, अभिरुद्गता ३, अश्वक्रान्ता ४, सौवीरा ५, हृष्यका ६, उत्तरायता ७, रजनी।

शिक्षाकार[1] के अनुसार गान्धर्व के षड्ज आदि सप्त स्वर देव, ऋषि, पितर आदि के लिए उपजीव्य है—

> षड्जः प्रीणाति वै देवानृषीन् प्रीणाति चर्षभः।
> पितॄन् प्रीणाति गान्धारो गन्धर्वान् मध्यमः स्वरः ॥ १,२,१५
> देवान् पितॄन् ऋषींश्चैव स्वरः प्रीणाति पञ्चमः।
> यक्षान्निषादः प्रीणाति भूतग्रामं च धैवतः ॥ १,२,१६ ॥

नारदी शिक्षा की तृतीय खण्डिका में गान के गुण एवं दोषों का महत्वपूर्ण विवेचन पाया जाता है, जो संगीतज्ञों के लिए सर्वदा उपयुक्त है। यह गुण दस बतलाये गये हैं—रक्त, पूर्ण, अलंकृत, प्रसन्न, व्यक्त, विक्रुष्ट, श्लक्ष्ण, सम, सुकुमार तथा मधुर (१,३,१)। 'रक्त' वह गुण है जिसमें वेणु तथा वीणा के स्वरों का गानस्वर के साथ सम्पूर्ण सामन्जस्य रहता है—"रक्तं नाम वेणु-वीणास्वराणामेकीभावो रक्तमित्युच्यते" (१, ३, २)[2]। 'पूर्ण' वह गुण है जिसमें स्वर तथा श्रुति के साथ छन्द, पाद तथा अक्षरों का सुस्पष्ट उच्चारण हो—

---

१. तुलनार्थ द्र० सामविधान ब्राह्मण १,३।

२. तुलनार्थ द्र० ना० शा० ३०,११,३२, ४५६, ३३, २६९।

अन्य शिक्षाग्रन्थों में 'रक्त' संज्ञा का प्रयोग ऐसे नकारान्त 'आकार' के लिए किया गया है जो स्वर से अनुसृत होता है (मा० शि० १०,७ ना० शि० २,४,५)।

"पूर्णन्नाम स्वरश्रुतिपूरणात् छन्दः पादाक्षरसंयोगात् पूर्णमित्युच्यते"।
(१,३,३)

'अलंकृत' गुण वह है जिसमें उरस्, शिरस् तथा कण्ठ तीनों स्थानों का समीचीन प्रयोग हो—

'अलंकृतन्नाम उरसि शिरसि कण्ठयुक्त मित्यलंकृतम्' (वहीं १,३,४)।

'प्रसन्न' गुण वह है जिसमें किसी प्रकार का कण्ठदोष न हो तथा जो निःशंकता से उपलक्षित हो—

'प्रसन्नन्नाम अपवगगद्गदं निर्विशंकं प्रसन्नमित्युच्यते' (वहीं १,३,५)।

'व्यक्त' नामक गुण में गीत के पदों का स्फुट तथा शुद्ध उच्चारण होता है। गीत के अर्थ को हृदयंगम करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि तद्गत स्वर, लिंग, विभक्ति इत्यादि अङ्गों का सुचारु उच्चारण हो—

'व्यक्तन्नाम पद-पदार्थ-प्रकृति-विकारागम-लोप-कृतद्धित-समास-धातु-निपातोपसर्ग-स्वर-लिंग-वृत्ति-वार्तिक-विभक्त्यर्थवचनानां सम्यगुपपादने व्यक्तमित्युच्यते' (१,३,६)।

पंडित श्रोताओं की दृष्टि में यह गुण संगीत में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है—'पदच्छेदं तु पंडिताः' (१,३,१४)।[1] शिक्षाकार के अनुसार 'विकृष्ट' से तात्पर्य उच्च स्वर में गाए जाने वाले पदों से है—'विकृष्टन्नामोच्चैरुच्चारितं व्यक्तपदाक्षरमित्ति विकृष्टम्' (१,३,७)।[2] सामान्य जनसमाज की रुचि ऐसे ही संगीत के प्रति होती है—'विकृष्टमितरे जनाः'।[3] 'श्लक्ष्णगुण' वह है जिसमें ताल की लय आद्योपान्त समान होती है—

---

१. तुलनार्थ द्र० मा० शि० १६,१३, या० शि० २,३०–३१।

'व्यक्त' गुण संगीत के अन्तर्गत स्वर तथा शब्द दोनों के तुल्य महत्व का द्योतक है। इस से अभिप्राय यह है कि गान के समय गीत के शब्दों की तोड–मरोड तथा विकृत उच्चारण न हो। आधुनिक संगीत में गान की सुविधा के लिए अथवा अज्ञानवश शब्दों की शुद्धता तथा ह्रस्वदीर्घता का ध्यान प्रायः नहीं रखा जाता, जिससे अर्थ–हानि होने की सम्भावना बराबर बनी रहती है।

२. तुलनार्थ द्र० संगीतरत्नाकर में—

'उच्चैरुच्चारणादुक्तं विकृष्टं भरतादिभिः' (सं० र० ३७७)।

३. १, ३, १४; तुलनार्थ द्र० मा० शि० १६,१३, या० शि० २, ३०-३१।

इस सम्बन्ध में नारदी शिक्षा तथा नाट्यशास्त्र दोनों में निम्न श्लोक पाया जाता है, जो विभिन्न जनों की विभिन्न अभिरुचि को दर्शाने वाला है—

'श्लक्ष्णन्नामाद्रुतमविलम्बितमुच्चनीचप्लुतसमाहारं हेलतालोपनयादिभिरुपपादनाभिः श्लक्ष्णमित्युच्यते'[1]।

'सम' गुण से तात्पर्य मुख्यतः लय की समरसता से है—

'समन्नाम आवाप-निर्वाप-प्रदेश-प्रत्यन्तरस्थानानां समासस्समित्युच्यते' (१,३,९)।[2]

आचार्यों की दृष्टि में इस गुण का संगीत में सर्वाधिक महत्व है—'आचार्याः सममिच्छन्ति' (वहीं १,३,१४)। इस गुण का स्पष्टीकरण नारदी शिक्षा के निम्न श्लोक में हुआ है—

नात्याहन्न्यान्न निर्हन्यान्न प्रगायेन्न कम्पयेत्।
समं सामानि गायेत व्योम्नि श्येनगतिर्यथा॥ १,६,१५

अर्थात् साम-स्वरों को आद्योपान्त विहित स्वरूप से गाया जाना चहिए। स्वरों को अनावश्यक रूप से बढ़ाना, कम करना तथा कम्पित करना 'सम' गुण से असंगत है। 'सुकुमार' से तात्पर्य ऐसे गुण से है जिसमें स्वरों का उच्चारण आवश्यकतानुसार मृदु होता है—

'सुकुमारन्नाम मृदुपदवर्णस्वरकुहरणयुक्तं सुकुमारमित्युच्यते' (१,३,१०)।

'मधुर' नामक गुण में ललित पदों का सहज कण्ठ में गान किया जाता है—

'मधुरन्नाम स्वभावोपनीतललितपदाक्षरगुणसमृद्धम्मधुरमित्युच्यते' (१,३,११)।[3]

आचार्याः सममिच्छन्ति पदच्छेदं तु पंडिताः।
स्त्रियो मधुरमिच्छन्ति विकृष्टमितरे जनाः॥
(ना० शि० १,३,१४ ना० शा० ३३, पृ० ४५०)

१. १, ३, २; द्र० मृच्छकटिक अं० ३, श्लो० ५। शब्दकोशकार श्री० आपटे के अनुसार 'हेला' से अभिप्राय राग के आरोहावरोह के औचित्यपूर्ण प्रयोग से है—'हेला रागस्यारोहावरोहयोरनौचित्यं तत्र नियमितम्'। लेखक की विनम्र सम्मति है कि 'हेला' शब्द का प्रयोग संगीत की पारिभाषिक' संज्ञा के रूप में कहीं उपलब्ध नहीं तथा इसको 'सहजता' के अर्थ में ही लिया जाना उचित है।

२. तुलनार्थ द्र० ना० शा० ३१,३०, तथा दत्तिल, ११३–१२०।

३. तुलनार्थ द्र० कौटिल्य २, २८। नारदी शिक्षा में प्राचीन औदव्रजि आचार्य के नाम से कण्ठमाधुर्य के लिए विशिष्ट वनस्पतियों का सेवन निर्दिष्ट किया गया है (२,८, ४–५, तथा द्र० मा० शि० ४,१-२-३)।

पाणिनि शिक्षा में वेदपठन के लिए माधुर्य, पदच्छेदतथा लयकारी आदि

स्त्रियों के संगीत को इसी गुण से युक्त माना गया है—

'स्त्रियो मधुरमिच्छन्ति' (१,३,१४)।[1]

गीति-दोषों के अन्तर्गत शिक्षाकार ने निम्न चौदह दोषों का निर्देश किया है—शंकित, भीत, उद्घृष्ट, अव्यक्त, अनुनासिक, काकस्वर, शिरोगत, स्थान-वर्जित, विस्वर, विरस, विश्लिष्ट, विषमाहत, व्याकुल तथा तालहीन।[2]

नारदी शिक्षा की चौथी खण्डिका में षड्जादि स्वरों के वर्ण, जाति तथा सप्त शुद्ध ग्रामरागों का विवरण पाया जाता है, जो संगीत के इतिहास में विशेष महत्व रखता है। स्वर-वर्णों के सम्बन्ध में शिक्षाकार का निम्न कथन है—

पद्मपत्रप्रभः षड्ज ऋषभः शुकपिंजरः।
कनकाभस्तु गान्धारो मध्यमः कुन्दसप्रभः॥ १,४,१॥
पंचमस्तु भवेत्कृष्णः पीतकं धैवतं विदुः।
निषादः सर्ववर्णश्च इत्येतत्स्वरवर्णता॥ १,४,२॥

अर्थात् षड्ज का वर्ण पद्मपत्र के समान है, ऋषभ का शुक की भांति पिंजर, गान्धार का कनकवर्ण, मध्यम का कुन्द के समान श्वेत, पंचम का कृष्ण, धैवत का पीत तथा निषाद का विविधवर्णसम्मिश्र है।[3]

शिक्षाकार के अनुसार षड्ज, मध्यम तथा पंचम की जाति ब्राह्मण है, ऋषभ तथा धैवत की क्षत्रिय, गन्धार तथा निषाद की अर्ध-वैश्य तथा अर्ध-शूद्र है—

पंचमो मध्यमः षड्ज इत्येते ब्राह्मणः स्मृताः।
ऋषभो धैवतश्चापि इत्येतौ क्षत्रियावुभौ॥ १,४,३॥
गान्धारश्च निषादश्च वैश्यावर्धेन तत्समौ।
शूद्रत्वं विद्धि चार्द्धेन पतितत्वान्न संशयः॥ १,४,५॥

गुणों को आवश्यक माना गया है (द्र० पा० शि० ३३); तुलनार्थ द्र० ऊाट्या० श्रौ० ९, १०, १८।

१. तथा द्र० मा० शि० १६,१३
   या० शि० २, ३०-३१।

२. १, ३, १२, १३ तुलनार्थ द्र० पा० शि० ३४, ३५ तथा ना० शा० २७,३२-३३।

३. तुलनार्थ द्र० मा० शि० १,१३-१४ तथा मतंग पृ० १९,७७-७९।
स्वरों के वर्ण तथा गोत्र के सम्बन्ध में निम्न वचन पिंगल छन्दसूत्र में पाया जाता है 'सितसारंगपिशंग''' वर्णाः। अग्निवेश्य'''गोत्राणि। द्र० मा० शि० भूमिका पृ० १६।

ग्रामरागों के अन्तर्गत निम्न सात रागों का विवरण शिक्षा में पाया जाता है—षाडव, पंचम, मध्यमग्राम, षड्जग्राम, साधारित, कैशिकमध्यम तथा कैशिक। इन रागों का शिक्षाकार के द्वारा किया गया विवेचन निम्नानुसार है—

ऋषभोत्थितषड्जहतो धैवतसहितश्च पंचमो यत्र।
निपतति मध्यमरागे तं निषादं षाडवं विद्यात् ॥ १,४,५ ॥
यदि पंचमो विरमते गान्धारश्चान्तरो भवति।
ऋषभो निषादसहितस्तं पचममीदृशं विद्यात् ॥ १,४,६ ॥
गान्धारस्याधिपत्येन निषादस्य गतागतैः।
धैवतस्य च दौर्बल्यान्मध्यमग्राम उच्यते ॥ १,४,७ ॥
ईषत्स्पृष्टो निषादस्तु गान्धारश्चाधिको भवेत्।
धैवतः कम्पितो यत्र षड्जग्रामन्तु निर्दिशेत् ॥ १,४८ ॥
अन्तरस्वरसंयुक्ता काकलिर्यत्र दृश्यते।
तन्तु साधारितं विद्यात् पञ्चमस्थं तु कैशिकम् ॥ १,४,९ ॥
कैशिकं भावयित्वा तु स्वरैः सर्वैः समन्ततः।
यस्मात्तु मध्यमे न्यासः तस्मात्कैशिकमध्यमः ॥ १,४,१० ॥
काकलिर्दृश्यते यत्र प्राधान्यं पंचमस्य तु।
कश्यपः कैशिकं प्राह मध्यमग्रामसंभवम् ॥ १,४,११ ॥

शिक्षाकार के अनुसार 'षाडव' राग मध्यमग्रामोत्पन्न है। भाष्यकार शोभाकर के अनुसार यह राग षाडव जाति का ऐसा राग है जिसमें गान्धार स्वर वर्ज्य है—

'ऋषभादनन्तरं योऽसौ षड्जः तेन धैवतसहितः पंचमः प्रतिहतो यत्र गाने मध्यमरागे मध्यमग्रामे तत्सहितन्निषादं षाडवं विजानीयात्। गान्धाराभावे तु षाडवम्।'

मतंग इस राग को सम्पूर्ण मानने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार इसकी षाडव संज्ञा षट्स्वरों के प्रयोग के कारण नहीं, अपितु षट् मूलभूत रागों में प्रमुखतम होने के कारण है[1]।

भाष्यकार के अनुसार 'पंचम' नामक ग्रामराग में केवल पांच ही स्वरों का प्रयोग होता है—'स्वरपंचकेन गीयमानस्म मध्यमरागस्यादित्वेन लक्षणं क्रियते'। मतंग के अनुसार यह 'षड्जीवीच्यवती' जाति से उत्पन्न शुद्ध ग्रामराग है। कश्यप के मतानुसार यह मध्यमग्राम से उद्भूत होने वाला राग है।[2] 'मध्यम'

१. बृह० पृ० ८५
२. वहीं, पृ० ८७

नामक ग्रामराग के लिए गान्धार का प्राबल्य, निषाद का वारंवार प्रयोग तथा धैवत का दौर्बल्य आवश्यक उपादानों में से हैं। 'षड्ज' नामक राग के लिए निषाद का अल्प स्पर्श, गान्धार का प्राबल्य तथा धैवत का कम्पन प्रमुख लक्षणों में से हैं। 'साधारित' ग्रामराग में अन्तर ग तथा काकलि नि का प्रयोग बिहित है। मतंग के अनुसार यह षड्जग्राम से उत्पन्न होने वाला सम्पूर्ण एवं शुद्ध राग है, जिसमें ग तथा नि दोनों स्वरों का प्रयोग अल्प मात्रा में किया जाता रहा है।[1] 'कैशिकमध्यम' राग का वैशिष्ट्य मध्यम के न्यासस्वर होने में है। मतंग के अनुसार इस राग का सम्बन्ध षड्ज तथा मध्यम दोनों ग्रामों से है तथा मध्यम स्वर पर न्यास, निषाद तथा गान्धार का अल्पत्व एवं काकलि निषाद का प्रयोग इसके लक्षणों में से हैं।[2] नारदी शिक्षा के अनुसार 'कैशिक' राग का उद्भव मध्यमग्राम से हुआ है तथा कश्यप इसके उद्भावक हैं। इस राग में काकलि नि का प्रयोग तथा पंचम का प्राबल्य निर्दिष्ट है।[3]

नारदी शिक्षा में पाया जाने वाला यह ग्रामरागविषयक विवेचन न केवल गूढ़ अपि तु स्थूल एवं सन्दिग्ध दिखाई देता है। इन श्लोकों पर शोभाकर का भाष्य भी तद्गत गूढ़-ग्रन्थि को सुलझाने में सहायता नहीं प्रदान करता। उदाहरणार्थ, साधारित राग के वर्णन में 'पंचमस्थं तु कैशिकम्' पर शोभाकर का भाष्य केवल सन्दिग्ध ही नहीं, अपि तु भ्रान्तिपूर्ण दिखाई देता है। शोभाकर के शब्दों में—

'साधारितं सदृशश्रुतिकैशिकसंज्ञं गीतकं भवतीति' (१,४,९ पर)।

यह ध्यान में रखने योग्य है कि इस प्रसंग में 'कैशिक' शब्द का प्रयोग विशिष्ट स्वर के लिए प्रयुक्त है, गीत के अर्थ में नहीं। इस दृष्टि से शोभाकर के द्वारा किया गया यह अर्थ शिक्षाकार के अभिप्राय के अनुकूल नहीं दिखाई देता। 'कैशिक' तथा कैशिकमध्यम' के बीच जो सम्बन्ध उनके द्वारा निर्दिष्ट है अन्य स्रोतों से परिपुष्ट नहीं होता। शोभाकर के अनुसार 'कैशिकमध्यम' ग्रामराग की परिणति 'कैशिक' में तभी होती है जब उसमें काकलि अथवा चतुःश्रुतिक निषाद का प्रयोग तथा पंचम का प्राबल्य रहता है तथा इनके अतिरिक्त सभी स्वर समान रहते हैं—

'मध्यमग्रामादुत्पन्नस्य काकलिरेव चतुःश्रुतिको निषादो भवति। पंचमस्य

---

१. द्र० बृहद्देशी, पृ० ८६।

२. वहीं।

३. तुलनार्थ द्र० बृहद्देशी, पृ० ८७।

प्राधान्यं पुनः पुनरुच्चारणं शेषाणि स्वरान्तराणि सामान्येन वर्तन्ते तदा मध्यम-ग्रामसंभवं कैशिकं कश्यपऋषिराह'।[१]

शोभाकर के इस मत का समर्थन मतंग की बृहद्देशी से नहीं होता। मतंग के अनुसार काकलि नि का प्रयोग कैशिक तथा कैशिकमध्यम दोनों में समान रूप से उपलब्ध है। तथा अन्तर केवल न्यासस्वर का है, जैसे कैशिक में न्यासस्वर पंचम है तो कैशिकमध्यम में मध्यम न्यासस्वर है।

नारदी शिक्षा के अनुसार गान्धर्व गेय, वाद्य तथा उपवादन का सम्मिलित रूप है। शिक्षाकार के शब्दों में—

गेति गेयं विदुः प्राज्ञा धेति कारुपवादनम्।
वेति वाद्यस्य संज्ञेयं गन्धर्वस्य निरोचनम्॥ १,४,१२॥

नारदी, माण्डूकी तथा याज्ञवल्क्य शिक्षाओं में गान्धर्व के षड्जादि स्वरों का प्राणियों की ध्वनि के साथ सामन्जस्य स्थापित किया गया है। नारदी शिक्षा-कार के शब्दों में—

षाड्जं मयूरो वदति गावो रम्भन्ति चर्षभम्।
अजादिके तु गान्धारं क्रौन्चो वदति मध्यमम्॥ १,५,४॥
पुष्पसाधारणे काले पिको वक्ति च पंचमम्।
अश्वस्तु धैवतं वक्ति निषादं वक्ति कुन्जरः॥ १,५,५॥

अर्थात् मयूर की ध्वनि षड्ज है, गौ की ऋषभ, अजा की गान्धार, क्रौन्च की मध्यम, कोकिल की पंचम, अश्व की धैवत तथा हाथी की निषाद है[२]। मतंग की बृहद्देशी में इसी का भावानुवाद कोहल तथा महेश्वर के नाम से उपलब्ध है[३] (१२-१३)। स्वरोत्पत्ति तथा स्वरों के कुल आदि के सम्बन्ध में विवरण देते समय मतंग ने शैवागमों की परम्परा का संकेत निम्न शब्दों में किया है—

---

१. १,४. ११ पर व्याख्या

२. तुलनार्थ द्र० मा० शि० १,९-१०, या० शि० १,८।

३. 'औमापतम्' नामक मध्यकालीन संगीतविषयक ग्रन्थ में उपर्युक्त श्लोकों को शिवप्रोक्त बतलाया गया है (३,५१-५४)।

प्रतीत होता है कि नारदी, माण्डूकी आदि शिक्षाओं में पाए जाने वाले यह श्लोक किसी प्राचीन तथा परिनिष्ठित परम्परा से गृहीत किए गए हैं। मननीय है कि मतंग नारद के नाम से जिन श्लोकों का उद्धरण देते हैं, उनमें इन श्लोकों का समावेश नहीं। यदि यह परम्परा नारद के द्वारा प्रतिष्ठापित होती, तो मतंग जैसे परवर्ती संगीतज्ञ नारदमत का अवश्यमेव उल्लेख करते।

आगमस्थं स्वरोद्धारमिति तावत्प्रदर्शितम् ।
एवं स्वरान् विजानीयादुत्पन्नान् गीतसागरे ।
महादेवमुखोद्भूतान् देशीमार्गं च संस्थितान्[1] ॥

सप्त स्वरों की उत्पत्ति स्थान के सम्बन्ध में शिक्षाकार का मत निम्नानुसार है—'षड्ज' कण्ठ से उत्पन्न होता है, 'ऋषभ' शिर से, 'गान्धार' नासिका से, 'मध्यम' उर से, 'पंचम' उर, शिर तथा कण्ठ से, 'धैवत' ललाट से तथा 'निषाद' शरीर की सन्धियों से उत्पन्न होता है। 'षड्ज' संज्ञा की सार्थकता इसमें है कि वह नासा, कण्ठ, उर, तालु, जिह्वा तथा दन्त इन छः स्थानों से उद्भूत होता है। 'ऋषभ' की सार्थकता इसमें है कि वह ऋषभ अर्थात् बैल के समान नाद करने वाला है। 'गान्धार' नासिका के लिए गन्धावह होने के कारण अन्वर्थक बताया गया है। 'मध्यम' की अन्वर्थकता इसमें है कि वह उरस् जैसे मध्यवर्ती स्थान में आहत होता है। 'पंचम' संज्ञा इस लिए सार्थक है कि इसका उच्चारण नाभि, उर, हृदय, कण्ठ तथा शिर इन पांच स्थानों में सम्मिलित रूप से होता है। इसी शिक्षा में अन्यत्र बतलाया गया है कि धैवत एवं निषाद को छोड़ कर शेष सभी स्वर पंच स्थानों से उत्पन्न होने वाले हैं।[2]

सप्त स्वरों में से किस देवता से किस स्वर का सम्बन्ध है, इस विषय में शिक्षाकार का निम्न वक्तव्य है—

अग्निगीतः स्वरः षड्ज ऋषभो ब्रह्मणोच्यते ।
सोमेनै गीतो गान्धारो विष्णुना मध्यमः स्वरः ॥ १,५,१४ ॥
पंचमस्तु स्वरो गीतो नारदेन महात्मना ।
धैवतश्च निषादश्च गीतो तुम्बुरुणा स्वरौ ॥ १,५,१५ ॥

इस स्थान पर पंचम तथा धैवत के सम्बन्ध में प्राप्त होने वाला नारद तथा तुम्बरु का नाम-निर्देश मननार्ह है। शिक्षाकार के द्वारा इन संगीतज्ञों का गौरवपूर्ण उल्लेख यह द्योतित करता है कि शिक्षा के रचनाकाल पर नारद तथा तुम्बरु इन दोनों की गणना दिव्य विभूतियों में की जाने लगी थी। इससे पूर्व भी तान, राग, स्वर, ग्राम आदि के विवेचन में गन्धर्व नारद की परम्परा का उल्लेख निम्न शब्दों में किया गया है—

---

१. १९, ७४; २०, ८८

२. १, ५, ६-१२; शिक्षाकार का यह कथन पूर्व में किए गए प्रतिपादन से सर्वथा असंगत दिखाई देता है। पंचम को छोड़ कर अन्य स्वरों में पांच से कम स्थानों का प्रयोग होता है, इस सम्बन्ध में निःसन्दिग्ध प्रतिपादन इन्हीं श्लोकों में किया गया है।

पवित्रं पावनं पुण्यं नारदेन प्रकीर्तितम्[1] ।

गान्धारग्राम के सम्बन्ध में नारद का अभिमत निम्न शब्दों में उल्लिखित है—

स्वर्गान्नान्यत्र गान्धारो नारदस्य मतं यथा ॥ १,२,५ ॥

साम स्वरों की उच्चारण विधि के सम्बन्ध में नारद, तुम्बुरु, वसिष्ठ तथा विश्वावसु जैसे गन्धर्वों का नामनिर्देश शिक्षा के निम्न श्लोक में उपलब्ध है—

तुम्बुरुनारदवसिष्ठविश्वावस्वादयश्च गन्धर्वाः ।
सामसु निभृतं करणं स्वरसौक्ष्म्यात्तेऽपि हि न कुर्युः ॥ २,७,१२ ॥

शिक्षाकार का अभिप्राय स्पष्ट है कि साम-स्वरों का सम्यक् गायन नारद, तुम्बरु जैसे श्रेष्ठ गन्धर्वों से सम्भाव्य नहीं ।

शिक्षा में उपलब्ध उपर्युक्त विवेचन से यह प्रबल अनुमान किया जा सकता है कि शिक्षाकार की दृष्टि में शिक्षाशास्त्रज्ञ नारद तथा गन्धर्व नारद परस्परभिन्न व्यक्ति रहे हैं[2] ।

सप्त स्वरों की अधिष्ठात्री देवताओं के सम्बन्ध में निम्न मतान्तर इसी शिक्षा में पाया जाता है—

आद्यस्य दैवतं ब्रह्मा षड्जस्याप्युच्यते बुधैः ।
तीक्ष्णदीप्तप्रकाशत्वादृशामस्य हुताशनः ॥ १,५,१६ ॥
गावः प्रगीते तुष्यन्ति गान्धारस्तेन हेतुना ।
श्रुत्वा चैवोपतिष्ठन्ति सौरभेया न संशयः ॥ १,५,१७ ॥
सोमस्तु पंचमस्यापि दैवतं ब्रह्मराट् स्मृतम् ।
निर्ह्रासो यस्य वृद्धिश्च ग्राममासाद्य सोमवत् ॥ १,५,१८ ॥

अर्थात् षड्ज की अधिष्ठात्री देवता ब्रह्मा, ऋषभ की अग्नि, गान्धार की गौ तथा पंचम की सोम अर्थात् चन्द्रमा है ।

नारदी शिक्षा के अनुसार "धैवत" की सार्थकता अन्य सभी स्वरों का 'अतिसन्धान' करने में है तथा 'निषाद' की सार्थकता इसी में है कि अन्य सभी स्वर इस में विलीन हो जाते हैं[3] ।

---

१. १, २, २

२. इस सम्बन्ध में सविस्तर विवेचन इसी प्रबन्ध में अन्यत्र किया जाने वाला है ।

३. मननीय है कि स्वरों तथा देवताओं का सम्बन्ध दिखलाने वाले उपर्युक्त श्लोकों में 'मध्यम' का नामोल्लेख तक नहीं । 'धैवत' के देवत का निर्देश करने के स्थान पर इसकी केवल व्युत्पत्ति यहां उपलब्ध है । इसी प्रकार अन्यत्र भी

नारदी शिक्षा की छठी खण्डिका में सामगान में प्रयुक्त गात्रवीणा, श्रुति तथा वृत्ति का सविस्तर विवरण उपलब्ध है। गान के अन्तर्गत दो प्रकार की वीणाओं का प्रयोग बतलाया गया है—१, दारवी अर्थात् काष्ठमय वीणा तथा २, गात्रवीणा। शिक्षा के अनुसार साम का गायन हस्तांगुलिरूप गात्रवीणा के सहारे किया जाता है (१,६, १-२)। गात्रवीणा के प्रयोग से पूर्व यह आवश्यक बतलाया गया है कि सामगायक सम्यक् रूप से आसनस्थ हो (१,६,३)। अंगुलियों पर स्वरप्रदर्शन की प्रणालि यह है कि दक्षिण अंगुष्ठ से दक्षिण हस्तांगुलियों के मध्यम पर्व पर स्पर्श किया जाय[१]। पाणिनीय, मण्डूकी तथा याज्ञवल्क्य आदि शिक्षा-ग्रन्थों का इस सम्बन्ध में ऐकमत्य है कि स्वरोच्चारण तथा स्वर-प्रदर्शन एक साथ किया जाय[२]। ऋक्, यजु तथा साम का 'हस्तहीन' पठन सर्वथा सदोष माना गया है[३]।

साम-स्वरों के सूक्ष्म अन्तराल के सम्बन्ध में शिक्षाकार का निम्न कथन है—

यवान्तरं तु सामस्वृत्तु कुर्यात्तिलान्तरम्।
स्वरान्मध्यमपर्वसु सुनिविष्टान्निवेशयेत् ॥ १,६,९ ॥

शिक्षाग्रन्थों के अनुसार स्वरों के सूक्ष्म अन्तराल का गायन मृदु एवं मसृण होना आवश्यक है। सामगान में यह नितान्त महत्वपूर्ण है कि एक स्वर से दूसरे स्वर तक जाने में परस्परविच्छिन्नता न हो[४]।

नारदी शिक्षा का श्रुतिप्रकरण :—

जैसा हम यथास्थान निवेदित कर चुके हैं, स्वरों की स्थिति नानाविध सूक्ष्म भेद एवं प्रभेदों का कारण बनती है। यह भेद यदा कदा उच्च-नीचता पर अवलम्बित होते हैं, तो यदा कदा स्वरों के लघुत्व-पृथुत्व पर निर्भर होते हैं। स्वरों के इन्हीं सूक्ष्म प्रभेदों के लिए 'श्रुति' परिभाषिक संज्ञा है। स्वरों में श्रुति उसी प्रकार प्रच्छन्न है, जिस प्रकार दधि में घृत अथवा काष्ठ में अग्नि। इन श्रुतियों का यथार्थ आकलन वैसे ही असम्भाव्य है, जैसे जलगत मत्स्यों अथवा आकाशगत विहंगों की स्थिति (१,६, १६-१७)। श्रुति की निम्न पांच जातियां

पाई जाने वाली विवेचन की अव्यवस्थितता इसके संग्रह-ग्रन्थ होने के सम्बन्ध में सन्देह उपस्थित कराने वाली है।

१. द्र० ना० शि० १,६,५-८; द्र० प्रबंध के अन्त में आ० ४।

२. द्र० पा० शि० ४४, मा० शि० ३,१-२, या० शि० २८, ना० शि० १,६,१४।

३. द्र० पा० शि० ५४-५५, मा० शि० ३,३-४, या० शि० ३०-३३।

४. १, ६, ११—१८; तुलनार्थ द्र० मा० शि० ९,६।

बताई गई हैं—दीप्ता, आयता, करुणा, मृदु तथा मध्या । गायनाचार्य के लिए यह आवश्यक माना गया है कि वह श्रुतियों के सूक्ष्म भेद तथा जातियों में निष्णात हो (१,७,९) । शिक्षा के अनुसार दीप्ता नामक श्रुति मन्द्र, द्वितीय, चतुर्थ, अतिस्वार तथा तृतीय के साथ पाई जाती है, करुणा नामक श्रुति कुष्ट के साथ पाई जाती है तथा अन्य तीन अर्थात् मृदु, मध्या तथा आयता नामक जातियों की स्थिति द्वितीय नामक स्वर के साथ पाई जाती है । शिक्षा में प्रोक्त यह श्रुति-वर्गीकरण निम्न तालिका से स्पष्ट होगा—

१—प	क्रुष्ट	करुणा
२—म	प्रथम	मृदु
३—ग	द्वितीय	दीप्ता, आयता, मृदु, मध्या
४—रि	तृतीय	दीप्ता
५—सा	चतुर्थ	दीप्ता
६—ध	मन्द्र	दीप्ता
७—नि	अतिस्वार्य	दीप्ता

शिक्षाकार की यह सम्मति है कि गान्धर्व के अन्तर्गत दीप्ता श्रुति का प्रयोग उदात्त तथा स्वरित स्वरों में होता है तथा मृदु श्रुति का प्रयोग अनुदात्त स्वर के साथ होता है (१,७,१८) । उच्च तथा नीच स्वरों की मध्यवर्ती स्थिति के लिए 'स्वार' अथवा साधारण श्रुति संज्ञा है[1] ।

स्वरों में परस्पर संक्रम कैसे किया जाय, इस सम्बन्ध में शिक्षाकार का निम्न कथन महत्वपूर्ण है—

> अनागतमतिक्रान्तं विच्छिन्नं विषमाहतम् ।
> तन्वन्तमस्थितान्तञ्च वर्जयेत्कर्षणं बुधः[2] ॥

इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि स्वरों के मध्य में होने वाली कर्षण-क्रिया यथास्थान तथा यथायोग्य होनी चाहिए । यदि कर्षण की क्रिया निश्चित स्वर में विहित है, वहां उस स्वर के पूर्व यदि कर्षण किया जाता है तो वह 'अनागत' कहलाएगा । जहां से अथवा जहां तक कर्षण अभीष्ट है, उसके पश्चात् जारी रखे जाने पर कर्षण 'अतिक्रान्त' कहलाता है । कर्षण की क्रिया में विच्छेद के होने से वह 'विच्छिन्न' कहलाता है । 'विषमाहत' से अभिप्राय सम्भवतः यह है कि कर्षण

---

१. १, ८, ७; तुलनार्थ द्र० ना० शा० अध्याय २९, जिसमें स्वरसाधारण की परिभाषा इसी के तुल्य पाई जाती है ।

२. १, ६, १९ ।

की क्रिया में लयसाम्य का सम्यक् निर्वाह किया जाता है। कर्षण-क्रिया[1] के लिए आवश्यक है कि वह उपर्युक्त सभी दोषों से मुक्त हो।

शिक्षा में उपलब्ध सन्दिग्ध विवरण के कारण श्रुति-रूप के सम्बन्ध में निःसन्दिग्ध कल्पना सम्भाव्य नहीं, तथापि प्रतीत होता है कि सामगान के अन्तर्गत सूक्ष्म ध्वन्यन्तरों की निदर्शक 'श्रुति' कल्पना अंकुरित हुई थी। परम्परा के आधार पर विशिष्ट स्वर के साथ विशिष्ट श्रुति का सम्बन्ध स्थापित किया जाता था। स्वरसंगति के द्वारा श्रुति की विशिष्ट जाति में परिवर्तन सम्भाव्य था। प्राचीन प्रातिशाख्य ग्रन्थों में स्वरों के निकट उत्पन्न होने वाले सूक्ष्म नादभेदों का स्पष्ट संकेत है। सामविषयक वाङ्मय में सप्त प्रमुख स्वरों के अतिरिक्त अवान्तर स्वरों का प्रयोग तथा कर्षण आदि स्वरोच्चारण की क्रियाएं स्वरों के मध्य में वर्तमान अन्तःश्रुतियों का आभास कराती है। नारदी शिक्षा के अनन्तर किसी संगीत विषयक ग्रन्थ में उपर्युक्त पंच श्रुतियों का उल्लेख नहीं प्राप्त होता। ई० १३ के संगीतरत्नाकरकार बाईस श्रुतियों के साथ पांच श्रुति-जातियों का सम्बन्ध स्थापित करते हैं, यद्यपि नारद के एतद्विषयक विवरण के साथ उसका सामन्जस्य नहीं पाया जाता[2]। इस सम्बन्ध में कलिनाथ का यह मत मान्य हो सकता है कि श्रुतियों का उपर्युक्त वर्गीकरण स्वर की उच्चनीचता का द्योतक न होकर उनके पृथुत्व एवं लघुत्व का द्योतक है[3]।

नारदी शिक्षा के सातवीं खण्डिका में सामस्वरों के शरीरान्तर्गत स्थान, उनकी गात्रवीणा पर स्थिति तथा उनके द्वारा उपजीव्य प्राणियों के सम्बन्ध में विवेचन प्राप्त होता है। शरीरगत स्थान के सम्बन्ध में शिक्षा में निम्न वचन उपलब्ध है—

> क्रुष्टस्य मूर्धनि स्थानं ललाटे प्रथमः स्वरः।
> भ्रुवोर्मध्ये द्वितीयस्य तृतीयस्य तु कर्णयोः॥

---

१. स्वरों के मध्य में परस्पर कर्षण-क्रिया भारतीय संगीत में नितान्त महत्वपूर्ण मानी जाती है। एक स्वर से दूसरे स्वर तक संक्रम करने में कुछ स्वरों के बीच परस्पर कर्षण उपस्थित होता है, जिसमें दो अथवा अधिक स्वरों के यथास्थान उच्चरित होने के साथ मध्यवर्ती श्रुत्यन्तरों का स्वभावतः प्रयोग हो जाता है। यही क्रिया आधुनिक संगीत-परिभाषा में 'मींड' के नाम से विख्यात हैं।

२. इस सम्बन्ध में द्र० 'जनरल आफ म्यूजिक अकादमी, मद्रास, खण्ड ५' में रामस्वामी अय्या का 'सामगान' शीर्षक लेख।

३. द्र० 'संगीतरत्नाकर, पृ० ४१।

कण्ठस्थानं चतुर्थस्य मन्द्रस्य रसनोच्यते ।
अतिस्वारस्य नीचस्य हृदि स्थानं विधीयते[1] ॥

अर्थात् क्रुष्ट स्वर की स्थिति मूर्धा पर है, प्रथम की ललाट पर, द्वितीय की भ्रुकुटियों के मध्य में, तृतीय की कर्णों के मध्य में, चतुर्थ की कण्ठस्थान में, मन्द्र की रसना में तथा अतिस्वार की हृदय में।

सामस्वरों से उपजीव्य प्राणियों के सम्बन्ध में नारदी शिक्षाकार का निम्न मन्तव्य है—

क्रुष्टेन देवा जीवन्ति प्रथमेन तु मानुषाः ।
पशवस्तु द्वितीयेन गन्धर्वाप्सरसस्त्वनु ॥
अण्डजाः पितरश्चैव चतुर्थस्वरजीविनः ।
मन्द्रस्त्वैनोपजीवन्ति पिशाचासुरराक्षसाः ॥
अतिस्वारेण नीचेव शिष्टं स्थावरजंगमम् ।
सर्वाणि खल्व भूतानि धार्यन्ते सामिकैः स्वरैः[2] ॥

अर्थात् 'क्रुष्ट' स्वर देवों का उपजीव्य है, 'प्रथम' मनुष्यों का, 'द्वितीय' पशुओं का, 'तृतीय' गन्धर्व तथा अप्सराओं का, 'चतुर्थ' अण्डज तथा पितरों का, 'मन्द्र पिशाच, असुर तथा राक्षसों का तथा निम्नतम 'अतिस्वार' अवशिष्ट स्थावर-जंगम प्राणियों का उपजीव्य है।

जैसा हम ऊपर निवेदित कर चुके है, समस्त शिक्षा-वाङ्मय में नारदी शिक्षा का संगीत की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर इस शिक्षा के सम्बन्ध में निम्न निष्कर्ष प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

नारदी शिक्षा का यथार्थ उद्देश्य सामवेद के स्वरोच्चारण का स्वरूप स्पष्ट करना है। इस उद्देश्य में यह ग्रन्थ पूर्णतः सफल हुआ है, यह कहने में आपत्ति

---

१. १, ७, १–२; इसी का समानार्थक वचन बृहद्देवता के अ० ८ में निम्नानुसार पाया जाता है। क्रुष्टो मूर्धनि विज्ञेयः तालव्यः प्रथमः स्वरः ॥ द्वितीयस्तु भ्रुवोर्मध्ये तृतीयः कर्णसंश्रितः । चतुर्थो नासिकाग्रे स्यादौरसो मन्द्र उच्यते । मन्द्रकर्षणसंयुक्तमतिस्वारं प्रशंसति ॥ ११२–११३ ॥

२. १, ७, ६–८; तुलनार्थ द्र० 'शौनकीय बृहद्देवता', अ० ८ तथा सामविधानब्राह्मण, १,१,२।

सामस्वर समस्त विश्व के प्राणियों के लिए उपजीव्य होने की मान्यता ब्राह्मण काल से बराबर पाई जाती है। पंचविंश ब्राह्मण के अनुसार समस्त देवताओं के लिए साम अन्नरूप है (५,४,१३)।

नहीं। नारदी शिक्षा का वैशिष्ट्य साम तथा गान्धर्व दोनों के सम विवेचन में है। सामवेद की अन्य शिक्षाओं तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थों में भी केवल स्वरोच्चारणविषयक विवरण पाया जाता है, गान्धर्व विषयक नहीं। नारदी शिक्षा का उद्देश्य तथा पूर्वापर क्रम को दृष्टिगत करते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि इसके समस्त कलेवर में केवल कुछ ही श्लोक गान्धर्व तथा तदन्तर्गत ग्रामरागों पर उपलब्ध हैं, जिनका स्थान सामगान की दृष्टि से सन्देहातीत नहीं माना जा सकता है। सम्भव है कि जिस प्रकार नारद के शिक्षाविषयक मन्तव्यों का संग्रह इसमें हुआ है, उसी प्रकार गान्धर्व सम्बन्धी विचारों का संग्रह इस शिक्षा में परवर्ती काल में हुआ है। नाट्यशास्त्र की साक्ष्य से स्पष्ट है कि अन्य वेदों के साथ सामवेद की शिक्षाओं का विकास उस से पूर्व हो चुका था तथा नारद का गान्धर्व-विषयक ग्रन्थ भी उपलब्ध था, जिसमें गान्धर्व की जाति, राग, वाद्य, गायक के गुणावगुण आदि विषय समाविष्ट थे। सम्भव यह है कि शिक्षाकार नारद तथा गन्धर्व नारद[1] इन दोनों के विचारों का संकलन इस ग्रन्थ में एक स्थान पर सम्पन्न हुआ है। ग्रामरागविषयक विवेचन ही स्थूलता एवं अस्पष्टता ऐसे ही संकलन की द्योतक है, जो बहुत परवर्ती काल में सम्भवतः ऐसे व्यक्ति के द्वारा हुआ है, जो संगीत का विशेषज्ञ न रहा हो[2]।

संगीत शिक्षा की प्राचीन परम्परा तथा उसके मूलभूत सिद्धान्त[3] :—

संगीत शिक्षा की प्राचीन परिपाटी तथा उसके मूलभूत तत्वों के सम्बन्ध में परिचय विशिष्ट लक्षण-ग्रन्थों के रूप में संस्कृत साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। आधुनिक अर्थ में प्राचीन शिक्षाशास्त्र के सिद्धान्तों का विवरण भी ग्रन्थ के रूप में एक स्थान पर कहीं प्राप्त नहीं होता, तथापि उसके सम्बन्ध में परिज्ञान तत्कालीन विभिन्न ग्रन्थों में न्यूनाधिक मात्रा में विकीर्ण पाया जाता है। इन्हीं विकीर्ण सूत्रों को एकत्रित करने पर प्राचीन संगीत शिक्षा की प्रणाली तथा शिक्षा के सर्व-सामान्य सिद्धान्तों के सम्बन्ध में एक मानचित्र प्राप्त हो जाता है।

---

१. भरत, दत्तिल, मतंग तथा परवर्ती सभी संगीत—ग्रन्थकारों के द्वारा गन्धर्व नारद की संगीतविषयक मान्यताओं का उल्लेख बारम्बार किया गया है।

२. इन्हीं ग्रामरागों का सुस्पष्ट विवेचन ई० १३ के संगीतरत्नाकर में उपलब्ध है (द्र० अध्याय २)।

३. बेलगांव में संपन्न अ० भा० संगीत संमेलन के विभागीय अध्यक्ष-पद से प्रसारित शोध-निबन्ध।

शिक्षा का व्युत्पत्तिगत अर्थ इस प्रकार है—शिक्ष्यते उपदिश्यते यत्र सा शिक्षा।" अर्थात् जिस माध्यम अथवा प्रणालि के द्वारा उपदेश दिया जाता है, वही शिक्षा है। शिक्षा के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टिकोण आर्यों के उर्वर मस्तिष्क में बहुत प्राचीन काल से स्फुरित हुआ था, इस सम्बन्ध में संस्कृत साहित्य साक्ष्य प्रस्तुत करता है। वैदिक काल में वेदों के यथार्थ उच्चारण का अभूतपूर्व महत्व था, यहां तक कि एकाध वर्ण का अशुद्ध उच्चारण अपार हानि की संभावनाओं से भरा रहता था। वेदों के स्वर तथा वर्णों की व्यवस्थित शिक्षा प्राचीन शिक्षाशास्त्र का महत्वपूर्ण अंग थी। वैदिक ऋचाओं के अध्ययन से इस शिक्षा का निकटतम सम्बन्ध होने के कारण वर्ण तथा स्वरों के उच्चारण—शास्त्र को 'शिक्षा' नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। विभिन्न वेदों के स्वर–वर्ण–विषयक विवरण के अतिरिक्त शिक्षाविषयक अन्य सामान्य सिद्धान्तों की उपलब्धि उन ग्रन्थों में होती है। सायण के अनुसार 'शिक्षा' की व्याख्या निम्नलिखित है—'वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा''[1]। विविध वेदों के स्वर, वर्ण आदि की उच्चारणविधि की शिक्षा जिसमें दी जाती है, वही शिक्षाग्रन्थ है। शिक्षा की व्याख्या तथा तदंतर्गत विषयों का सर्वप्रथम विवरण तैतिरीय उपनिषद में पाया जाता है। इसके अनुसार शिक्षाग्रन्थों के छः अंग इस प्रकार है—वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान। 'वर्ण' से अभिप्राय अक्षरों से है। 'स्वर' से अभिप्राय उदात्त, अनुदात्त, तथा स्वरित से है। 'मात्रा' से अभिप्राय है स्वरों के उच्चारण में लगने वाले समय से है। मात्रा तीन प्रकार की होती है ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। एक मात्रा के उच्चारण में जितना समय लगता है, उसे 'ह्रस्व', दो मात्रा के उच्चारण में लगने वाले समय को 'दीर्घ' तथा तीन मात्रा के उच्चारण में लगने वाले समय को 'प्लुत' कहते हैं। इसी कालविभाजन के आधार पर तीन वृत्तियों का निर्माण होता है—द्रुत, मध्य तथा विलम्बित। 'बल' से तात्पर्य है स्वरोच्चारण के स्थान एवं प्रयत्न से। 'साम' का अर्थ है सभी अङ्गों का सामंजस्य जिसके कारण मन्त्रों का पठन तथा गायन पूर्णरूपेण निर्दोष हो। इसी कार्य के हेतु पठन तथा गायन के गुणावगुण का विवरण शिक्षा ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। सन्तान शब्द का अर्थ है संहिता अर्थात् पदों की अतिशय सन्निधि। विभिन्न पदों की अत्यधिक निकटता के कारण पदों के स्वरूप आवश्यकतानुसार परिवर्तित हो जाते हैं। ऋग्वेद के मूलभूत मन्त्रों की सामगान के अनुकूल बनाने के लिए विभिन्न शाब्दिक परिवर्तन दिये जाते हैं, जो 'साम-विकार' के नाम से ज्ञात है। विकार, विश्लेषण, विकर्षण, अभ्यास, विराम तथा

१. ऋ० भा० भू० पृ० ४९।

स्तोभ इन्हीं विकारों के अन्तर्गत हैं। सामगायन के लिए स्वर को कभी ह्रस्व और कभी विकृत या परिवर्तित करना पड़ता है, जैसे सामवेद के प्रथम मन्त्र के 'अग्न' पद का गायन 'ओग्नाइ' में परिवर्तित हो जाता है। वैदिक अध्ययन में 'स्वरशास्त्र' का अध्यापन कितनी सापेक्षतापूर्वक होता था, इसका संकेत महाभाष्यकार पतंजलि के निम्न वक्तव्य से प्रकट होता है—"उदात्तस्य स्थाने अनुदात्तं ब्रूते चेत् खण्डिकोपाध्याय: तस्मै शिष्याय चपेटिकां ददाति।" इसमें प्राचीन काल के उस वैदिक गुरु का आदरपूर्वक उल्लेख है, जो उदात्तस्वर के स्थान पर अनुदात्तस्वर का उच्चारण करने वाले शिष्य के मुँह पर चाँटा मारकर उसके उच्चारण को शुद्ध करता था।

विभिन्न वेदों के शिक्षा-ग्रन्थ उनकी विशिष्टताओं के अनुसार भिन्न होते हैं। इसी कारण प्रत्येक वेद की अपनी निजी शिक्षा है, जिसमें उस वेद के अनुकूल वर्णोच्चारण तथा अन्य विधियों का विधान पाया जाता है। सामवेद की शिक्षाओं में नारदीय, गौतमी, तथा लोमशी शिक्षा का प्रमुख स्थान है, जिनसे सामगान की विधि तथा शिक्षाप्रणालि के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त होता है। यहाँ सामवेद की प्रमुखतम 'नारदीय' शिक्षा के आधार पर संगीत सम्बन्धी महत्वपूर्ण तत्वों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

नारदीय शिक्षा की दृष्टि से स्वर के यथार्थ ज्ञान के लिए स्वरशास्त्र का ज्ञान अनिवार्य है। लक्ष्य तथा लक्षण-ग्रन्थ दोनों के अध्ययन का तुल्य महत्व है। बिना शास्त्राध्ययन के सामगान में विस्वर होने की संभावना बनी रहती है। गानविद्या मूलतः मौखिक विद्या है और उसका यथार्थ ज्ञान अधिकारी गुरु के मुख से संभव है तथापि गान-शास्त्र के बिना वह अपूर्ण तथा एकांगी सिद्ध होगा।[1] जो अपने उचित स्थान से च्युत हो जाता है अथवा अपने स्थान से बढ़ जाता है, उसको सामगायक 'विस्वर' कहते है और वीणावादक उसी को 'विरक्त' नाम से सम्बोधते हैं। विरक्त 'रक्त' का अभाव है। 'रक्त' प्राचीन संगीत का पारिभाषिक शब्द है, जो गायन, वेणु तथा वीणा के पूर्ण सामरस्य को व्यक्त करता है। वीणा तथा वेणु के स्वर के साथ सम्पूर्ण एकीभाव गान का प्रधान गुण है। गान-शास्त्र के सांग अध्ययन के बिना रक्त गुण की प्राप्ति सम्भव नहीं। अध्ययन का प्रारम्भ मन्द्र स्वर से किया जाना आवश्यक है। कुछ समय तक मन्द्र सवन में अभ्यास करने पर मध्य तथा तार सवन का आश्रय किया जा सकता है। सिद्धान्त की बात यह है कि प्राणों का उपरोध करने वाले स्वर का आश्रय कथमपि नहीं किया जाना चाहिए। अपने कण्ठ के लिए अनुकूल स्वर में न गाने

---

१. ना० शि० १–२–४

से 'विस्वर' होने का भय रहता है और 'माधुर्य' का भी पूर्णतया लोप हो जाता है।[1]

प्राचीन संस्कृत साहित्य में पाठ्य तथा गान की तीन वृत्तियां हैं–१ विलम्बित, २ मध्यम, ३ द्रुत। शिष्यों को शिक्षा देते समय 'विलम्बित' वृत्ति का अवलंब आवश्यक है। स्वाध्याय करते समय तथा अधीत वस्तु की गुणन क्रिया में 'द्रुत' वृत्ति का अवलम्ब अपेक्षित है। प्रत्यक्ष प्रयोग अथवा प्रदर्शन के समय 'मध्यमा' वृत्ति का अङ्गीकार करना श्रेयस्कर होता है। इस प्रणालि से जिन्होंने स्वरशास्त्र का गम्भीर अध्ययन स्वयं किया हो, वही शिष्यों के अध्यापन के लिए सुयोग्य शिक्षक है।[2] संगीत का अध्ययन केवल ग्रन्थ के आश्रय से अभीष्ट नहीं। स्वर शास्त्र के प्रायोगिक पक्ष के परिज्ञान के लिए 'गुरुसन्निधि' अत्यावश्यक है। गुरु की पारम्परिक शिक्षा के बिना केवल ग्रन्थमात्र से स्वरशास्त्र सीखने वाला व्यक्ति विद्वत्सभा में उसी प्रकार शोभाविहीन सिद्ध होता है, जैसे स्त्री का जार-पति[3]। अधिकारी आचार्य के द्वारा प्राप्त सुस्वर तथा सुवक्त्र अर्थात् 'सुघ मुद्रा सुघ बानी' वाली विद्या ही वस्तुतः विराजमान होती है।

पतंजलि के अनुसार विद्या की परिपक्वता के लिए विद्यार्थी को चार अवस्थाओं से जाना पड़ता है। यह अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—आगम, स्वाध्याय, प्रवचन तथा व्यवहार। आगम का अभिप्राय विद्यार्जन से है। पाठ्य वस्तु का निरंतर स्वाध्याय तथा अध्यापन अर्जित विद्या को शतगुणित कर देता है। सहस्रशः अर्जित विद्या शतशः प्रकीर्तित होने पर प्रयोग के लिए अप्रतिहत रूप से कार्यशील हो जाती है। उपर्युक्त चार अवस्थाओं को पार करने पर विद्यार्थी कला के सिद्धान्तों को साद्यन्त आत्मसात् कर लेता है और उसके यथार्थ प्रयोग के लिए योग्य बन जाता है। कौटिल्य के अनुसार विद्या मानव जीवन के अनुशासन का समीचीन माध्यम है और यह अनुशासन की क्षमता एक विशिष्ट अधिकार अथवा मापदण्ड की अपेक्षा रखता है। विद्यादान ऐसे ही व्यक्तियों को अनुशासित करता है जो सत्पात्र हों—"क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यम्"[4]। कुपात्र विद्यार्थी को प्रदत्त शिक्षा वन्ध्यापुत्रविवाहवत् निष्फल होती है। समुचित विद्यालाभ के लिए गुरुशुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, विज्ञान अथवा विवेचक बुद्धि, ऊहापोह अर्थात् उर्वर कल्पना तथा तत्वप्राप्ति के लिए अभिनिवेश ये गुण

१. वहीं, २–८–८, ९
२. वहीं, १–६–२२
३. २–८–१८
४. अर्थशास्त्र

आवश्यक हैं।[1] विषय के वारंवार श्रवण से प्रज्ञा जागृत हो जाती है, पाठ्य-वस्तु को हृदयंगम कराती है, प्रज्ञाबल से पाठ्य विषय के सम्बन्ध में अधिकाधिक मनोयोग उत्पन्न होता है और अविरत मनोयोग में विद्या आत्मसात् हो जाती है[2]। विद्याओं के विशिष्ट अध्ययन के लिए उस विषय में पारंगत विशेषज्ञों से शिक्षा ग्रहण करना आवश्यक है। प्रयोगमूलक कलाओं एवं विद्याओं के अध्ययन के हेतु ऐसे विशेषज्ञों का प्रश्रय लेना आवश्यक है, जो वक्ता और प्रयोक्ता दोनों हो, जो शास्त्र तथा प्रयोग दोनों में प्रवीण हो। कौटिल्य का यह विवेचन यद्यपि वेदत्रयी, आन्वीक्षिकी, दण्डनीति जैसे शास्त्रोंके सम्बन्धमें है तथापि गान्धर्व जैसी प्रयोगमूलक कला के लिए वह उपयुक्त माना जा सकता है। भरत के अनुसार गान्धर्व के आचार्य तथा शिष्य दोनों का सत्पात्र होना आवश्यक है। सच्छिष्य के लिए निम्न गुणों का होना आवश्यक है—मेधा अर्थात् ग्रहणशक्ति, स्मृति अर्थात् स्मरणशक्ति, गुणश्लाघा अर्थात् गुणों की प्रशंसा करने की क्षमता, राग अर्थात् पाठ्यविषय के सम्बन्ध में अभिरुचि, संघर्ष अर्थात् स्पर्धा की भावना तथा उत्साह[3]। आचार्य के लिए निम्न गुणों का होना आवश्यक माना गया है—ज्ञान, विज्ञान या शिल्प का अनुभवजन्य ज्ञान, करण, वचन, प्रयोगसिद्धि एवं शिष्य-निष्पादन[4]। 'करण' प्रातिशाख्य ग्रन्थों का पारिभाषिक शब्द है, जिसका तात्पर्य शब्दों के उच्चारण–प्रयास से है। किसी वर्ण अथवा ध्वनि के उच्चारण से पूर्व मुख के अन्तर्गत एक विशिष्ट प्रक्रिया घटित होती है। गान्धर्व के सन्दर्भ में ध्वनियों के उच्चारण में मुख में किस प्रकार प्रक्रिया होती है, मुख के अभ्यन्तर अवयवों में क्या क्रिया-प्रतिक्रिया होती है, इस सम्बन्ध में ज्ञान आचार्य के लिए आवश्यक है। नारदीय शिक्षा के अनुसार करण अर्थात् ध्युन्युच्चारणशास्त्र का ज्ञान आचार्य के लिए आवश्यक है। आधुनिक कण्ठसंस्करणशास्त्र (Vocal Culture) का यही उद्देश्य है। प्रयोग कौशल्य एवं शिष्यनिष्पादन आचार्य के गुणों में महत्वपूर्ण हैं। आगमज्ञान तथा प्रयोगकौशल्य के साथ ज्ञानदान का कौशल्य आचार्य से अपेक्षित है। कालिदास की दृष्टि में ऐसा ही आचार्य धुरंधर कहा जा सकता है, जो व्यक्तिगत कला-कौशल के साथ उस कला की संक्रान्ति में समर्थ हो। उज्ज्वल शिष्यपरम्परा का निर्माण आचार्यत्व की परम कसौटी है। आचार्य का शिष्य पर पूर्ण अधिकार होना आवश्यक है। किन्तु वे आचार्य ऐसे

---

१. वहीं

२. वहीं

३. ना० शा० ३२, ४७५

४. वहीं

हों जो केवल जीविका-पालन के हेतु पवित्र विद्या का विक्रय पण्य द्रव्य के समान न करें। कालिदास योग्य शिष्य के चयन पर बल देते हैं। अधिकारी शिष्य को सिखाया हुआ कौशल ऐसी असाधारण शोभा को प्राप्त करता है, जैसे समुद्र की शुक्तियों में गिरे हुए जलबिन्दु मुक्ता में परिणत हो जाते हैं। उनके मतानुसार अपात्र शिष्य का स्वीकार आचार्य के बुद्धिमान्द्य को प्रकट करता है। जहां तक कण्ठ-संगीत की बात है, सुस्वर कण्ठ प्राथमिक आवश्यकता है। सुस्वर कण्ठ से विहीन विद्यार्थी को चाहे जितना शिक्षित करने पर, चाहे जितनी तालीम देने पर अभीष्ट परिणाम नहीं निकलता। ऐसे ही कण्ठहीन गायन के प्रति व्यंग कर मृच्छकटिक का विदूषक कहता है—

"मया तावत् द्वाभ्यामेव हास्यं जायते। स्त्रिया संस्कृतं पठन्त्या, मनुष्येण च काकलीं गायता। मनुष्योऽपि काकलीं गायन् सुमनोदामवेष्टितो वृद्धपुरोहित इव मन्त्रं जपन् दृढ़ं न रोचते"[1]।

विदूषक कहता है कि मुझे दो बातों से हंसी आती है, एक स्त्रियों के संस्कृत पठन से और दूसरी पुरुषों के गायन से। संस्कृत पढ़ती हुई स्त्री नथनी पहनाये गए नए बैल के समान केवल सूं सूं शब्द करती है। पुरुष जब काकली—गायन करती है, तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो पुष्पों की माला से ढँका हुआ वृद्ध पुरोहित मन्त्रजप कर रहा हो। संभवतः इसी दृष्टिकोण से भरत के अनुसार महिला वर्ग गानविद्या के लिए प्रायः अधिक उपयुक्त है और पुरुष वाद्यविद्या के लिए। महिलाओं का कण्ठ स्वभावमधुर हुआ करता है, जिसकी पुरूषों में स्थिति प्रायः अपवादस्वरूप हुआ करती है।[2] संगीत का केवल शास्त्रशुद्ध होना भरत पर्याप्त नहीं समझते। गीतविधान चाहे जितना लक्षणसिद्ध क्यों न हो, बिना माधुर्य गुण के वह शोभाजनक नहीं होता। नृत्यकला के लिए भी न्यूनतम अर्हता का होना आवश्यक है। कालिदास नृत्यशिक्षा के लिए न्यूनतम योग्यता के रूप में अंगसौष्ठव को प्रथम स्थान देते हैं[3]। विद्यार्थी कला की किस शाखा के लिए उपयुक्त है, यह देखना नितान्त आवश्यक है। अधिकार एवं मनःप्रवृत्ति के आधार पर विद्यार्थी का चयन आचार्य के बुद्धिविशेष की कसौटी है। कला में विशेष उत्कर्ष एवं नैपुण्य विद्यार्थी की प्रज्ञा एवं प्रतिभा के परिणाम—स्वरूप हुआ करता है, इसमें सन्देह नहीं।

कलाओं के अध्ययन के लिए ६ से लेकर १६ तक की आयु उपयुक्त मानी

---

१. द्र० अं० ३

२. ना० शि० १-३-१४; ना० शा० ३२, ४६५-४६६

३. विशेष विस्तार के लिए द्र० इसी प्रबन्ध का अध्याय ११।

गई है। जीवन के ६ वें वर्ष से लेकर शिशु बाल्यावस्था में पदार्पण करता है। ६ से लेकर १६ तक ब्रह्मचर्य की अवस्था मानी गई है। १६ वें के अनन्तर यौवनारंभ होता है और कण्ठस्वर में स्वरभंग उत्पन्न हो जाता है। इस दृष्टि से बाल्यावस्था का यही कालखण्ड संगीतकला के अध्ययन के लिए उपयुक्त है। प्राचीन काल का पाठ्यक्रम वर्णव्यवस्था, जीवनदर्शन तथा विशिष्ट लक्ष्यसंधान से नियमित हुआ करता था। विभिन्न वर्णों के लिए विभिन्न पाठ्यक्रम के होने पर भी सामान्यरूप से पाठ्यक्रम का स्वरूप समान रहता था। अन्तर केवल इसी में रहता था कि आवश्यकता के अनुकूल उनमें से कुछेक में विशिष्टता प्राप्त की जाती थी। संगीत का अन्तर्भाव किसी न किसी रूप में इन पाठ्यक्रमों में हुआ करता था, चाहे वह वैदिक अध्ययन के अन्तर्गत सामगान के रूप में हो अथवा गान्धर्वकला के अध्ययन के रूप में हो। गान्धर्व के सामान्य शिक्षक के लिए वैकल्पिक विषय के रूप में विद्यामन्दिरों में व्यवस्था थी किन्तु व्यावसायिक अध्ययन के लिए संगीतशाला जैसे विशिष्ट कलाकेन्द्रों में जाकर विशेषज्ञ गुरुजनों से शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती थी।

उपर्युक्त विवरण से प्राचीन संगीतशिक्षा विषयक सिद्धान्तों का निष्कर्ष निम्न रीति से निकाला जा सकता है। संगीतशिक्षा के लिए उपयुक्त आयु मर्यादा ६ से लेकर १६ तक की है। यौवन में प्रवेश करने पर कण्ठ में स्वरभेद की विकृति उत्पन्न होती है। उससे पूर्व की अवस्था में बालक के स्वर-तन्तुओं की मृदुता तथा मसृणता के कारण गानविद्या का आकलन सुलभता से हो सकता है। संगीत विद्या के लिए उपयुक्त विद्यार्थी का चयन आवश्यक रहा है। विद्यार्थी की मनःप्रवृत्ति तथा जीवनोद्देश्य के अनुकूल विषयों का चयन एवं पाठ्यक्रम विद्या की सफलता का कारण होता है। आचार्य के लिए इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि विद्यार्थी केवल सामान्य अभिरुचि के रूप में संगीत सीखना चाहता है अथवा व्यवसाय के रूप में, इन दोनों कोटियों के विद्यार्थियों का पाठ्यक्रम एक दूसरे से विभिन्न होगा, इसमें सन्देह नहीं। प्राचीन काल में संगीत-शिक्षा सामान्य विद्यामन्दिरों में तथा संगीतशालाओं में दी जाती रही, इसके मूल में विद्यार्थियों का यही जीवन-दर्शन उत्तरदायी रहा होगा। नारदीय शिक्षा के अनुसार 'करण' अर्थात् स्वरस्थान गांधर्व का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अङ्ग है, जो केवल गुरुमुख से ग्रहण किया जा सकता है।[1] स्वराभ्यास के समय विद्यार्थी के कण्ठविज्ञान का पूरा ध्यान रखना आवश्यक है। कण्ठ विज्ञान शरीर-विज्ञान का

---

१. ना० शि० २–७–१०

एक अंग है। स्वरतन्तुओं की अमर्याद खींचतान से प्राणों का उपरोध हो जाता है। इसी लिए मन्द्र सप्तक का अभ्यास कर शनैः शनैः मध्य तथा तार सप्तकों का आरोहण करना चाहिए। इस पद्धति का अवलंब करने पर मन्द्र, मध्य तथा तार तीनों स्थानों पर अधिकार सहज प्राप्त किया जा सकता है। विद्यार्थी को शिक्षा प्रदान करते समय 'विलंबित' लय को आवश्यक माना गया है, अभ्यास अर्थात पाठ की पुनरावृत्ति के समय 'द्रुत' लय अभीष्ट मानी गई है तथा प्रत्यक्ष प्रदर्शन के समय गान की 'मध्यम' लय योग्य मानी गई है। इसी प्रणालि से प्राप्त विद्या विद्वत्सभा में वस्तुतः विराजमान होती है।

अध्याय तृतीय

महाकाव्यकाल में संगीत

(सा) रामायणकालीन संगीत (रि) महाभारत में संगीत

(सा) रामायणकालीन संगीत

रामायण भारत का प्राचीन सांस्कृतिक महाकाव्य है। भारत की प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा के परिज्ञान का वह महत्वपूर्ण स्रोत है। रामायण की उद्भावना आदिकवि वाल्मीकि के द्वारा हुई और वही पावन सरित् परम्परागत रूप से अधुना तक जनमानस को परिप्लावित करती आई है। रामायण के कालखण्ड के सम्बन्ध में चाहे विद्वज्जनों में मतभेद क्यों न हो,[१] यह निश्चित है कि परम्पराप्रिय भारत में पुरातन सांस्कृतिक परम्परा को अन्तर्निहित करने का श्रेय महाभारत के अतिरिक्त इसी ग्रन्थ को है। विद्वानों के अनुसार मानव-जीवन का ऐसा कोई पक्ष नहीं, जिसकी झांकी रामायण में न मिलती हो अथवा ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं जिसका आभास उस में प्राप्त न होता हो[२]। ईसवीय सन के प्रारम्भ से रामायण का प्रचलन भारत के बाहर श्याम, जावा, सुमात्रा, बाली आदि दूरपूर्व देशों में होता रहा है[३]। इन देशों में प्राप्त शिलालेखों से तथा सांस्कृतिक कार्य-कलापों से सुस्पष्ट है कि रामायण का प्रभाव क्षेत्र ईसवी के आरम्भ में ही सुदूर पूर्व देशों तक विस्तृत हो चुका था[४]। अतएव बौद्धपूर्वकाल

---

१. रामायण के सात सर्ग हैं, जिनके रचयिता तथा रचनाकाल के सम्बन्ध में मनीषियों में बहुल चर्चा पाई जाती है। बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड को छोड़कर अन्य सभी सर्गों की रचना एक ही रचयिता के द्वारा एक ही कालखण्ड में हुई, इस में सन्देहावकाश नहीं। शेष दो की रचना चाहे बाल्मीकि के किसी परम्परानुयायी अथवा अन्य किसी व्यक्ति के द्वारा हुई हो, यह तथ्य विद्वज्जन-मान्य है कि रामायण के बृहद् अंश की रचना महाभारत तथा बौद्धकाल के पूर्व (५०० ई० पू० में) हुई है तथा शेष अंश की रचना ई० ५ तक सम्पन्न हुई है।

२. द्र० 'रामायणकालीन संस्कृति, व्यासकृत, पृ० ४।

३. वहीं, पृ० २९७-३१७।

४. द्र० वरदाचार्य कृत 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', हिन्दी अनुवाद पृ० ६५।

से लेकर ईसवी शताब्दि के प्रारम्भ तक[1] संगीतविषयक तथ्यों का संकलन इस महाकाव्य के आधार पर निरापद रूप से किया जा सकता है।

आदिकवि वाल्मीकि के अनुसार रामायण का निर्माण गेयकाव्य के रूप में हुआ है (१, ४–२७)। रामायण के अनुष्टप् छन्द की रचना ही संगीत-मूलक होने के सम्बन्ध में उल्लेख प्रस्तुत महाकाव्य में पाये जाते हैं (२, ८; २, १८, ४० तथा ४२)। शब्द-संगीत का आदिम रूप ही रामायण का अनुष्टप् छन्द है, जिसका गायन वीणा की लय के साथ योग्य स्वर तथा शब्दावलि में किया जाना विहित है[2]। मूलतः लवकुश जैसे कुशल गायकों के द्वारा गाये गये इस गेयकाव्य में साहित्य तथा संगीत का चारु समन्वय उपस्थित हुआ हो, तो आश्चर्य की बात नहीं[3]।

रामायणकाल में संगीतविषयक समुन्नति तथा प्रसार के सर्वत्र दर्शन होते हैं। संगीत के कला-पक्ष के साथ ही शास्त्र-पक्ष का प्रकर्ष उस समय हुआ था, इस सम्बन्ध में प्रबल प्रमाण रामायण में उपलब्ध है।

रामायण में गान्धर्व के साथ ही गन्धर्व तथा अप्सराओं का अनेक वार उल्लेख हुआ है। गन्धर्व तथा अप्सरा दोनों संगीतकला तथा रूपसौन्दर्य के लिये प्रतिमान रहे हैं। गन्धर्व जन विशेषतः गान तथा वीणा-वादन किया करते थे और अप्सराओं का कार्य इनके साथ नृत्य-प्रदर्शन करना था। देवगन्धर्वों में विश्वावसु, हा हा, हूहू, नारद, पर्वत तथा तुम्बरु का भूरिशः उल्लेख यहाँ उपलब्ध होता है। भरद्वाज मुनि के आश्रम में भरत के स्वागतार्थ इन गन्धर्वों तथा अप्सराओं ने गीत-नृत्य किया था, ऐसा उल्लेख रामायण में है। गन्धर्व तथा अप्सरागण का उल्लेख रामायण में दिव्य तथा अपौरुषेय कलाकारों के रूप में हुआ है (उत्तर० ६, ६८)। महेन्द्र पर्वत की उपत्यकाएँ मदिरापान से मत्त गन्धर्व-युगलों से तथा विद्याधर-गणों से आश्रित मानी जाती थी (४, ६७, ४५)।

---

१. पुराणविशेषज्ञ पार्जिटर के अनुसार राम का ऐतिहासिक व्यक्तित्व था तथा इनका स्थितिकाल १६०० ई० पू० था। जर्मन विद्वान याकोबी के अनुसार वाल्मीकि ने अपना रामायण ग्रन्थ प्रचलित लोक-गाथाओं के आधार पर ई० पू० ८००–६०० में रचा। प्रक्षेप आदि से उसकी कलेवर-वृद्धि होकर उसका वर्तमान रूप ई० के आरम्भ में स्थिर हुआ (द्र० 'रामायणकालीन संस्कृति, व्यास', पृ० २)।

२. १,२,१८; १,२,४०; १,२,४२-४३।

३. द्र० लेखक का अ० भा० संगीत सम्मेलन, कानपुर में पठित लेख 'साहित्य तथा संगीत' शीर्षक, संगीतकलाविहार, वर्ष ८, अङ्क २ में प्रकाशित।

यज्ञ समारोहों पर अन्य देवताओं के साथ इनका हविर्भाग निश्चित माना गया था।[1] अलौकिक पुरुषों के जन्म, विवाह आदि के अवसर पर इनके संगीत का आयोजन किया जाता था। रामचन्द्र के जन्म तथा विवाह पर देवदुन्दुभियां बजने लगी तथा गन्धर्व एवं अप्सराओं का क्रमशः गान तथा नृत्य होने लगा, ऐसा उल्लेख रामायण में है।[2] तुम्बरु का उल्लेख अप्सराओं के गान-शिक्षक के रूप में हुआ है।[3] अरण्यकाण्ड में बताया गया है कि विराध पूर्वजन्म में तुम्बुरु गन्धर्व था, जिसको रम्भा नामक अप्सरा में आसक्त होने के कारण शापभ्रष्ट होना पड़ा था।[4] नारद का भी नामनिर्देश देव-गन्धर्व के रूप में बहुशः पाया जाता है, परन्तु यह नारद देवर्षि नारद से नितान्त भिन्न है, यह तथ्य स्पष्ट है। बालकाण्ड में वाल्मीकि के गुरु के रूप में देवर्षि नारद का स्पष्ट उल्लेख है, परन्तु इनके संगीतज्ञ होने के सबन्ध में कोई संकेत प्राप्त नहीं होता।[5] लक्षित होता है कि आदिकवि की कल्पना में देवर्षि नारद तथा देव-गन्धर्व नारद दो विभिन्न व्यक्ति रहे हैं। अप्सराओं के अन्तर्गत घृताची, मेनका, रम्भा, मिश्रकेशी, अलम्बुसा इत्यादि दिव्य वारांगनाओं का उल्लेख रामायण में है।

रामायण में कला के अर्थ में शिल्प शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है। मनोरंजन तथा व्यवसाय दोनों दृष्टियों से कलाओं का अनुशीलन किया जाता था। रामायणकालीन अभ्यास-क्रम में इन कलाओं का अन्तर्भाव इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि ललित कलायें तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन का अभिन्न अङ्ग थीं। राम स्वयं गान्धर्व कला के अतिरिक्त अन्यान्य ललित कलाओं के ज्ञाता बतलाये गये हैं।

रामायण में साम तथा गान्धर्व दोनों के सम्बन्ध में प्रचुर उन्नति के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। सामगान केवल यज्ञयाग तक सीमित वैदिक संगीत था तथा गान्धर्व तदतिरिक्त प्रसंगों पर अथवा यज्ञयागों में यज्ञविधि से बाहर किया जाने वाला लौकिक संगीत था। रामायणकालीन पाठ्यक्रम में वेद तथा शिक्षादि षट् वेदांगों का अन्तर्भाव था।[6] इसके अन्तर्गत साम के शिक्षा-ग्रन्थों का यथाविधि अध्यापन किया जाता रहा हो, इसमें सन्देह नहीं। इस परिस्थिति में सामगीतों

---

१. बाल, १५,४।

२. वहीं, १८, १६–१७; ७३, ३८–३९; युद्ध ६, ९०, ८५

३. २, ९१, १८

४. ५, ४१-४४।

५. द्र० २, २।

६. १, १४, २१

के वर्ण तथा स्वरों का गान शिक्षा-प्रणीत नियमों के अनुकूल किया जाता रहा होगा। अश्वमेघ यज्ञ के अवसर पर यज्ञकर्म के लिए एकत्रित ऋत्विजों में उद्गाता के समादरपूर्ण स्थान का उल्लेख रामायण में है।[१] यज्ञकार्य के सम्पन्न करने में सामगायक को वही समादर प्राप्त था तथा वही पारिश्रमिक प्रदान किया जाता था, जैसा अन्य वेदपाठियों को[२]। अश्वमेध यज्ञ में ऋष्यश्रृङ्ग आदि पुरोहितगण मंत्रों तथा गीतों का शिक्षानुकूल मधुर एवं स्निग्ध गान करते थे—

ऋष्यश्रृङ्गादयो मंत्रैः शिक्षाक्षरसमन्वितैः।
गीतिभिर्मधुरैः स्निग्धैर्मन्त्राह्वानैर्यथार्थतः॥ (१,१४,८-९)

दशरथ की अंत्येष्टि के अवसर पर सामग विद्वानों के द्वारा सामगान यथाशास्त्र किया गया था—

जगुश्च ते यथाशास्त्रं तत्र सामानि सामगाः॥ (२,७६,१८)

भाद्रपद मास में सामग विद्वान अपना स्वाध्याय प्रारम्भ करते थे—

अयमध्यायसमयः सामगानामुपस्थितः॥ (४,२८,५४)

रावण सामगान के माध्यम से शिव की आराधना किया करता था, ऐसा उल्लेख रामायण के निम्न श्लोक में है—

....................तुष्टाव वृषभध्वजम्।
सामभिर्विविधैः स्तोत्रैः प्रणम्य स दशाननः॥[३]

जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, संगीत के सार्वत्रिक प्रसार के प्रचुर प्रमाण रामायण में उपलब्ध है। संगीत का प्रभाव न केवल मानवों पर अपि तु पशुओं पर भी था। हरिणों को संगीत से लुभाकर पाशबद्ध किया जाता था।[४] राजा-प्रजा, नर-नारी, आर्य, वानर तथा राक्षस सभी वर्गों में संगीत का सेवन प्रचलित था।

संगीतशास्त्र के लिये गान्धर्व संज्ञा थी, जिसके अन्तर्गत गीत तथा वाद्य दोनों का अन्तर्भाव था। गान्धर्व के अन्तर्गत मार्गविधान उच्च एवं अभिजात संगीत का द्योतक था। बालकाण्ड में वर्णन आया है कि लव तथा कुश ने रामचन्द्र से कहे जाने पर मार्गशैली से गान्धर्व का गान किया था—

---

१. बाल० १४, ३३
२. वहीं, १४, ४२
३. उत्तर, १६, ३३–३४
४. २, १२, ७७

ततस्तु तौ रामवचःप्रचोदितावगायतां मार्गविधानसम्पदा ।[1]

रामचन्द्र के आदेशपालन में कुशलव ने स्वर, पद, ताल, प्रमाण, मूर्च्छना आदि अंगों का शास्त्रशुद्ध गान कर अधिकारी श्रोताओं को चमत्कृत किया था। प्रतीत होता है कि श्रोताओं के अधिकार को दृष्टिगत करते हुए रामचन्द्र ने मार्गशैली में गायन करने का आदेश दिया हो। यद्यपि मार्ग तथा देशी के विभेद, के सम्वन्ध में कोई परिज्ञान रामायण में उपलब्ध नहीं, तथापि इसको शिष्टजन-सम्मत तथा अलंकृत शैली मानने में कोई प्रत्यवाय नहीं। गान्धर्व का प्रदर्शन श्रोताजन की योग्यता के अनुकूल किया जाता था। सामान्य श्रोताओं के सम्मुख गान्धर्वकला की सूक्ष्तता का प्रदर्शन नहीं किया जा सकता, यह तथ्य बुधजन-विदित है। ऐसी परिस्थिति में गान्धर्व के सहज माधुर्य से आकृष्ट जनता के लिये गान्धर्व के लौकिक स्वरूप का प्रकटन ही सम्भाव्य है।

संगीत का व्यवसाय करने वाले लोगों में गायक, सूत, मागध, बन्दी तथा वारांगनाओं का समावेश था। सामान्य जनता का मनोरंजन करने वाला इनका संगीत देशी अथवा लोकगम्य संगीत रहा हो, इसमें सन्देह नहीं। तत्कालीन नगरों में इन लोक-कलाकारों का महत्वपूर्ण स्थान था। अयोध्या-नगरी सूतमागध-सम्बाधा थी। सूत, मागध तथा बन्दिजन वादित्रों की ध्वनि के साथ प्राचीन गाथाओं तथा राजस्तुति को गाया करते थे।[2] इन गायक-वर्गों को राजसभा में वेतन पर नियुक्त किया जाता था।[3] राजा दशरथ की शवयात्रा में सूत आदि के द्वारा स्तुति गान किये जाने का उल्लेख रामायण में है।[4] आगन्तुक कलाकारों के स्वागत में कलागोष्ठी का आयोजन रसिक विद्वज्जनों की उपस्थिति में किया जाता था तथा उन्हें यथायोग्य पारितोषिक देकर सम्मानित किया जाता था। वाल्मीकि आश्रम में पहुंचने पर शत्रुघ्न के स्वागत के लिये तन्त्रीलयसमायुक्त रामायण का गान आयोजित किया गया था (उत्तर० ९३,१५; ९४,३)। यज्ञयाग के कर्मों से निवृत्त होने पर श्रीरामचन्द्र के समक्ष कुशलव के संगीत का प्रदर्शन प्रस्तुत किया गया था (९४,३०–३१)। इस गान-गोष्ठी में जिनको आमन्त्रित किया था, उनमें स्वरलक्षणज्ञ, गान्धर्वलक्षणज्ञ, कलामात्राविशेषज्ञ, शब्दविद् तथा गीतनृत्यविशारद व्यक्तियों का अन्तर्भाव था (वही ९४, ४–९)।

रामायणकालीन समाज में संगीत सर्वत्र परिव्याप्त दिखाई देता है।

---

१. बाल० ४, ३०

२. ७१, ३–४

३. ३५, २०

४. अयो० ८७, २३

अयोध्या, किष्किन्धा तथा लंका आदि नगर सदैव वाद्यों की सुमधुर ध्वनि से निनादित रहते थे ।[1] हर्ष की बेला में जो राजगृह मुरज, पणव, वेणु आदि तूर्यों के नाद से निनादित रहता था, उसीको सहसा विनादित पाकर भरत के मन में किसी अनिष्ट आपत्ति की कल्पना आ गई हो, तो आश्चर्य नहीं ।[2] राजा के प्रबोधनकाल में मंगल गीतवादित्रों के समवेत मृदंग तथा शंख शब्दों का घोष किया जाता था ।[3] संगीत राजाओं के मनोरंजन का प्रमुख स्रोत था । दुःस्वप्नों से व्यग्र भरत का गान, वादन, नृत्य, नाटक आदि से मनोरंजन करने का प्रयत्न किया गया था ।[4] सीता का मनोरंजन वीणा तथा वेणु के स्वन से किया गया था ।[5] वनवाटिका में सीता तथा रामचन्द्र का मनोविनोद गीतनृत्यविशारद नर्तिकाओं के द्वारा किया गया था (उत्तर० ४२, २१–२२) ।

संगीत कला को रामायणकाल में राज्याश्रय प्राप्त था, यह तथ्य रामायण की निम्न उक्ति से स्पष्ट हुआ है—

नाराजके जनपदे प्रभूतनटनर्तकाः ।[6]

अर्थात् बिना राज्याश्रय के नाट्य तथा नृत्य आदि ललित कलाओं का विकास कथमपि सम्भव नहीं । राजा दशरथ के देहावसान के अनन्तर वसिष्ठ तथा अन्य मंत्रीगण राज्य के उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में परामर्श करते समय इस बात की अनुभूति करते हैं कि अराजक राज्य में जो अनेक हानियाँ सम्भाव्य हैं, उनमें एक नृत्यादि ललितकलाओं का ह्रास भी है ।

स्वागत तथा विदाई जैसे समारोहों में संगीत का आवश्यक स्थान था । राजपरिवार के सदस्यों तथा अतिथिविशेषों का स्वागत शंख-दुन्दुभि के घोष तथा मागध आदि के स्तुति-गान से किया जाता था ।[7] पुत्रेष्टि—यज्ञ का पौरोहित्य करने के लिये ऋष्यश्रृंग को लेकर जब दशरथ ने नगरप्रवेश किया था, तब शंखदुन्दुभियों के निर्घोष से उनका स्वागत किया गया था । रामचन्द्र के वनवास से लौटने पर वादित्रकुशल व्यक्तियों ने शंख और दुन्दुभियों से उनका स्वागत

---

१. बाल० ५, १८, किष्कि० २७, २७; युद्ध ७५, २०
२. अयो० ५२, २६
३. वहीं, ७१, ३–४; १००, ८-९; १६, १४ तथा ३३; ८६, १
४. वहीं, ७५, ४
५. वहीं, ६६, १४
६, अयो० ७३, १४
७. बाल० ११, २६

किया था।[1] राम के अयोध्या लौटने का समाचार प्राप्त होते ही भरत ने आदेश दिया था कि शुचिव्रत पुरुष संगीत के साथ देवताओं का यथाविधि अर्चन करें।[2] जब भरत ने राम से भेंट करने के हेतु नन्दिग्राम के लिए प्रस्थान किया, तब शंख तथा दुन्दुभियों की ध्वनि तथा बन्दियों के स्तुतिगान से प्रस्थान-मंगल का आयोजन हुआ था।[3] राजकीय चलयात्राओं में तूर्यधारी, तालवादक तथा स्वस्तिकपाणि नर्तक आगे-आगे चला करते थे—

स पुरोगामिभिस्तूर्यैस्तालस्वस्तिकपाणिभिः।
प्रव्याहरद्भिर्मुदितैर्मंगलानि वृतो ययौ॥[4]

राजपुरुषों के जीवन में संगीत का प्रयोग सुख तथा दुःख दोनों प्रसंगों पर किया जाता था। रावण की अन्त्येष्टि के समय विविध तूर्यों के निर्घोष के साथ स्तुतिगान किया गया था।[5]

संगीत सदा से प्रणय का अभिन्न सहचर रहा है। तपस्वियों को लुभाने के लिये अप्सराओं को गान तथा नृत्य के लिए नियुक्त किया जाता था। ऋष्यशृंग को मोहित करने के लिए अप्सराओं ने मधुर स्वर में गायन किया था। मदकर्णि नामक मुनि को तपस्या से निवृत्त करने के हेतु अप्सराओं को नियोजित किया गया था। उनकी नृत्य-क्रीडा के साथ वादित किये गए वादित्रों की ध्वनि से समस्त वनभूमि प्रतिध्वनित हो उठी थी।[6] शृङ्गार की अभिवृद्धि के हेतु संगीत के साथ सुरा का भी सेवन प्रचलित था। लंका में रावण के अन्तःपुर में हनुमान ने मदमत्त तथा वाद्यवादन-संसक्त रमणियों को देखा था।[7] रावण के अन्तःपुर की स्त्रियां नृत्तवादित्रकुशला थीं तथा नृत्य के कोमल अंगहारों की विशेषज्ञा थीं।[8] सुग्रीव के अन्तःपुर में लक्ष्मण को संगीत की मधुर ध्वनि सुनाई पड़ी थी। गीत में स्वर तथा अक्षरों का मंजुल सामंजस्य था तथा गीत की ध्वनि तंत्री के द्वारा चतुर्दिक् में प्रसारित हो रही थी—

---

१. युद्ध० १२७, ३–५ तथा २१
२. ६, १२७, २
३. युद्ध० १३०, १७–१८
४. वहीं १२८, ३७
५. वहीं १११, १०८
६. आर० १२, ७ तथा १३-१७
७. सुन्दर १०, ३२ तथा ३७–४९.
८, वहीं, १०,३२ तथा १०,३६

तंत्रीगीतसमाकीर्णं समगीतपदाक्षरम् ॥ (किष्किन्धा० ३३, २१)

रामायण में नृत्य तथा नृत्त दोनों का उल्लेख है।[1] नृत्य का प्रयोग धार्मिक तथा लौकिक दोनों समारोहों पर किया जाता था। भगवान् की आराधना में गीत तथा नृत्य का प्रयोग किया जाता था। शिव की अर्चना करने के पश्चात् रावण ने गान तथा नृत्य किया था—

समर्चयित्वा स निशाचरो जगौ प्रसार्य हस्तान्प्रणनर्त चाग्रतः ॥

(उत्तर० ३१,४४)

नृत्य के साथ गायन तथा वादन अनिवार्य रूप से किया जाता था। शोकाकुल कौसल्या के सहज अंगसंचलन के निरूपण में वाल्मीकि ने उत्प्रेक्षा के द्वारा यह दिखलाया है कि नृत्य में गायन तथा अंग-प्रत्यंगों के संचलन के साथ आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति की जाती थी (बाल० ४४, ४४–४५)। लास्य सुकुमार नृत्य का एक प्रकार था (उत्तर० ४३,१)। विपंची वीणा की संगति में नर्तकियाँ नृत्य करती थीं, ऐसा वाल्मीकि के निम्न वचन से स्पष्ट है—

विपंची परिगृह्यान्या नियता नृत्यशालिनी ॥[2]

वादित्रों के लिये 'तूर्य' सामान्य संज्ञा थी तथा उनके अन्तर्गत शंख, दुन्दुभि, सुघोषा तथा नानाविध वेणु-वाद्यों का अन्तर्भाव था।[3] वाद्यों को आतोद्य तथा वादित्र कहा जाता था। रावण के अन्तःपुर की संगीत-सामग्री का विवरण देते हुए वाल्मीकि ने निम्न वाद्योंका उल्लेख किया है—वीणा, विपंची, मृदंग, मड्डक, पटह, पणव, डिंडिम तथा आडम्बर।[4] वीणा, विपंची तथा वल्लकी वीणावाद्य के तत्कालीन विभिन्न प्रकार रहे हैं।[5] वीणा उस समय का सर्वाधिक लोकप्रिय वाद्य रहा है। आनद्ध अथवा चर्मावृत वाद्यों में मुरज, चेलिका, दुन्दुभि आदि का उल्लेख रामायण में है। तत तथा आनद्ध वाद्यों का वादन जिस दण्ड से किया जाता था उसके लिये 'कोण' संज्ञा थी (६,३२,४३)। ताल को प्रदर्शित करने के लिए ताल-शब्दों को उच्चारण कर हाथ से ताल देने की प्रणालि थी।[6] महर्षि भारद्वाज के आश्रम में भरत के स्वागतार्थ संगीतकारों को नियुक्त किया गया था, जिस में शम्य ताल देने के लिये तालवादकों का दल नियुक्त था

१. २,२०,१०; ४,५, १७
२ १०,४०–४१
३. अ० ८६, १–३
४. सुन्दर, १०,३७–४५
५. ५,१०,४१; ५,१७,२३
६. किष्कि० २८,३६

(२,९१,४९)। वनवास से लौटने पर रामचन्द्र के स्वागतार्थ राजकीय चलयात्रा का आयोजन हुआ था, जिस में तालपाणि गायकों का समूह नेतृत्व कर रहा था—

स पुरोगामिभिस्तुर्यैस्तालस्वस्तिकपाणिभिः ॥ युद्ध० १२८,३७ ॥

ऐसे तालवादकों के लिये 'तालापचर' संज्ञा का प्रयोग हुआ है।

भेरी, दुन्दुभि, मृदंग तथा शंख आदि विशिष्ट वादित्रों का प्रयोग युद्धों में उत्साहवर्धन के लिये तथा राजाज्ञा एवं सेनासंगठन को सूचित करने के लिये किया जाता था। हनुमान के दण्डित किये जाने की उद्घोषणा राक्षसों ने शंख और भेरी बजाकर की थी (५,५३,१७)। इन वाद्यों के समवेत स्वन से सैनिकों के हृदयों में अपूर्व उत्साह का संचार होता था तथा शत्रुओं के हृदयों में भय का।[1] युद्ध के आरम्भ तथा मध्य में तथा विजय प्राप्ति के पश्चात् गीत, वाद्य तथा नृत्य प्रयोग होता था। नाग-पाश से रामलक्ष्मण के मुक्त हो जाने पर सैनिकों ने भेरी, मृदंग तथा शंख बजाकर अपनी हर्ष-व्यक्ति में तुमुल नाद किया था।[2] सीता के सम्बन्ध में वार्ता पाकर वानरों ने गान-नृत्य के द्वारा उल्लास की अभिव्यक्ति की थी।[3] भरद्वाज मुनि के आश्रम में भरत के सैनिकगण मालाएं धारण कर नृत्य, हास्य तथा गान में आत्मविभोर हो उठे थे (२,९१,६२)। इन्द्रजित का वध हो जाने पर गन्धर्वों एवं अप्सराओं ने गान तथा नृत्य किया था (६,९०,८५)।

रामायणयुग में नाट्यकला के अस्तित्व क निःसन्दिग्ध प्रमाण उपलब्ध होते हैं। रामायण में शैलूष, नट, नर्तक आदि का उल्लेख अनेक प्रसंगों पर किया गया है। नट तथा नर्तकों के समाजों में इन कलाओं के सामूहिक प्रदर्शन के लिये अवकाश दिया जाता था। कुछ नाटक ऐसे थे, जिन में भाषाओं का मिश्रण रहता था। ऐसे नाटक 'व्यामिश्र' कहलाते थे।[4] नाटक के अन्तर्गत पाठ्य-तत्व से सिद्ध है कि तत्कालीन नाटक केवल मूकाभिनय तक सीमित न थे। रामायण में पाये जाने वाले 'रंग' शब्द के उल्लेख से स्पष्ट है कि रंगमंच की कल्पना उस समय अंकुरित हो चुकी थी।[5] नाटकों के अतिरिक्त पुराण तथा कथावाचन की

---

१ ५७,२५–३०; युद्ध ३२,४४; ६५,३४

२. युद्ध ५०,६१–६२

३. सुन्दर० ५९,१८

४ अयो० २,१,७

५. ६,२४,४२–४३

परिपाटि भी प्रचलित थी। नट तथा नटो दोनों के संघ विद्यमान थे, जो विभिन्न प्रसंगों पर पुरातन कथाओं का अभिनय किया करते थे। अयोध्यानगरी में स्त्रियों के स्वतंत्र नाट्यसंघ होने की बात निम्न पंक्ति में स्पष्ट हो उठी है—

वधूनाटकसंघैश्च संयुक्तां सर्वतः पुरीम् ॥[1]

शैलूष-स्त्रियों का नैतिक व्यवहार कुछ शिथिल माना जाता था।[2] रामचन्द्र के जन्मोत्सव पर अयोध्या के मार्ग नट-नर्तकों से संकुल हो गये थे (१,१८,१८)। युद्ध के अभियान पर नट-नर्तकों के समूह सेना के साथ रहते थे (७,६४,३)। यज्ञ-समारोह में अन्यान्य शिल्पियों के साथ नट एवं नर्तकों का योगदान रहता था (१३,७–८)। यज्ञयाग के कर्मों से अवकाश पाने पर इनके द्वारा अपनी कला का प्रदर्शन मण्डली के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता था। समाज शब्द का प्रयोग रामायण में अनेक बार हुआ है, जो नाटकादि दृश्य कलाओं के प्रेक्षकगण के लिये है।[3]

रामायण में संगीतविषयक अनेक रूपक एवं उत्प्रेक्षाएं पाई जाती हैं, जिससे विदित होता है कि तत्कालीन सामाजिक एवं साहित्यिक जीवन संगीतमय हो चुका था। राम से वियुक्त सीता को देखकर वाल्मीकि को ऐसी वीणा का स्मरण हो आता है, जिसका रूप बहुत दिनों से अस्पृष्ट रहने के कारण विकृत हो गया हो तथा जो तन्त्रियों से विरहित हो गई हो—

क्लिष्टरूपामसंस्पर्शादयुक्तामिव वल्लकीम्।
स तां भर्तृहिते युक्तामयुक्तां रक्षसां वशे ॥ ५,१७,२३ ॥

युद्ध के अवसर पर रावण के चाप का हृदयंगम वर्णन वाल्मीकि ने निम्न शब्दों में किया है—

मम चापमयीं वीणां शरकोणैः प्रवादिताम्।
ज्याशब्दतुमुलां घोरामार्तभीतमहास्वनाम् ॥
नाराचतलसन्नादां तां ममाहितवाहिनीम्।
अवगाह्य महारंगं वादयिष्याम्यहं रणे ॥[4]

देखिये, चाप पर वीणा का कैसा सुन्दर रूपक वाल्मीकि ने रचा है। इसमें

---

१. १,५,१२

२. तुलना कीजिये—'शैलूष इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि' ॥२,३०,३८॥

३. २,६७,१५; २,१००,४४; ५,५७,१३; द्र० 'ड्रामा इन संस्कृत लिट्रेचर', जागिरदार, पृ० ४३।

४. युद्ध० २४,४२

न केवल सामान्य साहित्य-सौन्दर्य की बात है अथवा न केवल रसिकगम्य संगीत के सामान्य परिचय की बात है, अपि तु संगीतक्रियाकुशल व्यक्ति के दैनंदिन अवलोकन की बात निहित है। युद्ध के अवसर पर वीणा का रूपक आदिकवि की संगीतज्ञता को स्पष्टतः प्रकट करता है। इस रूपक के द्वारा रामायणकालीन वीणा का साकार एवं साक्षात् चित्र हमारे सम्मुख आविर्भूत होता है।

मायावी मारीच के द्वारा राम को बुलाये जाने पर सीता कठोर स्वर से लक्ष्मण को जब बाध्य करती है, उस प्रसंग में वाल्मीकि को ऐसी दुन्दुभि का स्मरण हो आता है जो जलार्द्र होने के कारण विस्वर बजती है।[1] गीत में व्यक्ति का व्यक्तित्व प्रस्फुटित हो उठता है, ऐसी आदि कवि की धारणा है—

> अन्तःस्वभावैर्गीतैस्तैर्नैपुण्यं पश्यता ध्रुवम्॥[2]

स्त्रियों के आभूषणों की संगीतानुकूल ध्वनि की ओर वाल्मीकि का ध्यान अवश्य गया है। राम के वनवास से लौटने पर भरत कहते हैं—

> तूर्यसंघातनिर्घोषैः कांचीनूपुरनिःस्वनैः।
> मधुरैर्गीतशब्दैश्च प्रतिबुध्यस्व शेष्व च॥[3]

तूर्य के साथ होने वाले आभरणों के नाद का उल्लेख निम्न पंक्ति में स्पष्टतः हुआ है—

> तूर्याभरणनिर्घोषः सर्वतः परिनादिताम्।[4]

वर्षा ऋतु के वर्णन में वाल्मीकि ने वन में प्रवृत्त निसर्ग-संगीत का रुचिर वर्णन निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया है—

> षट्पादतन्त्रीमधुराभिधारं प्लवंगमोदीरितकण्ठतालम्।
> आविष्कृतं मेघमृदंगनादैर्वनेषु संगीतमिव प्रवृत्तम्॥
> क्वचित्प्रनृत्तैः क्वचिदुन्नदद्भिः क्वचिच्च वृक्षाग्रनिषण्णकायैः।
> व्यालम्बबर्हाभरणैर्मयूरैर्वनेषु संगीतमिव प्रवृत्तम्॥[5]

अर्थात् भ्रमरों का गुञ्जन तन्त्री की ध्वनि-धारा को प्रवाहित कर रहा है, वानर गण अपने कण्ठ से ताल-मात्राओं का उच्चारण कर रहे हैं, मेघ मृदंग-नाद कर रहे हैं तथा गायन का कार्य वृक्षाग्र पर आसीन मयूरों के द्वारा किया जा रहा है, जो गायन तथा नृत्य दोनों में तत्पर हैं।

---

१. आरण्य० ६६,७

२. युद्ध० १७,६१

३. ६,१२८,१०

४. ५,३,११

५. किष्कि० २८, ३६–३७

संगीतशिक्षा की प्रणाली एवं सिद्धान्त

गान्धर्व विद्या को प्राप्त करने के लिये सुस्वरता प्राथमिक आवश्यकता मानी गई है। कुश तथा लव दोनों की स्वरसम्पन्नता तथा मेधा को देखकर ही वाल्मीकि ने रामायण का गान इन्हें सिखाया था।[१] संगीतशिक्षा के सिद्धान्तों का ज्ञान गुरुमुख के द्वारा प्रात्यक्षिक के साथ दिया जाता था तथा शिक्षित पाठों को बारम्बार आवृत्ति के द्वारा वाग्वश किया जाता था। विद्वज्जन तथा रसिकों के समक्ष जब संगीत का प्रदर्शन अभीष्ट था, तो यह आवश्यक था कि छात्र अपनी गुरु-परम्परा का वहन अखण्डित रूप से करे। वाल्मीकि ने लवकुश को आदेश दिया था कि रामायण का गान आत्मविश्वास के साथ तथा समाहित होकर किया जाना चाहिये। समाहितत्व अवधान का अपर पर्याय है, जो आगे चलकर गान्धर्व के आवश्यक उपादानों में अन्यतम माना गया। अवधान से तात्पर्य है गीत-स्वरों का ध्यानपूर्वक उच्चारण करना।[२] गान्धर्व में पद तथा स्वर दोनों का प्रमुख स्थान है। रामायण स्वयं गेय तथा काव्य दोनों का उत्कृष्ट निदर्शन था।[३] कुशलव के मुख से रामायण का गान सुनकर विद्वज्जनों की यह दृढ धारणा हुई थी कि इसके श्लोक सुरचित हैं ही, साथ ही गीत भी मधुर है।[४] पद तथा स्वर अथवा श्लोक तथा गीत दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। केवल गीत का माधुर्य ही पर्याप्त नहीं, अपितु आवश्यकता इस बात की है कि काव्य के भावों को हृदयंगम कर तथा उनमें प्रवेश कर गीतमाधुर्य का सम्यक् निर्वाह किया जाय। कुशलव के संगीत में काव्य की अर्थव्यक्ति तथा गीतमाधुर्य दोनों का मंजुल सन्निवेश था। कुश और लव ने जो युगल गान प्रस्तुत किया था, वह मधुर, रक्त तथा स्वरसम्पद् से समन्वित था।[५] ऐसा ही गान आयुवर्धक, पुष्टिकारक तथा सर्वश्रुति-मनोहर सिद्ध होता है, ऐसी रामायणकालीन मान्यता है।[६]

गेय के लिये आवश्यक गुणों का उल्लेख रामायण में प्राप्त होता है। कुशलव के द्वारा प्रस्तुत गान मधुर, व्यक्त, विश्रुतार्थ तथा स्वंचितायतनिःस्वन था। माधुर्य का सम्बन्ध स्वरगुच्छों के सौन्दर्ययुक्त सन्निवेश से है। माधुर्य गीति

---

१. बाल० ४, ५–६

२. द्र० दत्तिल २, ३।

३. बाल, ४, ७ तथा २७

४. वहीं, ४, १७

५. वहीं, ४, १९

६. वहीं, ४, २६–२७

का आवश्यक लक्षण है।[1] रामायण की शिक्षा समाप्त होने पर वाल्मीकि ने आदेश दिया था कि उसका गान सदैव तन्त्री के साथ मधुर स्वर से निःशंक रूप से किया जाना चाहिये।[2] 'व्यक्त' नामक गुण से तात्पर्य उस गुण से है जिस में गीत के विभिन्न पदों एवं स्वरों का सुस्पष्ट उच्चारण होता है। 'विश्रुतार्थ' गुण काव्य के प्रसादगुण का पर्यायस्वरूप माना जा सकता है। अर्थाभिव्यक्ति अप्रयास होने की बात प्रसाद के अन्तर्गत समाविष्ट है। गीतगान में भी यह आवश्यक है कि गान की क्रिया में गीतार्थ के परिज्ञान में किसी प्रकार की हानि न हो। अन्तिम गुण भारतीय संगीत के विशिष्ट गुण का प्रतिपादक है। इसके अनुसार स्वरों का आरोहावरोह प्रवाहित्व के साथ सम्पादित करने में संगीत का रंजकत्व निहित है। एकाकी स्वरों का उच्चारण भी पार्श्वस्थ स्वरों के आश्रय से किया जाना चाहिये, ऐसा भारतीय संगीत का महत्वपूर्ण संकेत है। इन्हीं गुणों का समुदाय तन्त्रीलयसमन्वित होने पर श्रोताओं में अलौकिक रस का संचार कराता है। कुशलव के गेय ने श्रोताजनों के गात्रों को, मन को एवं हृदयों का आनन्द से सराबोर कर दिया था।[3]

संगीत को लोकप्रिय बनाने के हेतु जिन तथ्यों का निरूपण वाल्मीकि ने किया है, वे नितान्त उपादेय हैं। जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, संगीत में माधुर्य अत्यन्त आवश्यक है। कण्ठ के माधुर्य की रक्षा के लिये शरीर-स्वास्थ्य की नितान्त आवश्यकता है, अन्यथा श्वास-प्रश्वास की नियमित तथा नियंत्रित गति सम्भव ही कैसे हो सकती है? अतः सुगायक के लिये आवश्यक है कि वह मिताहार का सेवन करे, जो उसके श्रम-परिहार तथा बल-परिवर्धन के लिये आवश्यक हो। संगीतसेवी व्यक्ति के लिये आवश्यक है कि वह धनलोभ से सदैव दूर रहे। वाल्मीकि ने रामायण-प्रसार के हेतु जो नियम कुशलव के सम्मुख रखे थे, वे नितान्त मननीय हैं—

> इमानि च फलान्यत्र स्वादूनि विविधानि च।
> जातानि पर्वताग्रेषु आस्वाद्यास्वाद्य गीयताम्॥
> लोभश्चापि न कर्तव्यः स्वल्पोऽपि धनवांछया।
> किं धनेनाश्रमस्थानां फलमूलाशिनां सदा॥[4]

---

१. उत्तर ७१, १४
२. उत्तर० ९३, ५०६
३. बाल० ४, ३२–३३
४, उत्तर० ९३, १०–११

स्पष्ट है कि अपने गायन के लिये इसी प्रकार का पारिश्रमिक न लेने की शिक्षा देकर वाल्मीकि ने शिष्यों के समक्ष कला को विक्रेय न बनाने का आदर्श स्थापित किया था। आवश्यकतानुसार धनलब्धि तथा आवश्यकतातिरिक्त धनवांछा इन दोनों में प्रभूत अन्तर हैं। धन का लालच संगीत-सेवा के लिये सदैव हानिकारक सिद्ध हो सकता है। रामायण का दिव्यगान जनजन के कल्याण के लिये रहा है। वाल्मीकि का कुशीलवों को आदेश था कि वे अपने काव्य का प्रसार केवल समाज की उच्च श्रेणी में ही नहीं, अपि तु समस्त प्राकृत जनों के बीच भी करे। (वहीं ९३, ५–६।)

रामायणकाल में गान्धर्व का उल्लेख दो अर्थों में पाया जाता है—१ गन्धर्व जाति के सम्मोहन अस्त्र के अर्थ में और २ संगीत विद्या के अर्थ में। यद्यपि संगीत की व्याख्या में गीत-वाद्य-नृत्य के समावेश के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट संकेत रामायण में नहीं पाया जाता, तथापि तीनों के अभिन्न साहचर्य के सम्बन्ध में प्रमाण अवश्य उपलब्ध होते है।[1]

साम तथा गान्धर्व का भेद रामायणकाल में स्पष्टतः परिलक्षित होता है। सामगान केवल यज्ञों के अन्तर्गत उद्गाताओं के द्वारा गाया जाता था और केवल वैदिक परम्परानुयायियों तक सीमित था। गान्धर्व अवैदिक एवं लौकिक संगीत था, जिसका क्षेत्र जनता के सभी स्तरों तक प्रसृत था। रामायण में गान्धर्व के जिन तत्वों का उल्लेख पाया जाता है, वे इस प्रकार हैं—स्वर, मूर्च्छना, पाठ्य, स्थान, ताल, लय, प्रमाण, जाति एवं रस। कुशीलवों का संगीत सर्वश्रुतिमनोहर तथा सुस्वर शब्दयुक्त था।[2] कुशलवों की संगीतगोष्ठी में जिन श्रोताओं को आमंत्रित किया गया था उनमें स्वरलक्षणज्ञ व्यक्तियों का समावेश था। इससे स्पष्ट है कि रामायणकाल में गान्धर्व के अन्तर्गत श्रुति तथा स्वरों की वैज्ञानिक विवेचना आरम्भ हो चुकी थी। मूर्च्छना के सम्बन्ध में रामायण में निम्न उल्लेख पाया जाता है—

तौ तु गान्धर्वतत्वज्ञौ स्थानमूर्च्छनकोविदौ। (बाल० ४, १०)

'मूर्च्छना' शब्द का व्यवहार मुख्यतः वीणा-तन्त्री के साथ किया गया पाया जाता है। रामायण के द्वारा संगीत के प्रसारार्थ आदेश देते हुए वाल्मीकि मूर्च्छनायुक्त गान का आदेश देते है। यथा—

> इमास्तन्त्रीः सुमधुराः स्थानं चापूर्वदर्शनम्।
> मूर्च्छयित्वा सुमधुरं गायतां.......... ॥ (उत्तर० ९३,१३)

---

१. बाल० ३२, १३; किष्कि० २८, ३६-३७; सुन्दर० २०, १०

२. बाल० ४, २६–२७; उत्तर० ९४, ३०–३१

रामायण में जातियों का उल्लेख दो अर्थों में प्राप्त होता है—१ पाठ्यजाति के रूप में और २ स्वर-जाति के रूप में । पाठ्य जाति का निर्माण विभिन्न वृत्तों तथा अक्षरों से होता है[1] तथा स्वर जातियों का निर्माण विविध स्वर-रचनाओं के द्वारा होता है । पाठ्य जाति का उल्लेख रामायण में निम्न रीति से हुआ है—

१—तां स शुश्राव काकुत्स्थः पूर्वाचार्यविनिर्मिताम् ।
अपूर्वां पाठ्यजातिं च गेयेन समलंकृताम् ॥[2]
२—पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम् ।
जातिभिः सप्तभिर्बद्धं तन्त्रीलयसमन्वितम् ॥[3]

गान्धर्व में कुशल कुश तथा लव के द्वारा जो वस्तु प्रस्तुत की गई थी, वह पाठ्य तथा गेय दोनों दृष्टियों से मधुर थी । पाठ्य का तात्पर्य रामायण के काव्य-बन्ध से है । रामायण का गेय रूप जैसा निर्दोष था, वैसा ही काव्य रूप भी ।[4] काव्य तथा गीत के तुल्य महत्व का स्पष्ट संकेत रामायण की निम्न उक्ति में है—

तन्त्रीगीतसमाकीर्णं समगीतपदाक्षरम् ।[5]

स्वर-जाति का स्पष्ट निर्देश रामायण के निम्न वचन में पाया जाता है—

जातिभिः सप्तभिर्बद्धं तन्त्रीलयसमन्वितम ॥

अर्थात् कुशलव के द्वारा प्रस्तुत रामायण–गान सप्त जातियों में निबद्ध था तथा तन्त्रीलय से समन्वित था । रामायणकालीन जाति-प्रणाली की सम्बन्ध में निम्न विवेचन उपादेय होगा ।

भरत के अनुसार षड्ज तथा मध्यम दो ग्रामों को मिलाकर शुद्ध जातियाँ सात हैं तथा शुद्धविकृत अथवा मिश्र जातियां एकादश हैं।[6] रामायण में उल्लिखित सप्त जातियों के उल्लेख से यह प्रमाणित है कि सात शुद्ध जातियों का प्रचार उस काल में था। इसके माध्यम से तत्कालीन ग्राम की समस्या सहज ही हृदयंगम हो सकती है । उपर्युक्त सात जातियों में से चार षड्ज ग्राम की जातियाँ है तथा शेष तीन मध्यम ग्राम की हैं । इससे स्पष्ट है कि रामायणकाल में संगीत के

---

१. द्र० नाटयशास्त्र, अ० ३२, ३३१, जिसमें पाठय-जाति की निम्न परिभाषा पाई जाती है—वृत्ताक्षरप्रमाणं हि जातिरित्यभिसंज्ञिता: ॥

२. उत्तर० ९४, २

३. बाल० ४, ८, ९

४. उत्तर० ४, १७

५. किष्कि० ३३, २१

६. नाट्य० पृ० ३२२, काशी सं०

अन्तर्गत षड्ज तथा मध्यम उभय ग्रामों का प्रचलन था। इन दो ग्रामों के माध्यम से तत्कालीन स्वरों का परिचय भी सहज सम्भाव्य है। सप्त शुद्ध स्वरों के प्रयोग के सम्बन्ध में तो सन्देहावकाश नहीं, परन्तु इनके अतिरिक्त अन्तर ग तथा काकलि नि का प्रयोग भी होता होगा, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। भरत के अनुसार मध्यम ग्राम की मध्यमा तथा पंचमी इन दो जातियों में स्वरसाधारण के रूप में काकलि निषाद तथा अन्तर गान्धार का प्रयोग विहित है। अतः इन जातियों के प्रयोग में अन्तर ग तथा काकलि नि का प्रयोग भी किया जाता रहा, इसमें सन्देह नहीं।

जैसा ऊपर निर्दिष्ट है, रामायण में स्थान, ताल, लय, प्रमाण, करण तथा रस का अन्तर्भाव गान्धर्व के अन्तर्गत किया गया है। शत्रुघ्न के सम्मुख जो गान हुआ था, वह 'त्रिस्थानकरणान्वित' था। करण से अभिप्राय तालदर्शक प्रहारों से है, जिससे स्पष्ट है कि रामायण का गान ताल तथा लय के साथ सम्यक् रूप से किया जाता था। रामायण के गान में 'रक्त' गुण विद्यमान होने के सम्बन्ध में संकेत निम्न पंक्ति में पाया जाता है—

सहितौ मधुरं रक्तं सम्पन्नं स्वरसम्पदा।[1]

रामायण की पाठ्य-जाति बहुप्रमाण बतलाई गई है (उत्तर० ९४, ३)। प्रमाण से अभिप्राय लय से है, जो कि त्रिविध है—द्रुत, मध्य तथा विलम्बित—'प्रमाणानि द्रुतमध्यविलम्बितानि'। रामायणकालीन काव्यगायन में रसाभिव्यक्ति काव्य का उद्देश्य माना जाता था, यह तथ्य निम्न उक्ति से नितरां स्पष्ट है—

रसैः शृङ्गारकरुणहास्यरौद्रभयानकैः।
वीरादिभी रसैर्युक्तं काव्यमेतदगायताम् ॥ बाल० ४,९ ॥

जातियों के अतिरिक्त राग-प्रणाली के अस्तित्व के सम्बन्ध में संकेत रामायण में प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में सुन्दरकाण्ड में उपलब्ध निम्न पंक्ति मननार्ह है—

चरितं कैशिकाचार्यैरैरावतनिषेविते। (१, १७२)

'कैशिकाचार्य' शब्द की व्याख्या में टीकाकार गोविन्दराज का निम्न कथन है—

"कैशिके रागविशेषे आचार्यैः विद्याधरविशेषैरित्यर्थः"

अन्य टीकाकार की व्याख्या[2] इसी से मिलने जुलने वाली है, यथा—

१. बाल० १४,२८
२. द्र० 'संगीत ओ संस्कृति,' प्रज्ञानानन्द, पृ० ६४।

'कैशिकं गाननृत्यविद्या तदाचार्यैस्तुम्बरुप्रभृतिगन्धर्वैश्चरिते सेविते' ॥
टीकाकार की यह सम्मति युक्तियुक्त प्रतीत होती है। कैशिक राग प्राचीन ग्रामरागों में से अन्यतम है, जिसका उल्लेख नारदीय शिक्षा तथा नाटचशास्त्र आदि प्राचीन ग्रन्थों में परम्परागत रूप से हुआ है। हरिवंश पुराण के साक्ष्य से स्पष्ट है कि ई० पूर्व शताब्दियों में गान्धर्व के अन्तर्गत कैशिक आदि ग्राम रागों का पर्याप्त प्रचलन था।[१] रामायण में उल्लिखित कैशिकाचार्य से अभिप्राय सम्भवतः उन गन्धर्वों से हो, जिन्होंने कैशिक राग पर प्रभुत्व सम्पादित किया था। गन्धर्वों का निवास-स्थान अन्तरिक्ष होने के कारण कैशिकाचार्यों के अन्तरिक्ष-संचार की बात यहाँ उल्लिखित हो, ऐसी यथार्थ कल्पना की जा सकती है।

इस प्रसंग में रामायण के निम्न श्लोक का विवेचन यहां अप्रासंगिक न होगा—

तां स शुश्राव काकुत्स्थः पूर्वाचार्यविनिर्मिताम्।
अपूर्वां पाठ्यजातिं च गेयेन समलंकृताम् ॥ (उत्तर० ९४, २)

रामायण की तिलक नामक टीका के अनुसार[२] पूर्वाचार्य से अभिप्राय यहाँ भरतमुनि से है—'पूर्वाचार्येण भरतेन निर्मिताम्'।

इस सम्बन्ध में हमारा विनम्र निवेदन है कि टीकाकार की यह सम्मति कथमपि ग्राह्य नहीं मानी जा सकती। उपर्युक्त श्लोक में 'पूर्वाचार्यैविनिर्मिताम्' का सम्बन्ध स्पष्टतः 'पाठचजातिम्' इस पद के प्रति है। स्पष्टार्थ यह है कि श्रीरामचन्द्र ने कुशलव के मुख से जिस कृति का श्रवण किया, उसकी पाठच-जाति अथवा काव्यरचना अपूर्व थी और इसका निर्माण पूर्वाचार्य के द्वारा सम्पादित किया गया था। इस दृष्टि से देखे जाने पर 'पूर्वाचार्य' से तात्पर्य यहाँ रामायण के रचयिता वाल्मीकि के अतिरिक्त अन्य किसी से नहीं लिया जा सकता।

इसी टीकाकार के अनुसार रामायण की निम्न पंक्ति में भी नाट्याचार्य भरत मुनि का संकेत हुआ है—

एवं गन्धर्वराजानो भरतस्याग्रतो जगुः।
....

उपानृत्यन्त भरतं भरद्वाजस्य शासनात् ॥ (अयोध्या० १०४,४८)

उक्त टीकाकार की सम्मति में भरत से अभिप्राय यहां भरतप्रणीत नृत्य से है—'पूर्वाचार्येण भरतेन निर्मितम्'। इस व्याख्या के आधार पर यह तर्क उपस्थित

१. इस सम्बन्ध में द्र० इसी प्रबन्ध का अ० ७, शीर्षक—'पुराण तथा तन्त्र ग्रन्थों में संगीतविद्या'।

२. द्र० 'संगीत ओ संस्कृति', खण्ड २, पृ० ६० तथा ७२, प्रज्ञानानन्द।

किया गया है कि यह भरत नाटचशास्त्रकार भरत से पूर्ववर्ती हैं तथा इनका ऐकात्म्य ब्रह्म-भरत अथवा सदाशिव-भरत से स्थापित किया जाना चाहिये[1]। निम्न विवेचन से स्पष्ट होगा कि यह तर्क न केवल कष्टकल्पना मात्र है, अपि तु नितान्त भ्रान्त कहा जा सकता है। जहांतक टीकाकार की व्याख्या का प्रश्न है, 'उपानृत्यन्त भरतम्' इस पाद का अर्थ टीकाकार की अदूरदर्शिता का ही परि-चायक माना जा सकता है। यह श्लोक उस प्रसंग में आया है जहां रामानुज भरत ने चित्रकूटस्थ राम से भेंट करने के लिये प्रस्थान किया था और मार्ग में भरद्वाज मुनि के आश्रम में निवास किया था। मुनि ने अनेक राजसी सिद्धियों के द्वारा भरत का स्वागत-सत्कार किया, जिस में नारद, तुम्बरु, पर्वत जैसे गन्धर्वराजों का गान तथा मिश्रकेशी, अलम्बुसा आदि दैवी अप्सराओं का नृत्य सम्मिलित था।[2]

अतएव 'उपानृत्यन्त भरतम्' इस पदसमूह में रामभ्राता भरत का ही अर्थ रामायणकार को अभिप्रेत है, नाटचशास्त्रकर्ता भरत का नहीं। महत्व की बात यह कि समस्त रामायण में भरत मुनि का उल्लेख, चाहे वह वृद्ध भरत हों अथवा नाटचशास्त्रकार भरत हों, एक बार भी नहीं हुआ है। अतएव इस टीका के आधार पर नाट्याचार्य भरत की खोज रामायण में करना मृगमरीचिका मात्र सिद्ध हो सकता है[3]।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि रामायणकालीन संगीत का विवेचन न केवल तत्कालीन सांस्कृतिक उन्नति का बोधक है, अपि तु संगीतसम्बन्धी तत्वों के उद्घाटन के लिये परम उपादेय है। निष्कर्ष के रूप में निम्न तथ्यों को यहाँ संकलित किया जा सकता है—

रामायण काल में साम तथा गान्धर्व दोनों गान-प्रणालियों का पर्याप्त प्रचलन था। सामगान वैदिक परम्परा के अन्तर्गत था तथा गान्धर्व लौकिक

---

१. वहीं।

२. अयोध्या० १०४, ४८–४९

३. स्वामी प्रज्ञानानन्द के अनुसार भरद्वाज के आदेश से प्रस्तुत भरत-नृत्य नाटचशास्त्र से प्राचीन भरत की परम्परा का ही बोधक माना जा सकता है। उनके अनुसार यद्यपि भरद्वाज का कोई नाटचशास्त्र विषयक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं, तथापि भरद्वाज का प्राचीन मुनि के रूप में उल्लेख रामायण, महाभारत तथा नाटचशास्त्र में पाया जाता है। यह मत तिलक टीका पर आधारित है। आधार खण्डित होने पर आधेय स्वतः भ्रष्ट हो जाता है, यह कहने की आव-श्यकता नहीं।

परम्परा में। साम संहिता के स्वर तथा वर्णों के सम्यक् उच्चारण तथा गान के लिये शिक्षावाङ्मय का आविर्भाव हो चुका था। सामगान का धार्मिक महत्व था तथा इनका गान यज्ञादि कार्यों पर तथा अन्त्येष्टि क्रिया के साथ विधिविधान के अन्तर्गत किया जाता था। इसी के साथ गान्धर्व का विकास भी इस युग में चरम उन्नति पर पाया जाता है। गान्धर्व का अभ्यास उपासना के रूप में किया जाता था। गान्धर्व के अन्तर्गत श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, जाति, स्थान, प्रमाण आदि का अध्ययन किया जाता था। गान्धर्व की शिक्षा प्राप्त करने के लिये स्वरवान् होना आवश्यक माना जाता था। कण्ठ को स्वाधीन रखने के लिये मिताहारविहार आवश्यक माना जाता था। रामायणकाल में जाति तथा राग दोनों का सम प्रचलन पाया जाता है। भरतप्रणीत अष्टादश जातियों में से केवल सात शुद्ध जातियों का प्रचलन इस काल में उपलब्ध है। काव्यों का गान इन्हीं जातियों के आश्रय से किया जाता था तथा इसका लक्ष्य रसनिष्पत्ति माना जाता था। रागों के अन्तर्गत 'कैशिक' नामक विशिष्ट राग के प्रचलन का स्पष्ट प्रमाण रामायण में प्राप्त होता है। गान्धर्व का गान मार्ग तथा देशी दोनों शैलियों में किया जाता था। गान के साथ वीणावादन की संगति का गौरवपूर्ण स्थान था। वीणा के अन्तर्गत वल्लकी तथा विपञ्ची का विशेष प्रचार था। तत तथा आनद्ध दोनों जिस दण्ड से बजाये जाते थे, उनके लिये 'कोण' संज्ञा थी। समाज जैसे लोकोत्सवों में गीत, वाद्य, नृत्य तथा नाटच का प्रदर्शन रंगभूमि पर किया जाता था। इनके साथ ताल का विशेष महत्व माना जाता था तथा हाथ से ताल देने वाले लोगों का एक विशिष्ट वर्ग था। तालवाद्यों में मृदंग, आलिंग्य, ऊर्ध्वक, आडम्बर, पणव, मुरज आदि का विशेष प्रचलन था। पटह, भेरी तथा दुन्दुभि का प्रयोग प्रायः युद्ध-संगीत में किया जाता था। सुषिर वाद्यों में वेणु तथा शंख का प्रचलन था।

गान्धर्व के आचार्यों में नारद तथा तुम्बुरु की ख्याति थी। नृत्य के लिये अप्सराओं को प्रतिमान माना जाता था। नृत्य तथा नाटच का व्यवसाय नट, नर्तक तथा शैलूष जातियां करती थीं तथा इनको राज्याश्रय प्राप्त था। अतिथि कलाकार की कला का प्रदर्शन यज्ञादि अवसरों पर तथा समाजों में निमंत्रित विशेषज्ञ व्यक्तियों के सम्मुख होता था तथा इनको योग्यतानुकूल पारितोषिक दिया जाता था। नृत्य के अन्तर्गत सुकुमार अंगहारों वाला लास्य प्रकार भी था तथा इसका प्रदर्शन गीत तथा वाद्य के साथ प्रायः स्त्रियों के द्वारा किया जाता था। रामायण के अन्तःसाक्ष्य से नितरां स्पष्ट है कि गान्धर्व तथा नृत्य-नाटच की यही परम्परा आगे चलकर भरतपरम्परा के रूप में विकसित हो गई।

(रि) महाभारत में संगीत

महाभारत का भारतीय साहित्य में एक विशिष्ट स्थान रहा है। प्राचीन भारत की सांस्कृतिक स्थिति का मानचित्र प्रस्तुत करने के कारण ऐतिहासिक महाकाव्य के रूप में इसका सर्वत्र समादर है। इस विशालकाय एवं सर्वकष महाकाव्य में प्राचीन भारतीय संस्कृति का जैसा सर्वांगीण चित्र उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र नहीं। सम्भवतः इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर महाभारत के सम्बन्ध में—'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित्'—यह मान्यता विद्वज्जन-मान्य हो गई है। महाभारत का बृहत् कलेवर प्राचीन आख्यानों तथा उपाख्यानों के समावेश से निर्मित होता चला आ रहा है। ये लौकिक उपाख्यान युग-युग की सांस्कृतिक चेतना से संवलित वीर-गीतों के रूप में जनजीवन में दृढ़मूल रहे हैं तथा उनका प्रसार मागध, सूत, चारण आदि लोकगायकों के द्वारा होता चला आ रहा है। तत्कालीन जनजीवन में इन कलाकारों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। वैदिककाल से लेकर जिन गाथाओं का गान यज्ञ तथा अन्य लोकोत्सवों पर किया जाता रहा, वह इसी देशी संगीत की प्रातिनिधिक रही। पुरुषार्थी राजाजन तथा वीर पुरुषों का चरित्रगान ही इन लोक-गीतों का उद्देश्य रहा। शान्तिकाल की भांति युद्धकाल में भी इनका संगीत चैतन्यमय तथा भावोद्दीपक रहता था। राजपरिवार में मागध, सूत, चारण तथा बन्दीजनों का अनिवार्य स्थान इसी दृष्टि से रहता था। वीणा के साथ गाये जाने वाले इन्हीं लौकिक गीतों के आश्रय से ये कलाकार राजाओं को अपनी लक्ष्यसिद्धि के लिये प्रेरित करते थे[१]। महा-भारत का निर्माण ऐसी ही परम्परागत वीर-गाथाओं के द्वारा हुआ है। इस महाकाव्य के आधार पर तत्कालीन संगीतविषयक तथ्यों को यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

महाभारत काल में साम तथा गान्धर्व दोनों का विपुल प्रचार दृष्टिगत होता है। वैदिक संस्कृति का उत्कर्षकाल होने के कारण वैदिक संगीत की परम्परा अक्षुण्ण रूप से प्रचलित थी। स्वर, पद, स्तोभ, स्तोम आदि अङ्गों का अध्ययन वैदिक शिक्षा के अभिन्न अङ्ग के रूप में किया जाता था। पठन-पाठन के सौकर्य के लिये विभिन्न वेदों के शिक्षा-ग्रन्थों का निर्माण हो चुका था तथा इनका प्रयोग प्रत्यक्ष व्यवहार में प्रचलित था—

श्रुतिस्तोमग्रहस्तोमपदक्रमविभागवित्।

× × ×

१.—द्र० 'संक्षिप्त महाभारत', वैद्य, उद्योगपर्व ११, ६०६–७ तथा ३, १३, १४।

शिक्षाक्षरविशेषज्ञः पुराकल्पविशेषवित् ।[1]

अग्निष्टोम, राजसूय, वाजपेय आदि यज्ञों का पर्याप्त प्रचलन था ।[2] इन यज्ञों से सम्बद्ध वैदिक कर्मों की निर्दोषता के सम्बन्ध में सावधानता बरती जाती थी—

वैदिकानि च कर्माणि भवन्ति विगुणान्युत । (६,३,११५)

सामगान की परम्परा इस काल में विशुद्ध एवं विकसित रूप में रही हो, तो आश्चर्य की बात नहीं । यज्ञयागों में होता, अध्वर्यु तथा सागम तीनों का स्वतंत्र एवं महत्वपूर्ण दायित्व था । होता का कार्य शंसन अर्थात् मंत्रपाठ करना था, अध्वर्यु का कार्य हवन करना था तथा सामगायक का कार्य स्तुतिगान करना था—

ऋग्भिर्यमनुशंसन्ति नामकर्माणि बह्वृचाः ।
यजुर्भिर्यं हविर्वेद्या जुह्वुरध्वर्यवोऽध्वरे ॥
सामभिर्ये च गायन्ति सामगाः शुद्धबुद्धयः ।
(अनुशासन० २३, ४९–५०)

सामगान के अन्तर्गत हायि हायि, हुआ हायि, हावु हायि आदि स्तोम-शब्दों का प्रयोग किया जाता था[3] । सामगान का उद्देश्य परमात्मा की आराधना माना जाता था—

ऋक्सामानि तथोङ्कारं आहुस्त्वां ब्रह्मवादिनः ॥
हायि हायि हुआहायि हावुहायि यथासकृत् ।
गायन्ति त्वां सुरश्रेष्ठ सामगा ब्रह्मवादिनः ॥ शान्ति १२५–१२६ ॥

सामगीतों के अन्तर्गत रथन्तर एवं बृहत्साम का विशेष प्रचलन था—

रथन्तरं यच्च बृहच्च गीयते यत्र वेदिः पुण्यजनैर्वृता च ।

यज्ञ प्रसंगों पर सामगान के अतिरिक्त परम्परागत गाथा-गीतों का गाने का प्रचार था—

सामानि स्तुतिगीतानि गाथाश्च विविधा अपि । (सभा० ११,३५)

महाभारत काल में गेय प्रबन्धों के अन्तर्गत साम, गाथा तथा मंगलगीतियों का प्रामुख्य से उल्लेख पाया जाता है । इन गाथाओं का गान गन्धर्व तथा कथा-गायक एवं पौराणिक जैसे व्यक्तियों के द्वारा किया जाता था—

---

१. द्र० सभापर्व, ५,३–१० ।
२. शास्त्र० ४५,३१–३५; शान्ति० १४४,५२
३. शान्ति० २५३,३९

(अ) गाथामप्यत्र गायन्ति ।[1]
(आ) सामानि स्तुतिगीतानि गाथाश्च विविधा अपि ।[2]
(इ) गायन्ति गाथा गन्धर्वान्……।[3]
(ई) दिव्यगानेषु गायन्ति गाथा दिव्याश्च भारत ।[4]
(उ) अत्र गाथा ब्रह्मगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।[5]

गाथाओं का ब्रह्मगीत होने के सम्बन्ध में उल्लेख यह स्पष्ट करता है कि इन गाथाओं का गान प्राचीन काल से परिनिष्ठित रूप में किया जाता रहा है। गाथाओं के ब्रह्मगीत होने से महाभारतकार का तात्पर्य उनकी प्राचीन परम्परा से है, इसमें सन्देह नहीं। याज्ञवल्क्य स्मृति में ऋक्, गाथा तथा पाणिका नामक गीतों को प्राचीन एवं ब्रह्मोक्त माना गया है।[6] यह ब्रह्मा सृष्टिरचयिता आदि पुरुष है अथवा उस नाम के कोई ऐतिहासिक पुरुष हैं, इसका निर्णय करने के लिये कोई सबल सामग्री उपलब्ध नहीं। प्रतीत होता है कि इन गीतों की प्राचीनता तथा गौरव को उपलक्ष्य कर स्वयम्भू ब्रह्मा के साथ इनका सम्बन्ध स्थापित किया गया हो।[7]

स्पष्ट है कि इस कालखण्ड में वैदिक संगीत की पर्यालोचना आरम्भ हो चुकी थी। सामगान का प्रयोग वैदिक आर्यों के दैनन्दिन जीवन का अंग था। यज्ञ-यागादि कार्यों के अतिरिक्त जन्म तथा मृत्यु जैसे लौकिक प्रसंगों पर भी सामगान किया जाता था। ऋषियों के आश्रम में सामसंहिता का पाठ तथा सामगीतों का गान निरन्तर प्रचलित रहता था।[8] यज्ञ के प्रसंगों पर सुसामा सामगों को गान

---

१. आदि० १०८, ४९; सभा० ३५,२१६
२. सभा० ११, ३५
३. उद्योग० ९६, ९–१०
४. सभा० ४, ४७
५. शान्ति० १२६, १
६. ३, ११४; द्र० ना० शा० ३१,२; ३१, ४१९ व ४२१; ३१,५२८

७. इसी प्रकार आदिपुरुष के साथ किसी विद्या को जोड़ देने की बात क्या भारतीय और क्या पाश्चात्य, सभी देशों में पाई जाती है। भरत के अनुसार नाट्यवेद के स्रष्टा भगवान ब्रह्मा हैं (ना० शा० १,१८)। दत्तिल के अनुसार ब्रह्मा गान्धर्वशास्त्र के आदिम आचार्यों में से हैं (द्र० १–२)। समरांगण-सूत्रधार के अनुसार स्थापत्य, चिकित्सा, धनुर्वेद तथा ज्योतिष सभी का उद्भव ब्रह्मा से हुआ है।

८. संक्षिप्त महाभारत, सं० वैद्य, आदि० ७,८–९; वन० ७,३०४।

के लिये नियुक्त किया जाता था।[1] यज्ञ जैसे धार्मिक प्रसंगों के अतिरिक्त अन्त्य-क्रिया के समय पर साममान के प्रयुक्त किये जाने का उल्लेख महाभारत के निम्न श्लोक में पाया जाता है—

सामानि सामगास्तस्य गायन्ति यमसादने।
हविर्धानं तु तस्याहुः परेषां वाहिनीसुखम्॥ (शान्ति० ८९,५२)

मौसल पर्व में श्रीकृष्णनिर्वाण के पश्चात अन्त्यक्रिया के समयपर सामगायकों के द्वारा सामघोष किये जाने का स्पष्ट उल्लेख है।[2]

वैदिक संगीत के अतिरिक्त गान्धर्व जैसे लौकिक गान के प्रचार के सम्बन्ध में प्रचुर प्रमाण महाभारत में उपलब्ध होते हैं। संगीतकला के लिये 'गान्धर्व' संज्ञा थी तथा इसमें साम के अतिरिक्त गीत, वादन तथा नर्तन का अन्तर्भाव माना जाता था (वन० ९१, १४–१५; शान्ति० १६८,५८; अनु० १२८, ३२४; आश्वमे० १,१५२,३२)। महाभारतकार के अनुसार संगीत के षड्ज आदि सप्तस्वर शब्द का विस्तार है, जो स्वयं आकाश का गुण है—

तत्रैकगुण आकाशः शब्द इत्येव स स्मृतः।
तस्य शब्दस्य वक्ष्यामि विस्तरेण बहून् गुणान्॥
षड्जर्षभः गान्धारो मध्यमः पंचमः स्मृतः।
अतः परं तु विज्ञेयो निषादो धैवतस्तथा॥
इष्टश्चानिष्टशब्दश्च संहतः प्रतिभानवान्।
एवं बहुविधो ज्ञेयः शब्द आकाशसम्भवः॥[3]

पटह, भेरी, मृदंग, शंख आदि वाद्यों की ध्वनि इसी शब्द-गुण का विस्तार है। यही शब्द विभिन्न मौलिक तत्वों का मूल स्रोत माना गया है—

आकाशमुत्तमं भूतमहंकारस्ततः परः।
अहंकारात्परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा ततः परः॥ (वही, ५३, ५५॥

संगीत के दिव्य कलाकारों के रूप में गन्धर्व तथा किन्नरों का उल्लेख महाभारत में हुआ है। गन्धर्व, किन्नर तथा किंपुरुषों के निवासस्थान पर गीत

---

१. वही सभा० ५,१७०

२. वहीं

३. आश्व० ५३, ५२–५४; द्र० शान्तिपर्व, १८४, ३८–४१ में एतत्तुल्य उल्लेख—

तस्य शब्दस्य वक्ष्यामि विस्तरं विविधात्मकम्। षड्जऋषभगान्धारौ मध्यमौ धैवतस्तथा। पंचमश्चापि विज्ञेयः तथा चापि निषादवान्॥ एष सप्तविधः प्रोक्तः गुण आकाशसम्भवः॥ म० भा० चित्रशाला प्रेस, पूना॥

तथा तूर्य-वाद्यों का निनाद सदैव गुञ्जायमान रहता था।[1] गन्धर्वों के कुलों में साम तथा समताल गीतों की ध्वनि निरन्तर प्रवर्तित रहती थी।[2] इन्द्रभवन में संगीताराधना के लिये विश्वावसु जैसे देवगन्धर्वों को नियुक्त किया जाता था। गान्धर्व विद्या में प्रवीण ये गन्धर्वजन गीत, नृत्य आदि के द्वारा देवताओं का मनोरंजन करते थे।[3] हाहा, हूहू, नारद तथा तुम्बरु का स्थान गान्धर्व कला के अधिकारी आचार्यों में अन्यतम था। नारद की ख्याति गान्धर्व के प्रतिष्ठापक आचार्य के रूप में थी।[4] युधिष्ठिर की सभा में तुम्बुरु की प्रेरणा पर गन्धर्वों तथा किन्नरों के सशास्त्र गायन का उल्लेख है—

गीतवादित्रकुशलाः शम्यातालविशारदाः ।
प्रमाणे च लये स्थाने किन्नराश्च कृतश्रमाः ॥
ते चोदितास्तुम्बुरुणा गन्धर्वाः किन्नरैः सह ।
दिव्यगानेषु गायन्ति गाथा दिव्याश्च भारत ॥

(सभा० ४,४४-४७)

महाभारत में गीत, वादित्र तथा नृत्य का प्रयोग जनजीवन के अभिन्न अङ्ग के रूप में होता रहा है।[5] गीत, नृत्य, नाट्य आदि का विशेष प्रयोग उत्सवों के अवसर पर किया जाता था। रैवतक पर्वत पर आयोजित लोकोत्सव में श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के द्वारा नृत्य-नाट्य देखे जाने का उल्लेख है। खाण्डवदाह के अवसर पर श्रीकृष्ण तथा अर्जुन ने जलविहार के साथ गीत, नृत्य तथा पान आदि का आयोजन किया था। द्रुपद की राजधानी में तूर्यौघ की ध्वनि सदैव प्रचलित रहती थी।[6] पांचालराज की सभा में गीत तथा नृत्य का स्वर सदैव गूंजता रहता था। महापुरुषों के आगमन के उपलक्ष्य में संगीत का आयोजन किया जाता था जिसमें गायक वर्ग के साथ गणिकाएं भी योगदान प्रदान करती थी।[7] महापुरुषों के नगर-निर्गमन के अवसर पर समुचित संगीत से विदाई का आयो-

---

१. संक्षिप्त महाभारत, सं० वैद्य, १९,९६९—७०; वन० ११,५२४।

२. वही, १९,९८२—८३।

३. सभा० ५, २४; आश्व० ९४, १३

४. शान्ति० २१०, २१

५. आदि० २००, ९९; २०६, ४; २०७, ११४ तुलनार्थ द्र० सभा० ५,२४ तथा ८,३६; शान्ति० २९७,२८; आश्व० ४०,१३।

६. संक्षिप्त महाभारत, सं० वैद्य, आदि० ११,१५।

७. वहीं, विराट० ४,३१०।

जन किया जाता था। ऐसे ही समय पर गीत के साथ पणव, वंश, कांस्यताल आदिका समवेत वादन किये जाने का उल्लेख निम्न स्थान में पाया जाता है—

बन्दिप्रवादाः पणवादिकाश्च तथैव वाद्यानि च वंशशब्दाः।
सकांस्यतालं मधुरं च गीतमादाय नार्यो नगरान्निरीयुः॥[1]

देवराज इन्द्र की सभा में अर्जुन का गीत, वाद्य, नृत्य से स्वागत किया गया था, जिसमें तुम्बुरु प्रभृति गन्धर्वों ने वीणादि वाद्यों के साथ गान किया था तथा घृताची, मेनका, रम्भा, उर्वशी आदि अप्सराओं ने भावपूर्ण नृत्य किया था (सभा० ५, २४)। नृत्य प्रायः गीत तथा वाद्य के साहचर्य से प्रवर्तित होता था।[2] लास्यादि नृत्यों में भावप्रदर्शन का महत्वपूर्ण स्थान था।

गीत एवं नृत्य के साथ वाद्य का सदैव साहचर्य रहा है। महाभारत में वादित्र के अन्तर्गत तत, वितत, घन तथा सुषिर इन चतुर्विध वाद्यों के नानाविध प्रकारों का उल्लेख पाया जाता है। वीणा का साहचर्य गान के साथ अभिन्न रूप से उपलब्ध होता है। यज्ञादि समारोहों पर गायन के साथ सदैव वीणा-वादन किया जाता रहा है।[3] वीणा एवं वल्लकी दोनों का उल्लेख महाभारत में स्वतंत्र रूप से पाया जाता है—

वीणानां वल्लकीनां च नूपुराणां च शिंजितैः। (अनु० ६०, ५१)

इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वीणा तथा वल्लकी दोनों स्वतंत्र एवं विभिन्न तन्त्री-वाद्य थे। वीणा के प्रचुर एवं गौरवपूर्ण उल्लेखों से स्पष्ट है कि यह वाद्य तन्तुवाद्यों के अन्तर्गत सर्वाधिक लोकप्रिय था। यद्यपि वल्लकी का प्रत्यक्ष स्वरूप समझने के लिये कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं, तथापि वीणा की ही न्यूनतन्त्रियों वाली प्रतिकृति वह रही हो, ऐसी कल्पना अयथार्थ न होगी। वीणा के सप्त-तन्त्रीक होने के सम्बन्ध में प्रमाण निम्न पंक्ति से प्राप्त होता है—

सप्ततन्तून्वितन्वाना यमुपासन्ति याज्ञिकाः। (द्रोण० ७७,१८)

स्पष्ट है कि वीणा की सप्ततन्त्रियां सप्त शुद्ध स्वरों में निबद्ध की जाती रही हों तथा मूर्च्छना-प्रपंच से नानाविध स्वरावलियों का निर्माण इन पर किया जाता रहा हो। भरत के अनुसार इसी वीणा के लिये चित्रा अभिधान है और इसका वादन कोण जैसे वादनदण्ड से न होकर अंगुलि से किया जाता था।[4] वीणा पर

१. वही, ६१, ३४
२. आरण्य० ४०, ६; विराट० ९,८
३. 'संक्षिप्त महाभारत', शान्ति० २,८७।
४ ना० शा० २९,११४।

गान्धार स्वर की मूर्च्छना स्थापित किये जाने का स्पष्ट उल्लेख निम्न पंक्ति में हुआ है—

वीणेयं मधुरारावा गान्धारस्वरमूर्च्छिता ।[1]

वीणा पर स्थापित की जाने वाली गान्धार स्वर की मूर्च्छना का यहां स्पष्ट उल्लेख है। गान्धार की यह मूर्च्छना षड्ज, मध्यम अथवा गान्धार इन तीन ग्रामों में से किस ग्राम के अन्तर्गत अभिप्रेत है, इसके परिज्ञान के लिये स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं। प्रतीत यही होता है कि यहां गान्धार ग्राम की प्रथम मूर्च्छना ही अभिप्रेत है, अन्यथा षड्ज तथा मध्यम ग्रामों की आदिम एवं मूलभूत 'सा' तथा 'म' की मूर्च्छना का उल्लेख न करते हुए तदन्तर्गत 'ग' की मूर्च्छना का उल्लेख अस्वाभाविक जान पड़ता है। मूर्च्छना से तात्पर्य विशिष्ट श्रुत्यन्तरों से युक्त स्वरसप्तक से है। प्रस्तुत स्थान पर सप्ततन्त्री वीणा में गान्धार ग्राम की प्रथम मूर्च्छना स्थापित की गई हो, यह कल्पना आपत्तिजनक न होगी। जैसा कि हम आगे चलकर देखने वाले हैं, महाभारत के उपपुराण हरिवंश में गान्धार ग्राम के प्रचलन का स्पष्ट उल्लेख है। हरिवंश-पुराण में भैमस्त्रियों को गान्धार ग्राम से उद्भूत रागों का गान करते हुए बतलाया गया है (९३,२४)। भरत के नाट्यशास्त्र में केवल षड्ज तथा मध्यम इन्हीं दो ग्रामों का नामोल्लेख एवं विवरण पाया जाता है। भरतानुयायी दत्तिल इन्हीं दो ग्रामों के प्रचलन का का उल्लेख करते हैं तथा गान्धार ग्राम को लुप्त मानते हैं—

केचिद् गान्धारमप्याहुः स तु नेहोपलभ्यते। (दत्तिल, ११)

सामवेद से सम्बद्ध नारदी शिक्षा में गान्धार ग्राम की अनुपलब्धि की बात हम यथा स्थान निर्दिष्ट कर चुके हैं।[2]

वीणा, वेणु, मृदंग, पणव आदि वाद्यों की मधुर ध्वनि का उल्लेख महाभारत में यत्र तत्र पाया जाता है—

---

१. आदि० १९१, ५; इसी पंक्ति का एक अन्य पाठभेद निम्न रूप से पाया जाता है—

'वीणेयं मधुरालापा गान्धारं साधु मूर्च्छति ॥'

द्र० 'प्रणवभारती,' पं० ओंकारनाथ, पृ० ७७

२. नारदी शिक्षा, १,२,५–६ में गान्धार ग्राम स्वर्गस्थ होने के सम्बन्ध में नारद का मत उद्धृत है। महाभारत में उपलब्ध गान्धार ग्राम के उल्लेख से प्रतीत होता है कि महाभारत में वर्तमान संगीतविषयक सामग्री नारदी शिक्षा के संकलन से पूर्ववर्ती है।

(अ) मधुरेण स गीतेन वीणाशब्देन चानघ । (आदि० २०५, ३३)
(आ) वेणुवीणामृदंगानां मनोज्ञानां च सर्वशः । (वहीं, २१४,९)
(इ) भेरीमृदंगपणवैः शंखवैणवनिःस्वनैः । (उद्योग० ७८,१६)
(ई) वीणापणववेणूनां स्वनश्चापि मनोरमः । (शान्ति० ४८,५)
(उ) वीणेयं मधुरारावा गान्धारस्वरमूर्च्छिता । (आदि० १९१,५)

भेरी, शंख, मृदंग, दुन्दुभि आदि वाद्यों का निर्घोष उल्लास की अभिव्यक्ति में तथा उत्साहसंचार के हेतु किया जाता था। राज्याभिषेक जैसे मंगल अवसरों पर शंख, भेरी तथा पुष्कर वाद्यों का समवेत निनाद किया जाता था (उद्योग० १४२, २७)। पुष्कर वादन राजाज्ञा की सूचना देने के लिये भी किया जाता था। युद्ध के अवसर पर घोर वादित्र-निनाद किया जाता था, जिसके अन्तर्गत शंख, भेरी, पणव, आनक, पटह, मुरज जैसे वाद्यों का समावेश था[1]। भेरी, मृदंग तथा मुरज जैसे अवनद्ध वाद्यों के लिये बैल का चर्म प्रयोग में लाया जाता था[2]। युद्ध के प्रसंग पर हाथियों की ग्रीवा में बांधी गई घन्टिकाओं के मधुर निनाद का उल्लेख महाभारत में हुआ है[3]।

वीणादि वाद्यों के साथ शम्या आदि विशिष्ट तालविधियों से ताल देने की प्रणालि प्रचलित थी—

वीणाः साधु न वाद्यन्ते शम्यातालरवैः सह । (द्रोण० ६९, ११)

गायन तथा वादन की संगति में मृदंगादि वाद्यों के साथ भी हाथ से मात्रा गिनने वाले तालज्ञ लोगों को नियोजित किया जाता था। गीत तथा पाठ्य के समान नृत्य के साथ भी ताल देने की प्रणालि थी। ताल के अन्तर्गत पाणिताल, शम्या, सम आदि विभिन्न अंगों का उल्लेख महाभारत में हुआ है—

पाणितालसतालैश्च शम्यातालैः समैस्तथा ।
संप्रहृष्टैः प्रनृत्यद्भिः शर्वस्तत्र निषेव्यते ॥ (अनु० २५, १९)

अर्थात् शिव की आराधना में नृत्य करने वाले नर्तकों के द्वारा ताल के विभिन्न अङ्गों का समुचित निर्वाह किया जाता था। गीत तथा वादित्र के अतिरिक्त तालविशारद व्यक्तियों का स्वतंत्र उल्लेख महाभारत में पाया जाता है—

---

१. द्र० संक्षिप्त महाभारत, वैद्य, भीष्म० ३,१३०; १,२९,४७; उद्योग० ११,६१५; विराट० ३,२८४; बन० ६,२४९।

२. वही, सभा० ४,१०१।

३. वही, द्रोण० ७५, ३०; भीष्म० २,९४।

(अ) गीतवादित्रकुशलाः शम्यातालविशारदाः।[१]

(आ) शम्यातालेषु कुशलाः[२]।

(इ) वीणाः साधु न वाद्यन्ते शम्यातालरवैः सह[३]।

नाट्यशास्त्रकार भरत ने सशब्दताल के अन्तर्गत शम्या तथा पात दो प्रकारों का उल्लेख किया है। शम्या ताल वह है, जिस में ताली दक्षिण हस्त से वाम हस्ततल पर दी जाती है; इसी के विपरीत पात के अन्तर्गत ताली वाम हस्त से दक्षिण हस्त पर दी जाती है। (ना० शा० ३१, ३८)

नट, नर्तक, गायक, सूत, मागध तथा कथावाचक आदि कलाकारों को राजा तथा प्रजा दोनों की ओर से प्रोत्साहन प्राप्त था[४]। मागध, सूत, वैतालिक आदि मंगलगीतों के द्वारा राजा का स्तुतिगान किया करते थे—

गायनाख्यानशीलाश्च नटा वैतालिकास्तथा।
स्तुवन्तस्तानुपातिष्ठन् सताश्च सह मागधैः॥

(विराट० ६७, ३६)

× × ×

ततः पुण्याहघोषेण आशीर्वादस्वनेन च।
सूतमागधबन्दीनां संस्तवैर्गीतमंगलैः (द्रोण० ५, ४१)

सूत, मागध तथा बन्दिजनों के गायन के साथ पाणिवादक तथा अन्य तालधारी व्यक्तियों के द्वारा ताल की संगति की जाती थी। राजजनों के स्तुतिगान में गाये गए इन मंगल गीतों में अनेक गायक तथा वादक सम्मिलित होते थे[५]। रक्तकण्ठ गायक तथा वादकों की ध्वनि से गीत की ध्वनि उपबृंहित हो उठती थी—

(अ) पठन्ति पाणिध्वनिका मागधाः स्तवगायकाः।
वैतालिकाश्च सूताश्च स्तवन्ति पुरुषर्षभम्॥

१, सभा० ४,४४।

२. वही, २, ४, ४६।

३. द्रोण० ६९,११।

४. म० भा० १,५१,१५; १,२१९,४; १,२१८,१०; २,३३,४९; २,१२,३६; ३,१५,१३; इसी सम्बन्ध में और द्र० १२,६९,६०; १२,२९५,५; ४,२२,३,१६; ४,१६,४३; १,१३४,१०; ३,२०,२७; ३,३३,१२; द्र० हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, कृष्णमाचार्य, पृ० ५३४।

५. द्रोण० ५,४१ सूतमागधबन्दीनां संस्तवैर्गीतमंगलैः।
वही, ६९, ११ मंगलानि च गीतानि वाद्यगानि पठन्ति च।

नर्तकाश्चापि नृत्यन्ति गान्ति गीतानि गायकाः ।
कुरुवंशस्तवार्थानि मधुरं रक्तकण्ठिनः ॥[1]

(आ) संस्तूयमानः सूतैश्च वन्द्यमानश्च बन्दिभिः ।
उद्गीयमानो गन्धर्वैः............॥[2]

(इ) सूताः श्रुतिपुराणज्ञा रक्तकण्ठाः सुशिक्षिताः ।
पठन्ति पाणिस्वनिनो गाथा गायन्ति गायकाः ॥
ततो युधिष्ठिरस्यापि राज्ञो मंगलसंयुताः ।
उच्चैरुर्मधुरा वाचो गीतवादित्रबृंहिताः[3] ॥

स्तुतिगायकों का एक वर्ग तालियाँ बजाकर स्तुतिगान करता था । यह वर्ग पाणिवादक, पाणिध्वनिक अथवा पाणिस्वनिन् नाम से सम्बोधित था[4] ।

राजसभा में संगीतज्ञ गुणियों का गौरवपूर्ण स्थान था । गान तथा नृत्य में निपुण पुरुष एवं महिलाओं को राज-कलाकार के रूप में नियुक्त किया जाता था और इनका कार्य प्रसंग-विशेष पर गीत तथा नृत्य के आयोजन प्रस्तुत करना था । संगीतकला के रसास्वादन की क्षमता तत्कालीन राजाओं में वर्तमान थी । राजाओं के पाठ्यक्रम में धनुर्वेद, हस्तिविद्या, रथविद्या आदि के साथ गान्धर्व तथा अन्य ललित कलाओं का अन्तर्भाव था[5] । राजस्त्रियाँ तथा अन्तःपुर की अन्य महिलाओं के लिये संगीतशिक्षा का विशेष प्रबन्ध था और इस कार्य के लिये वृद्ध एवं गुणी व्यक्तियों की योजना की जाती थी । बृहन्नलारूपधारी अर्जुन की नियुक्ति विराट की राजकन्या तथा राजस्त्रियों की संगीतशिक्षा के लिये किये जाने का उल्लेख महाभारत में है । महाभारत में अर्जुन को गान्धर्वविशारद बतलाया गया है । विश्वावसु गन्धर्व की परम्परा से गीत, वादित्र, नृत्त तथा

---

१. द्रोण० ७५, २–४ ।

२. वही, ७५,२८ ।

३. शान्ति० ४८,३–६ ।

४. शिव की उपासना में किन्नरों के द्वारा गाये जाने वाले मंगलगीत का उल्लेख कालिदास के कुमारसम्भव में है, जिसके अनुसार इन गीतों का गान प्रभात की वेला में कैशिक राग में किया जाता था (द्र० इसी प्रबन्ध में कालिदास-कालीन संगीत) ।

मध्यकालीन संगीतरत्नाकरकार मंगलगीतों की गणना प्रबन्ध नामक विशिष्ट गीतों में करते हैं । ऐसे प्रबन्ध 'कैशिकी' अथवा 'बौट्ट' रागों में बिलम्बित लय में गाए जाने का विधान है (सं० र० ४, ३०३) ।

५. अनु० ४, १८८ तथा १९० ।

साम की सशास्त्र शिक्षा उन्होंने प्राप्त की थी।[1] अज्ञातवास में जब पाण्डव विराट राजा की सभा में पहुँचे थे, तब बृहन्नलारूपी अर्जुन ने संगीतशिक्षा के द्वारा राजसेवा करने की इच्छा प्रकट की थी—

नृत्यानि गायामि च वादयाम्यहं प्रनर्तने कौशलनैपुणं मम।
तदुत्तरायाः परिधास्य नर्तने भवामि देव्या नरदेव नर्तकी॥
नृत्यं वा यदि वा गीतं वादित्रं वा पृथग्विधम्।
तत्करिष्यामि भद्रं ते सारथ्यं तु कुतो मम॥

विराटराज की आज्ञा पाकर 'बृहन्नला' ने विराटसुता को गीत, वादित्र तथा नृत्य की सशास्त्र शिक्षा दी थी—

स शिक्षयामास च गीतवादितं सुतां विराटस्य धनंजयः प्रभुः॥

बड़े नगरों में संगीत शिक्षा के लिये संगीतशालाओं का प्रबन्ध शासन की ओर से किया जाता था तथा इनके सम्यक् संचालन का समुचित प्रबन्ध रहता था।[2] मत्स्यराज की राजधानी में युवतियों की नृत्यशिक्षा के लिये ऐसे ही विशाल नृत्यभवन का निर्माण किया गया था।

निष्कर्ष यह है कि महाभारत काल में संगीतकला का अत्यधिक प्रचार था। वैदिक तथा लौकिक दोनों संगीत प्रणालियों का समान रूप से प्रचलन था। लौकिक संगीत प्रायः गान्धर्व नाम से व्यवहृत होता था, जिस में कला तथा शास्त्र दोनों का अन्तर्भाव था। षड्ज तथा मध्यम ग्राम के अतिरिक्त गान्धार ग्राम का प्रचलन इस काल की विशेषता है। वीणा पर इन ग्रामों की मूर्च्छनायें संस्थापित की जाती थी। नृत्य के अन्तर्गत विविध हावभावों का प्रयोग होता था तथा गीत एवं वाद्य के साथ इनका संयुक्त प्रयोग लोकोत्सवों पर उल्लास की अभिव्यक्ति के रूप में किया जाता था। तन्तुवाद्यों के अन्तर्गत वीणा का अत्यधिक प्रचलन था और इसका प्रयोग यज्ञ में प्रवर्तमान वैदिक संगीत तथा लोकोत्सवों पर प्रवर्तित जनसंगीत में बराबर होता था। वीणा तथा वल्लरी के अतिरिक्त वेणु, मृदंग, पणव, पटह, मुरज, भेरी, पुष्कर तथा शंख इत्यादि वाद्यों का प्रचलन था। गीत, वाद्य तथा नृत्य के साथ मृदंगादि चर्मनद्ध वाद्यों के अतिरिक्त हाथ से ताल देने की प्रणालि विद्यमान थी। गायक, वादक, नर्तक, कथावाचक, सूत, मागध आदि कलाकारों को राज्य की ओर से पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त था।

---

१. वन० १७,८५८; २०, १०४३–४६।
२. विराट, २,१२१–२२; २,१३१ व १६१।

अध्याय चतुर्थ

पाणिनिकालीन सङ्गीतविद्या–ईस्वी पूर्व ७ शताब्दि

पाणिनि की अष्टाध्यायी संस्कृत साहित्य की अमूल्य कृति है। वह केवल व्याकरणशास्त्र के लिये ही सहायक नहीं, अपितु तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक चेतना का परिचायक ग्रन्थ है। प्रचलित लक्ष्य को दृष्टिगत करते हुए उन्होंने जिस लक्षण-ग्रन्थ को रचना की है, उससे तत्कालीन संगीत-विषयक स्थिति का ज्ञान सहज हृदयंगम हो सकता है।

वैदिक संगीत के सम्बन्ध में निम्न सामग्री अष्टाध्यायी में प्राप्त होती है। पाणिनि ने समकालीन साहित्य का वर्गीकरण दो विधाओं में किया है—१, दृष्ट तथा २, प्रोक्त। प्रथम के अन्तर्गत वे प्रत्यक्ष सामों का समावेश करते हैं तथा द्वितीय के अन्तर्गत साम के चरणों एवं ब्राह्मणों का। दृष्ट के उदाहरणस्वरूप कालेय तथा वामदेव संज्ञक सामों का निर्देश उन्होंने किया है।[१] सामवेद के गायकों में उद्गाता तथा प्रतिहर्ता का उल्लेख अष्टाध्यायी में है।[२] उद्गाताओं के द्वारा विहित कार्य 'औद्गात्र' कहलाता था। जिस स्थान पर बैठ कर छन्दोग ऋत्विज् सामगान करते थे, वह स्थान 'संस्ताव' कहलाता था (यज्ञे समि स्तुवः २–३–३१) यज्ञों में वैदिक पाठ एवं गान उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित इन स्वरों में किया जाता था। साम आदि के अतिरिक्त जो मन्त्र एक ही स्वर में पठित होते थे, उन्हें पाणिनि ने 'एक श्रुति' कहा है–'यज्ञ-कर्मण्य-जप-न्यूंखसामसु'[३]। कात्यायन श्रौतसूत्र में एकश्रुति को 'तान' कहा गया है, जिसमें पाठ एक ही स्वर में प्रवर्तित होता—'उदात्तादिस्वररहित एकश्रुतिरेव मन्त्राणां स्वरो भवति'[४]।

सामवेद संहिता के आर्चिक तथा गेय विभाग से पाणिनि स्पष्टतः परिचित है।[५] सामवेद के छान्दोग्य चरण का उल्लेख पाणिनि ने किया है। (४, ३, १२९)। कार्तकौजपादिगण[६] में सामवेद के कार्त, कौथुम, लौगाक्ष तथा शालंकायन

१. ४–२–८,९; ४–२–७; ४–३–१०१।

२. ५–१–१२९ तथा गणपाठ।

३. १–२–३३,३४।

४. १–८–१८।

५. ४,३,७२; ३,४,३८; ३,४, ६८ काशिका।

६. ६,२,३७।

चरणों का उल्लेख उपलब्ध है। कार्त चरण के संस्थापक कृत नामक आचार्य थे जिन्होंने प्राच्य देश में सामवेद की चौबीस संहिताओं का प्रचार किया था—"यश्चतुर्विंशति प्राच्यसामगानां संहिताश्चकार"। शालंकायन का प्रचलन वाहीक देश में था।[1] शालंकायन चरण की एक संज्ञा त्रिकाः भी थी, जो सम्भवतः इसी की तीन शाखाओं की द्योतक हो।[2] पाणिनि को शालंकि कहा गया है, जिससे उनका इस शाखा से सम्बन्ध सूचित होता है। उपर्युक्त चरणों के अतिरिक्त पाणिनि ने शौचिवृक्षि, सात्यमुग्रि तथा काण्ठेविद्धि[3] नामक चरणों का उल्लेख किया है (४, १, ८१)। पाणिनि के अनुसार प्रथम दो के स्त्रीलिंग रूप शौचिवृक्षी तथा सात्यमुग्री हैं जिससे स्पष्ट है कि सामवेद के इन चरणों का अध्ययन महिलावर्ग के द्वारा भी किया जाता था। पाणिनि ने शौनकादिगण में तलवकार अर्थात् जैमिनीय ब्राह्मण का उल्लेख किया है।[4] एक अन्य सूत्र में पुरातन ब्राह्मण-ग्रंथों का उल्लेख पाया जाता है—'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु'[5] पतंजलि के अनुसार पाणिनि का संकेत इस स्थान पर साम के भाल्लवि तथा शाट्यायनि[6] नानक प्राचीन ब्राह्मणों से है (४, २, १०४)। पाणिनि उक्थ नामक विशिष्ट सामविषयक ग्रंथ का उल्लेख करते हैं। इसका अध्ययन करने वाले विद्यार्थी 'औक्थिक' कहलाते थे। सामवेद के अध्येता के लिये व्रतस्थ रहना आवश्यक माना जाता था। यदा कदा अध्येय साम के आधार पर अध्येता छात्र का नामकरण होता था, जैसे महानाम्नी साम का अध्ययन करने वाला 'महासाम्निक' कहलाता था।[7]

---

१. वेबर, भारतीय साहित्य का इतिहास, पृ० ७७, २१९।

२. भाष्य ५,१, ५७–५८, 'त्रिकाः शालंकायनाः'।

३. सामवेद के वंश ब्राह्मण में सामवेद के प्राचीन आचार्य के रूप में इनका नाम पाया जाता है।

४. ४,३, १०६।

५. ४,३, १०५।

६. जैमिनीय ब्राह्मण की वंश सूची में प्राचीन आचार्य के रूप में शाट्यायन का नाम आया है।

७. कात्यायन; पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ९७; तुलनार्थं द्रष्टव्य गोभिल गृह्यसूत्र ३,२, ७–९, जिसमें शक्वरी साम के अध्ययनार्थं छात्र के व्रतस्थ रहने की बात रौरुकि ब्राह्मण के आधार पर निर्दिष्ट है—'अथाहि रौरुकि ब्राह्मणं भवति–कुमारान् ह स्म वै मातरः पाययमाना आहुः शक्वरीणां पुत्रका व्रतं पारयिष्णवो भवतेति।'

पाणिनि में गान्धर्व शब्द का प्रयोग नहीं पाया जाता, न तो गान्धर्व के प्रतिष्ठापक नारद का नामोल्लेख ही पाया जाता है। पाणिनि के गणपाठ में आयुर्वेद, वास्तुविद्या, क्षत्रविद्या आदि का समावेश उपलब्ध है, गान्धर्ववेद का नहीं। भारत तथा महाभारत जैसे महाकाव्यों का उल्लेख अष्टाध्यायी में पाया जाता है। महाभारत काल में गान्धर्व की कला प्रौढ़ता को पहुंच चुकी थी, इसका विवेचन हम महाकाव्यकालीन संगीत में कर चुके हैं। अतएव गान्धर्वविद्या के पूर्वकालीन विकास से वे परिचित रहे होंगे, ऐसी यथार्थ कल्पना की जा सकती है। यहाँ उन्हीं की अष्टाध्यायी के आधार पर तत्कालीन गान्धर्वेतिहास को ग्रथित करने का प्रयास किया जा रहा है।

ललितकलाओं के लिये पाणिनि ने शिल्प शब्द का प्रयोग किया है, जो मूलतः कलाकौशल का बोधक था। शिल्प का विभाजन पाणिनि ने चारु तथा कारु दो विभागों में किया है। चारू शिल्प के अन्तर्गत संगीतादि ललितकलाओं का अन्तर्भाव था; कारू शिल्प में कुम्भकार, सुवर्णकार, लुहार आदि लोगों का क्रिया कौशल अन्तर्भूत था। पाणिनि ने कुशल शिल्पियों को राजशिल्पी कहा है, जो सम्भवतः अपनी विशेषज्ञता तथा कर्मकुशलता के कारण राजकुल में सम्मान पाते थे (६, २, ६३)।

अष्टाध्यायी में गीत के लिये 'गीति' तथा 'गेय' शब्द का उल्लेख हुआ है।[1] पाणिनि के कतिपय सूत्रों में वीणावाद्य का उल्लेख है। वृन्दवादन के लिये 'तूर्य' शब्द का प्रयोग पाया जाता है (२, ४, २)। तूर्य में वीणा का प्रमुख स्थान था। वृन्दवाद्य के विभिन्न घटकों के लिये 'तूर्यांग' संज्ञा थी (२, ४, २)। काशिका के अनुसार तूर्यांग में वीणावादक तथा परिवादक दोनों का समावेश था—'वीणावादकपरिवादकम्'। स्वयं पाणिनि परिवादक का उल्लेख करते हैं (३, २, १४६)। पाणिनि के द्वारा किये गये स्वतन्त्र उल्लेख से प्रतीत होता है कि परिवादक ऐसा वीणावादकों का वर्ग था, जो प्रमुख वीणावादकों की संगति वीणा के द्वारा किया करता था। पतंजलि के निम्न सूत्र से इसी अर्थ का समर्थन होता है—'अवीवदद् वीणां परिवादकेन'। (७, ४, १)। कालिदास ने रघुवंश में परिवादिनी वीणा का उल्लेख किया है, जो सप्त तंत्रीयों से निबद्ध थी।[2] संगत करने की क्रिया पाणिनि के समय 'उपवीण्' के नाम से ज्ञात थी।[3] वीणा से विरहित गायन 'अपवीणम्' कहलाता था (६, २, १८७)। वीणा के नाद

---

१. ३,३ ९५; ३,४, ६८।

२. रघु, ८, ३३।

३. ३.१,२५, काशिका।

के लिये क्वण, निक्वण तथा निक्वाण संज्ञायें थीं—'क्वणो वीणायां च' (३, ३, ६५)। इसके अतिरिक्त अन्य नाद के लिये घोष संज्ञा थी—'वा घोष-मिश्र शब्देषु' (६, ३, ५६)। अवनद्ध वाद्यों में झर्झर, दर्दुर, मड्डुक, पणव आदि वाद्यों का प्रचलन था। दर्दुर वाद्य सम्भवतः मृत्तिका से निर्मित आधुनिक घटम् के समान रहा हो—'शब्ददर्दुरं करोति' (४, ४, ३४)। इन वाद्यों के कुशल कलाकारों के लिये 'झार्झरिक', 'माड्डुकिक' आदि संज्ञायें थीं (४,४,५६)। नाट्यशास्त्र में दर्दुर—वादक के लिये 'दार्दरिक' संज्ञा है (३३, २०५)[१]। गायन में कुशल पुरुषों के लिये 'गायन' संज्ञा थी (३, १, १४७) तथा गायिकाओं को 'गायनी' कहा जाता था। गाथानामक गीत गाने वाला वर्ग 'गाथक' कहलाता था (३, १, १४६)। हाथ से ताल देने में कुशल व्यक्तियों के लिये पाणिघ तथा ताड़घ संज्ञायें थीं—'पाणिघताड़घौ शिल्पिनि'(३,२,५५)। नृत्य में कुशल व्यक्ति नर्तक कहलाता था (३, १, १४५)। नाट्याभिनय करने वाला व्यक्ति शैलालिन् के नाम से सम्बोधित था और उसका धर्म तथा आम्नाय अथवा शास्त्र 'नाट्य' कहलाता था। पाणिनि के निम्न सूत्र से नितान्त स्पष्ट है कि नाट्य में नटकर्म तथा नाट्यशास्त्र दोनों का अन्तर्भाव होने लगा था—'छन्दोगोक्थिक.........नटाण्यः'[२]। शिलालि तथा कृशाश्व के नटसूत्र उस समय प्रसिद्ध थे तथा इनके लिये वैदिक परम्परा के समान प्रतिष्ठा प्राप्त थी—'भिक्षु-नटसूत्रयोः छन्दस्त्वम्' (काशिका)। पाणिनि के समय शिलालि से सम्बद्ध एक वैदिक शाखा प्रसिद्ध थी जिसके अनुयायी 'शैलाल' नाम से अभिहित होते थे। इनसे शैलाली पुरुषों का पार्थक्य दिखलाने के लिये पाणिनि ने शैलालिन् तथा कृशाश्विन् की व्युत्पत्ति में शिलालिन तथा कृशाश्व के द्वारा रचित नटसूत्रों का संकेत किया है। (१, पाराशर्यशिलालिभ्यां णिनिः; २, कर्मन्दकृशाश्वादिनिः) व्याकरणकार का तात्पर्य यह है कि शिलाल तथा कृशाश्व को क्रमशः णिनि तथा इनि प्रत्यय केवल उन व्यक्तियों की परम्परा दर्शित करने के लिये प्रयुक्त किया जाता है, अन्यथा नहीं। शैलालिन् तथा कृशाश्विन् का अर्थ शिलालि तथा कृशाश्व के अनुयायी नटों से है। जब यह अर्थ अभिप्रेत न हो, तब शैलालम् तथा कार्शाश्वम् रूप सिद्ध होंगे। उपर्युक्त से स्पष्ट है कि पाणिनि के समय में शैलालि तथा कृशाश्वि का अर्थ विशिष्ट सम्प्रदाय के नटों के लिये रूढ़ हुआ था तथा नटों की दो विभिन्न परम्परायें प्रवर्तित हुई थीं। काशिका के अनुसार कृशाश्वी उन नटों के लिये संज्ञा है जो आचार्य कृशाश्व की परम्परा में दीक्षित हो—

---

१. तुलनार्थ 'विधुर पण्डित जातक टीका' में घटदद्दर वादक, ६,२७६।
२. ४,३, १२९।

'कृशाश्वेन प्रोक्तमधीयते कृशाश्विनो नटाः' (काशिका)। नटसूत्रों के उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि ई० पू० ५ से ६ में नाट्यकला लोकप्रिय कलाओं में से थी, इसके लक्षण-ग्रन्थों की रचना आरम्भ हो चुकी थी तथा नाट्य की विभिन्न परम्पराओं का प्रवर्तन हो चुका था। नाटकों का उस समय प्रभूत प्रचार था इसका यह ज्वलन्त प्रमाण है।

गीत, वाद्य, नृत्य का आयोजन सम्मद जैसे आनन्दोत्सवों के अवसर पर होता था। गीत, वाद्य तथा नृत्य के साथ ही नाट्य के सामूहिक कार्यक्रम हुआ करते थे (३, ३, ६८)। ऐसे कार्यक्रमों के लिये नगरों में प्रेक्षा-गृह जैसे स्थान नियत थे।[1]

निष्कर्ष यह कि पाणिनि के समय वैदिक संगीत अपने उत्कर्ष पर था। साम की नानाविध शाखाओं का प्रचलन भारत के अन्यान्य प्रदेशों में था। कुछ चरणों में महिलाओं को भी सामगान की शिक्षा दी जाती थी। सामगान के स्वरों का विभाजन उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित इन तीन विधाओं में किया जाता था। गान्धर्व के अन्तर्गत गीत तथा वाद्यवादन का प्रचार था। वाद्यवृन्द के लिये 'तूर्य' संज्ञा थी तथा वीणा इस वृन्द का आवश्यक अंग रहती थी। वीणा के अन्यान्य प्रकारों का युग्म वादन प्रचलित था। मड्डुक, झर्झर, दर्दुर, पणव आदि चर्मनद्ध वाद्यों का प्रचलन था। वीणादि वाद्यों का निर्माण तथा विक्रय कुशल शिल्पियों के द्वारा किया जाता था[2]। गाथा, गीति आदि गीतप्रकारों के साथ हाथ से ताल देने वाला वर्ग 'पाणिक' अथवा 'ताड्य' कहलाता था। नाट्यकला को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। नाट्य के लक्षणग्रन्थों का निर्माण आरम्भ हो चुका था तथा नाट्य की शैलाली तथा कृशाश्वी दो परम्परायें विद्यमान थीं।

---

१. ४, २, ८०; भरहूत स्तूप के शिलाखण्ड पर सम्मद का दृश्य अंकित है, जिसमें गायक, वादक तथा नृत्यकर्त्रियों का चित्र अंकित है—द्र० बारुआ, भारहुत, भाग १, फलक २, भाग ३, चित्र ३४।

२. ३,३, ६५।

अध्याय पंचम

बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में संगीत

(सा) बौद्धकालीन संगीतकला (रि) जैन ग्रन्थों में संगीतविद्या

(सा) बौद्धकालीन संगीतकला

भारत की सांस्कृतिक गतिविधि के परिज्ञान के लिये बौद्ध साहित्य का परिशीलन नितान्त आवश्यक है। बौद्ध वाङ्मय में ईसवी पूर्व से लेकर ईसवी के अनन्तर का सांस्कृतिक मानचित्र अविच्छिन्न रूप से उपलब्ध होता है। महत्व की बात यह कि इस साहित्य में उपलब्ध संगीतविषयक सामग्री का व्यक्तीकरण भारत की प्राचीन शिल्प एवं चित्र कला में उपलब्ध है, जो तत्कालीन वाद्य एवं नृत्य के स्वरूपोद्घाटन के लिये नितान्त सहायक है। बौद्ध परम्परा से प्रभावित इन चित्रों में बौद्ध विहार में प्रवर्तमान वाद्यवृन्द तथा नृत्य के विशद चित्र उपलब्ध होते हैं। तिब्बत, चीन तथा हिन्देशिया जैसे बौद्धानुयायी प्रदेशों में आज भी संगीताराधना की प्राचीन परम्परा अक्षुण्ण है। यह परम्परा भारत की ही देन है इसका विवेचन हम यथास्थान करने वाले हैं। बौद्ध सम्प्रदाय से सम्बद्ध इसी सामग्री के आधार पर बौद्धकालीन संगीतकला का विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास यहाँ किया जा रहा है।

जातक युग में वेद तथा वेदांगों का अध्ययन वैसा ही प्रचलित था, जैसा वैदिक युग में।[1] तेविज्ज सुत में साम के छान्दोग्य चरण का उल्लेख उपलब्ध है। दीघनिकाय में छान्दोग्य चरण के आचार्यों को 'छन्दोक' कहा गया है।[2] सेलसुत्त में शैल नामक ब्राह्मण का वर्णन है, जो तीनों वेद एवं वेदांगों में निपुण था तथा तीन सौ विद्यार्थियों को वेदाध्यापन करता था। वैदिक ऋचाओं की भांति बौद्ध सुत्तों को सस्वर पढ़ने की प्रणालि थी। पाली महावाग[3] तथा उदान[4] में स्पष्ट उल्लेख है कि गौतम की इच्छानुसार कोण कुट्टिकण्ण नामक भिक्षु ने अट्ठकवग्गिक (अर्थपाद) सूत्रों को सस्वर पढ़ा था—'सरेण अभासि'।[5]

---

१. सेतकेतु जातक, ३३७; जातककालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ९७।

२. १, पृ० २३७; द्र० बी० सी० ला० पृ० २०१।

३. ५, १३, ९।

४. ५, ६।

५. अर्थपादसुत्त, भूमिका, पृ० १, बापट।

बौद्धकाल में तक्षशिला विद्यादान का प्रमुख केन्द्र था, जिसमें वैदिक विद्यालय, अष्टादश विद्यालय, शिल्पविज्ञान विद्यालय आदि विभिन्न अध्ययन-विभागों में पाँच-पाँच सौ विद्यार्थी शिक्षा पाते थे (जातककालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ९८)। शब्दविद्या, अध्यात्मविद्या, चिकित्साविद्या, हेतुविद्या और शिल्पविद्या नामक वैदिक पंच महाविद्या जातक युग में 'पंचयान' कहलाती थी (वहीं)। परोपहस्स जातक के अनुसार बोधिसत्व ने इसी विश्वविद्यालय में समस्त शिल्पों की शिक्षा प्राप्त की थी। वाराणसी इस समय का एक दूसरा विद्याकेन्द्र था, जिसमें संगीताध्यापन का स्वतन्त्र विभाग था। नालन्दा, विक्रमशिला तथा तदन्तपुरी जैसे अन्य विश्वविद्यालयों में भी गान्धर्व का स्वतन्त्र निकाय अथवा फैकल्टी थी तथा इसके अधिष्ठाता के रूप में भारतविख्यात संगीतज्ञ की नियुक्ति हुआ करती थी।[1] संगीत के लिये 'गन्धब्बवेद' अथवा गान्धर्ववेद संज्ञा थी, जिसके अन्तर्गत गीत, वादित्त, नच्च (नृत्य), अक्खानम् आदि का समावेश था। अक्खान के अन्तर्गत प्राचीन आख्यान तथा वीरगाथाओं का गायन सम्मिलित था।[2] इनकी गणना सिप्प अथवा शिल्प में की जाती थी।

तत्कालीन सम्पन्न परिवारों में संगीत का सम्यक् अध्ययन किया जाता था। बोधिसत्व संगीत तथा नाट्य कला के अच्छे ज्ञाता थे तथा उनके परिवार की सभी महिलायें संगीत में कुशल थीं। ललितविस्तर में लिखा है कि बुद्ध की माता माया देवी स्वयं कलानिपुण थीं। बुद्ध के भावी श्वशुर ने विवाह के पूर्व यह शर्त रखी थी कि अपनी कलासम्पन्न पुत्री के लिये योग्य सिद्ध करने के लिये भावी वर को संगीतादि कलाओं में सिद्धहस्त सिद्ध करना होगा।[3] सिद्धार्थ के लिये ऐसी वधू की अपेक्षा थी, जो गणिका के समान कलाकुशला हो—'शास्त्रे विधिज्ञकुशला गणिका यथैव'[4]। बुद्धचरित से स्पष्ट है कि तत्कालीन अन्तःपुरों में महती वीणा, मृदंग, पणव, तूर्य, वेणु आदि वाद्यों का वादन तथा गायन मनोरंजनार्थ किया जाता था। पितृपुत्रसमागम नामक कथा में उल्लेख है कि बुद्ध के जन्मोत्सव पर पांच सौ वाद्यों का वृन्दवादन हुआ था।[5]

---

१ द्र० 'एनशन्ट इण्डियन एजुकेशन,' राधाकुमुद मुखोपाध्याय, पृ० ४९०; 'युनिवर्सिटि आफ नालन्दा,' डा० संकलिया; उद्धृत 'संगीत ओ संस्कृति' प्रज्ञानानन्द, उत्तरभाग, पृ० १९६ पर।

२. दीघनिकाय, १, पृ० ६।

३. 'सोशल लाइफ इन एनशन्ट इन्डिया,' चकलादार, पृ० ८५।

४. ललितविस्तर, १२, पृ० १३९; चकलादार, पृ० १२७, १३९।

५. अर्थपाद० पृ० १५२, वापट।

जातक ग्रन्थों में तत्कालीन व्यवसायों की सूची उपलब्ध है, जिसमें नट, नर्तक, गायक, भेरीवादक, तथा नाटककार आदि वर्गों का समावेश है[1]। इनके विभिन्न संघ हुआ करते थे तथा इनके लिये नगर में स्वतन्त्र उपनिवेश की व्यवस्था थी। नर्तिका एवं गणिकाओं का संगीतज्ञ के रूप में विशेष सम्मान था। गंगमाल जातक में बताया गया है कि राजकुमारी के विवाह पर गान तथा नृत्य के लिये १६००० नर्तकियोंको निमन्त्रित किया गया था (३, ४५२)। सुमंगल-विलासिनी ग्रन्थ के अनुसार काशी नरेश के अन्तःपुर में अनेक नर्तकियों को नियुक्त किया गया था[2]। संगीतकला में तज्ज्ञ होने के नाते गणिका को अन्य साधारण वेश्याओं की अपेक्षा विशेष सम्मानपात्र माना जाता था। ललितविस्तर की निम्न उक्ति से गणिका के शास्त्रज्ञ होने की बात लक्षित होती है—'शास्त्रे विधिज्ञकुशला गणिका यथैव'। शासनकार्य चलाने के लिये प्रमुख पदाधिकारियों के अतिरिक्त जिन एकादश अंगों की आवश्यकता थी, उनमें गणिका का अन्तर्भाव था (द्र० कुरुधम्म जातक)। वेश्या का जनपद-कल्याणी के रूप में राष्ट्रीय गौरव होता था और इनके लिये पंचशील की दीक्षा आवश्यक मानी जाती थी (द्र० दुम्मेध जातक)। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सर्वांगपूर्ण शासन के लिये गणिका-संस्था की राजनीतिक उपादेयता प्रतिपादित की गई है किन्तु उस वर्ग के लिये शील-शिक्षा की चर्चा वहाँ उपलब्ध नहीं (अधिकरण २, प्रकरण ४१)। जातक युग में वेश्या का नैतिक स्तर बढ़ानेकी ओर विशेष ध्यान दिया गया है। गणिका-संस्था की सामाजिक उपादेयता को ध्यान में रख कर उसको अक्षुण्ण रखते हुये समाजप्रतिकूल न होने के सम्बन्ध में बौद्धवाङ्मय अधिक ध्यान देता है।

बौद्ध युग में नाट्य अथवा नाटक के लिये 'पेक्खा' अथवा 'प्रेक्षा' संज्ञा थी। नाट्य के दिग्दर्शक को नटाचार्य कहा जाता था। प्रमुख नट के लिये 'नटगामणि' संज्ञा थी। नटवर्ग समाज के समक्ष रंगभूमि पर विविध अभिनयों से जनता का मनोरंजन करते थे—"योसो नटो रंगमज्झे समज्जमज्झे सच्चालिकेन जनम् हासेति रमेति[3]।" जातक युग में नटी को हेय दृष्टि से देखा जाता था, सम्भवतः इसलिये कि वे सौन्दर्य-प्रसाधन तथा कलासम्पन्नता के माध्यम से देह-विक्रय करने में संकोच नहीं करती थी। कुसजातक में कथा है कि राजा अपनी धर्म-

---

१. मिलिन्द० ३३१; बी० सी० ला० पृ० ६६–६७।

२. ला कृत 'ट्राइब्ज आफ एनशन्ट इन्डिया,' १९४३, पृ० ११०।

३. गामणिसंयुत ४, पृ० ३०६; 'हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स,' काणे पृ० ३२३।

पत्नियों से सन्तान न होने पर उन्हें धर्मनटी बना कर बाहर भेज देता था, जिससे वह अभीष्ट पुरुष से गर्भधारण कराने में समर्थ हो सके[1]।

बौद्धकाल में संगीत तथा नाट्य को राजाश्रय प्राप्त था। राजसभा में गायक, वादक तथा नर्तक नियुक्त रहते थे। मिलिपदण्ह में राजसभा के अन्तर्गत १६००० नर्तकियों के नियुक्त होने का उल्लेख है—'सोलस्सु नाटकीसहस्सेषु'[2]। इनके अतिरिक्त प्रसंगवशात् राज्य की कुशल गणिकाओं को गायन, वादन, तथा नृत्य के लिये आमन्त्रित किया जाता था[3]। बौद्ध बिहारों को आर्थिक तथा अन्य अनुदान देने में तत्कालीन राजा तथा श्रीमान् जन तत्पर थे। आराधना के लिये नियुक्त कलाकारों को शासन की ओर से द्रव्य दिया जाता था। इन कलाकारों पर शासन का पूर्ण नियन्त्रण रहता था। सुतनुका नामक देवदासी को नैतिक अपराध के लिये दण्ड देने की बात तत्कालीन अभिलेख पर अंकित है[4]।

तत्कालीन लोकोत्सवों पर गीत-वाद्य-नृत्य की त्रिवेणी प्रवाहित हो उठती थी। मगध में होने वाले ऐसे ही उत्सवों का चक्षुर्वै सत्यम् निरूपण फाहियान के यात्रा-विवरण में पाया जाता है। ऐसे सामूहिक उत्सव 'समज्जा' अथवा 'समाज' कहलाते थे। अशोक के अभिलेखों से प्रमाणित है कि ऐसे समारोह नियमित रूप से आयोजित होते थे। विधुर पण्डित जातक में एक समज्जा का चित्र अंकित है, जिसमें सभी आबालवृद्ध जनता का नृत्य, गीत आदि में सम्मिलित होने का वर्णन है (६, २७७)। सिगलोवद सुतान्त से विदित होता है कि ऐसे अवसरों पर आख्यानों का गान भी किया जाता था। (द्र० रिस डेविड्स, पृ० ८३)। ऐसे उत्सव पवित्र स्थानों पर तथा शैलशिखरों पर आयोजित होते थे और इनमें प्रतिष्ठित व्यक्तियों को विशेष रूपेण निमन्त्रित किया जाता था (वहीं)। ऐसे ही

---

१. 'जातककालीन भारतीय संस्कृति,' वियोगी, पृ० १४।

२. जातक १,४३७; बी० सी० लॉ० पृ० ७२।

३. वहीं ५, पृ० ५०५; लॉ पृ० १६६।

४. सरगुजा राज्य में पाये जाने वाले गुम्फाभिलेख (ई० पू० ३) में निम्न पाठ उत्कीर्ण है—"सुतनुका (नाम) देवदशय तम् काममिथ-बलुणासेयम् देयदिन नाम लुप दखे" (द्र० जरनल आफ बिरन्ना ओरियन्टल रिसर्च सोसायटी, १९२३, पृ० २७३-२९३; 'प्राङ्मौर्य बिहार', मोतीचन्द्र, पृ० ३०)। लेख से स्पष्ट है कि उक्त विहार में सुतनुका नामक देवदासी थी तथा उसके एवं वहां के आराधक के बीच प्रणय व्यवहार देख कर दोनों को कठोर दण्ड प्रदान किया गया था।

उत्सव पर राजगृह में ५०० नर्तकियों के निमन्त्रित होने का उल्लेख विशुद्धि-मग्ग ग्रन्थ में पाया जाता है[1]।

बौद्धकालीन वाद्य—बौद्ध साहित्य में तत, वितत, घन तथा सुषिर इन चतुर्विध वाद्यों का प्रचुर उल्लेख पाया जाता है। तत वाद्य के अन्तर्गत निम्न वाद्यों का नामनिर्देश उपलब्ध है—वीणा, परिवादिनी, विपंची, वल्लकी, महती, नकुली, कच्छपी तथा तुम्बवीणा। वीणा तत वाद्यों के लिये सामान्य संज्ञा थी। वीणा की तुम्बी के लिये बीलीफल का उपयोग किया जाता था (द्र० दीघनिकाय)। वीणा उस समय का प्रियतम वाद्य रहा है। दीघनिकाय में कहा गया है कि इस वाद्य के साथ गाये गये सुमधुर संगीत ने बुद्धदेव जैसे वीतराग महात्मा को प्रभावित किया था। कथा यह है कि पंचसिख गन्धर्व, जो तुम्बरूकन्या सूर्यवर्वसा का प्रेमी था, अपने प्रेमाराधन में विफल होकर वीणा पर करुण गीति का गान करने लगा। गीत तथा वीणा के स्वरों का एकान्त तादात्म्य सुन कर स्वयं बुद्ध भगवान् गीत की प्रशंसा करने लगे। जातककाल में वीणावादकों की प्रतियोगितायें हुआ करती थीं, जिनमें विजेता को पुरस्कार तथा राज्याश्रय प्राप्त होता था। तत्कालीन वीणावादनकौशल मूसिल जातक से स्पष्ट होता है। कथा इस प्रकार है। उज्जैनी के वीणावादक मूसिल तथा वाराणसी के राजवादक गुत्तिल के बीच ईर्ष्या आरम्भ हुई। मूसिल ने गुतिल से वीणा के गूढ़तम रहस्यों को पाकर उन्हीं को पराजित करने का संकल्प किया। राजसभा में स्पर्धा का आयोजन हुआ। स्पर्धा के अन्तर्गत गुत्तिल ने वीणा की सप्त तन्त्रीयों में से एक एक को तोड़ कर अवशिष्ट तन्त्रीयों पर वादन जारी रखा। स्पर्धा के अन्तिम क्षणों में सभी तार तोड़ने के पश्चात् वीणा के दण्ड से ही ध्वनिया गूंजती रहीं। इससे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि उस काल में वीणा-तन्त्रीयों के कर्षण से एकाधिक स्वरों का वादन करने की प्रणालि प्रचलित रही हो। अवनद्ध वाद्यों में मृदंग, पणव, भेरी, दिन्दिम (डिन्डिम) तथा दुन्दुभि का उल्लेख जातकों में अनेक बार हुआ है[2]। घनवाद्यों में घन्टा, जल्लली, झल्लरी तथा कान्स्य ताल का निर्देश है। सुषिर वाद्यों में शंख, तूर्य, कुराल, शृंग आदि का उल्लेख है। तूर्य वाद्य की ध्वनि बुलन्द एवं चतुर्दिक् को व्याप्त करने वाली थी (तेविज्जसुत्त, दीघ, २५१; ला, पृ० २२४)।

---

१. द्र० १, ४८९; विमानवत्थुभाष्य, पृ० ६२–७४; 'ट्राइब्ज आफ एनशन्ट इन्डिया,' पृ० २१८।

२. द्र० महावग्ग तथा ललितविस्तर।

बौद्धकालीन राग-प्रणालि—तत्कालीन राग-परम्परा को हृदयंगम करने के लिये लंकावतारसूत्र का निम्न अंश उपादेय होगा—

अथ रावणो राक्षसाधिपतिः सपरिवारः पौष्पकं विमानमधिरूह्य येन भगवां-स्तेनोपजगाम; उपेत्य विमानादवतीर्य सपरिवारो भगवन्तंस्त्रिकृत्वः प्रदक्षिणीकृत्य तूर्यतालावचरैः प्रवादयद्भिरिन्द्रनीलमयेन दण्डेन वैडूर्य मुसार प्रत्युवतां वीणां प्रियंगुपाण्डुनानर्ध्येण वस्त्रेण पार्श्वावलम्बितां कृत्वा, सहर्ष्य–ऋषभ्–गान्धार–धैवत–निषाद–मध्यम–कैशिक–गीतस्वरग्राममूर्च्छनादियुक्तेनानुसार्य सलीलं वीणा-मनुप्रविश्य गाथाभिर्गीतैरनुगायति स्म।[1]

तात्पर्य यह कि भगवान् बुद्ध के दर्शन होने पर रावण ने अपने स्कन्ध से लटकती हुई वीणा पर सप्तस्वरों से युक्त गाथा–गान आरम्भ किया। वीणा का वादन इन्द्रनीलमय दण्ड से किया जा रहा था तथा उस पर स्वरावलि का वादन किया जा रहा था—सहर्ष्य, ऋषभ, गान्धार, धैवत, निषाद, मध्यम तथा कैशिक।

सप्तस्वरों के अन्तर्गत 'सहर्ष्य' तथा 'कैशिक' का कुछ स्पष्टीकरण यहाँ आवश्यक है। दक्षिण के एक संगीतज्ञ सहर्ष्य को षड्ज के पर्यायस्वरूप तथा कैशिक को त्रिश्रुतिक पंचम के पर्यायस्वरूप मानने के पक्ष में हैं[2]। प्रमाणाभाव से उनका यह कथन सन्देहास्पद दृष्टिगोचर होता है। समग्र संस्कृत एवं संगीत वाङ्मय में षड्ज के लिये 'सहर्ष्य' संज्ञा कथमपि प्राप्त नहीं होती। जहाँ तक कैशिक का सम्बन्ध है, उसका यह अर्थ प्राचीन संगीत-परिभाषा के आधार पर प्रमाणित नहीं माना जा सकता। कैशिक पंचम यह संज्ञा सर्वप्रथम ई० १३ के संगीतरत्नाकर में उपलब्ध होती है, उससे पूर्वकालीन ग्रन्थों में नहीं। संगीत-रत्नाकर के अनुसार पंचम की यह विकृति मध्यमग्राम के उस स्वरसाधारण्य में होती है, जिसमें चतुश्रुतिक मध्यम की अन्तिम श्रुति त्रिश्रुतिक पंचम में विलीन होकर चतुःश्रुतिक पंचम का निर्माण करती है। अतः उनके अनुसार कैशिक संज्ञा मध्यमग्राम के विशुद्ध त्रिश्रुतिक प के लिये न होते हुए चतुःश्रुतिक अथवा विकृत

---

१. द्र० 'लंकावतारसूत्र'—सं० बनी नज्जो। ओटानी युनिवर्सिटि प्रेस, कियोटो, १९२३।

'स्टडीज इन लंकावतारसूत्र' इंगलिश अनुवाद, प्रो० डी० टी० सुझुकी, लन्दन १९३२। प्रो० विंटरनिज इसको ई० ३ की कृति मानते हैं। डाक्टर दास-गुप्त के अनुसार इसकी रचना अश्वघोष के पूर्व ई० १–४ तक हुई है।

२. 'जनरल आफ म्युजिक एकडमी,' मद्रास, खण्ड १६, १९४५, द्र० पृ० ३७।

प के लिये है।[1] लंकावतारसूत्र के प्रायः समकालीन भरत—नाट्यशास्त्र में रत्नाकरोक्त मध्यमसाधारण्य कथमपि उपलब्ध नहीं तथा कैशिक संज्ञा भी किसी स्वरविशेष के लिये प्रयुक्त नहीं दिखाई देती। जैसा हम भरतकालीन संगीत में देखने वाले हैं, भरत के अनुसार कैशिक अभिधान सूक्ष्म श्रुत्यन्तर के प्रयोग के लिये है।[2] भरतकालीन परिभाषा एवं संगीतविषयक विकास को दृष्टिगत करते हुए कैशिक को पंचम का पर्यायवाचक मानना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। हमारी विनम्र सम्मति से कैशिक शब्द इस स्थान पर 'कैशिक' नामक ग्रामराग का ही बोधक माना जा सकता है। रामायण, नारदी शिक्षा, नाट्यशास्त्र तथा कालीदास में इस राग का नामोल्लेख यही स्पष्ट करता है कि इस राग का प्रचलन ईसवी की प्रारम्भिक शताब्दियों में रहा है। अतः समकालीन लंकावतारसूत्र में उसका प्रयोग इसी रूप में मानना आपत्तिजनक न होगा।

निष्कर्ष यह कि बौद्ध ग्रन्थों के रचनाकाल में संगीत के वैदिक तथा लौकिक दोनों पक्षों का प्रचलन था। सामवेद की शिक्षा वैदिक अध्ययन के अन्तर्गत मानी जाती थी तथा गान्धर्व का अन्तर्भाव शिल्प में किया जाता था। शिल्पों की शिक्षा के लिये कन्दराओं के गूढ़ कूटागारों में विद्यालयों का निर्माण किया जाता था।[3] तत्कालीन विश्वविद्यालयों गान्धर्व आदि शिल्पों के लिये पृथक् विभाग थे। सम्पन्न परिवारों में बालक-बालिकाओं की सङ्गीत-शिक्षापर विशेष ध्यान दिया जाता था। कलामर्मज्ञता सुसंस्कृत व्यक्ति का आवश्यक गुण मानी जाती थी। कलानैपुण्य के कारण गणिकाओं को समादर की दृष्टि से देखा जाता था। कला का व्यवसाय करने वाले विप्र वर्ग को हीन माना जाता था (द्रा० शीलसुत्त)। सङ्गीत का उपयोग पारमार्थिक तथा शृङ्गारिक दोनों कार्यों के लिये किया जाता था। बौद्धों को वही सङ्गीत सम्मत था, जो आध्यात्मिक साधना के लिये बाधक न हो[4]। बौद्ध विहारों में सङ्गीताराधना के लिये देवदासियों की नियुक्ति होती थी तथा इनकी नीतिमत्ता पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। सङ्गीत का सामूहिक अनुष्ठान गिरग्ग, समज्ज तथा नक्कत्रकीलम् जैसे लोकोत्सवों पर किया

---

१ सं० र० १,३, ४३।

२. ना० शा० अ० २८, पृ० ३२१।

३ 'डायलाग्स आफ बुद्ध' भाग ४, पृ० १११।

४. श्रमणों के लिये १० शिक्षापाद हैं, जिनमें गीत, नृत्य, नाट्य निषिद्ध माने गये हैं (द्र० 'फाहियान का प्रवास,' पा० टि० पृ० ४६)। तुलनार्थ—"न तत्र कार्यं तूर्यैस्ते न स्त्रीभिर्न विभूषणैः। एकस्त्वं यत्रस्थस्तया रत्याभिरंस्यसे"॥ (सौन्दरानन्द, ११, ३५)।

जाता था। ऐसे प्रसंगों पर सङ्गीत के अतिरिक्त नाटच, आख्यान, गायन, आदि का क्रम चलता था। नट, नटी, आदि अभिनेताओं को समाज में हीन दृष्टि से देखा जाता था। सङ्गीत कला को राजाश्रय प्राप्त था। कलानिपुण व्यक्तियों को राजसभा में उचित वेतन पर नियुक्त किया जाता था। कलाकारों की समय-समय पर प्रतियोगिताएँ आयोजित होती थीं, जिनका निर्णय राजा के द्वारा विद्वान् सङ्गीतज्ञों की सम्मति से किया जाता था।

इस काल में सप्ततन्त्री वीणा प्रमुख एवं लोकप्रिय वाद्य था। सप्त तन्त्रीयों के अतिरिक्त एक ही तन्त्री के कर्षण से विभिन्न स्वरावलियों के वादन की कला विकसित हो चुकी थी। इसी जाति के अन्य वाद्यों में परिवादिनी, विपंची, वल्लकी, महती, नकुली, कच्छपी तथा तुम्बवीणा का प्रचार था। वीणा तथा मृदंग बजाने के लिये दण्ड का प्रयोग होता था।[1] मृदंग के साथ पणव, भेरी, डिण्डिम तथा दुन्दुभि का प्रचलन था। घनवाद्यों में घन्टा, झल्लरी, जल्लली तथा कांस्यताल का प्रचार था। सुषिर वाद्यों में तूर्य, शंख, कुराल तथा शृंग का प्रचलन था।

संगीत के अन्तर्गत स्वर, ग्राम, मूर्च्छना के साथ रागों का प्रचलन भी आरम्भ हो चुका था। सुस्वर संगीत पशु-पक्षी को आकर्षित कर सकता है ऐसी मान्यता लोक में प्रचलित थी। दीर्घकालीन विस्वर गान की अपेक्षा अल्पकालीन सुस्वर गान श्रेयस्कर है, ऐसी दृढ़ मान्यता तत्कालीन संगीतज्ञों में थी।[2]

(रि) जैन ग्रन्थों में संगीतविद्या

जैसा कि हमने भूमिका में निर्दिष्ट किया है, प्राचीन भारतीय कला-परम्परा को जानने के लिये संस्कृत के अतिरिक्त पाली तथा अपभ्रन्श साहित्य का पर्यालोचन आवश्यक है। अपभ्रन्श साहित्य में भारतीय संस्कृति का विपुल स्रोत सन्निहित है। परम्परागत तथ्यों को प्रकट करने के अतिरिक्त ईसवी पूर्व की लोक-संस्कृति के ज्ञान के लिये इस साहित्य का महत्व अभूतपूर्व है। जन-जीवन का जैसा जीवन्त चित्र प्राकृत तथा अपभ्रन्श वाङ्मय में मिल सकता है, वैसा अन्यत्र नहीं। भारतीय स्थापत्य तथा शिल्प के ऐतिहासिक अनुशीलन के लिये जितना

---

१. कौशाम्बी, रामनगर, राजघाट, मथुरा तथा भीटा आदि स्थानों पर किये गये उत्खननों में कोण अथवा वादन दण्ड प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हुये हैं।

२. द्र० प्रो० कोवेल कृत 'जातकानुवाद', केम्ब्रिज युनिवर्सिटि प्रेस, १९०५, उद्धृत 'म्युज़िक आफ हिन्दुस्तान, पृ० ८१, फाक्स स्ट्रैंगवेज़।

यह साहित्य उपादेय है, उतना ही भारतीय संगीत के अध्ययन के लिये। जैनियों के इस विपुल साहित्य में तत्कालीन संगीतविषयक परिस्थिति का सम्यक् दिग्दर्शन पाया जाता है। इस साहित्य के अन्तर्गत जैन आगमों का मौलिकता तथा प्राचीनता की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है। जैन आगमों का आरम्भ महावीर के निर्वाणकाल से अर्थात् ई० पू० ४ से होकर ईसवीय आरम्भिक शताब्दियों तक परम्परानुगतरूप से पल्लवित होता रहा तथा ईसवी ६ तक वर्तमान रूप को प्राप्त हुआ।[१] इस दृष्टि से देखे जाने पर ईसवी पूर्व से लेकर एक सहस्राब्दि तक निरन्तर रूप से प्रचलित संगीत-धारा का सम्यक् दर्शन इस साहित्य से उपलब्ध होता है। अतः मूल आगम तथा टीका-ग्रन्थों के माध्यम से प्राचीन भारत का संगीतविषयक मानचित्र प्रस्तुत करने का प्रयास यहाँ किया जा रहा है।

ठाणांग सुत्त में वेदत्रयी के अन्तर्गत सामवेय (सामवेद) का निर्देश पाया जाता है।[२] वैदिक अध्ययनक्रम के अन्तर्गत सामवेय तथा उसकी शिक्षाओं का महत्वपूर्ण स्थान रहा है।[३] चौदह विज्जट्ठानों अर्थात् विद्यास्थानों के अन्तर्गत सामवेद का अध्ययन ब्राह्मणवर्ग के द्वारा किया जाता था।[४] अनुयोगद्वार तथा नन्दि सुत्तों में वेद, पुराण, शिक्षादि षडंग, वेशिय तथा गान्धर्व आदि कलाओं को लौकिक सुय अर्थात् लौकिक ज्ञान के अन्तर्गत माना है।[५] वैदिक वाङ्मय की उदात्त, अनुदात्त, स्वरित वाली स्वरोच्चारण-प्रणालि जैन सुत्तों के पठन-पाठन में भी प्रचलित दिखाई देती है। स्वर के लिये घोष शब्द का प्रयोग पाया जाता है तथा सही आम्नाय वही माना गया है जिसमें घोषविशुद्ध अध्ययन हो।[६]

जैनियों के ठाणांग सुत, रायापसेणीय तथा कल्पसूत्र में संगीत सम्बन्धी

१. विस्तार के लिये द्र० 'हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर', विन्टरनित्ज़, भाग २।

२. २, ३, १८५; द्र० आगमोदय समिति ग्रन्थामाला में अभय देव की संस्कृत टीका।

३. द्र० भगवती २, १; ओवाइया, ३८, पृ० १७२।

४. उत्तराध्ययन टीका, ३, पृ० ५६ अ।

५. अनुयोग, ४०; नन्दि ४२, पृ० १९३; द्र० कापडिया कृत 'हिस्ट्री आफ केननिकल लिट्रेचर आफ जैन्स,' पृ० २२४।

६. द्र० अनुयोग सू० १५१; व्यवहार, १०; तत्वार्थ, ९, २५। तुलनार्थ द्र० सिद्धसेन गणि कृत भाष्य पृ० २५८—'आम्नायोपि परिवर्तनम् उदात्तापरिशुद्धमनुश्रावणीयमभ्यासविशेषः'।

प्रचुर सामग्री पायी जाती है। ठाणांग सुत तथा अनुयोगद्वार सुत इस दृष्टि से विशेष अवलोकनीय हैं।[1] अनुयोगद्वार सुत (लगभग ई० १) में स्वर, गीत, वाद्य, मूर्च्छना आदि गान्धर्व के विषयों का सूत्रबद्ध विवरण पाया जाता है। जैन परम्परा के अनुसार संगीत अथवा गान्धर्व उन विषयों में से है जिनका प्रवर्तन महात्मा महावीर के द्वारा हुआ है तथा इन विषयों का सैद्धान्तिक विवेचन प्राचीन पुव्व अर्थात् पूर्व ग्रन्थों में निहित है। जैन परम्परा के अनुसार पुव्व अर्थात् पूर्व ग्रन्थ प्राचीनतम परम्परा के वाहक हैं तथा यह परम्परा महावीर तक पहुँचती है। जैन सिद्धान्तग्रन्थों में प्राचीन ललित-कलाओं के अन्तर्गत ७२ अथवा ६४ कलाओं की गणना पाई जाती है।[2] इनका अध्ययन क्षत्रियों तथा महिलाओं के द्वारा किया जाता था। गन्धव्व अर्थात् गान्धर्व का अन्तर्भाव इन्हीं सिप्पों अर्थात् शिल्पों में किया गया है।[3] गन्धव्व के अन्तर्गत गीय अर्थात् गेय, वैय अर्थात् वाद्य, सरगय अर्थात् स्वरगेय, नट्ट अर्थात् नृत, पुक्खरगय अर्थात् पुष्करगेय तथा समताल का अन्तर्भाव है। लौकिक विद्याओं तथा कलाओं के अन्तर्गत गाथा, आख्यान तथा कथाओं की शिक्षा इस युग में पारम्परिक रूप से प्रदान की जाती रही। चलित नामक गीत की शिक्षा इसी के अंग रूप में दी जाती थी। आचार्यों को समाज में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। रायापसेणीय के के अनुसार आचार्यों के तीन वर्ग थे—१ कलायरिय अर्थात् कलाचार्य; २ सिप्पायरिय अर्थात् शिल्पाचार्य तथा ३ धम्मायरिय अर्थात् धर्माचार्य। गुरु-शुश्रूषा तथा धन दान से विद्या ग्रहण की जा सकती थी।

बौद्ध युग की भांति इस युग में भी संगीतकला को राज्याश्रय प्राप्त था। कुछ राजा-जन अच्छे संगीतकार थे। राजा उदयन की कथा आवश्यक चूर्णिका में वर्णित है, जिसमें इनके महान संगीतज्ञ होने का वर्णन है (द्र० २ पृ० १६१)। उद्दायन भी एक संगीतकुशल राजा थे, जो अपनी पत्नी के नृत्य के साथ वीणा-वादन से संगति किया करते थे (उत्तरा० टीका, १८, पृ० २५३)। राजा के परिचारकों में वीणावाहक हुआ करते थे, जो सम्भवतः यात्राओं में भी उनके साथ रहते थे (द्र० ओवाइया, पृ० १३०)। संगीत के विशेषज्ञ एवं गुणी व्यक्तियों को राज्यसभा में नियुक्त किया जाता था। संगीतकुशल गणिकाओं का

---

१. अनुयोग० १२७; अनु० चूर्णिका, पृ० ४५।

२. द्र० ठाणांग ९,६७८; नायाधम्म, १ पृ० २१; समवायांग, पृ० ७७; ओवाइया, ४०; रायापसेणीय, २११; जंबुद्दिव, २, पृ० १३६। ठाणांग के अनुसार ७२ कलाओं का अन्तर्भाव पाप श्रुत अर्थात् पाप-विद्या में है।

३. तुलनार्थ द्र० बौद्ध ग्रन्थ 'मिलिन्दपण्ह'।

राजसभा में सम्मान किया जाता था। चम्पा नगरी की गणिका संगीत तथा वैशिकी कलाओं में पारंगत बताई गई है और उसे राजकोष से पर्याप्त वेतन प्रदान किया जाता था।[१] गणिकाओं के अतिरिक्त नृत्य का व्यवसाय करने वाला निट्टयाव अर्थात् नर्तकियों का विशिष्ट वर्ग था।[२])

(विभिन्न उत्सवों के अवसर पर नागरिक तथा ग्रामीण जनता में गीतनृत्यादि कार्यक्रमों का प्रचुर आयोजन किया जाता था।) जनता का मनोरंजन करनेवाले व्यावसायिक वर्गों में गन्धव्विय अर्थात् गन्धर्व, नड अर्थात् नट, नट्टग अर्थात् नर्तक, लासग अर्थात् रासगायक, लंख, तुणैल अर्थात् तूण–वादक, तुम्बवीणिय अर्थात् तुम्बवीणावादक, मागह अर्थात् मागध आदि जन थे।[३] (गायक, नर्तक तथा नट स्थान-स्थान पर जाकर ग्रामीण जनता का मनरंजन करते थे) डोम्ब जाति के लोग अपनी संगीतप्रियता के लिये प्रसिद्ध थे और अपने गीतों से ग्रामीण लोगों का अनुरंजन करते थे। किणिक जाति के लोग वाद्यों के लिये चर्म की थैलियां बनाते थे और जब देह-दण्ड वाले अपराधियों को वधस्तम्भ की ओर ले जाया जाता था, तब वाद्य बजाने का कार्य इनका था। होली जैसे उत्सवों पर निम्न जाति के व्यक्ति नगर मार्गों पर समूहशः गान-नृत्यादि करते थे। उत्तराध्ययन टीका में वाराणसी के दो मातंगपुत्रों की कथा आई है, जो गायक तथा नर्तकों की टोलियां बना कर सारे नगर में घूमते-फिरते थे। निकृष्ट वर्ण का यह व्यवहार सहन न कर उच्चवर्णीय लोगों ने उनको मार कर नगर से निष्कासित कर दिया था।[४] निशीथ चूर्णी में कुछ उत्सवों का वर्णन है, जो विभिन्न ऋतुओं पर सामूहिक रूप से मनाये जाते थे (द्र० १९, पृ० ११७४)। इनमें से इन्दमह अर्थात् इन्द्रमह, खण्डमह, जक्खमह अर्थात् यक्षमह तथा भूतमह अर्थात् भूतमह को महामह कहा जाता था। उत्तराध्ययन टीका के अनुसार इन्दमह निरन्तर एक सप्ताह तक चलता था। इसके अन्तर्गत नर्तक, नर्तकियां तथा सामान्य जनता भी नृत्य-गीत आदि में सहयोग देती थीं।[५] (संखडी अथवा भोज्ज नामक उत्सव में सामूहिक संगीतादि के साथ सामुदायिक भोजन की प्रणालि प्रचलित थी। इसमें जैनों के सभी पन्थ भाग लेकर सम्प्रदाय के तत्वों पर विचार-विमर्श

---

१. नाकाधम्म० ३, पृ० ५९।

२. उत्तरा, टीका, ९, पृ० १३६।

३. द्र० ओवाइया, पृ० २।

४. उत्तरा० टीका, १३, पृ० १८५; चित्तसंभूत जातक।

५. द्र० 'लाइफ इन एनशन्ट इण्डिया एज डिपिक्टेड इन जैन कैनन्स', पृ० २१६, जैन कृत।

करते थे तथा साधारण जन मदिरा-पान कर शृंगार-गीत तथा नृत्य में मग्न रहते थे।

संगीत विलास-सामग्री का अभिन्न अंग रहा है। नागरक के लिये आवश्यक वस्तुओं में सुन्दर वस्त्र, अलंकार इत्यादि के साथ संगीत भी आवश्यक अंग माना जाता था।[२] श्रीमान् व्यक्तियों का काल संगीत के राग-रंग में व्यतीत होता था। नायाधम्मकहा में कथा आई है कि मेघकुमार नामक धनाढ्य व्यक्ति विवाह के पश्चात् नाटकों को देखने में काल व्यतीत करता था। इन नाटकों में महिलाओं के द्वारा गीत गान तथा वाद्यवादन किया गया था। मेघकुमार को आठ नाडैल्ला अर्थात् नर्तकियों तथा बत्तीस नटों वाली नाट्य-मण्डलियां दहेज के रूप में दी गई थीं।[३] विवाह के अवसर पर पीतिदान अर्थात् प्रीतिदान के रूप में नर्तकियों को प्रदान किया जाता था।

भारतीय जनता का लौकिक व्यवहार सदैव धर्म से अनुप्राणित रहा है। संगीतकला भी धार्मिक अभिव्यंजना से अछूती न रह सकी। जैन आगमों का जन-जन में प्रचार करने के लिये चलित नामक गीतों का उपयोग किया जाता था।[४] महावीर के जीवन-दर्शन सम्बन्धी नाटकों का अभिनय किया जाता था जिसमें जैन मुनि भी भूमिकाभिनय करते थे।[५] पिंडनिज्जुति में पाटलिपुत्र में अभिनीत रठ्ठवाल नामक नाटक का उल्लेख है, जिसका अभिनय आषाढभूह नामक जैन मुनि ने किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि सभी क्षत्रिय मुनिवृत्ति का आश्रय करने लगे, परिणामतः उस नाटक को नष्ट कर दिया गया (उत्तराध्ययन टीका, ४७४-८०)। रायापसेणीय में ३२ प्रकार के नाट्यों का वर्णन है, जिनमें पाठ्य, गान तथा नृत्याभिनय तीनों का समुचित योग है (सूत्र २६-८४)। जैन परम्परा के अनुसार आदिम नृत्य-नाट्य महावीर की जीवनी पर आधारित था तथा पुरुष एवं महिला दोनों के द्वारा समुचित भूमिका का का अभिनय किया गया था। वाद्यवृन्द अर्थात् कुतप तथा नृत्य का प्रदर्शन कलात्मक आकृतियों के माध्यम से दिखाया जाता था। सौत्थिय अर्थात् स्वस्तिक, नन्दियावत अर्थात् नन्द्यावर्त, वध्धमानग अर्थात् वर्धमानक, भद्दासन अर्थात्

२ वहीं, पृ० १३३; बृहत्कल्प भाष्य १, २५५७।

३. नायाधम्म टीका १, पृ० ४२; तुलनार्थ द्र० भगवती, ३, पृ० २४४; अभय टीका ११,११; अन्तगड, पृ० ३३-३५।

४. बृहत्कल्प भाष्य १, २५६४।

५. जैनकृत 'लाइफ इन एनशन्ट इण्डिया एज़ डिपिक्टेड इन जैन कैनन्स', पृ० १८५।

भद्रासन, कलस अर्थात् कलश, मच्छ अर्थात् मत्स्य, सिरिबच्छ अर्थात् श्रीवत्स तथा दप्पण अर्थात् दर्पण इत्यादि ऐसी ही नृत्याकृतियां थीं, जिनका सादृश्य भरतोक्त पिण्डीबन्धों से सहज स्थापित किया जा सकता है।[१] नृत्य-नाट्य के अन्तर्गतदुय (द्रुत), विलंबिय (विलंबित) दुयविलंबिय (द्रुतविलंबित), अंचिय (अंचित), रिभिय (रिभित), आरभड् (आरभट), भसोला, आरभड़-भसोला, संकुचिय, पसारिय, भन्तसभान्त, उप्पययपवत इत्यादि अंगों का उल्लेख जैन ग्रन्थों में प्राप्त होता है।[२] इनमें से कुछ नृत्य-लयों के, कुछ अभिनय-प्रकारों के तथा कुछ नृत्य-प्रकारों के निदर्शक प्रतीत होते है।

जैन ग्रन्थों में वाद्य—

वियाहपण्णट्टि, रायापसेणीय, जीवाभिगम, जंबुद्दीवपण्णति, अनुद्योगसुत आदि ग्रन्थों में संगीत के तत्कालीन प्राचीन वाद्यों का उल्लेख प्राप्त होता है।[३] रायापसेणीय सुत सं० ६४ में तुरीय अर्थात् तूर्य के अन्तर्गत निम्न वाद्यों का उल्लेख है—(१) संख (शंख) (२) सिंग (शृङ्ग) (३) शंखिया (४) खरमुही (५) पेया (६) पीरिपिरिया (७) पणव (८) पडह (पटह) (९) भम्भा अथवा ढक्का (१०) होरम्भा अथवा महाढक्का (११) भेरी (१२) झल्लरी (१३) दुन्दुहि अर्थात् दुन्दुभि (१४) मुरय अर्थात् मुरज (१५) मुइंग अर्थात् मृदंग (१६) नन्दीमुइंग अर्थात् नन्दी मृदंग (१७) आलिंग अर्थात् आलिंग्य (१८) कुटुम्ब अथवा कस्तुम्ब (१९) गोमुही अर्थात् गोमुखी (२०) मद्दल अर्थात् मर्दल (२१) वीणा (२२) विपंची (२३) वल्लकी (२४) महती (२५) कच्छभी अथवा कच्छपी (२६) चित्तवीणा अर्थात् चित्रवीणा (२७) बद्धीसा अथवा चर्चसा (२८) सुघोषा (२९) नन्दीघोषा (३०) भामरी अर्थात् भ्रमरी (३१) छम्भामरी (३२) परवायणी अर्थात् परिवादिनी (३३) तूणा अर्थात् तूर्ण (३४) तुम्बवीणा (३५) आमोट अर्थात् आमोद (३६) झंझा (३७) नकुल (३८) मुगुण्ड अर्थात् मुकुन्द (३९) हुड्डुकी अर्थात् हुड्डुका (४०) विचिक्की (४१) करडा अथवा करटी (४२) डिंडिम (४३)

१. द्र० कापड़िया कृत 'हिस्ट्री आफ कैननिकल लिट्रेचर आफ दि जैन्स', पृ० २२४।

२. जैन कृत 'लाइफ इन एन्शन्ट इण्डिया एज़ डिपिक्टेड इन जैन कैनन्स', पृ० १८५।

३. विया० ५,४,१; राया० सुत्त २३; जीवा० ३, पृ० १४५; जंबु० २, पृ० १००; अनु० १२७; द्र० कापड़िया, 'हिस्ट्री आफ कैननिकल लिट्रेचर' पृ० २२४, पाद टिप्पणी।

किणिय अथवा किणित (४४) कडम्ब अथवा कन्डा (४५) डडरिया अर्थात् दर्दरक (४६) डड्डरगा अर्थात् दर्दरिका (४७) कलसिया अथवा कलशिका (४८) मड्डय (४९) तल (५०) ताल (५१) कंसताल अर्थात् कांस्यताल (५२) रिंगिरिसिया अथवा रिणिसिका (५३) लट्टिया (५४) मगरिया अथवा मंगरिका (५५) सुंसुमारिया अथवा शुशुमारिका (५६) वंस अर्थात् वंश (५७) वेड्डु अथवा वेणु (५८) वाली (५९) परिल्ली अथवा परिली (६०) बढ्ढगा अथवा बद्धका।[1]

(बृहत्कल्प की भाष्यपीठिका[2] में निम्न बारह वाद्यों के नाम आये हैं—१ भम्भा २ मुकुन्द ३ मद्दल ४ बड़म्ब अथवा कड़व ५ झल्लरी ६ हुड्डुक ७ कंसाल ८ काहल ९ तलिमा १० वंस ११ पणव और १२ संख।) इसी ग्रन्थ की टीका में तूणवाद्य तथा उसके वादकों का उल्लेख है (पृ० ८२)। टीकाकार ने पणव, मुरज तथा मृदंग का पृथक् उल्लेख निम्नानुसार किया है—"पणवो मृत्पटः। मुरजो मर्दलः। मृदंगः मृण्मय स एव"। हरिभद्र की ई० ११ की आवश्यक वृत्ति[3] में निम्न चर्मवाद्यों का उल्लेख है—भम्भा, मुकुन्द, करटिका, तलिमा अथवा तिमुल्लिका इत्यादि। उनके अनुसार भम्भा ढक्का का ही प्रकार-विशेष है, केवल उसका मुख कुछ विस्तृत हुआ करता है—'भम्भा पृथुलमुखढक्का-विशेषः'। अनुयोगद्वारसूत्र की ई० १२ की टीका में तालवाद्यों के रूप में गोमुखी, गोधिका तथा आडम्बर अथवा पटह का उल्लेख हुआ है।[4] इसके आधार पर प्रतीत होता है कि गोधिका नामक वाद्य के लिये गोधा का चर्म उपयोग में लाया जाता था। निशीथ चूर्णि में डमरुग (डमरू) वीणा, ढंकुण इत्यादि वाद्यों का उल्लेख पाया जाता है (१७, पृ० ११५८)। आचारांग में लिट्टिया और किरिकिरिया इन दों वाद्यों का उल्लेख है (द्र० २,३९१)। सूयगडंग में निम्न दो वाद्यों का उल्लेख है—१ कुक्कय वीणा २ वेणुपलासीय वाद्य (द्र० ४,२,७)। इन में से दूसरा वाद्य वंश के काष्ठ से निर्मित किया जाता था और वाम हस्त में पकड़ कर फूत्कार के सहारे दक्षिण हाथ की अंगुलियों से बजाया जाता था।

---

१. अपभ्रंश में उपलब्ध इन वाद्य-नामों के संस्कृत रूपान्तर 'अभिधानराजेन्द्र' नामक जैन कोष (ई० १२) में उपलब्ध है।

२. द्र० पृ० १२ और पृ० २४; जैन पुस्तकोद्धार द्रव्यमाला नं० ६१ पर भद्रबाहु कृत 'कल्पसूत्र–विनय' विजयोपाध्याय की संस्कृत टीका के साथ प्रकाशित।

३. जैन पुस्तकोद्धार माला के वें ५३ पुष्प के रूप में प्रकाशित हेमचन्द्र की टीका सहित।

४. आगमोदय समिति में प्रकाशित, हेमचन्द्र के भाष्य के साथ।

नायाधम्मकह में विक्रेय वस्तुओंके अन्तर्गत वीणा, वल्लकी, भामरी, कच्छभी अथवा कच्छपी, भम्मा तथा शङ्ख्रामरी इत्यादि वाद्यों का उल्लेख उपलब्ध है (द्र० १७, पृ० २०३)। बृहत्कल्प भाष्य में कान्ह वासुदेव की चतुर्विध भेरी का उल्लेख है—१ कोमुदिका २ संगामिया ३ दुम्भुइया ४ असिवोपसमिनी अर्थात् अशिवोपमिनी। इन भेरियों को अलौकिक गुणों से युक्त माना जाता था। असिवोपसिमिनी के बजाये जाने पर रोगनिवारण होता है ऐसी लौकिक मान्यता थी। इन भेरियों का निर्माण प्रायः चन्दन के काष्ठ से किया जाता था।[1] श्रीकृष्ण की एक और भेरी का नाम सन्नाहिय बताया गया है। इसके बजाये जाने पर योद्धाओं ने समवेत होकर पौमनाभ नामक राजा के विरुद्ध अभियान किया था।[2]

शंख का उपयोग पर्यटक साधु महात्माओं के द्वारा किया जाता था। गंगातीर पर निवास करने वाले वानपत्थ तावस अर्थात् तापस शंखधमग तथा कूलधमग कहलाते थे।[3] लौकिक मान्यता में शंख, भेरी तथा नन्दीतूर का वादन शुभाशंसक माना जाता था। नन्दीतूर में बारह वाद्यों का एक साथ वादन सम्मिलित रहता था।[4] बालकों के खिलौने में छोटे-छोटे डिण्डिम अथवा नगाड़े बनाये जाते थे।[5] संगीत का व्यवसाय करने वाले लोगों में तुम्बवीणा तथा तूण वादन[6] करने वाला विशिष्ट वर्ग था। धार्मिक सम्प्रदायों में गीयरै नामक पन्थ था, जो संगीत तथा अन्य विलास-भोगों में लिप्त रहता था। भेरी वाद्य का उपयोग जनता को किसी घटना की सूचना देने के लिये, लोकोत्सवों पर तथा युद्ध के अवसर पर किया जाता था। नायाधम्मकहा में द्रौपदी के स्वयंवर की घटना उल्लिखित है, जिसमें भेरीवादन के द्वारा स्वयंवर के घटित होने की घोषणा

---

१. द्र० जैन कृत 'हिस्ट्री आफ एनशन्ट इण्डिया एज़ डिपिक्टेड् इन जैन कैनन्स', पृ० ८१।

२. नायाधम्म० १६, पृ० १९०।

३. ओवैया० सू० ३८, पृ० १७०; निर्यावलि० ३, पृ० ३९।

४. वहीं पृ० २३६।

५ कुछ स्थानों पर विद्यार्थी की तुलना नगाड़े से की गई पायी जाती है (आवश्यक० निर्युक्ति, १३९; आव० चूर्णिका पृ० १२१–१२४; बृहद्भाष्यपीठिका, ३३४; द्र० जैन पृ० १७०)।

६. तुलनार्थ मराठी शब्द 'तुणतुणें'। प्रतीत होता है कि तुणतुणे तूण का रूप रहा।

की गई है। ऐसे समारोहों पर आगन्तुक अतिथियों का स्वागत भी संगीतादि सामग्री से किया जाता था।[1]

जैन ग्रन्थों में संगीत-सिद्धान्त—

(जैसा हमने ऊपर देखा है, जैनियों के प्राचीन पुव्व ग्रन्थों में संगीतसम्बन्धी प्रचुर विवरण पाया जाता है। जैन परम्परा के अनुसार संगीत के प्राचीन आचार्यों में भरत तथा विशाखिल का स्थान प्रमुख है।) ठाणांग के संस्कृत टीकाकार अभयदेव के अनुसार ऐसे ही चौदह पुव्व ग्रन्थों में से एक ग्रन्थ पूर्वगतस्वरप्राभृत नामक था, जिसमें स्वरों से उद्भूत होने वाली इक्कीस मूर्च्छनाओं तथा एकादश अलंकारों का विवरण था। यहां ठाणांगसुत्त उपलब्ध संगीतविषयक सिद्धान्तों का निरूपण निम्न किया जा रहा है।

ठाणांग सुत्त में स्वरों को उत्पत्ति, सप्तस्वरों का प्राणियों की ध्वनि से से सम्बन्ध, स्वरों का मानव-स्वभाव से सम्बन्ध, ग्राम तथा मूर्च्छनायें,[2] गीत के गुण तथा दोष इत्यादि विषयों का विवरण पाया जाता है। (स्वरोत्पत्ति के सम्बन्ध में ठाणांग में निम्न श्लोक उपलब्ध है—)

(सज्जं तु अग्गजे आए उरेण रिसभं सरम्।
कण्ठुग्गएण गन्धारं मज्झ जिआए मज्झिमम्॥
सासाए पंचमं बूया दंतोठेणय धैवयम्।
मुद्धाणेगयणे सायं सरठाणा वियाहिया॥)

(अर्थात् षड्ज अग्रज है, उरस्थान से ऋषभ उद्भूत होता है, कण्ठ से गन्धार, मध्य से मध्यम, नासा से पंचम तथा दंतोष्ठ से धैवत का उद्भव माना गया है।) द्रष्टव्य है कि इसी प्रकार की परम्परा नारदी शिक्षा तथा मतंग की बृहद्देशी में पाई जाती है, यद्यपि विभिन्न स्वरों के उत्पत्ति-स्थान के सम्बन्ध में विपर्यय पाया जाता है।[3]

---

१. नायाधम्मकहा० १३, पृ० १७९-१८२।

२. जैन ग्रन्थों में मूर्च्छना के लिये 'मञ्छी' शब्द का प्रयोग पाया जाता है।

३ नारदी शिक्षा के अनुसार—

कण्ठादुत्तिष्ठते षड्जः शिरसस्त्वृषभः स्मृतः।
गान्धारस्त्वनुनासिक्य उरसो मध्यमः स्वरः॥ १,५,६॥
उरसः शिरसः कण्ठादुत्थितः पंचमः स्वरः।
ललाटाद्धैवतं विद्यान्निषादं सर्वसन्धिजम्॥ १,५,७॥

प्राणियों की ध्वनि तथा सप्तस्वरों के सम्बन्ध में निम्न उक्ति पाई जाती है—

सज्जं रवइ मयूरो कुक्कुडो रिसभं स्वरम् ।
हंसो णदइ गंधारं मज्झिमं तु गवे लगा ॥
अह कुसुमसंभवे काले कोइला पंचमं सरम् ।
छठं च सारसा क्रौंचा णेसायं सत्तमंगन ॥

अर्थात् षड्ज ध्वनि मयूर की है, ऋषभ कुक्कुट की, गन्धार हंस की, मध्यम गौओं की, पंचम कोकिल की, धैवत क्रौंच की तथा निषाद सारस पक्षी की ध्वनि है। द्रष्टव्य है कि यह क्रम नारद, मतंग आदि में निहित परम्परा से प्रायः विभिन्न लक्षित होता है।[1]

सुत्त के अनुसार गीत के छः दोष तथा आठ गुण हैं—

भीतं दुतं रहस्सं मायंतो मायगा हि उत्तालं काकस्सरमणुणासं च होन्ति गेयस्स दोसा ॥ ५ ॥ पुन्नं रतं च अलंकियंव वरांतहाय अविघुठं मधुरं समसुकुमालं अठ गुणा होन्ति गेयस्य ॥ ६ ॥ उरकण्ठसिरपतसत्थं च गिज्जए मऊ अरिभियपदं बद्धं समतालपडुरकेवं सतसरसहिरं गेयं ॥ ७ ॥ निद्दोसं सारवंत च हेतुजुतमलंकियं उवणीयं सोवयारं च मित सझुमेवय ॥ ८ ॥ सममत्थसमं चेव सव्वत्थविसमं च जं तिन्निवितपयायाहं चउत्तयं नोवलषई ॥ ९ ॥[2]

(गीत का गान निर्दोष तथा गुणयुक्त होने के लिये निम्न दोषों का निराकरण आवश्यक माना गया है—भीत, द्रुत, रहस्य, उत्ताल, काकस्वर तथा अनुनास। अभयदेव टीकाकार के अनुसार इसका विवरण निम्नांकित है—

गीतं त्रस्तमानसम् । द्रुतं त्वरितम् । रहस्यं ह्रस्व स्वरं लघुशब्दम् ।
उत्तालं अस्थानतालम् । काकस्वरं अश्राव्यस्वरम्— ।

अर्थात् भीत दोष वह है जिसमें गाने के समय चित विक्षिप्त हो, द्रुत वह है जिससे गायन के अन्तर्गत अत्यधिक त्वरा हो, रहस्य में स्वरों तथा शब्दों का ह्रस्व अथवा लघु उच्चारण होता है, उत्ताल से तात्पर्य तालहीनता से है,

---

१. नारदी तथा याज्ञवल्क्य शिक्षा के अनुसार—
षड्जं मयूरो वदति गावो रंभन्ति चर्षभम् ।
अजाविके तु गान्धारं क्रौंचो वदति मध्यमम् ॥ १,५,४ ॥
पुष्पसाधारणे काले पिको वक्ति च पंचमम् ।
अश्वस्तु धैवतं वक्ति निषादं वक्ति कुञ्जरः ॥ १,५,५ ॥

२. तुलनार्थ द्रष्टव्य नारदी शिक्षा, १,३,१, तथा १,३,१२–१३; विस्तार के लिये द्रष्टव्य इसी प्रबन्ध का तृतीय अध्याय ।

काकस्वर कर्कश तथा अश्राव्य स्वर के लिये संज्ञा है तथा अनुनासिक से तात्पर्य है स्वरोच्चारण में नासिका का प्रयोग करना।

अभयदेव की टीका (ई० ११) में गीतगुणों का निम्न स्पष्टीकरण पाया जाता है[1]—

पूर्णं स्वरकलाभिः। रक्तं गेयरागेण अनुरक्तस्य। अलंकृतं अन्यस्वरविशेषाणां स्फुटशुभानां करणात्। व्यक्तम् अक्षरस्वरस्फुटकरणत्वात्। अविघुष्टं विक्रोशनमिव यन्न विस्वरम्। मधुरं मधुरस्वरं कोकिलादिरुतवत्। समं तालवंशस्वरादिसमनुगतम्। सुकुमारं ललितं ललतीव यत् स्वरघोलनाप्रकारेण शब्दस्पर्शनेन श्रोत्रेन्द्रियस्य सुखोत्पादनाद्वेति। एभिरष्टभिर्गुणैर्युक्तं गेयं भवति, अन्यथा विडम्बना।

अर्थात् पूर्ण वह है जिसमें स्वर का उच्चारण उन्मुक्त कण्ठ से किया जाय। रक्त में रंजकता अथवा रसात्मकता विद्यमान होती है। विविध स्वरों का परस्पर गठन अलंकृत के लिये कारण होता है। संगीत के स्वर तथा शब्द का स्फुट उच्चारण व्यक्त कहलाता है। आक्रोश से विहीन किन्तु उच्चैः स्वर से गायन अविघुष्ट कहलाता है। कोकिला के समान मधुरस्वरयुक्त गान मधुर कहलाता वेणु, स्वर तथा ताल सामञ्जस्य सम कहलाता है। सुकुमार वह लालित्य गुण है जो स्वर के साथ नितान्त तादात्म्य के कारण है। गीत को मधुर बनाता है।

इन अष्ट गुणों से युक्त गान ही गेय कहलाता है। इसके अतिरिक्त अन्य गान संगतिकला की विडम्बना है। गीतगान के सम्बन्ध में कुछ निम्न गुणों का उल्लेख सुत्तकार ने किया है—

१ मृदु २ ऋभित ३ पदबद्ध ४ समतालपद ५ सप्तसीभर ३ निर्दोष ७ सारवान् ८ हेतुयुक्त ९ अलंकृत १० उपनीत ११ सोपचार १२ मित और १३ मधुर। गीत में प्रयुक्त होने वाली वृत्त-रचना त्रिविध होती है—१ सम २ अर्धसम तथा ३ विषम।

टीकाकार अभयदेव के अनुसार उरस्, शिर, तथा कण्ठ तीनों स्थानों पर विशुद्ध प्रकार से गाया जाने वाला मृदुल गीत मृदुक कहलाता है—'उरः कण्ठशिरोविशुद्धं मृदुकम्'। ऋभित वह गुण है जिसमें स्वर घोलना के आश्रय से

---

१. द्र० 'जरनल आफ म्युज़िक एकडेमी,' मद्रास में डा० राघवन का निबन्ध, शीर्षक 'म्युज़िक इन जैन वर्क्स्'।

अनुयोगद्वार की मलधारी हेमचन्द्र कृत टीका में संगीतसम्बन्धी यही विवरण प्रायः पाया जाता है।

रक्तिपूर्ण होता है—"यत्र अक्षरेषु घोलनया संवरन् स्वरः रंगतीव घोलनाबहुलमित्यर्थः"। घोलना सम्भवतः गमक का कोई प्रकार रहा हो जिसमें स्वर अपनी विशिष्ट श्रुति के अग्र तथा पार्श्व में संचार करता है। सीभर नामक गुण के अन्तर्गत स्वरों तथा अक्षरों का तुल्य प्रमाण महत्वपूर्ण होता है। इसका तात्पर्य सम्भवतः ऐसे गीत से है जिसमें स्वर-रचना के लिये आवश्यक शब्दों की ही रचना की जाती है—"सप्तस्वरा अक्षरादिभिः समा यत्र"।

उपर्युक्त विवेचन से नितान्त स्पष्ट है कि जैन ग्रन्थों में निबद्ध संगीत विषयक परम्परा प्रामुख्य से संस्कृत ग्रन्थों की अनुगामिनी रही है।

अध्याय षष्ठ

स्मृति-ग्रन्थों में संगीत

स्मृति-ग्रन्थों का प्राचीन भारतीय जीवन में गौरवपूर्ण स्थान रहा है। वैदिक तथा महाकाव्य काल के पश्चात् भारतीयों के दैनंदिन जीवन तथा नानाविध प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब इनमें पाया जाता है। प्राचीन भारतीयों की धर्म-कल्पना जीवन-संगिनी होने के कारण तत्कालीन जीवन के विविध पक्षों का दर्शन इन ग्रन्थों के अभ्यन्तर से प्राप्त होता है। मूलतः धर्म अथवा व्यवहार के प्रतिष्ठापक होते हुये प्राचीन आर्यों की श्रौत तथा गृह्य परम्परा का सम्यक् निरूपण इन स्मृति-ग्रन्थों में हुआ है। महत्व की बात यह है कि प्राचीन काल से प्रवर्तमान वैदिक परम्परा सूत्र-ग्रन्थों से होती हुई स्मृति के विपुल वाङ्मय में प्रतिभासित हो उठी है। स्मृति-ग्रन्थों का निर्माण किसी न किसी मात्रा में सूत्र-ग्रन्थों पर अधिष्ठित होने के कारण उनका वैदिक परम्परा से सम्बन्ध निर्विवाद कहा जा सकता है। सभी स्मृति-ग्रन्थ, चाहे प्राचीन हों अथवा अर्वाचीन, वेद को व्यवहार तथा धर्म का आदिम स्रोत मानते हैं।[1]

स्मृतिविषयक विशाल साहित्य में मानव धर्मशास्त्र तथा उस पर आधारित मनुस्मृति का स्थान प्राचीनता तथा सर्व-व्यापकता के कारण वरेण्य माना जाता है। समय-समय पर जिन अनेकानेक स्मृति-ग्रन्थों का निर्माण होता रहा, वे सभी मानव धर्मशास्त्र के ऋण को स्वीकार करने में परम गौरव का अनुभव करते हैं। मनुस्मृति के पश्चात् गौरव तथा अधिकार की दृष्टि से दूसरा स्थान याज्ञवल्क्यस्मृति को प्राप्त है,[2] जिसमें भगवान् मनु के अतिरिक्त अन्य अनेक स्मृतियों तथा स्मृतिकारों का गौरवपूर्ण नामोल्लेख है। निजी विशिष्टताओं के होने पर सनातन परम्परा का एकत्व इन स्मृति-ग्रन्थों में अक्षुण्ण पाया जाता है जो भारतीय सिद्धान्त-वैविध्य में एकत्व-से पूर्णतः अनुकूल कही जा सकती है। स्मृतिकाल की संगीतविषयक प्रवृत्तियों को जानने के लिये प्रमुखतः इन्हीं प्राति-

---

१. मनु० २,६,१२।

२. स्मृतिकाल का प्रारम्भ ई० पू० ८ वीं से लेकर ईसवी के बहुत अनन्तर तक माना गया है। विद्वानों के मत में मनुस्मृति का वर्तमान रूप ई० पू० २ से ई० २ तक स्थिर हो चुका था। याज्ञवल्क्य स्मृति का निर्माण काल अधिक से अधिक ई० ५ माना जाता है (काणे, धर्मशास्त्र, तथा मैक्डोनेल)।

निधिक स्मृति-ग्रन्थों तथा उनके आधारभूत कल्पसूत्रों के आधार पर विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्राचीन भारतीयों के जीवन में संगीतकला का एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। वैदिक विधिविधान के अतिरिक्त सर्वसामान्य जनता के जीवन पर इस कला का प्रभुत्व सदैव प्रस्थापित रहा। सूत्रग्रन्थ, जो कि वस्तुतः यज्ञयागादि कर्मकाण्ड-परक है, मानव जीवन के भौतिक एवं रंगीन पक्ष को उपेक्षित न कर सके यह तथ्य उल्लेखार्ह है। वैदिक संगीत के साथ ही लौकिक संगीत का परिपोषण उस समय में बराबर होता रहा है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[1] से स्पष्ट है कि गीत, नृत्य आदि कलाओं को शासकीय प्रोत्साहन प्राप्त था। गोभिल गृह्यसूत्र के अनुसार प्रत्येक विधि के अनन्तर प्रायश्चित्त के रूप में अथवा दोषमार्जनार्थ वामदेव्य साम का गान अनिवार्य बताया गया है। सांख्यायन गृह्यसूत्र[2] में सीमोन्तोन्नयन नामक विधि का विवरण है, जिसमें पत्नी के लिये यथेच्छ आभरण पहन कर हर्षयुक्त गान का विधान है। इसी विधि के अन्तर्गत पति वहाँ एकत्रित वीणावादकों को आदेश देता था कि वे राजा सोम के गीतों का गान तथा वीणावादन करें।[3] सांख्यायन[4] में विवाह के अवसर पर गीत तथा वाद्य के साथ नृत्य का विधान पाया जाता है। चार अथवा आठ सुवासिनी महिलायें सुरापान कर चतुर्वार समूह-नृत्य करती थीं। पारस्कर गृह्यसूत्र में विवाह के अवसर पर वर के गीतगान का विधान है। वर के लिये यह आवश्यक था कि वह लाजा होम के प्रसंग पर गाथा नामक गीतों का गान करें। ऐसे गीत वधू के शिलारोहण पर गाये जाते थे। इससे स्पष्ट है कि स्मृतिपूर्व गृह्यसूत्रों में सामगान तथा लौकिक गान दोनों का प्रचलन जीवन के अभिन्न अङ्ग के रूप में प्रचलित था। लौकिक संगीतकला को उसी अंश तक स्वीकार्य माना जाता था जो वैदिक परम्परा के अनुकूल हो। वैदिक अध्ययन तथा अनुष्ठान में व्याघात पहुँचाने वाली संगीतकला प्राचीन आर्यों की दृष्टि में सर्वथा त्याज्य थी।

स्मृति-ग्रन्थों में द्विज के लिये संगीत का व्यवसाय निषिद्ध माना गया है। गृहस्थाश्रमी द्विज के सम्बन्ध में यह विधान है कि वह गीत, वाद्य, नृत्य से अपना जीविकार्जन कथमपि न करे (४, १५)। नृत्य, गान तथा वादित्रवादन उसके लिये अनुचित कर्म है—"न नृत्येदथवा गायेन्न वादित्राणि वादयेत्" (४,६४)।

१. २, १०, २५।
२. १, २२–१६।
३. सांख्या० १, २२–११; आश्व० गृ० १, १४, ६।
४. १, ११–५।

मनु तथा याज्ञवल्क्य दोनों शिल्प को शूद्रजनोचित व्यवसाय मानते हैं। (मनु० १०, १००; याज्ञ० ५, १२०)। द्विजजन इस व्यवसाय को केवल आपद्धर्म के रूप में अपना सकते हैं। (मनु १०, ११६; याज्ञ० पृ० ३२९, ४२)।

(वेदाध्ययन करने वाले ब्रह्मचारी के लिये संगीत का सेवन सर्वथा निषिद्ध माना गया है) गोभिल गृह्यसूत्र के अनुसार विद्यार्थी के लिये कौशीलव, गन्ध, अंजन आदि उपभोग सर्वथा निषिद्ध है—'कौशीलवगन्धांजनानि' (आपस्तम्ब १,१,३,११–१२) विद्यार्थी जनों के लिये नृत्य-प्रेक्षण तक निषिद्ध माना गया है (गौतम १५, १८)। (पारस्कर गृह्यसूत्र में गीत, वाद्य, नृत्य ये कलायें समस्त ब्राह्मण वर्ग के लिये वर्ज्य मानी गई हैं। मनु के अनुसार गीत, वाद्य तथा नृत्य ऐसे ब्रह्मचारी के लिये वर्ज्य हैं जो गुरुगृह में विद्यार्जनार्थ निवास करता हो (१,१७८)। गुरुगृह में जबतक उसका निवास है तब तक वह किसी ऐसे कार्य को न करे जो उसकी तपोवृद्धि में व्याघात पहुँचाये।) जो ब्रह्मचारी आगे चल कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहता है, उसके लिये आवश्यक है कि वह ३६ वर्ष तक गुरुगृह में निवास कर त्रैवेदिक व्रत का मनोयोगपूर्वक आचरण करे। ऋक्, यजु तथा साम इन तीनों का व्यापक एवं सम्पूर्ण अध्ययन करना ही अन्तेवासी का परम कर्तव्य है (मनु ३,१)। प्रत्येक वेद के सांग एवं समीचीन अध्ययन के लिये न्यूनतम द्वादश वर्ष का काल आवश्यक माना जाता था। अपनी विद्यार्थि–दशा में वेदविद्या के साथ अभीष्ट कलाओं का अध्ययन ब्रह्मचारी कर सकता है यदि वह मूल उद्देश्य में विक्षेप न डालता हो। मनु के अनुसार वैदिक कर्मानुष्ठान को सर्वथा छोड़ कर केवलमात्र शिल्पों का अध्ययन कुल को हीन बनाता है यद्यपि उसको सुरक्षित रखते हुए शिल्पों का अध्ययन सम्मत हो सकता है (३.६५)। ऐसी शिल्प-विद्या किसी भी स्रोत से निःसंकोच प्राप्त कर लेनी चाहिये ऐसा मनु का विधान है—'विविधानि व शिल्पानि समादेयानि सर्वतः' (३,२४०)। स्त्री, रत्न, विद्या, धर्म, शौच तथा सुभाषित प्राप्त करने में जिस प्रकार प्राप्ति–स्थान का विचार अशोभनीय है, ठीक उसी प्रकार कला के अधिकारी पुरुष की सामाजिक प्रतिष्ठा विद्यार्थि-जनों के लिये विचारणीय नहीं (३, २३९–२४०)। कला के आचार्य, निम्नकुलीन क्यों न हों, वे विद्यार्थी के लिये वैसे ही श्रद्धाभाजन हैं, जैसे उच्चकुलीन गुरुजन।

(याज्ञवल्क्य का मत है कि शिल्पार्थी छात्र को नियतकाल तक आचार्य के निजी निरीक्षण में कला का अध्ययन करना चाहिये। यदि नियतकाल की समाप्ति से पूर्व वह अपनी कला से अल्पाधिक द्रव्यलाभ करता है, तो वह द्रव्य आचार्य को अर्पित किया जाना चाहिये) (१४,१८४)। शिल्प नियतकाल से पूर्व

अर्थकारी होने पर भी अपरिपक्व रहने की सम्भावना रहती है, अतः नियत अवधि तक शिक्षक के घर रहना परम आवश्यक माना गया है—"कृतशिल्पोऽपि निवसेत्कृतकालं गुरोर्गृहे"।[1] नारद स्मृति का कथन है कि कलार्थी छात्र अपने बान्धवों से अनुमति पाकर सुनिश्चित अवधि तक आचार्य के संनिकट निवास करे। नियत अवधि के पूर्व जो गुरु-गृह छोड़ कर चला जाता है, वह कठोर दण्ड के लिये पात्र माना गया है। कर्मकुशल हो जाने पर भी कला की परिपक्वता केलिये नियत कालखण्ड तक गुरु के पास रह कर सीखना आवश्यक है। जिस आचार्य का गण्डाबन्धन उसने किया हो, उस आचार्य का कर्तव्य है कि वह अपने शिष्य के भोजनवस्त्रादि की व्यवस्था कर पुत्र के सदृश उससे व्यवहार करे तथा कलाध्ययन के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य उससे ग्रहण न करे—

आचार्यः शिक्षयेदेनं स्वगृहे दत्तभोजनम्।
न चान्यत्कारयेत्कर्म पुत्रवच्चैनमाचरेत्॥[2]

स्मृतिकाल में वैदिक संगीत के रूप में सामगान की महिमा का गान हुआ है। सत्पात्र ब्राह्मणों में ऋक्, यजु तथा साम के ज्ञाता पुरुषों का समान स्थान है। धर्मनिर्णय के सम्बन्ध में इनकी सम्मति प्रामाणिक मानी गई है।[3] मनु के मत में दश धर्मनिर्णायक ब्राह्मणों में से एक सामवेदविधि का ज्ञाता अवश्य होना चाहिये। कम से कम तीन व्यक्तियों की परिषद् में ऋग्वेदी तथा यजुर्वेदी के साथ सामवित् का होना नितान्त आवश्यक है।[4] जहाँ राजा स्वयं धर्मनिर्णय का कार्य किसी अपरिहार्य कारण से करने में असमर्थ हो, वहाँ राजा का अन्य अधिकारी तीन वेदों के ज्ञाता पुरुषों के साहाय्य से राजकार्य को सम्पादित करें ऐसा मनु का विधान है।[5]

साम का अध्ययन न केवल विप्रवर्ग तक सीमित है अपि तु क्षत्रिय तथा वैश्य वर्गों के लिये उसका अध्ययन आवश्यक है। राजा के लिये त्रयी विद्या का अध्ययन विशेष आवश्यक माना गया है (७,४३)। ऋक्, यजु तथा साम के मर्मज्ञ विद्वज्जनों के शासन में रहना उसके लिये अभीष्ट माना गया है (७, ३७)। यद्यपि तौर्यत्रिक अथवा नाट्य राजा के लिये निषिद्ध है तथापि समय-समय पर संगीत का रसास्वादन वह अवश्य कर सकता था। राजा के शयन

१. याज्ञ० १४, १८४।
२. वहीं, उद्धृत मिताक्षरा, पृ० २५१, पर नारदोक्ति।
३. यज्ञ० १,९ तथा मनु० १२, ११२।
४ मनु० १२, १११–११२।
५. वहीं, ८, ११।

तथा प्रबोधन के समय पर तूर्यवाद्यों का घोष किया जाता था, जिसमें सम्भवतः चतुर्विध वाद्यों का वादन होता था।[1] अपने दैनिक कर्तव्यों से निवृत्त होने पर रात्रि के समय संगीत-गोष्ठी में वह कुछ समय व्यतीत करता था।[2]

याज्ञवल्क्य स्मृति में नादोपासना की विलक्षण महिमा बताई गई है। यह उपासना, जो कि सामगीत, लौकिक गीत तथा वीणा-नाद से सम्भाव्य है, अन्ततोगत्वा शब्द-ब्रह्म की साधिका बतलाई गई है। याज्ञवल्क्य के शब्दों में—

> यथाविधानेन पठन्सामगायमविच्युतम्।
> सावधानस्तदभ्यासात्परं ब्रह्माधिगच्छति॥
> अपरांतकमुल्लोप्यं मद्रकं प्रकरीम् तथा।
> औवेणकं सरोबिन्दुमुत्तरं गीतकानि च॥
> ऋग्गाथा पाणिका दक्षविहिता ब्रह्मगीतका।
> गेयमेतत्तदभ्यासकरणान्मोक्षसंज्ञितम्॥
> वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः।
> तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति॥
> गीतज्ञो यदि योगेन नाप्नोति परमं पदम्।
> रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते॥[3]

महर्षि याज्ञवल्क्य के अनुसार सामगान के अतिरिक्त ऋक्, गाथा आदि चार प्राचीन गीत तथा अपरान्तक, उलोप्य आदि सप्त गीत नादानुसन्धान के श्रेष्ठ साधन हैं। गान्धर्व के श्रुति, जाति, ताल, वीणा आदि तत्वों का निरन्तर अनुसन्धान करने वाला व्यक्ति सहज ही एकाग्रचित्त होकर परम पद को प्राप्त कर सकता हैं।

पितृतर्पण के कार्य में सामवेद का महत्व उतना ही है जितना ऋक् तथा यजु का।[4] याज्ञवल्क्य के अनुसार सामवेद का नित्य पाठ करने वाला द्विज देवता तथा पितर दोनों को प्रसन्न करता है।[5] श्राद्ध के भोजन के लिये सत्पात्र द्विजों में ऋग्वेदी, अध्वर्यु तथा छन्दोग का सम महत्व माना गया है।[6] साम के मन्त्र, ब्राह्मण आदि समस्त शाखाओं में पारंगत श्रोत्रिय को साक्षेपपूर्वक भोजन के लिए निमन्त्रित करने का विधान स्मृतियों में उपलब्ध है। भोजन-पंक्ति में किसी प्रकार का दोष अवशिष्ट रहनेपर पंक्तिपावन ब्राह्मणोंके अन्तर्गत निमंत्रणीय अन्य विद्वज्जनों के साथ जेष्ठसाम नामक विशिष्ट साम को गाने वाले गायकों का अन्तर्भाव है।[7] बृहस्पति स्मृति में कहा गया है कि यदि श्राद्ध में किसी एक ही

१. मनु ७, २२५। २. याज्ञ० १३,३३०। ३. वहीं, ४, ११२–११६।
४. याज्ञ० २, ४१–४३। ५. वहीं। ६. वहीं, ३, १४५।
७. मनु० ३, १८५; याज्ञ० १०, २१९।

व्यक्ति को बुलाना हो, तो छन्दोग अथवा सामगायक व्यक्ति को प्रथम स्थान देना चाहिये ।[1] वसिष्ठ स्मृति के अनुसार महापातकों के निराकरण के लिये रथन्तर, बृहत्साम, गायत्र, आज्यदोह, भारदण्ड आदि सामों का गान किया जाना चाहिये ।[2]

श्राद्ध-संस्कार जैसे प्रसंगों पर लौकिक संगीत का व्यवसाय करने वाले लोगों को सर्वथा वर्ज्य माना गया है । श्राद्धप्रसंग पर दिये जाने वाले भोजन में कुशीलव का प्रवेश निषिद्ध है (३,१५५) । श्राद्ध में अपांक्तय ब्राह्मणों में गौतम ने वादित्रतालनृत्यगीत में रत व्यक्तियों का स्पष्ट समावेश किया है ।[3] जो द्विज कुशीलव का कर्म करते हैं वे अधम माने गये हैं तथा देव और पितृगण के लिये विहित क्रियाओं में सर्वथा वर्ज्य हैं (३,१६७) । वैदिक ब्राह्मण के लिये गायक, शैलूष, रंगावतारी जैसे लोगों का अन्न उतना ही अभोज्य है जितना बढ़ई, चोर, गणिका आदि निकृष्ट लोगों का ।[4]

ब्रह्मचारी के लिये अनध्याय के कुछ प्रसंग दिये गये हैं, जिन पर विद्यार्थी को तात्कालिक अवकाश दिया जाना उचित माना गया है । मनु के अनुसार साम की ध्वनि होने पर ऋक् तथा यजुस् का अध्ययन कदापि न करना चाहिये । जहाँ तक सामध्वनि के कारण अन्य वेदों के अनध्याय की बात है विशेष आपत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती, परन्तु जो कारण उन्होंने दिया है, वह विचारार्ह है । मनु के शब्दों में—

सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनिः ॥[5]

अर्थात् सामवेद पितृदेवतात्मक होने के कारण उसकी ध्वनि अशुचि अथवा अपवित्र है ।

जहाँ तक अनध्याय की बात है, यही परम्परा सूत्रग्रन्थों तथा अन्य स्मृतियों में भी पाई जाती है । याज्ञवल्क्य के अनुसार यह अनध्याय सामध्वनि की अवधि तक ही दिया जाना चाहिये—'तावत्कालमनध्यायः' । वीणा आदि वाद्यों की ध्वनि होने पर भी वैसा ही अल्प समय के लिये अवकाश दिया जाना चाहिये ऐसा टीकाकार का मत है—"एवं वीणादिनिःस्वनेपि" ।[6] स्मृतिकार गौतम के अनुसार जिन प्रसंगों पर अनध्याय किया जाना उचित है उनमें निम्न वस्तुओं

---

१. उद्धृत हेमाद्रि में, द्र० 'धर्मशास्त्र का इतिहास' पृ. ३९९, काणे

२. द्र० मिताक्षरा, याज्ञ० पृ. ४७६

३. गौतम, १५-१८, ३१-३२; काणे, पृ. ४००

४. मनु. ४ २१०, २१४-२१५ ५. ४, १२३-१२४

६. मिताक्षरा, पृ. ४५

की ध्वनि अन्तर्भूत है—"वेणुवीणाभेरीमृदंगगन्त्र्यार्तशद्बेषु" ।[1] बौद्धायन स्मृति के अनुसार नृत्य, गीत अथवा वादित्र की ध्वनि होने पर ऋक् तथा यजु का पाठ उस काल तक स्थगित कर देना चाहिये ।[2] आपस्तम्ब सूत्र का कथन है कि साम की ध्वनि सुनी जाने पर ऋक् तथा यजु का तत्काल अनध्याय वैसा ही उचित है जैसा कि रुदन की ध्वनि सुनने पर अथवा कुत्ता तथा शृगाल की ध्वनि पर । मानव धर्मशास्त्र के प्रायः समकालीन वासिष्ठ धर्मशास्त्र के अनुसार भी सामशब्द के श्रवण पर ऋक् तथा यजुष् का अध्ययन उतने समय के लिये स्थगित कर देना चाहिये ।

सामवेद के गायन किये जाने पर अन्य वेदों के अनध्याय वाली बात का स्पष्टीकरण निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है । इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि साम के अनध्याय का विधान केवल स्नातक जनों के लिये है । साम के स्वरों से ऋक् तथा यजु के पाठ में विक्षेप होने के कारण केवल मात्र उसी काल तक ऋक् तथा यजु का अनध्याय आवश्यक माना जाता था । यही कारण है कि कुछ स्मृतिकारों ने ऐसे अनध्याय के लिये सामध्वनि के साथ गीत, वाद्य, नृत्य, वाहन, शृगाल इत्यादि की ध्वनियों की गणना की है । साममन्त्र गेय होने के कारण उसमें विद्यार्थियों के चित्त का रममाण होना अत्यन्त स्वाभाविक है । साम की गान-प्रक्रिया में स्वरों का आकर्षण-विकर्षण ऋक् तथा यजु के अध्येताओं के लिये हानिकारक सिद्ध होता हो तो आश्चर्य की बात नहीं । साम के सम्बन्ध में पाये जाने वाले इस प्रातिकूल्य के लिए एक और कारण भी सम्भव है और वह है उसकी गान–प्रधानता । सामवेद के विवेचन में हम निवेदन कर चुके हैं कि सामवेद की ऋचायें यद्यपि ऋग्वेद से गृहीत हैं तथापि इनकी गान-शैली लोकगत संगीत पर आधारित है । सामगान के विकास के साथ दोनों का पारस्परिक आदान-प्रदान वृद्धिगत होता चला आ रहा हो इसमे सन्देह के लिए अवकाश नहीं । सामविधान ब्राह्मण में सामों का काम्य कर्मों तथा लौकिक कृत्यों के साथ सम्बन्ध इसी तथ्य का पोषक है । संगीतकला का स्थान मनुस्मृति के काल में कुछ निकृष्ट कोटि का ही रहा है । ब्रह्मचारियों के लिये यह कला अध्ययन काल में वर्जित है ही, गृहस्थ के लिए भी निषिद्ध है, यहाँ तक कि काममूलक दश व्यसनों में तौर्यत्रिक की गणना की गई है और राजा के लिये भी इससे अस्पृष्ट रहने का आदेश है । संगीतकला का व्यवसाय करने वाले वर्गों को हीन दृष्टि से देखा जाता था इसके लिए स्मृतियों का साक्ष्य प्रचुररूपेण प्राप्त

१. मिताक्षरा, पृ० ४५ पर उद्धृत ।

२. १,११,२४; अपरार्क पृ० १९२ पर उद्धृत ।

होता है। मनु के मतानुसार कुशीलव व्यवहार-निर्णय के लिये साक्षी होने के अधिकारी नहीं (८, ६५)। जो विप्र कुशीलवों का कर्म करते हैं, साक्ष्यकर्म में उनके साथ शूद्रवत् व्यवहार किये जाने का आदेश है।[1] मनु के अनुसार कुशीलव प्रच्छन्नतस्कर हैं, अतः उनसे वही व्यवहार करना अभीष्ट है जो अन्य समाज-विरोधी तत्वों से किया जाता है। राजा का कर्तव्य है कि ऐसे समाजकण्टक व्यक्तियों को नगर से निर्वासित करे।[2] परदाराओं के साथ भाषादि अशिष्ट व्यवहार करने के लिए कठोर दण्ड का विधान हैं, जिसके लिये चारण आदि कलाकार पुरुषों की स्त्रियाँ अपवादस्वरूप मानी गई हैं। नट, चारण, गायक आदि की पत्नियों से भाषण करने पर व्यक्ति केवल अल्पदण्ड के लिये पात्र माना गया है (८, ३६३)। संगीतादि शिल्पव्यवसाय करने वाले व्यक्ति तथा पण्यस्त्रियां परद्रव्य का अपहार करने में दक्ष होने के कारण गुप्तचरों के सतत निरीक्षण के पात्र माने गये हैं।[3] नट तथा वेण का भी निकृष्ट जाति में अन्तर्भाव किया गया है।[4] वेणों की जीविका कांस्य, मुरज आदि वाद्यवादन से प्रवर्तित होती थी।[5] समाजहित को देखकर यह आवश्यक माना गया था कि ये लोग नगर के बाहर रहकर अपने जातिकर्म से जीविकार्जन करें तथा प्रतिमास एक दिन राज-कर के रूप में राजसभा में सेवा प्रस्तुत करें (१०,५०)। आश्चर्य नहीं कि संगीत कला की हीनता के कारण सामसंगीत के सम्बन्ध में भी यही भावना वैदिक सम्प्रदायों में प्रचलित हो गई हो।

मनुस्मृति में सामवेद के अशुचित्व के सम्बन्ध में एक विलक्षण परम्परा पाई जाती है। (मनु के अनुसार ऋग्वेद का सम्बन्ध देवताओं से, यजु का मनुष्यों से तथा साम का पितरों से है और पितरों से सम्बद्ध होने के कारण ही साम को अशुचि माना गया है।) मेघा तिथि, कुल्लूक आदि टीकाकारों के अनुसार साम-ध्वनि का अशुचित्व स्वतः-सिद्ध नहीं, अपि तु सापेक्ष है। उनके अनुसार ऋक् तथा यजु की तुलना में साम का स्थान निम्न कोटि का है तथा पितरों से सम्बन्ध इसकी अपेक्षाकृत निकृष्टता का कारण है। यहाँ यह देखना अभीष्ट है कि सामवेद

---

१. ८,१०२; बौधायन धर्मसूत्र (२,१, ६०–६१) में गीत, नृत्य, नटन, नाट्य की गणना उपपातकों में की गई है [द्र० काणे, धर्मशास्त्र, भाग ४, पृ० १४]।

२. ९,२२५-२२६।

३. ९, २५९-२६१।

४. १०, १९ तक १०, २२।

५ १०, ४९ कुल्लूक टीका।

का पितृकर्म से सम्बन्ध कहाँ तक रहा है और क्या केवल इसी कारण से उसे अन्य वेदों से निकृष्ट माना जा सकता है।

प्राचीन ग्रन्थ अथवा प्रचार की दृष्टि से सामवेद का कोई विशेष सम्बन्ध श्राद्धादि पितृकार्यों से स्थापित हुआ हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। याज्ञवल्क्य के अनुसार साम-पाठक व्यक्ति से देव तथा पितर दोनों का संतर्पण हो जाता है (२,४३)। पितृ-तर्पण की क्रिया में जितना स्थान साम-मन्त्रों का है, उतना ही अन्य दो वेदों का[१]। आहिताग्नि की और्ध्वदेहिक क्रिया में जैसा सामगान का विधान है वैसा ही ऋक् के मन्त्रपाठ का भी है[२]। जहाँ तक श्राद्धकर्म में निमन्त्रित ब्राह्मणों से सम्बन्ध है, सामगायक का वही स्थान है, जो ऋक् तथा यजुर्वेद के विद्वान् का। इस स्थिति में सामवेद को पित्र्य समझने के लिये कोई सुस्पष्ट परम्परा लक्षित नहीं होती। सम्भव यह है कि मनुस्मृति में ऋक्, साम तथा यजु का सम्बन्ध क्रमशः द्यु, अन्तरिक्ष तथा भू से बताये जाने के कारण स्वभावतः उनका सम्बन्ध देव, पितर तथा मनुष्य से स्थापित किया गया हो। इसके अतिरिक्त किसी युक्तियुक्त प्रमाण की सम्भावना इस सम्बन्ध में दृष्टिगोचर नहीं होती।

सामवेद के पुण्यपावन होने की परम्परा भी मनुस्मृति में उपलब्ध है, जो इस प्रसंग में मननीय है। मनु के अनुसार सामवेद की गणना त्रिवृद्वेद में है तथा साम के सम्यक् अध्ययन से समस्त पातकों का निरास हो जाता है।[३] वसिष्ठ जैसे प्राचीन स्मृतिकार ने रथन्तर, बृहत्साम, गायत्र, आज्यदोह तथा भारदण्ड जैसे विशिष्ट सामों का प्रयोग महापातकों के निराकरण के लिये सबल माना है।[४] साम के शुचित्वसम्बन्धी निःसंदिग्ध विपुल साक्ष्य को देखते हुये अशुचित्व की परम्परा केवल विशिष्ट वैदिक सम्प्रदाय के प्रवृत्ति-स्वरूप मानी जा सकती है। महत्व की बात यह है कि साम के अशुचि होने की मान्यता मनुस्मृति से प्राचीन अथवा उसके समकालीन किसी सूत्रग्रन्थ अथवा स्मृतिग्रन्थ से पुष्ट नहीं होती।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक ऐसा

---

१. द्र० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ४, पृ० २०२–२०३।

२. आश्व० श्रौ० सू० ६,१० में निम्न सूक्त पाया जाता है, जो अन्य वेदों में भी उपलब्ध है—'पश्चाद्धोता–उत्तरोध्वर्युः। तस्य पश्चाच्छन्दोगाः। अयं गौः पृश्निरक्रमीदित्युपांशु स्तुवते।'

३. १२, २६२; १२, २६४।

४. मिताक्षरा पृ० २७६।

कालखण्ड है जिसमें संगीत तथा नाट्य का व्यवसाय हीन अभिरुचि का द्योतक माना जाता रहा । (स्मृतिकाल में संगीत सम्बन्धी दो परम्परायें स्पष्टतः परिलक्षित होती है—एक है सामगान की पावन परम्परा और दूसरी है लौकिक संगीत की अपावन परम्परा । जहाँ सामगान को आध्यात्मिक उपलब्धि का माध्यम माना गया है, वहाँ गीत, वाद्य, नृत्य को भौतिक सुख-विलास का साधन मात्र माना गया है। इसी भौतिक तत्व के कारण संगीतज्ञ, नट, चारण, कुशीलव, इत्यादि संगीतव्यवसायी जनों का अन्तर्भाव समाजविरोधी तत्वों में किया गया है) जब लौकिक संगीत परमात्मा की उपासना के लिये साधक बन जाता है, उसको वही स्थान प्राप्त है जो सामगान को प्राप्त है। संगीत का लक्ष्य ही उसकी इष्टानिष्टता के लिये कारण बन जाता है। अध्यात्मविरोधी प्रवृत्ति के कारण प्रत्यक्ष सामगान को अपावन मानने वाला सम्प्रदाय भी स्मृतिकाल में स्पष्टतः लक्षित होता है। सामगान का उद्देश्य वैदिक काल से लेकर परम तत्व की आराधना रहा है। लौकिक प्रसंगोंपर इस लक्ष्य की ओर अनवधान होने के कारण उसके सम्बन्ध में पुराणवादियों में कुत्सित भावना उत्पन्न हुई हो, तो आश्चर्य नहीं।

लौकिक मनोरंजन के लिये गीत, वाद्य, नृत्य तथा नाट्य का प्रचुर प्रयोग इस कालखण्ड में उपलब्ध होता है। प्राचीन परम्परागत गीतों के अन्तर्गत निम्न गीतों का प्रचार स्मृतिकाल की परवर्ती अवस्था में पाया जाता है—ऋक्, गाथा, पाणिका, ब्रह्मगीतिका, अपरान्तक, उल्लोप्य, मद्रक, प्रकरी, ओवेणक, सरोबिन्दु तथा उतर। गान्धर्व के अन्तर्गत श्रुति, जाति, वीणा तथा ताल के सम्बन्ध में शास्त्र-चिन्तन की परम्परा इस कालखण्ड में अक्षुण्ण रूप से प्रचलित दिखाई देती है। नट के लिये 'भरत' संज्ञा का प्रयोग किया जाता था। ये लोग सित, असित, पीत आदि वर्णों से अपने शरीर को रंजित कर नानाविध रूपों को धारण करते थे[1]। रंगावतारी शब्द से स्पष्ट है की रूपक आदि के अभिनय के लिए रंगमञ्च का निर्माण इस समय हो चुका था। चारण, कुशीलव, नट, आदि जन स्थान-स्थान पर पर्यटन कर अपने कला-प्रदर्शन से जीविकार्जन करते थे। तत्कालीन आभिजात्य वर्ग में इन लौकिक कलाकारों के लिये हीन भावना दिखाई देती है। नैतिक शिथिलता के कारण इन वर्गों की गणना समाज-विरोधी दल में की जाती थी तथा सामान्य नागरिक के अधिकारों से इन्हें वंचित रखा जाता था।

---

१. यथा हि भरतो वर्णैर्वर्णयत्यात्मनस्तनुम् । नानारूपाणि कुर्वाणस्तथात्मा कर्मजास्तनूः ॥ याज्ञ० ४, १६२ ॥

अध्याय सप्तम

पुराण तथा तन्त्र-ग्रन्थों में संगीतविद्या

पुराणकालीन संगीत

प्राचीन संस्कृत वाङ्मय के इतिहास में पुराण-साहित्य का विशिष्ट स्थान है। महर्षि व्यास का स्पष्ट कथन है कि वेद का उपबृंहण इतिहास तथा पुराणों के द्वारा होना चाहिए—'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'।

'पुराण' शब्द पुरावृत्त का द्योतक है तथा प्राचीन इतिहास का संकेत करता है। संस्कृत साहित्य के आरम्भिक काल से इतिहास के साथ पुराण वाङ्मय का निकट सम्बन्ध दृष्टिगत होता है। मत्स्य, विष्णु तथा ब्रह्माण्ड आदि पुराणों के अनुसार पुराण के निम्न पांच लक्षण हैं—सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित। उपलब्ध पुराणों में सृष्टि का आरम्भ, प्रलय, राजवंशावलि आदि का वर्णन प्राप्त होता है, जो पुरातन परम्परा पर आधारित है। प्राचीन काल से जिन आख्यानों का प्रचलन मौखिक रूप से प्रवर्तित रहा, उन्हीं का संकलन पुराण वाङ्मय में किया जाता रहा इसमें सन्देह नहीं।

प्राचीन वाङ्मय में कथक अथवा कथावाचक नामक विशिष्ट वर्ग का उल्लेख मिलता है जिनका कार्य इन्हीं पुराण-कथाओं का प्रवचन करना था। महाभाष्य-काल (ई० पू० १) में यह कार्य ग्रन्थिक अथवा ग्रन्थिन् नामक लोगों के द्वारा किया जाता रहा। इनके द्वारा जनता के समक्ष ग्रंथगत उपाख्यानों का आद्यन्त प्रवचन किया जाता था, जो कभी कभी संगीत तथा अभिनय से समन्वित रहता था। ऐसे ही कथाकार 'कथक' कहलाते थे।

कथक और कत्थक

यह स्पष्ट है कि 'कथक' का व्युत्पत्तिगत अर्थ कथावाचक रहा है। शब्दार्थ-चिन्तामणि तथा वाचस्पत्य कोश के अनुसार कथा का तात्पर्य वाक्य-रचना से है। जैन कोश अभिधानराजेन्द्र के अनुसार 'कथ्थ' अथवा 'कथ्य' एक प्रकार की संगीत-कृति है। कथा शब्द का प्रचलन आज भी आख्यान तथा हरिकीर्तन के अर्थ में प्रचलित है। रामायण तथा महाभारत में कथावाचक का अनेकशः उल्लेख मिलता है। महाभारत में कथित तथा ग्रंथिक दोनों का उल्लेख प्राप्त है और इनका कार्य स्पष्टतः प्राचीन एवं परम्परागत आख्यानों का प्रवचन तथा गायन रहा है। महाभाष्य में कंसवध तथा बलिबन्धन नामक आख्यानों को

साभिनय प्रस्तुत करने वाले वर्ग के लिये 'ग्रन्थिक' संज्ञा दी गई है। कैयट के अनुसार ग्रंथिकों के लिये अपर नामाभिधान 'कथक' है। सिद्धान्तकौमुदी में 'कथिक' शब्द का प्रयोग उस वर्ग के लिये है जो आख्यान तथा प्रवचन-कला में निष्णात है। पाली वाङ्मय में इसी अर्थ में 'कथिको' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। यह वर्ग आख्यानों के द्वारा धर्म-प्रचार का कार्य करता था। जैन वाङ्मय में कथक को 'कहग' कहा गया है तथा उनका अन्तर्भाव नट, नर्तक आदि उन कलाकारों में किया गया है जो अपनी कला के माध्यम से जनता का मनोरंजन करते थे। जैन कोश अभिधानराजेन्द्र के अनुसार 'कहग' वह वर्ग है जो आख्यानों का यथार्थ विवरण प्रस्तुत करता था। कल्पद्रुम नामक अन्य जैन कोश में कथक नामक कलाकारों का यही कार्य बताया गया है। (ब्रह्मपुराण में नट, गायक तथा नर्तक के साथ कथक-वर्ग का उल्लेख है। प्रतीत होता है कि कथक की परम्परा मुख्यतः कथावाचक की रही है[1] तथा उसकी प्रभावात्मिकता के हेतु संगीत तथा नृत्याभिनय का तत्व उसमें समाविष्ट किया गया। इसी परम्परा के उत्तराधिकारी होने के कारण भारत की विशिष्ट नृत्य शैली के प्रातिनिधिक वर्ग को आज कत्थक नाम से अभिहित किया गया हो, तो आश्चर्य नहीं।)

इन्हीं लौकिक उपाख्यानों का संग्रह अष्टादश महापुराणों तथा अष्टादश उपपुराणों के रूप में किया गया है।[2] सूत तथा चारण जैसे लोक-गायकों के माध्यम से इन कथाओं का प्रचलन सांस्कृतिक निधि के रूप में अक्षुण्ण रहा। सूत तथा चारण वस्तुतः लौकिक परम्परा के प्रतिनिधि थे, जिन्होंने पुरातन काल से प्रचलित घटनाओं को वंशानुगत रूप से सुरक्षित रखा। अश्वमेध आदि दीर्घकालीन सत्रों के अवकाश-काल में ऐसे उपाख्यानों का प्रवचन जनता के समक्ष किया जाता रहा।[3] इस प्रकार की गाथाओं तथा आख्यानों का प्रवचन करने वाले व्यक्ति ऐतिहासिक तथा पौराणिक कहलाते थे। यह कार्य विशेषतः सूत नामक जाति-विशेष के द्वारा किया जाता था। सूतों के अतिरिक्त एक ऐसा

---

१. कम्बोज अर्थात आधुनिक हिन्द-चीन में ई० ७ में देवालय के निर्माण का उल्लेख मिलता है, जिसमें दैनिक पाठ के लिये महाभारत की पोथी सुरक्षित रखी जाने के सम्बन्ध में निःसंदिग्ध साक्ष्य उपलब्ध है।

२. डा० हाजरा का मत है कि यद्यपि कुछ पुराणग्रन्थ आपस्तब सूत्र के पूर्वकालीन अर्थात् ई० पू० ८००–४०० से पूर्ववर्ती हैं, तथापि उपलब्ध अठारह पुराणों की कल्पना ई० ३ से पूर्व कथमपि नहीं कही जा सकती—द्र० 'स्टडीज इन पुराणिक रेकार्ड्स, पृ० २'।

३. शतपथ १३, ४, ३; शाखा० गृ० सू० १, २२, ११।

वर्ग भी था, जो प्राचीन कथाओं को कण्ठगत कर स्थान स्थान पर जाकर उन्हें गीति-रूप में सुनाया करता था। यह वर्ग 'कुशीलव' नाम से अभिहित था (द्र० रामायण, १,४)। रामायण तथा महाभारत का प्रचार जनता में इसी रूप में शताब्दियों तक प्रचलित रहा।[1] गाथा तथा नाराशंसी जैसे वेदकालीन गीतों के साथ लोककथाओं का पठन-पाठन तथा वीर पुरुषों का यशोगान ऐसे ही लोक गायकों के द्वारा किया जाता रहा। छान्दोग्य उपनिषद में इस पुराण-वाङ्मय को पंचम वेद के नाम से अभिहित किया गया है (७,१,२)। महत्व की बात यह कि धार्मिक तथ्यों के साथ समकालीन सामाजिक एवं राजनीतिक घटनाओं का जितना यथार्थ चित्रण इस साहित्य में पाया जाता है, उतना अन्यत्र नहीं। संगीत के इतिहास की दृष्टि से यहाँ केवल उन्हीं पुराणों का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है, जिनका काल गुप्तकाल तक स्थिर किया जा चुका है।[2] ये पुराण क्रमशः निम्नानुसार हैं—

१—हरिवंश (ई० २) २—वायुपुराण (ई० ३–५)
३—मार्कण्डेयपुराण (ई० ३–५)

(१) हरिवंश में संगीत

महाभारत के परिशिष्ट ग्रन्थ के रूप में हरिवंश का विशिष्ट स्थान है। मनीषियों के मतानुसार महाभारत का कलेवर तदन्तर्गत १८ पर्व तथा हरिवंश के ३ पर्व मिलाकर निर्मित हुआ है। पुराण-प्रणाली में रचित होने पर वैष्णव परम्परा में परिपालित संगीत के लिये यह नितान्त उपादेय है। महाभारत में श्रीकृष्ण का उल्लेख राजनीति-धुरन्धर तथा प्रकाण्ड दार्शनिक के रूप में हुआ है, संगीतज्ञ के रूप में नहीं। संगीत की एक विशिष्ट परम्परा के प्रतिष्ठापक के रूप में उनका स्वरूप सर्वप्रथम इसी पुराण में उद्‌घाटित हो उठा है, यह कथन आपत्तिजनक नहीं।[3]

---

१ द्रष्टव्य 'संस्कृत साहित्य का इतिहास,' बलदेव उपाध्याय कृत, पृ० ५३–५

२. ,, वहीं, पृ० ५३–५५ : 'हिस्ट्री आफ इन्डियन लिटरेचर', भाग १, पृ० ५२१ : हाजरा कृत 'स्टडीज़ इन पुराणिक रेकार्ड्स,' पृ० २–३। विन्टनिज के अनुसार पुराण वाङ्मय महाभारत के अन्तिम संस्करण से निःसंदेह पूर्ववर्ती है तथा उपलब्ध पुराणों की अधिकांश सामग्री उपलब्ध महाभारत से प्राचीन है।

३. आधुनिक शास्त्रीय संगीत का श्रीकृष्ण तथा गोपिकाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है। होरी, धमार आदि गीत कृष्ण-गोपियों की रास-क्रीड़ा की चारों ओर केन्द्रित हैं ही, परन्तु ध्रुपद एवं ख्याल जैसी गम्भीर गीतशैलियां कृष्ण-गोपियों की केलि-क्रीडा से अस्पृष्ट नहीं।

हरिवंश के श्रीकृष्ण केवल सफल वंशीवादक ही नहीं, वरन् एक विशिष्ट गीत-शैली तथा नृत्य-प्रणालि के प्रवर्तक हैं। स्त्री-पुरुषों का संयुक्त तथा मण्डलाकार नृत्य, जो कि रास के नाम से विख्यात है और आज भी लोक नृत्य की परम्परा में प्रचलित है, कृष्णपरम्परा की परम देन माना जा सकता है।[1] इस परम्परा की परिकल्पना सर्वं प्रथम हरिवंश में पाई जाती है और इसी का विस्तार भागवत पुराण, गर्गसंहिता तथा परवर्ती अन्य वैष्णव वाङ्मय में उपलब्ध होता है। हरिवंश का संकलन ई० २ तक हो चुका था इस सम्बन्ध में मनीषियों का ऐकमत्य है। अतएव संगीत में कृष्णपरम्परा का प्रवर्तन ईसवी शताब्दि से पूर्व सम्पन्न हो चुका था यह कथन आपत्तिजनक न होगा। गान्धर्व के विकास में वैष्णव परम्परा के अमूल्य सहयोग का मूल्यांकन हरिवंश के आधार पर प्रस्तुत करने का प्रयास यहां किया जा रहा है।

हरिवंश से यह स्पष्ट है कि वैदिक तथा लौकिक संगीत की द्विविध धारा इस समय समानान्तर रूप से प्रचलित थी। वैदिक के अन्तर्गत सामगान का अन्तर्भाव है तथा लौकिक के अन्तर्गत गान्धर्व का समावेश होता है। गान के उद्‌भव का विवरण देते हुए हरिवंशकार ने इस विभेद को स्पष्ट किया है—

गानप्रभाषं संचक्रे गन्धर्वाणामशेषतः। अन्येषां चैव विप्राणां गानं ब्रह्मप्रभाषितम् ॥ भविष्य पर्व, २०,९ ॥

अर्थात् सृष्टि के निर्माण पर गान की द्विविध परम्परा का प्रवर्तन हुआ— एक गन्धर्वों के लिये तथा दूसरी यज्ञयागादि करने वाले विप्रवर्ग के लिये। टीकाकार नीलकण्ठ इसी तथ्य को निम्न शब्दों में स्पष्ट करते हैं—

गानं प्रभाष्यते व्युत्पाद्यतेऽनेनेति गानप्रभाषं गान्धर्व-शास्त्रं तथा ब्रह्मणि वेदे प्रभाषितं गानं सामाख्यम् ॥

अर्थात् एक परम्परा सामगान की थी जिसका विकास यज्ञयाग के अन्तर्गत उद्गाता जैसे वैदिक गायकों के द्वारा सम्पन्न हुआ तथा इसी के समानान्तर दूसरी परम्परा गान्धर्व की रही जिसका विकास लौकिक जीवन के अन्तर्गत गन्धर्व जैसे लौकिक कलाकारों के द्वारा किया जाता रहा। गन्धर्वों का स्थान सदैव स्तुति-गायक के रूप में रहा है और इन्हीं के द्वारा प्रवर्तित होने के कारण इस शास्त्र

---

१. हर्षचरित के टीकाकार शंकर के अनुसार आठ, सोलह या बत्तीस व्यक्ति जब विविध आकृतियों से नृत्य करते हैं, तब वह रासनृत्य कहलाता है—"अष्टौ षोडश द्वात्रिंशद् यत्र नृत्यन्ति नायकाः। पिंडीबंधानुसारेण तन्नृत्तं रासकं स्मृतम् ॥" उद्‌धृत—हर्षचरित, सांस्कृतिक अध्ययन, अग्रवाल, पृ० ३३।

का नामाभिधान गान्धर्वशास्त्र रहा है।[१] हरिवंश के अनुसार श्रीकृष्ण की सभा में गन्धर्व, अप्सरा, सूत, मागध आदि कलाकारों को स्थान प्राप्त था। विशिष्ट प्रसंगों पर गन्धर्व तथा अप्सराओं की योजना नृत्य तथा गीत के लिये की जाती थी और सूत, मागध और बन्दियों को स्तुति-गान के लिये नियोजित किया जाता था।[२] शिव की उपासना में भी गन्धर्व तथा अप्सराएँ गीत-नृत्य का प्रदर्शन करते थे, ऐसा वर्णन इसी पर्व में अन्यत्र पाया जाता है।[३]

हरिवंश में ऋक्, यजु तथा साम के सांग तथा सरहस्य होने के सम्बन्ध में उल्लेख प्राप्त है।[४] साम के षडंगों में सामसम्बन्धी शिक्षा तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थों का अन्तर्भाव अभिप्रेत हो, इसमें सन्देह नहीं। सामगान वैदिक श्रोत्रियों के द्वारा यज्ञयागादि में किया जाता था।[५] विप्रों के द्वारा पर्वों पर पवमान तथा इन्द्र-प्रोक्त[६] नामक साम का गान किये जाने का उल्लेख निम्न श्लोकों में उपलब्ध है—

गायन्ति विप्राः पवमानसंज्ञं समागताः पर्वणि चाप्युदारम् ॥ (वि० प० ९५, ३०)

यजते पुष्करे ब्रह्मा मेधया सह संगतः। इन्द्रप्रोक्तानि सामानि गीयन्ते ब्रह्मवादिभिः। (द्र० भ० प्र० २३, ९, २९)

यज्ञयाग के अवसर पर लोगों के मनोरंजन के लिये गाथा नामक गीतों का गान तथा नाट्य का प्रदर्शन किया जाता था।[७] गाथा गीत परम्परागत गीत थे तथा यज्ञ के अतिरिक्त लौकिक समारोहों पर कुशल गायकों के द्वारा उनका गान किया जाता था—

१—तस्य यज्ञे पुरा गीता गाथाः प्रीतैर्महर्षिभिः। (१८,६२)
२—यस्य यज्ञे जगौ गाथा गन्धर्वो नारदस्तथा। (३३,१९)
३—इत्येता उशनो गीता गाथा धार्या विपश्चिता। (२१,३७,२१,१९)

---

१. तुलनार्थ द्र० नाट्यशास्त्र, अध्याय, २८,
अत्यर्थमिष्टं देवानां तथा प्रीतिकरं पुनः। गन्धर्वाणामिदं यस्मात्तस्माद् गान्धर्वमुच्यते ॥

२. भविष्यपर्व, ११५, ४–५।

३. वहीं, ८६, १३–१५।

४. विष्णु पर्व, १०९, ७–८।

५. भ० प० २४, ११; ११५, ४–५।

६. तैतिरीय उपनिषद् में इन्द्रप्रोक्त साम का उल्लेख 'अहमन्नमहन्न' इस प्रकार से पाया जाता है। द्र० 'हरिवंश,' मराठी अनुवाद, भ० प० पृ० ६७।

७. वि० प० ९१, २६।

४—गीयमानासु गाथासु देवसंस्तवनादिषु । (१,४६)

५—गाथा अप्यत्र गायन्ति ये पुराणविदो जनाः ।

हरिवंश में गान्धर्व का विवरण विशेष रूप से मिलता है। गान्धर्व के अंतर्गत गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों कलाओं का समावेश है । गान्धर्व का व्यवसाय करने वाले लोग गन्धर्व तथा किन्नर हैं । गन्धर्व तथा अप्सरा आमोदप्रिय व्यक्ति हैं तथा सदैव नृत्य, गीत तथा वादित्र में तत्पर बतलाये गये हैं । विधाता ने इनका निर्माण इसी कार्य के लिए किया है ।[1] यह वर्ग गीत, वाद्य तथा नृत्य में प्रवीण है तथा सुमधुर एवं संश्लिष्ट तन्त्रियों से श्रोताओं को मुग्ध करने वाला बतलाया गया है ।[2] गन्धर्व तथा अप्सराओं की गणना दिव्ययोनि में है और इनका कार्य देवलोक में संगीत-प्रदर्शन करना है ।[3] चित्ररथ एवं विश्वावसु ये दोनों इस गन्धर्वगण के नेता हैं ।[4] नारद तथा तुम्बरु का देवगन्धर्वों में श्रेष्ठ स्थान है ।[5] हरिवंश के नारद संगीत की वैदिक तथा गान्धर्व दोनों प्रणालियों में निपुण बतलाये गये हैं । वे चारों वेदों के गायक हैं तथा गान्धर्वकोविद भी हैं । (वि० प० २८, ४५) । नारद का संचार त्रिभुवन में बतलाया गया है । अपनी महती वीणा को गले में लटका कर वे सदैव हरिगुण कीर्तन करते रहते हैं ।[6] वल्लकी वीणा पर सप्त स्वरों की मूर्च्छना स्थापित कर वे षट् ग्रामरागों का गायन-वादन करते बतलाये गये हैं—

वल्लकी वाद्यमानो हि सप्तस्वरविमूर्च्छिताम् । (वि० प० २८,१११) ।

हरिवंश के अध्याय ८९ में गान्धर्व का मनोरम वर्णन किया गया है । बलराम तथा रेवती के मिलन के उपलक्ष्य में वारांगनाओं के द्वारा प्रस्तुत गान्धर्व का वर्णन निम्न श्लोकों में उपलब्ध होता है—

वां रेवती चाप्यथवापि रामं सर्वा नमस्कृत्य वरांगयष्ट्यः ।
वाद्यानुरूपं ननृतुः सुगाव्यः समंततोऽन्या जगिरे च सम्यक् ॥
वि० प० ८९,५ ॥
चक्रस्तथैवाभिनयेन लब्धं यथावदेषां प्रियमर्थयुक्तम् ।
हृद्यानुकूलं च बलस्य तस्य तथाज्ञया रैवतराजपुत्र्याः ॥ ६ ॥

---

१. भ० प० २०, ३–४ ।
२. भ० प० २६, ६-९; २७, १२; वि० प० २८, ६० ।
३. वि० प० २०, ८; १, १२; भ० प० ८, २२-२३ ।
४. वि० प० ६, ३८-३९; ४, १०; भ० प० ३६, ४५-४९ ।
५. वि० प० ५४, ८, १०-११; भ० प० २०, ८ ।
६. ५४, ८; वि० प० १, १३ ।

चक्रुर्हसन्त्यश्च तथैव रासं तद्देशभाषा कृतिवेषयुक्ताः ।
सहस्ततालं ललितं सलीलं वरांगना मंगलसंभृतांग्या ॥ ७ ॥

अर्थात् इस आयोजन में गीत, वाद्य, नृत्य की त्रिवेणी प्रवहित हो उठी थी। कुछ रमणियां श्रीकृष्णलीला का मधुर गान कर रही थीं, कुछ अन्य वाद्य के अनुरूप नृत्य कर रही थीं। नर्तिकाओं के द्वारा गीत के अर्थानुकूल अभिनय किया जा रहा था। बीच-बीच में नानाविध वेश तथा भाषाओं के आश्रय से वे मण्डलाकार रास-नृत्य का प्रदर्शन कर रही थीं तथा इस नृत्य में विभिन्न नृत्य-क्रियाओं के साथ एक दूसरे के हाथों पर तालियां बजा रही थीं।

हरिवंश में लोकोत्सवों के अन्तर्गत संगीत के सामूहिक पक्ष का सुन्दर चित्रण हुआ है। ऐसे प्रसंगों पर पुरुष तथा महिला दोनों निरपेक्ष भाव से गीत तथा नृत्य में सम्मिलित होते थे। गीत तथा नृत्य के साथ हाथ से ताल देने की प्रथा थी।[1] ऐसे ही किसी उत्सव पर यादवों के द्वारा लोक-गीतों के गाये जाने का उल्लेख हरिवंश में हुआ है—

गीतानि तद्देशमनोहराणि स्वरोपपन्नान्यथ गायमानाः ॥ ८९,४३ ॥

इस प्रसंग में हरिवंशकार ने छालिक्य नामक गान्धर्व का उल्लेख किया है। इसके आविष्कर्ता भगवान श्रीकृष्ण थे तथा यह प्रणालि तत्कालीन गोपगायकों में लोकप्रिय थी।[2] सामूहिक संगीतायोजन में छालिक्य गान का प्रमुख एवं अनिवार्य स्थान था, यहाँ तक कि वह गान्धर्व की श्रेष्ठ एवं मान्य प्रणालियों के अन्तर्गत माना जाता था। छालिक्य गान का चारु चित्रण निम्न श्लोकों में पाया जाता है—

आज्ञापयामास ततः स तस्यां निशि प्रहृष्टो भगवानुपेन्द्रः ।
छालिक्यगेयं बहुसन्निधानं यदेव गान्धर्वमुदाहरन्ति ॥ ८९,८७ ॥
जग्राह वीणामथ नारदस्तु षड्ग्रामरागादिसमाधियुक्तास् ।
हल्लीसकं तु स्वयमेव कृष्णः सवंशघोषं नरदेव पार्थः ॥ ८९,६८ ॥
मृदंगवाद्यानपरांश्च वाद्यान्वराप्सरास्ता जगृहुः प्रतीताः ।
आसारितांते च ततः प्रतीता रंभोत्थिता साभिनयार्थतज्ज्ञा ॥ ८९,६९ ॥

अर्थात् इस छालिक्य नामक समूह-गीत में विविध वाद्यों का सहयोग था। नारद के हाथ में वीणा थी, जिस पर षट् ग्रामराग बजाये जा सकते थे; स्वयं श्रीकृष्ण वंश वाद्य के साथ हल्लीसक नृत्य कर रहे थे; अर्जुन मृदंग बजा रहे थे तथा अन्य वाद्यों का वादन अप्सराओं के द्वारा किया जा रहा था। यह छालिक्य

---

१. वि० पु० ८९, ८-२८।
२. वहीं, ७५-७७; ८३-८५।

विविध ग्रामरागों के अन्तर्गत विविध स्थान तथा मूर्च्छनाओं के साथ गाया जाता था और इस पर प्रभुत्व पाने के लिये प्रभूत परिश्रम की आवश्यकता थी--

छालिक्यगान्धर्वमुदारकीर्तिर्मेने किलैकं दिवसं सहस्रम् ।
चतुर्युगानां नृप रेवतोथ ततः प्रवृत्ता च कुमारजातिः ॥ ८९,७८ ॥
गान्धर्वजातिश्च तथा परापि दीपाद्यथा दीपशतानि राजन् ।
विवेद कृष्णश्च सनारदश्च प्रद्युम्नमुख्यैर्नृपभैममुख्यैः ॥ ८९, ७९ ॥
विज्ञानमेतद्धि परे यथावदुद्देशमात्राच्च जनास्तु लोके ।
जानन्ति छालिक्यगुणोदयानां तोयं नदीनामथवा समुद्रे ॥ ८९,८० ॥
ज्ञातुं समर्थो हिमवान्गिरीर्वा फलाग्रतो वा गुणतोथवापि ।
शक्यं न छालिक्यमृते तपोभिः स्थाने विधानान्यथ मूर्च्छनासु ॥ ८९,८१ ॥
षड्ग्रामरागेषु च तत्र कार्यं तस्यैकदेशावयवेन राजन् ।
लेशाभिधानां सुकुमारजातिं निष्ठां सुदुःखेन नराः प्रयान्ति ॥ ८९,८२ ॥

छालिक्य के पर्याय स्वरूप छलितक, छालिक, छलित आदि संगीत-प्रकारों का वर्णन संस्कृत वाङ्मय में अन्यत्र हुआ है । कामसूत्र में कुमारिकाओं तथा वारांगनाओं के लिये निर्दिष्ट चौसठ कलाओं में गीत, वाद्य तथा नृत्य आदि के अतिरिक्त 'छलितक' की परिगणना है--

'संपाठ्यं मानसी काव्यक्रिया, अभिधानकोषः छन्दोज्ञानम्, क्रियाकल्पः, छलितकयोगाः' ।[1]

भोज के शृङ्गारप्रकाश (ई० ११) के अनुसार छालिक एक विशिष्ट नृत्य-प्रकार है, जिस में एक ही नर्तकी का नृत्य प्रचलित रहता है । इससे पूर्ववर्ती भामह तथा दण्डि में दृश्य काव्य के अन्तर्गत छलिक का उल्लेख है, जो स्पष्टतः गीत तथा नृत्य पर आधारित काव्यबन्ध है । कालिदास ने चलित अथवा छलित नृत्य का वर्णन किया है, जो विशिष्ट गीत के अनुकूल होता था तथा जिसका अभिनय एक ही नर्तकी के द्वारा किया जाता था । हरिवंश में छालिक्य गान्धर्व का विवरण छालिक्यक्रीडावर्णन के अन्तर्गत किया गया है । उस विवरण से स्पष्ट है कि गोप-जाति के सामूहिक समारोहों पर गाया जाने वाला यह नृत्य-गीत था । इस गीत को गाकर सभी नरनारी नृत्याभिनय करते थे । छालिक्य गीत की प्रमुखता के कारण इस समस्त क्रीडा को 'छालिक्यक्रीडा' नाम दिया गया हो ।

छालिक्य-गान के साथ हल्लीसक का निर्देश ऊपर किया जा चुका है । छालिक्य के गायन के साथ श्रीकृष्ण ने हल्लीसक आरम्भ किया, ऐसा उल्लेख निम्न पंक्ति में पाया जाता है--

---

१. द्र० १, ३, १४ तथा २० ।

हल्लीसकं तु स्वयमेव कृष्णः सवंशघोषं नरदेव पार्थः ।

टीकाकार नीलकण्ठ हल्लीसक के स्थान पर झल्लीसक पाठ वैकल्पिक बताते हुए कहते हैं—

"झल्लीसकमिति पाठे तदाख्यवाद्यविशेषम् । झल्लीसकमिति पाठे निषादर्षभादिसप्तस्वरयुतं झल्लीसकं वाद्यविशेषम्" ।

टीकाकार के अनुसार झल्लीसक सप्त स्वरों से युक्त वाद्यविशेष है । हमारा विनम्र मत है कि इस पाठ को स्वीकार करने के लिये कोई सबल प्रमाण उपलब्ध नहीं । सन्दर्भ को देखते हुए हल्लीसक पाठ ही अधिक उपयुक्त एवं तर्कसंगत प्रतीत होता है । तथ्य यह है कि यहाँ श्रीकृष्ण के द्वारा वंशी के साथ हल्लीसक आरब्ध किये जाने का उल्लेख है । वंशी के साथ नृत्य करना नट-नागर श्रीकृष्ण की विशेषता है । वंशी के साथ दूसरा कोई वाद्य उनके द्वारा बजाया जाता हो यह कल्पना सम्भाव्य नहीं । और एक बात यह कि झल्लीसक नामक वाद्य के होने के सम्बन्ध में कोई प्रमाण न तो भरत के नाट्यशास्त्र में पाया जाता है, न तो उससे पूर्वकालीन बौद्ध तथा जैन साहित्य में ही पाया जाता है । इस दृष्टि से हरिवंश में उपलब्ध हल्लीसक पाठ को ही प्रामाणिक मानना तर्कसंगत होगा ।

अभिनवगुप्त के अनुसार हल्लीसक एक नृत्य-प्रकार है, जिस में नर्तकगण मण्डलाकार में नृत्य करते हैं ।[1] भोज के सरस्वती-कण्ठाभरण में हल्लीसक का निम्न लक्षण पाया जाता है—

"मण्डलेन तु यन्नृत्तं हल्लीसकमिति स्मृतम् ।
एकस्तत्र तु नेता स्याद् गोपस्त्रीणां यथा हरिः ॥
तदिदं हल्लीसकमेव तालबन्धविशेषयुक्तं रास एवेत्युच्यते" ।[2]

भास के नाटक में हल्लीसक नृत्य का निर्देश श्रीकृष्ण तथा गोपियों के सम्बन्ध में हुआ है (बाल० ४,६) ।

इस से स्पष्ट है कि हल्लीसक रास-नृत्य का एक प्रकार है, जिसमें युवतियाँ

---

१. अ० भारती; इस नृत्य के लिये द्रष्टव्य इसी प्रबन्ध के अन्त में आकृति, क्र० ७० में अंकित बाघ का गुफा-चित्र ।

२. द्र० पृ० ३०९; उद्धृत, हर्षचरित, सांस्कृतिक अध्ययन-अग्रवाल कृत, पृ० ३३ : डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार 'हल्लीसक' शब्द का उद्गम यूनानी इलीशियन नृत्यों से ई० सन् के आरम्भ में हुआ है । (वहीं, पृ० ३३-३४) । हर्षचरित के टीकाकार शंकर के अनुसार हल्लीसक एक ऐसा मण्डली-नृत्त है, जिसमें एक पुरुष-नर्तक स्त्री-मण्डल के मध्य में नृत्य करता है (तुलनार्थ द्र० भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ३०९) ।

वर्तुलाकार खड़ी रहकर गायन तथा नृत्य करती हैं और गीत-क्रम के अनुसार नृत्य के अन्तर्गत नानाविध एवं नवनवीन आकृतियों को रचा जाता है।[1] हरिवंश में गोपियों के रास-नृत्य का वर्णन निम्नानुसार है—

तास्तु पंक्तीकृताः सर्वा रमयन्ति मनोरमम्।
गायन्त्यः कृष्णचरितं द्वन्द्वशो गोपकन्यकाः॥
कृष्णलीलानुकारिण्यः कृष्णप्रणिहितेक्षणाः।

ह० वि० प० २०, २५–२६।

अर्थात् समस्त गोपियाँ शरचन्द्र से सुशोभित निशा में एक पंक्ति में खड़ी रहकर श्रीकृष्ण को निर्मिमिष नेत्रों से देखती हुई कृष्ण-लीला का युगलगान कर रही थीं।

जलक्रीडा के अवसर पर किए जाने वाले संगीतायोजन का उल्लेख हरिवंश में पाया जाता है।[2] ऐसे अवसर पर गीत, वाद्य तथा नृत्य में पारंगत स्त्रियों के संगीत का आयोजन किया जाता था। जलक्रीडा करते हुए जलपृष्ठ पर उनके द्वारा जो आघात किया जाता था, उससे मृदंग के विविध करणों अथवा बोलों का आभास होता था। इस क्रीडा के समय गीत तथा नृत्य के साथ साथ बृहदाकार तूर्यों की ध्वनि गुंजायमान होती थी—

अप्रशान्तमहातूर्या गीतनृत्योपशोभिताः।
बभूवुः सागरक्रीडा भैमानाममितितेजसाम्॥ ८८,७६॥

इस प्रसंग पर होने वाले संगीत का यथार्थ चित्रण निम्न पंक्तियों में हुआ है—

गीतनृत्यविधिज्ञानां तासां स्त्रीणां जनेश्वर।
तेजसाप्याहृतानां ते दाक्षिण्या तस्थिरे वशे॥ ८८,३७॥
शृण्वन्तश्चारुगीतानि तथा स्वाभिनयान्यपि।
तूर्याण्युत्तमनारीणां मुमुहुर्यदुनन्दनाः॥ ८८,३८॥

× × ×

दर्शयध्वं गुणान्सर्वान्नृत्यगीतैः रहःसु च।
तथाभिनययोगेषु वाद्येषु विविधेषु च॥ ८८,४२॥

× × ×

ता जले स्थलवत्स्थित्वा जगुश्चाप्यथ वादयन्।
चक्रुश्चाभिनयं सम्यक् स्वर्गावास इवांगनाः॥ ८८,४६॥

---

१. द्र० 'सरस्वती भवन स्टडीज, भाग १०, पृ० ८०, फडके लिखित लेख।
२. वि० प० ८९, ४१–५४।

जलक्रीडा से सम्बद्ध संगीत का एक अन्य शब्द-चित्र देखिये—

ततः प्रचक्रुर्जलवादितानि नानास्वराणि प्रियवाद्यघोषाः ।
सहाप्सरोभिस्त्रिदिवालयाभिः कृष्णाज्ञया वेशवधूशतानि ॥
वि० प० ८९,४४ ।

आकाशगंगाजलवादनज्ञाः सदा युवत्यो मदनैकचित्ताः ।
अवादयंस्ता जलदर्दुरांश्च वाद्यानुरूपं जगिरे च हृष्टाः ॥ ८९,४५ ॥

हरिवंश में नाट्यकला के सम्बन्ध में प्रभूत सामग्री उपलब्ध होती है। 'नाटकं ननृतुः', 'प्रकरणं ननृतुः' आदि पदावलियों से स्पष्ट है कि तत्कालीन नाटक, प्रकरण आदि रूपक-प्रकारों में नृत्य का बहुल प्रयोग होता था। नाटक के लिए 'प्रेक्षा' अन्य संज्ञा थी तथा तत्कालीन मनोविनोद के साधनों में इस का प्रमुख स्थान था[1]। रामायण तथा गंगावतरण सम्बन्धी नाटक खेले जाने का उल्लेख हरिवंश में है।[2] पुरुष तथा महिलाएँ दोनों ऐसे नाटकों में भूमिकाभिनय करते थे। नाटकों में संगीत का प्रमुख स्थान होने के कारण नट, नटी आदि अभिनेताओं के लिये संगीत-कौशल आवश्यक माना जाता था।[3] ऐसे ही अभिनेता-जन स्थान स्थान पर परिभ्रमण कर अपने कलानैपुण्य से प्रेक्षकों को प्रभावित करते थे[4]। नायक तथा नायिका के अतिरिक्त विदूषक, पारिपार्श्व आदि अन्य पात्रों की योजना नाटक में की जाती थी। नर्तिकाएँ नृत्य के साथ अर्थानुकूल अभिनय से प्रेक्षकों को मुग्ध कर देती थीं। श्रीकृष्ण की भार्याओं की अभिनय-कुशलता निम्न श्लोक से स्पष्ट होती है—

कटाक्षैरिंगितैर्हास्यैः केलिरोषैः प्रसादितैः ।
मनोनुकूलैर्भैमानां समाजह्रुर्मनांसि ताः ॥ ८८, ४८ ॥

नाटक के साथ तत, वितत, घन तथा सुषिर इन चतुर्विध आतोद्यों का प्रयोग बराबर किया जाता था—

ततो घनं ससुषिरं मुरजानकभूषितम् ।
तन्त्रीस्वरगणैर्विद्धानातोद्यानन्ववादयन् ॥ ९३, २२ ॥

गान्धर्व के अन्तर्गत छालिक्य तथा आसारित नामक विशिष्ट गीतों का प्रचलन उस समय था। षड्ज तथा मध्यम ग्राम के अतिरिक्त गान्धार ग्राम का प्रचलन रहा हो, ऐसा निम्न श्लोकों से ज्ञात होता है—

---

१. द्र० ९३, १९।

२. वि० प० ९३, ६–८; ९३, २७।

३. वही, ९२, ४८–५०, ६०; ९३, ३२; ९३, ५८–६०।

४. वही।

ततस्तु देवगान्धारछालिक्यं श्रवणामृतम् ।
भैमस्त्रियः प्रजगिरे मनः श्रोत्रसुखावहम् ॥ ९३, २३ ॥
आगान्धारग्रामरागं गंगावतरणं तथा ।
विद्धमासारितं रम्यं जगिरे स्वरसम्पदा ॥ ९३, २४ ॥
लयतालसमं श्रुत्वा गंगावतरणं शुभम् ।
असुरांस्तोषयामास उत्थायोत्थाय भारत ॥ ९३, २५ ॥

अर्थात् भैमस्त्रियां देवगान्धार नामक छालिक्य का गान श्रुतिमनोहर रूप से कर रही थीं। गान्धार ग्राम में गाया जाने वाला यह आसारित गीत गंगावतरण पर आधारित था तथा इसका लयताल से युक्त गान असुरों के लिये भी सन्तोषजनक सिद्ध हुआ था। आसारित गीत के अनन्तर नाटक की नान्दि से सम्बद्ध संगीत का आयोजन किये जाने का उल्लेख हरिवंश में है। नाटक के प्रदर्शन में गान, वाद्य, पाठ्य तथा अभिनय इन सभी अंगों का समावेश उस समय बराबर होता था। नाटक के आरम्भ में नान्दी नामक वाद्य-वादन का उल्लेख हुआ है—

नान्दिं च वादयामास प्रद्युम्नो गद एव च ।
सांबश्च वीर्यसंपन्नः कार्यार्थं नटतां गतः ॥ ९३, २६ ॥
नान्द्यन्ते च ततः श्लोकं गङ्गावतरणाश्रितम् ।
रौक्मिणेयस्तदोवाच सम्यक्स्वविनयान्वितम् ॥ ९३, २७ ॥
रम्भाभिसारं कौबेरं नाटकं ननृतुस्ततः ।
शूरो रावणरूपेण रम्भावेषं मनोवती ॥ ९३, २८ ॥

अर्थात् नान्दि[1] नामक वाद्य के बजाये जाने के पश्चात् सांब आदि कलाकारों ने नट आदि की वेषभूषा करना आरम्भ किया। नाटक की नान्दी के अनन्तर पाठ्य, नृत्य तथा अभिनय का आरम्भ हुआ, जिसमें रावण की भूमिका शूर नामक यादव ने की तथा रम्भा की भूमिका मनोवती नामक स्त्रीने अभिनीत की।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि हरिवंश की रचना से पूर्व संगीत का प्रयोगात्मक पक्ष अत्यधिक विकसित हो चुका था। साम-संगीत के अतिरिक्त जनता में गान्धर्व संगीत के प्रति अत्यधिक अभिरुचि थी। साम तथा गाथाओं का गान

---

१ टीकाकार के अनुसार नान्दि बैल के मुख वाला चर्म-वाद्य था जिसकी ध्वनि बहुत दूर तक गर्जना के साथ प्रसृत होती थी। इसी वाद्य का उल्लेख जैनियों के रासायपणीय नामक सुत्त में पाया जाता है, जिससे इसकी प्राचीनता प्रमाणित होती है।

यज्ञादि समारोहों पर किया जाता था। गान्धर्व संगीत देशभाषाओं के माध्यम से जन-जन में प्रसृत था। स्वर, ग्राम, स्थान, मूर्च्छना, ग्रामराग आदि अंगों का प्रयोग गान्धर्व में किया जाता था। षड्ज तथा मध्यम दो ग्रामों के अतिरिक्त गान्धार ग्राम का प्रचलन इस युग की विशेषता लक्षित होती है। गीतों के अन्तर्गत छालिक्य तथा आसारित का बहुल प्रचार था।

वाद्यों के लिये 'तूर्य' सामान्य संज्ञा थी। तूर्यों का प्रयोग नाट्य, क्रीडा, युद्ध तथा लोकोत्सवों के अवसर पर किया जाता था। तत वाद्यों के अन्तर्गत वीणा, वल्लकी, महती तथा तुम्बीवीणा का प्रचलन था; वितत वाद्यों में पणव, दर्दुर, आनक, मुरज, मृदंग तथा भेरी का प्रचार था। नन्दि नामक वाद्य इसी प्रकार का था तथा इसकी ध्वनि प्रचण्ड थी। सुषिर के अन्तर्गत वेणु तथा शंख का प्रचार था। रास, हल्लीसक आदि नृत्यों में तथा छालिक्य नामक गान्धर्व में वेणु, वीणा तथा मृदंग का मुख्यतः प्रयोग किया जाता था।

नृत्य के अन्तर्गत उद्धत तथा ललित दोनों प्रकार विद्यमान थे।[1] समय-समय पर आयोजित होने वाले उत्सवों में स्त्री, पुरुषों का संयुक्त नृत्य हुआ करता था। रास, हल्लीसक आदि नृत्यविधियों में गीत, वाद्य तथा नृत्य की त्रिवेणी प्रवाहित हो उठती थी। नाट्य, रास, हल्लीसक, जलक्रीडा आदि तत्कालीन जनता के मनोविनोदन के साधन थे। पुरातन कथाओं के आधार पर नाटकों को खेला जाता था, जिसमें स्त्री तथा पुरुष दोनों भूमिकाभिनय किया करते थे। गायन का कार्य प्रायः स्त्री-पात्रों के द्वारा किया जाता था। नट तथा नटी के साथ पारिपार्श्वक, विदूषक आदि पात्रों की योजना नाटकों में की जाती थी।

२. वायुपुराण में संगीत

प्राचीन संगीत के ऐतिहासिक अनुसंधान की दृष्टि से वायुपुराण का अनुशीलन निःसन्देह सहायक है। मनीषियों के मतानुसार वायुपुराण भारत के प्राचीनतम पुराणों में से अन्यतम है तथा इसका उपलब्ध संस्करण अधिकाधिक ई० ५ तक निर्णीत है[2]। वायुपुराण में संगीत-सम्बन्धी कतिपय मान्यताओं का निरूपण पौराणिक प्रणाली से तथा कतिपय तथ्यों का विवरण संगीत शास्त्र के

---

१. वि० पु० ९३, ३२।

२. द्र० विन्टरनिज, 'हिस्ट्री आफ इण्डियन—लिट्रेचर', भाग १, पृ० ५५४; दीक्षितार, 'सम आस्पेक्ट्स आफ वायुपुराण', पृ० ४७; पाटिल, 'कल्चरल हिस्ट्री फ्राम वायुपुराण', भूमिका, पृ० ३।

आधार से हुआ है। पुराणकार के अनुसार संगीतगत वर्णों तथा अलंकारों का विवेचन पूर्वाचार्यों का अनुसरण मात्र है (द्र० अ० ८७, १)। पुराण के संग्रहात्मक स्वरूप को दृष्टिगत करते हुए संगीत-विषयक अन्य सामग्री प्राचीन परम्परा पर अधिष्ठित होने के सम्बन्ध में सन्देहावकाश नहीं। इसी दृष्टि से इस पुराण में निबद्ध संगीत-विषयक सामग्री[1] को यहां विस्तरशः प्रस्तुत किया जा रहा है।

(पुराण के अनुसार प्रजापति की आदिम सृष्टि में ऋक्, यजु, साम, सोम, यज्ञ तथा विविध छन्दों का निर्माण समाविष्ट है) (३, १६)। इसी सृष्टि की प्रक्रिया में देव, असुरों, सर्पों तथा गन्धर्वों का निर्माण बताया गया है (९, ३९)। प्रजापति के प्रथम मुख से गायत्र, अग्निष्टोम, रथन्तर आदि साम, छन्द तथा पंचदश स्तोम का निर्माण हुआ तथा दक्षिण मुख से बृहत्साम तथा उक्थ का सृजन हुआ। अपने पश्चिम मुख से छन्द, अतिरात्र, तथा वैरुप्य आदि अन्य सामों की रचना उन्होंने की (९, ४८–५१)। सामग जन कुल ८०१४ सामों का गान आरण्यकों के समेत होमविधि के अवसर पर करते हैं ऐसा इस पुराण का कथन है (६१, ६३)।

सामगान की मौखिक परम्परा के विषय में निम्न सामग्री इस पुराण में उपलब्ध होती है। (सामवेद के आदि प्रवर्तक जैमिनि हैं, जिनकी शिष्यपरम्परा में सहस्रों सामगानों का प्रचार-प्रसार हुआ (द्र० ६१, २७–२८)। जैमिनि ने सामवेद की शिक्षा अपने सुमन्तु तथा सुकर्मा नामक दो पुत्रों को प्रदान की।) सुकर्मा ने सहस्र सामों की शिक्षा अपने शिष्यों को दी। अनध्याय के समय पर अध्ययन किये जाने के कारण इन्द्र ने इन सामों को नष्ट कर दिया, ऐसा आख्यान इस पुराण में उपलब्ध है (द्र० ६१, २९)। सुकर्मा के दो शिष्य हुए—१ पौष्यंजि तथा २ हिरण्यनाभ कौशिक्य। पौष्यंजि ने पांच सौ संहिताओं का अध्यापन किया। यही परम्परा उदीच्य नाम से विख्यात हुई। इस परम्परा

---

१. (अ) संगीतविषयक सामग्री इस पुराण के अ० ८६ तथा ८७ में उपलब्ध होती है। यहाँ स्मरणीय है कि संगीतविषयक जो कुछ अंश इसमें पाया जाता है, प्रायः भ्रष्ट रूप में उपलब्ध है तथा वायुपुराण का अभिन्न अंग नहीं माना जा सकता। ध्यान देने योग्य बात है कि इस पुराण के दो प्राचीन हस्त-लिखित संस्करणों में यह अंश उपलब्ध नहीं; दूसरी बात यह कि इसका ८६ तथा ८७ वां अध्याय, जिसमें संगीतविषयक सिद्धान्तों का विवरण है, पुराण की मूल कथा से सर्वथा विच्छिन्न दिखाई देता है। (आ) संगीतविषयक अंश के लिये द्र० इसी प्रबन्ध का परिशिष्ट २, सा।

के प्रवर्तकों में पौष्यञ्जि के चार शिष्यों का प्रमुख स्थान है—१ लोकाक्षि, २ कुथुमि, ३ कुशीति तथा ४ लांगलि। लोकाक्षि की परम्परा में राणायनीय का प्रमुख स्थान है। लांगलि की परम्परा में भालुकि नामक शाखा का समावेश है। सुकर्मा के दूसरे शिष्य हिरण्यनाभ कौशिक्य ने एक सौ पांच संहिताओं का प्रवर्तन किया और यही परम्परा प्राच्यसामग नाम से सम्बोधित हुई (द्र० ६१, ३५)। सामगायकों में संहिताकार के रूप में पौष्यञ्जि तथा कृति दो मुनियों के नाम विख्यात हैं (६१, ४८)।

इस पुराण के अनुसार ब्रह्मा ने यज्ञ के अवसर पर ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के साथ सामवेद का निर्माण किया, जो विविध वृत्तों से सम्पन्न तथा 'सर्वगेयपुरःसर' था (६१, २४)। इसी वेद को विश्वावसु आदि गन्धर्वों ने समृद्ध बनाया—'विश्वावस्वादिभिः सार्धं गन्धर्वैः सम्भृतोऽभवत्' (६१, २६)। वायुपुराण के अनुसार 'गन्धर्व' शब्द की व्युत्पत्ति 'धयन्तो गाः' इस प्रकार है (९, ३९)। 'धा' धातु पानार्थक है और पान करते समय गायन करने के कारण यह जाति गन्धर्व कहलाई, ऐसी इस पुराण की मान्यता है—

धयतीत्येष धातुर्वै पानार्थे परिपठ्यते।
पिबन्तो जज्ञिरे गास्तु गन्धर्वास्तेन ते स्मृताः ॥ ९, ४० ॥

पुराण के अनुसार गान्धर्व का स्थान आयुर्वेद तथा धनुर्वेद आदि उपवेदों के सदृश १८ विद्याओं में है (६१, ७९)। गान्धर्व का प्रयोग नित्यशः करने वाले व्यक्ति गन्धर्व कहलाते हैं। देव तथा यक्षों की सभा में गन्धर्वों का महत्वपूर्ण स्थान है[1]। गन्धर्व गानविद्या में तथा किन्नर नृत्य-विद्या में कुशल है तथा कश्यप की आदिम सृष्टि में इनका निर्माण हुआ है (६९, ३७)। कश्यप की संतानपरम्परा में ऐसे गन्धर्वों का उद्भव बताया गया है, जो यज्ञों में उत्कृष्ट गायन किया करते थे (६८, ३७)। इन्द्र के अश्वमेध यज्ञ में आगमों का सुस्वर गायन किये जाने का उल्लेख है—

संप्रगीतेषु तेषु आगमेष्वथ सुस्वरम् ॥ ५७, ९३ ॥[2]

विश्वावसु, तुम्बरु तथा देवर्षि नारद का स्थान देवगन्धर्वों में प्रमुख है और इनका कार्य गान्धर्वकला से देवताओं का मनोरंजन करना है।[3] गायक जातियों में गन्धर्वों के साथ मागध, चारण तथा अप्सराओं की गणना की गई है। पृथु

१. ३४, ९३; ३५, १२; ३५, १९ व ३१।

२. द्र० पाटिल कृत 'कलचरल हिस्ट्री फ्राम वायुपुराण', पृ० ९७, टिप्पणी, १३।

३. ६९, ३; ६९, ४२ व ४७।

राजा के राजसूय अभिषेक के प्रसङ्ग पर जो महान् यज्ञ सम्पादित हुआ, उसमें राजस्तुति के लिये निपुण सूत तथा मागधों की योजना की गई थी (६२, ९५)। इस वर्ग का कार्य स्तुति-वाद से राजा का प्रबोधन एवं मनरंजन करना रहा है (६२, १४८)। यज्ञों में सामगायकों के गायन के समय पर लौकिक गीत गाने वाले वर्ग का नामकरण मागध हुआ—

सामगेषु तु गायत्सु स्रुग्भाण्डे वैश्वदेवके ।
सामगाने समुत्पन्नस्तस्मान्मागध उच्यते ॥ ६२, १३७ अ ॥

सामगान की विशिष्ट महिमा इस पुराण में निर्दिष्ट है। पुराण के अनुसार ऋग्वेद जानने वाला समस्त वेदों को जान लेता है, यजु का ज्ञाता समग्र यज्ञ-विधि को जानता है परन्तु साम में निपुण व्यक्ति ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है (७९, ९५)। श्राद्ध के लिये जो ब्राह्मण निमन्त्रण के लिये योग्य हैं उनमें छन्दोग तथा ज्येष्ठसामग व्यक्तियों का अन्तर्भाव है।[1] गायक तथा अन्य शिल्प-जीवी व्यक्तियों को श्राद्ध भोजन के लिये वर्ज्य मानने में स्मृति-ग्रन्थों का अनुसरण इस पुराण में हुआ है।[2] चतुर्वर्ण-विभाग में शिल्प तथा सेवाकर्म शूद्रों के लिये नियत माना गया है।[3] शूद्रों को वर्णोचित कर्म करने से गान्धर्वलोक की प्राप्ति होती है, ऐसी लौकिक मान्यता इस पुराण में प्रकट हो उठी है[4]। गान्धर्व का नित्य प्रयोग करने वाला व्यक्ति मृत्यु के अनन्तर ऐसे गान्धर्वलोक का अधिकारी बन जाता है, जहां गीत-वाद्य-नृत्य की त्रिवेणी सदैव प्रवाहित होती रहती है (१३, ४०)। श्राद्धकल्प में योग्य व्यक्ति को दान देने से दाता गन्धर्वलोक का अधिकारी बन जाता है।[5] सप्त गन्धर्व-नगरों के आसपास वाद्यों की ध्वनि अनवरत रूप से प्रचलित रहती है (४०, ७–१०)।

(इस पुराण में शिव की संगीतप्रियता का बहुशः उल्लेख हुआ है। शिव संगीत-प्रिय है तथा उनकी आराधना में वैदिक तथा लौकिक गीतियों का प्रयोग किया जाता है (५४, ६)। दक्षशापवर्णन में शिव कहते हैं कि रथन्तर साम का गान उन्हीं की प्रसन्नता के लिये किया जाता है—

रथन्तरे साम गायन्ति गेयम् ॥ ३०, ११९ ॥)

सामवेद के गायक उन्हीं को उद्देश्य कर हौ, हौ आदि आलापसूचक शब्दों

१. ८२, ५३–५४।
२. ७९, ६९; ८२, ६१।
३. ८, १७१।
४. ८, १७५।
५. ८०, १३; ८१, २१–२३।

से गान करते हैं[1]। महादेव स्वयं गीत, वाद्य तथा नृत्य में तत्पर रहते हैं और इसीलिये इनकी आराधना में भक्त तथा भूतगण संगीत का उपहार अर्पित करते हैं[2]। उनकी निवास-भूमि कैलास वीणादि वाद्यों के निर्घोष से तथा घण्टानिनाद से सदैव व्याप्त रहती है (५४, ३५–३७)। तुम्बवीणा, मुखवादित्र तथा घण्टा उनके विशेष प्रिय वाद्य हैं[3]। शिव नृत्याचार्य हैं तथा नाट्य का उपहार पाने से प्रसन्न हो जाते हैं। भूतगण तथा गणेश्वर उन्हीं की आराधना में झर्झर, शंख, पटह, भेरी, डिंडिम, गोमुख आदि वाद्यों के रणन तथा गीत एवं लास्य का प्रयोग करते हुए बतलाये गये हैं (४०, २४–२५)। शिवपुर सदैव संगीत-ध्वनि से व्याप्त रहता है। शिवगण विविध वादित्रों के साथ ईश्वर का उपगान करते हैं ऐसा वर्णन इस पुराण में आया है[4]।

गान्धर्व के शास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन प्रायः पौराणिक प्रणालि के अनुसार किया गया पाया जाता है। संगीत के स्वरों का सम्बन्ध कल्पों के साथ स्थापित किया गया है। चौदहवाँ कल्प गान्धर्व कल्प है और इसमें गान्धार स्वर की प्रधानता बतलाई गई है (२१, ३२)। पंचदश कल्प ऋषभ के नाम से अभिहित है, षोडश कल्प षड्ज के नाम से तथा अष्टादश कल्प मध्यम स्वर के नाम से अभिहित हैं[5]। मध्यम कल्प के सम्बन्ध में निम्न कथन उपलब्ध है—

> यस्मिंस्तु मध्यमो नाम स्वरो धैवतपूजितः।
> उत्पन्नः सर्वभूतेषु मध्यमो वै स्वयंभुवः ॥ २१, ३९ ॥

बीसवें कल्प का नाम निषाद कल्प है। निषाद की पौराणिक उत्पत्ति की कथा इस प्रकार है—प्रजापति ने स्वयंभू के द्वारा उत्पादित निषाद को देखकर अन्य सृष्टि रचने का संकल्प किया। निषाद की तीव्र तपस्या को देखकर ब्रह्मा के द्वारा 'निषीदत' अर्थात् बैठ जाओ कहे जाने से उसकी संज्ञा निषाद पड़ी। इक्कीसवां कल्प पंचम स्वर के नाम से सम्बोधित पाया जाता है[6]।

इस प्रकार इन कल्पों के नाम क्रमशः गान्धार, ऋषभ, षड्ज, मध्यम, धैवत, निषाद तथा पंचम बताये गये हैं। मध्यम को छोड़कर अन्य सभी स्वरों का क्रम प्रायः वही पाया जाता है जो नारदी शिक्षा में निर्दिष्ट है। हमने यथा-

---

१. ३०, २२९–३१।
२. २४, १२४–४८।
३. ३०, १९८; ३०, २०३ व २१०।
४. १०१, २७७ तथा ३०५।
५. २१, ३३–३८।
६. २१, ४९।

स्थान देखा है कि नारदी शिक्षा के अनुसार स्वरों का विकास जिस अवरोही क्रम से हुआ है, वह इस प्रकार है—म ग रि सा ध नि प। इस पुराण में उपलब्ध मध्यम तथा निषाद की व्युत्पत्ति प्रायः वही है जो नारदी शिक्षा में निरूपित है[१]। प्रतीत होता है कि पुराण के संकलनकार के सम्मुख नारदीय शिक्षा की परम्परा अवश्य रही हो। गान्धर्व के अन्य तत्त्वों का शिक्षानुसार विवरण इसी तथ्य को परिपुष्ट करता है।

इस पुराण में गान्धर्व का विवरण मुख्यतः वैवस्वतमनु के वंश-कथन के प्रसंग पर हुआ है। बलदेव के श्वशुर रैवत तथा उनकी पुत्री रेवती गान्धर्व के रसज्ञ कहे गये हैं[२]। ऋषियों से पूछे जाने पर कि रैवत राजा मेरुशिखर पर कैसा जीवन व्यतीत कर रहे हैं और उनके मनोविनोद में गान्धर्व का क्या स्थान है, सूत गान्धर्व का विवरण प्रस्तुत करते हैं[३]।

स्वरमण्डल में प्रधान उपादान सप्त स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्च्छना तथा उनचास तानें हैं—

सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्च्छनास्त्वेकविंशतिः।
तानाश्चैकोनपंचाशदित्येतत्स्वरमण्डलम् ॥ ८६, २६ ॥

सप्त स्वरों की गणना के बाद मध्यम ग्राम तथा षड्ज ग्राम की मूर्च्छनाओं का जो परिगणन इस पुराण में हुआ है, प्रायः अशुद्ध तथा अपूर्ण है। मध्यम की सप्त शुद्ध मूर्च्छनाओं के क्रमशः नाम इस प्रकार हैं—सौवीरी, हरिणास्या, कलोपनता अथवा कलोपबला, शुद्धमध्यमा, शार्ङ्गी (?), पावनी (?) दृष्टाका (?)। षड्ज ग्राम की मूर्च्छनाओं में से केवल निम्न चार का परिगणन यहाँ हुआ है—उत्तरमन्द्रा, जननी (रजनी ?), उत्तरायता तथा शुद्धषड्जा। इसके अनन्तर तीन अवशिष्ट मूर्च्छनाओं का उल्लेख यहाँ प्राप्त नहीं होता[४]।

गान्धार ग्राम की मूर्च्छनाओं के नाम से निम्न तान-नामों का परिगणन प्राप्त होता है—आग्निष्टोमिक, वाजपेयिक, पौड्रक, आश्वमेधिक, राजसूय, चक्र-

---

१. नारदी शिक्षा के समग्र विवरण के लिये द्र० इसी प्रबन्ध का अध्याय द्वितीय, विभाग (ग)।

२. ८६, २५-२६

३. वहीं, ३२-३५

४. षड्जग्राम की चतुर्थ मूर्च्छना शुद्धषड्जा के निर्देश में निम्न पंक्ति पाई जाती है—'शुद्धषड्जा तथा चैव जानीयात्सप्तमी च ताम्' (८६, ४०)। आरम्भ में किये गये इक्कीस मूर्च्छना के उल्लेख से इस बात की संगति नहीं बैठती यह तथ्य सूर्यप्रकाशवत् स्पष्ट है।

सुवर्णक, गोसव, महावृष्टिक, ब्रह्मदान, प्राजापत्य, नागपक्षाश्रय, गोतर, हयक्रान्त, मृगक्रान्त, विष्णुक्रान्त, सूर्यक्रान्त, मतकोकिलवादिन्, सावित्र, अर्धसावित्र, सर्वतोभद्र, सुवर्णा, सुतन्द्र (सुभद्र), सागर, विजय, हंस, तुम्बुरुप्रिय, अधात्र्य, अलम्बुपेष्ट अथवा अगम्बुश्रेष्ठ, नारदप्रिय, विकलोपनीतविनता, तथा श्री अथवा भार्गवप्रिय । नारदप्रिय मूर्च्छना भीमसेन के द्वारा कथित बतलाई गई है—

कथितो भीमसेनेन नागराणां यथा प्रियः ॥ ८६, ४८ ॥

दत्तिल के अनुसार अग्निष्टोमादि तानों का विवेचन नारदादि संगीतज्ञों के द्वारा किया गया है[1]॥ वायुपुराण में निर्दिष्ट निम्न तानों का निर्देश अन्यत्र प्राप्त नहीं होता, जैसे—सुतन्द्र, मृगक्रान्त, मतकोकिलवादी, ब्रह्मदान, अलम्बुपेष्ट इत्यादि ।

ग्रामों की तानसंख्या के सम्वन्ध में निम्न वचन इस पुराण में पाया जाता है, जो नारदीय शिक्षा में उपलब्ध श्लोक का शब्दशः अनुवाद है—

विंशतिर्मध्यमग्रामः षड्जग्रामश्चतुर्दश ।
तथा पंचदशेच्छन्ति गान्धारग्रामसंस्थिताम् ॥ ८६,५० ॥

अर्थात् मध्यमग्राम की सम्भाव्य तानें बीस, षड्जग्राम की चौदह तथा गान्धारग्राम की पन्द्रह मिला कर तानों की कुल संख्या उनचास है ।

पुराण में गान्धारग्राम की मूर्च्छनाओं के स्थान पर उस ग्राम की यज्ञतानों का विवरण पाया जाता है, जो स्पष्टतः अयथास्थान है । केवल स्थान का अनौचित्य हो यही बात नहीं, अपितु इनके मूर्च्छना-नाम होने के सम्बन्ध में भ्रान्ति भी परिलक्षित होती है । षड्जग्राम के मूर्च्छना-विवरण के पश्चात् गान्धारग्राम की मूर्च्छनाओं के प्रसंग में निम्न वचन पाया जाता है—

गान्धारग्रामिकांश्चान्यान्कीर्त्यमानान्निबोधत ।
आग्निष्टोमिकमाद्यं तु द्वितीयं वाजपेयिकम् ॥ ८६, ५१ ॥

मूर्च्छना के नाम पर तानों का यह विवरण भ्रान्ति से विरहित नहीं कहा जा सकता ।

ग्रामों की मूर्च्छनाओं के परिगणन के पश्चात् मूर्च्छनाओं का उत्पत्ति स्थल तथा उनकी देवताओं का निर्देश पुराण में हुआ है । मध्यमग्राम की 'सौवीरी' मूर्च्छना सौवीर देश से उत्पन्न बतलाई गई है तथा उसका दैवत ब्रह्मा है । 'हरिणास्या' हरिदेश में समुत्पन्न है और उसके देवता इन्द्र है । 'कलोपनता' का उद्भव मरुत्-मण्डल से हुआ है और उसका दैवत मारुत है । 'शुद्धमध्यमा' का उत्पत्तिस्थल मरुभूमि है और गन्धर्व उसके देवता है । 'मार्गी' का सम्बन्ध मृगों

---

१. दत्तिल० ४, ३१

से बतलाया गया है और मृगेन्द्र उसका दैवत है। षड्जग्राम के अन्तर्गत रजनी मूर्च्छना का सम्बन्ध रजस् से निर्दिष्ट है। 'उत्तरमन्द्रा' मूर्च्छना का दैवत षड्जस्वर अथवा ध्रुव बतलाया गया है। 'उत्तरायता' का दैवत पितृगण है। शुद्धषड्ज मूर्च्छना अग्नि की आराधना का माध्यम है। मत्सरी मूर्च्छना का दैवत यक्षगण है और अभिरुद्गता (?) के दैवत नाग हैं। उत्तमा (उत्तरा ?) मूर्च्छना का दैवत पक्षिराज गरुड है तथा अश्वक्रान्ता के अश्विनीदेव। विशुद्धगान्धारी का दैवत गन्धर्व बतलाया गया है तथा उत्तरगान्धारी नामक तथाकथित मूर्च्छना के दैवत वसुगण बतलाये गये हैं। सप्तस्वर वाली शुद्धमूर्च्छनाओं के अतिरिक्त साधारण आदि मूर्च्छना प्रकारों का केवल संदिग्ध रूप में उल्लेख इस पुराण में हुआ है[१]।

पुराण में पाया जाने वाला मूर्च्छनाओं का विवरण यत्र तत्र अपूर्ण तथा प्रायः अव्यवस्थित पाया जाता है। मध्यमग्राम की सात शुद्धमूर्च्छनाओं में से केवल पाँच ही मूर्च्छनाओं का विवरण यहाँ प्राप्त है। इसके अनन्तर किए गए षड्जग्राम की मूर्च्छनाओं के विवरण में क्रमविपर्यास स्पष्टतः लक्षित होता है, यथा षड्जग्राम में षड्ज की शुद्ध मूर्च्छना उत्तरमन्द्रा से पूर्व निषाद की रजनी नामक मूर्च्छना का विवरण पाया जाता है और षडज के अनन्तर धैवत की उत्तरायता नामक मूर्च्छना का। समस्त विवरण में ऋषभ की अभिरुद्गता मूर्च्छना का का कथमपि उल्लेख नहीं प्राप्त होता। गान्धार की अश्वक्रान्ता नामक मूर्च्छना के पर्याय में विशुद्धगान्धारी तथा उत्तरगान्धारी का प्रयोग तथा उसका गान्धार राग से सम्बन्ध दुरूहता से दूर नहीं। गान्धार राग का उल्लेख निम्न रूप में पाया जाता है—

> गान्धाररागशब्देन गां धारयतेऽर्थतः।
> तस्माद्विशुद्धगान्धारी गन्धर्वश्चाधिदैवतम् ॥ ८६, ६५ ॥

वायुपुराण के अध्याय ८७ में वर्ण, अलङ्कार तथा गीतों का विवरण प्रस्तुत है। पुराणकार के अनुसार अलङ्कार तीन सौ हैं, जिनका विवेचन पूर्वाचार्यों के मत को दृष्टि में रखकर किया गया है[२]। अलङ्कारों की रचना वर्णो की आधार-शिला पर आधारित है। पदों की स्थिति तथा वर्णों के तदन्तर्गत प्रयोग से अलङ्कारों का निर्माण सम्भाव्य है।[३] अलंकार के लिये सार्थक पद प्राथमिक आवश्यकता है। अलंकार अथवा आभरण के प्रयोग के लिये जैसे शरीर की

---

१. ८६, ३७–६९
२. ८७, १
३. ८७, २

आवश्यकता है, वैसे ही गीतालंकारों के लिये वाक्य तथा अर्थयुक्त पदों का होना आवश्यक है--

वाक्यार्थपदयोगार्थैरलंकारस्य पूरणम् ।

पद किसी गीत के आवश्यक अङ्ग हुआ करते हैं तथा अलंकारों का प्रयोग इन्हीं पदों की शोभावृद्धि के लिए किया जाना उचित है। अलंकारों का प्रयोग जिन तीन स्थानों में किया जाता है वे इस प्रकार हैं--उरस्, कण्ठ तथा शिर। पुराणकार के शब्दों में—

स्थानानि त्रीणि जानीयादुरः कण्ठः शिरस्तथा ।
एतेषु त्रिषु स्थानेषु प्रवृत्तो विधिरुत्तमः ॥ ८७, ४ ॥

वर्ण मुख्यतः चार बतलाये गए हैं--स्थायी, संचारी, अवरोही तथा आरोही। स्थायी वर्ण वह है जिसका संचार एक ही स्वर तक सीमित रहता है, संचारी वह है जिस में संचरण नानाविध होता है, अवरोही में स्वरों की गति निम्न स्वर तथा स्थानों की ओर होती है तथा आरोहण वर्ण में स्वरों का क्रम उपरिगत स्वरों तथा स्थानों में होता है[1]।

अलंकार मुख्यतः चार बतलाये गए हैं—स्थापनी, क्रमरेजिन्, प्रसाद (प्रसाद ?) तथा अप्रमाद (अप्रसाद ?)। पुराणकार के शब्दों में—

अलंकारास्तु चत्वारः स्थापनी क्रमरेजिनः ।
प्रमादश्चाप्रमादश्च तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ ८७, ९ ॥

इनके अनन्तर जिन अलंकारों का नामनिर्देश तथा लक्षण पुराण में पाये जाते हैं, वे निम्नानुसार है—१ श्येन, २ उत्तर, (हुंकार ?), ३ बिन्दु ४ प्रेंखोलित, ५ घ्रासित (हसित ?) तथा ६ मक्षिप्रच्छेदन (सन्धिप्रच्छादन ?)।

पुराणकार के अनुसार श्येन अलंकार वह है, जो एकान्तर स्वरों से समन्वित है--श्येनस्त्वेकान्तरे जातः कलामात्रान्तरे स्थितः (८७, १२)। स्मरणीय है कि भरत, दत्तिल तथा मतंग जैसे प्राचीन संगीतज्ञों के द्वारा इस अलंकार का नामोल्लेख तक नहीं हुआ है। स्वरों में क्रमशः एकान्तर वर्ज्य करने से जिस अलङ्कार का विधान भरत तथा मतंग को अभीष्ट है, वह निष्कूजित कहलाता है--

एकान्तरमारुह्य प्रत्येकान्तरस्वरो यस्तु ।
निष्कूजितसंज्ञोऽसौ ज्ञेयः सूरिभिरलङ्कारः ॥[2]

संगीतरत्नाकर के अनुसार यही अलङ्कार प्रस्तार कहलाता है, जिसका

१. ८७, ६-८
२. मतंग, पृ० ४५, १५१

स्वरूप निम्नानुसार है—सग रिम गप मध पनि। संगीतरत्नाकर के अनुसार श्येन अलङ्कार का निर्माण संवादी स्वरों के क्रमिक युग्म से बताया गया है—यथा, सप रिध गनि मस[1]।

उत्तर (?) तथा बिन्दु नामक अलङ्कारों के सम्बन्ध में पुराण में निम्न श्लोक पाये जाते हैं—

श्येनस्त्वेकान्तरे जातः कलामात्रान्तरे स्थितः।
तस्मिंश्चैव स्वरे वृद्धिस्तिष्ठते तद्विलक्षणा ॥ ८७, १२ ॥
श्येनस्तु अपरोहस्तु उत्तरः परिकीर्तितः।
कलाकलप्रमाणाच्च स बिन्दुर्नाम जायते॥ ८७,१३ ॥
बिन्दुरेककला कार्या वर्णान्तस्थायिनी भवेत्।
विपर्ययस्वरोपि स्याद्यस्य दुर्घटितोपि न ॥ ८७,१४ ॥

उत्तर अलंकार का लक्षण उपर्युक्त लक्षण-श्लोकों से स्पष्ट नहीं हो पाता। भरत, दत्तिल तथा मतंगादि ग्रन्थकारों में उसका नाम निर्देश तक उपलब्ध नहीं। बिन्दु नामक अलंकार का लक्षण प्रायः वही है, जो अन्य संगीत-ग्रन्थों में उपलब्ध है। बिन्दु अलंकार वह है, जिस में किसी स्वर पर कुछ समय तक स्थिर होकर उसी के तार स्वर पर एक कला तक ठहर कर पुनः आरम्भिक स्वर पर लौटा जाता है—

बिन्दुरेककलं तारं स्पृष्ट्वा तु पुनरागतः[2]।

इसका उदाहरण निम्न हो सकता है—

सा—सांसा, रि—रिंरि, ग—गंग, म—मंम, प—पंप इत्यादि। प्रेंखोलित तथा मक्षिप्रच्छेदन नामक अलंकारों के सम्बन्ध में निम्न विवरण वायुपुराण में उपलब्ध है—

प्रेंखोलितमलंकारमेवं स्वरसमन्वितम् ॥
स्वरसंक्रामकाच्चैव ततः प्रोक्तं तु पुष्कलम्।
प्रक्षिप्तमेव कलया पादानीतरयो भवेत् ॥
द्विकलं वा यथा भूतं यतद्ग्रासितमुच्यते।
उच्चाराद्विस्वरारूढा तथा चाष्टस्वरांतरम् ॥
यस्तु स्यादवरोही वा तारतो मन्द्रतोपि वा।
एकान्तरहिता ह्येते तमेव स्वरमन्ततः ॥
मक्षिप्रच्छेदनो नाम चतुष्कलगणः स्मृतः ॥

---

१. सं० र० अ० १, पृ० १६३

२. मतंग, पृ० ४४, १४३

भरत तथा मतंग आदि के अनुसार प्रेंखोलित वह अलंकार है, जिस में स्वरों की गतागतप्रवृत्ति होती है, चाहे वह दो स्वरों के बीच हो अथवा चार तथा पांच स्वरों के बीच हो। मतंग के शब्दों में—

गतागतप्रवृत्तो यः स प्रेंखोलितमुच्यते।
क्रमागतस्तु यस्ताश्चेत् ततः पंचतमोऽपि वा॥
(बृह० पृ० ४५, १४६)।

इस अलंकार की विशेषता इसी में है कि इसके अन्तर्गत स्वरों की गति प्रेंख अथवा झूले की भाँति प्रचलित रहती है, यथा—

सारिरिसा, रिगगरि, गममग, मपपम, इत्यादि[१]।

प्रस्तुत पुराण के अनुसार मक्षिप्रच्छेदन अलंकार अवरोही है तथा मन्द्र अथवा तार स्वर से आरम्भ होकर एकान्तर के क्रम से प्रचलित होता है। इस अलंकार के सम्बन्ध में एक ओर भरत तथा मतंग और दूसरी ओर संगीतरत्नाकर शारंगदेव के मध्य में मतभिन्नता लक्षित होती है[२]। वायुपुराणकार का विवरण इन दोनों पक्षों से नितान्त भिन्न लक्षित होता है।

गानगत अलंकारों का प्रयोजन चतुर्विध बतलाया गया है—

संस्थानं च प्रमाणं च विकारो लक्षणं तथा।
चतुर्विधमिदं ज्ञेयमलंकारप्रयोजनम्॥ ८७,२२॥

अर्थात् संस्थान, प्रमाण, विकार तथा लक्षण इन चार प्रयोजनों की सिद्धि अलंकारों के मूल में निहित है। इन चार विशिष्टताओं से गीतालङ्कार मण्डित हुआ करते हैं। संस्थान से अभिप्राय त्रिस्थानों में उनके सम्यक् सन्निवेश से है। विभिन्न अलङ्कारों का आरम्भ विभिन्न स्थानों में होना विहित है तथा उनकी गति विविध स्थानों में प्रचलित रहती है। अलङ्कारों का प्रयोग विशिष्ट प्रमाण अथवा अनुपात से होना आवश्यक है। जिस प्रकार आभरण यथा स्थान तथा यथा प्रमाण न होने पर शोभावृद्धि के स्थान पर शोभा हानि के हेतु बन जाते हैं, ठीक वही बात गीतालङ्कारों के सम्बन्ध में चरितार्थ होती है[३]। पादों में कुण्डलों का धारण तथा कण्ठ में रशना का धारण जैसा विपर्यस्त एवं हास्यास्पद है, वही बात अयथास्थान तथा अयथायोग्य अलङ्कारों के प्रयोग के सम्बन्ध में है। पुराणकार के शब्दों में—

---

१. सं० र० अ० १, पृ० १५८, १६३; बृह० पृ० ४७

२. द्र० नाट्यशास्त्र, २९, ६८; मतंग, ४६,१६२; संगीतरत्नाकर, अध्याय १, पृ० १५८।

३. तुलनार्थ द्र० नाट्यशास्त्र, २६,७४।

यथात्मनो ह्यलंकारो विपर्यस्तोतिगर्हितः ।
वर्णमेवाप्यलं कर्तुं विषमं ह्यात्मसंभवात् ॥ ८७,२३ ॥
नानाभरणसंयोगाद्यथा नार्या विभूषणम् ।
वर्णस्य चैवालंकारो विपर्यस्तोतिगर्हितः ॥ ८७,२४ ॥
न पादे कुण्डले दृष्टे न कण्ठे रसना तथा ।
एवमेव ह्यलंकारो विपर्यस्तो विगर्हितः ॥ ८७,२५ ॥
क्रियमाणोप्यलंकारो रागं यश्चैव दर्शयेत् ।

अलङ्कारों का प्रयोग गीत के पद तथा अर्थ के अनुकूल होना चाहिए, यह तथ्य ध्यान देने योग्य है। अलङ्कारों के प्रयोग से शब्द तथा अर्थ की हानि नहीं होनी चाहिए यही पुराणकार का अभिप्राय है। अलङ्कार चाहे राग की अभिव्यक्ति क्यों न करे, उसका विपर्यस्त प्रयोग विगर्हित होता है।

पुराण में बहिर्गीत का उल्लेख हुआ है, जो उनके अनुसार पंचदेवतात्मक है—'अनुगम्य बहिर्गीतं विज्ञातं पंचदैवतम्' ॥[1]

गीतों के अन्तर्गत मद्रक, अपरान्तिक तथा उत्तर नामक गीतों का विवरण स्वरों तथा कलाभावों के अनुसार किया गया है। मद्रक तथा अपरान्त गीतों में गान्धार स्वर की प्रधानता बतलाई गई है। इन गीतों के सम्बन्ध में निम्न विवरण पुराण में उपलब्ध है, जो भरतोक्त विवरण[2] से कथमपि संगति नहीं रखता—

गान्धारांशेन गीयन्ते चत्वारि मद्रकानि च ।
पंचमो मध्यमश्चैव धैवते तु निषादजैः ॥
षड्जर्षभैश्च जानीमो मद्रकेष्वेव नान्तरे ॥ ८७,२३ ॥
द्वे चापरान्तिके विद्याद्धयशुक्लाष्टकस्य तु ।
प्राकृते वैणवैश्चैव गान्धारांशे प्रयुज्यते ॥ ८७,३४ ॥
पादेनैकेन मात्रायां पादोनामतिवीरणा ।
संख्याया श्चोपहननं तत्र यागमिति स्मृतम् ॥ ८७,३९ ॥
द्वितीयं पादभंगं च ग्रहेणाभिप्रतिष्ठितम् ।

---

१. ८७, ३०; द्र० नाटचशास्त्र, अ० ५,११; ५,३९ तथा ४३-४४; ३२, ४२८; नाटचशास्त्र के अनुसार बहिर्गीत में केवल तन्त्रीभाण्ड का प्रयोग होता था तथा यह विधि पूर्वरङ्ग में यवनिका के पीछे से की जाती थी। गीत का प्रयोग कथमपि न होने के कारण इसका स्वरूप केवल विशुद्ध वाद्यवादन के सदृश रहता था।

२. इन गीतों के भरतोक्त विवरण के लिए द्र० इसी प्रबन्ध का अध्याय ९।

पूर्वमष्टतृतीये तु द्वितीयं चापरान्तिके ॥ ८७,४० ॥

'वृत्ति' नामक संगीत-शैली के सम्बन्ध में निम्न निर्देश इस पुराण में उपलब्ध होता है, जो नितान्त संदिग्ध है—

तिसृणां चैव वृत्तीनां वृत्तौ वृत्ता च दक्षिणा ।
अष्टौ तु समवायास्ते सौवीरी मूर्च्छना तथा ॥ ८७,४५ ॥

पुराण में उपलब्ध सङ्गीतविषयक सामग्री से स्पष्ट है कि ईसवी की प्रारम्भिक शताब्दियों तक सङ्गीत शास्त्र का पर्याप्त विकास हो चुका था । सङ्गीत शास्त्र के अन्तर्गत स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, तान, राग, वर्ण, अलङ्कार, गीत तथा वृत्तियों का विवेचन किया जाने लगा था । इस सम्बन्ध में नारद तथा भरत दोनों के ग्रन्थों का प्रभाव इस पुराण पर पड़ा हो, यह कथन आपत्तिजनक नहीं । सङ्गीत का प्रयोग आराधना तथा लौकिक कार्यों में किया जाता था । सङ्गीत के व्यवसाय के सम्बन्ध में पुराणगत मन्तव्य स्मृति-ग्रन्थों से स्पष्टतः प्रभावित दिखाई देते हैं । गान्धर्व का व्यवसाय शूद्रों के लिये योग्य माना जाता था तथा ऐसे व्यक्तियों को अपांक्त माना जाता था । सूत, मागध तथा चारणों का समावेश लौकिक कलाकारों में किया जाता था, जिनका कार्य केवल प्राकृतजन का स्तुतिगान करना था । साम तथा गाथादि गीतों का गान उच्चश्रेणीय सङ्गीत में अन्तर्भूत था । श्राद्ध-सम्बन्धी भोजन में जो ब्राह्मण निमंत्रण-योग्य माने जाते थे, उनमें छन्दोगान तथा ज्येष्ठसाम का गायन करने वाले विद्वज्जनों का प्रमुख स्थान था । गन्धर्वों की गणना दिव्य गायकों में थी । विश्वावसु, नारद तथा तुम्बरु को देवगन्धर्व के रूप में समादर प्राप्त हो चुका था । प्रस्तुत पुराण में जिन वाद्यों का उल्लेख हुआ है, वे निम्नानुसार हैं—मुखवाद्य, मर्दल, दुन्दुभि, घण्टा, झर्झर, शंख, पटह, भेरी, डिण्डिम, गोमुख तथा तुम्बवीणा ।

३. मार्कण्डेय पुराण में संगीत

सङ्गीत की साम तथा गान्धर्व उभय प्रणालियों के सम्बन्ध में मार्कण्डेय पुराण में महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है[1] । इस पुराण के आधार पर संगीत-विषयक समकालीन मान्यताओं को प्रस्तुत करने का प्रयास निम्न किया जा रहा है ।

---

१. विन्टरनित्ज़ के अनुसार यह पुराण प्राचीनतम पुराणों में से है । विल्सन के अनुसार यह पुराण नारदीय, भागवत तथा ब्रह्मपुराण से बहुत प्राचीन है तथा सामान्यतः ई० ९-१० में रखा जा सकता है । (द्र० पुराणाज़, विल्सनकृत, पृ० ५९) ।

पुराण के अनुसार प्रजापति के प्रथम मुख से त्रिवृत् साम, रथन्तर साम तथा अग्निष्टोम का सृजन हुआ। दक्षिण मुख से बृहत्साम तथा पंचदश स्तोमों का निर्माण हुआ तथा पश्चिम मुख से इनके अतिरिक्त अन्य सामों का उद्भव हुआ। समस्त विश्व की पोषणकर्त्री गौ का पृष्ठ ऋक् बताया गया है, मध्य भाग यजु बतलाया गया है तथा शीर्षभाग साम बतलाया गया है। साम के विविध अंगों का निर्माण प्रजापति की प्रेरणा से हुआ है ऐसी मान्यता इस पुराण में उपलब्ध है। पुराण के अनुसार इस वेदत्रयी का सम्बन्ध सृष्टि के त्रैगुण्य से है—

ऋचो रजोगुणाः सत्त्वं यजुषां च गुणा मुने।
तमोगुणानि सामानि तमःसत्त्वमथर्वसु॥ १०२,७॥

अर्थात् ऋग्वेद का सम्बन्ध रजोगुण से है, यजु का सत्वगुण से, साम तमोगुण से तथा अथर्व का सत्व एवं तम से बतलाया गया है। परमेष्ठी के पश्चिम मुख से साम तथा छन्दों का तथा अभिचारमन्त्रों से सम्बद्ध अथर्वण का आविर्भाव परमेष्ठी के उत्तर मुख से होने के सम्बन्ध में मान्यता इस में पाई जाती है[२]। परमेष्ठी का तेजःस्वरूप त्रिविध है—शान्तिक, पौष्टिक तथा आभिचारिक और इन्हीं का विस्तार क्रमशः ऋक्, यजु तथा साम में बतलाया गया है—

शान्तिकं पौष्टिकं चैव तथा चैवाभिचारिकम्।
ऋगादिषु लयं ब्रह्मन् त्रितयं त्रिष्वथागमत्॥ १०२,११॥

पुराण के अनुसार ऋक्, यजु तथा साम का सम्बन्ध क्रमशः पूर्वाह्न, मध्याह्न तथा अपराह्न से है—

प्रातर्मध्यन्दिने चैव तथा चैवापराह्निके।
त्रयी तपति सा काले ऋग्यजुःसामसंज्ञिता॥ १०२,१५॥
ऋचस्तपति पूर्वाह्णे मध्यह्ने च यजूंषि वै।
सामानि चापराह्णे वै तपन्ति मुनिसत्तम॥ १०२,१६॥

साम का प्रयोग जब अभिचार-मन्त्रों के साथ किया जाता है, तब उसका विधि-विधान सायाह्न में किया जाना चाहिये, ऐसी मान्यता निम्न श्लोक में पाई जाती है—

शान्तिकं ऋक्षु पूर्वाह्णे यजुष्वन्तरपौष्टिकम्।
विन्यस्तं साम्नि सायाह्ने आभिचारिकमन्ततः॥ १०२,१७॥

आभिचारिक कार्य मध्याह्न तथा अपराह्न दोनों समयों पर सम्पन्न हो सकता

२. १०२, ४–६।

है परन्तु पितृसम्बन्धी कार्यों का आयोजन सामगान के साथ अपराह्ण में ही सम्पन्न किया जा सकता है—

मध्यन्दिनेऽपराह्णे च समं चैवाभिचारिकम् ।
अपराह्णे पितृणां तु साम्ना कार्याणि तानि वै ॥ १०२,१८ ॥

सामवेद की ध्वनि अशुचि होने के सम्बन्ध में मान्यता निम्न शब्दों में व्यक्त हुई है—

विसृष्टौ ऋङ्मयो ब्रह्मा स्थितो विष्णुर्यजुर्मयः ।
रुद्रो साममयोऽन्ते च तस्मादस्याशुचिर्ध्वनिः ॥ १०२,१९ ॥

अर्थात् सृष्टि के उत्पादक ब्रह्मा ऋग्वेदस्वरूप हैं, स्थितिप्रवर्तक विष्णु यजुः-स्वरूप हैं तथा सृष्टिसंहारक रुद्र सामस्वरूप हैं; इसी कारण सामवेद की ध्वनि अशुचि अथवा अपावन है।

ध्यान देने योग्य बात है कि साम के सम्बन्ध में अशुचित्व की उपर्युक्त धारणा स्पष्टतः मनुस्मृति से प्रभावित जान पड़ती है[1]।

गान्धर्व का व्यवसाय शूद्रजनोचित होने के सम्बन्ध में स्मृतिकालीन मान्यता इस पुराण में भी पाई जाती है। गान्धर्वादि कलाओं का व्यवसाय शूद्रवर्ग के लिये विहित माना गया है। वर्णोचित सेवा-कर्म सम्यक्रूपेण करने से शूद्र गान्धर्वलोक को प्राप्त करता है इस मान्यता का प्रतिफलन प्रस्तुत पुराण में हुआ है।[2] योगी पुरुषों के द्वारा गन्धर्वनगर का स्वप्नदर्शन अशुभ होने के सम्बन्ध में लौकिक विश्वास निम्न श्लोक में उपलब्ध है—

दृष्ट्वा प्रेतपिशाचादीन् गन्धर्वनगराणि च ।
सुवर्णवर्णान्वृक्षांश्च नव मासान् स जीवति ॥ ४३, ५ ॥

गान्धर्व गन्धर्व तथा अप्सराओं का व्यवसाय रहा है। ये जातियाँ सदैव से संगीतकला कुशल रही हैं। प्रस्तुत पुराण में इनका अन्तर्भाव सनातन सृष्टि में तथा अर्धदैवत विभूतियों में किया गया है (९०, २६-२७)। भारतवर्ष के नवविभागों में एक गान्धर्व अथवा गन्धर्व-सम्बन्धी बताया गया है। गान्धर्व के मान्य आचार्यों में हाहा, हूहू, नारद तथा तुम्बरु का उल्लेख है। विन्ध्याचल पर स्थित जनपदों में वैदिश तथा कोशल आदि देशों के साथ तुम्बुरू तथा तुम्बुल नामक जनपदों का निर्देश प्राप्त है तथापि इनका तुम्बरु गन्धर्व से सम्बन्ध

१. विशेष विवरण के लिये द्र० इसी प्रबन्ध में अ० ६, शीर्षक 'स्मृति-ग्रन्थों में सङ्गीत।'

२. तुलनार्थ द्र० वायुपुराण, ८,१७५।

प्रमाणाभाव से स्थापित नहीं किया जा सकता।[1] गान्धर्व के आचार्यों में नारद तथा तुम्बरु के अतिरिक्त कम्बल तथा अश्वतर का उल्लेख इस पुराण में प्राप्त होता है।[2] सरस्वती की आराधना से गान्धर्व का ज्ञान इन्होंने प्राप्त कर लिया था। सरस्वती साहित्य तथा संगीत की अधिष्ठात्री होने के सम्बन्ध में सर्वप्रथम उल्लेख इसी पुराण में उपलब्ध है।[3]

दिव्य नर्तिकाओं में विश्वाची, घृताची, उर्वशी, तिलोत्तमा, मेनका, सहजन्या तथा रम्भा का नाम निर्देश है, जो विविध अभिनयों के साथ नृत्य करने में दक्ष थीं।[4]

गान्धर्व का शास्त्रीय विवरण मार्कण्डेय पुराण में उपलब्ध है। गान्धर्व के अन्तर्गत तीन ग्राम, मूर्च्छना तथा ताल आदि अङ्गों का अन्तर्भाव निर्दिष्ट है—

षड्जमध्यमगान्धारग्रामत्रयविशारदाः।
मूर्च्छनाभिश्च तालैश्च सप्रयोगैः सुखप्रदम्॥ (१०६,५८)

कम्बल तथा अश्वतर की संगीताराधना के प्रसंग में गान्धर्व के अन्तर्गत आने वाले विषयों का सविस्तर संकेत निम्न रीति से हुआ है—

सप्त स्वरा ग्रामरागाः सप्त पन्नगसत्तम।
गीतकानि च सप्तैव तावतीश्चापि मूर्च्छनाः॥ (२३,५१)
तालाश्चैकोनपञ्चाशत्तथा ग्रामत्रयं च यत्।
एतत्सर्वं भवान् गाता कम्बलश्च तथानघ॥ (२३,५२)
ज्ञास्यसे मत्प्रसादेन भुजगेन्द्रापरं तथा।
चतुर्विधं पदं तालं त्रिःप्रकारं लयत्रयम्॥ (२३,५३)
यतित्रयं तथातोद्यं मया दत्तं चतुर्विधम्।

---

१. तुम्बुर तथा तुम्बुल नामक प्रदेशों का उल्लेख वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराण में हुआ। विशेष विवरण के लिये द्र० बापट कृत 'वैदिक संगीत', पृ० ४१–४२।

२. मध्यकालीन ग्रन्थ संगीतरत्नाकर के आरम्भ में विशाखिल तथा दत्तिल आदि के साथ कम्बल तथा अश्वतर का नामोल्लेख प्राचीन संगीताचार्यों के रूप में में किया गया है—"विशाखिलो दत्तिलश्च कम्बलोऽश्वतरस्तथा।......अन्ये च बहवः पूर्वे ये संगीतविशारदाः" ॥ अ० १ ॥

कम्बल तथा अश्वतर की कथा दामोदर के संगीतदर्पण में निम्न शब्दों में उल्लिखित है—"नादविद्यां परां लब्ध्वा सरस्वत्याः प्रसादतः। कम्बलाश्वतरौ नागौ शम्भोः कुण्डलतां गतौ" ॥

३. २३, ५०।

४. १०६, ५९–६०।

इसके अनुसार (गान्धर्व के अन्तर्गत सप्त स्वर, सप्त ग्रामराग, सप्त गीतक, सप्त मूर्च्छना, एकोनपंचाशत् तानें, तीन ग्राम, चतुर्विध पद, त्रिविध ताल, त्रिविध लय, त्रिविध यति तथा चतुर्विध आतोद्य का अन्तर्भाव है)। गान्धर्व के अन्तर्गत पद, ताल तथा स्वर तीनों का समावेश होने के सम्बन्ध में संकेत इस पुराण में है।[1] ग्रामरागों के अतिरिक्त जातिगान का संकेत निम्न स्थान पर हुआ है—

गान्धारीति च विज्ञेया गान्धारस्वरसंश्रया ॥ ४२,५ ॥

गान्धर्व में पदपक्ष अथवा साहित्यिक पक्ष का स्थान महत्वपूर्ण होने के सम्बन्ध में निम्न उक्ति उपादेय है—

अस्यान्तर्गतमायत्तं स्वरव्यंजनसम्मितम् ।
तदशेषं मया दत्तं भवतः कम्बलस्य च ॥ २३,५५ ॥

गान्धर्व के अन्तर्गत सप्त गीतकों का सम्बन्ध मुख्यतः पद-रचना से है। तन्त्री-लय से सम्बन्धित इन्हीं सप्त गीतों के द्वारा कम्बल तथा अश्वतर नामक नागकुलीन भ्राताओं ने महेश्वर को प्रसन्न कर लिया था यह कथा इस पुराण में सविस्तर उल्लिखित है—

ततः कैलासशैलेन्द्रशिखरस्थितमीश्वरम् ।
गीतकैः सप्तभिर्नागौ तन्त्रीलयसमन्वितौ ॥ २३,५९ ॥
तुतोष गीतकैस्तौ च प्राहेशो गृह्यतां वरः ।

नृत्यकला के लिये अंगसौष्ठव की नितान्त आवश्यकता होने के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण वक्तव्य इस पुराण में पाया जाता है। इन्द्र के द्वारा यह पूछे जाने पर उपस्थित सभी नर्तकियों के मध्य में किसका नृत्य आपको अभीष्ट है, नारद कहते हैं—

युष्माकमिह सर्वासां रूपौदार्यगुणाधिकम् ।
आत्मानं मन्यते या तु सा नृत्यतु ममाग्रतः ॥ १,२५ ॥
गुणरूपविहीनायाः सिद्धिर्नाट्यस्य नास्ति वै ।
चार्वधिष्ठानवन्नृत्यं नृत्यमन्यद्विडम्बनम् ॥ १,२६ ॥

अर्थात् नृत्यकला के लिये रूप तथा गुण दोनों को समान आवश्यकता मानी गई है। जो नृत्यकलाकार इन गुणों से विहीन है, नाट्य अथवा नृत्य में सिद्धहस्त नहीं हो सकता। नृत्य के लिये न्यूनतम तथा प्राथमिक आवश्यकता अंगसौष्ठव है। ऐसे चारु अधिष्ठान से सम्पन्न नर्तक का नृत्य ही यथार्थतः नृत्य है; अंगसौष्ठव से विरहित नृत्य केवल नृत्यकला की विडम्बना है।

---

१. २३,५८।

गान्धर्व की संगति में प्रयुक्त किये जाने वाले वाद्यों के सम्बन्ध में परिचय निम्न श्लोकों में प्राप्त होता है—

प्रावाद्यन्त ततस्तत्र वेणुवीणादिदर्दुराः ।
पणवाः पुष्कराश्चैव मृदंगाः पटहानकाः ॥ १०६,६१ ॥
देवदुन्दुभयः शंखाः शतशोऽथ सहस्रशः ।
गायद्भिश्चैव गन्धर्वैर्नृत्यद्भिश्चाप्सरोगणैः ॥ १०६,६२ ॥
तूर्यवादित्रघोषैश्च सर्वं कोलाहलीकृतम् ।
जगुः केचित्तथैवान्ये मृदंगपटहानकान् ।
अवादयन्त चैवान्ये वेणुवीणादिकांस्तथा ॥ १२८,२४ ॥

वीणा, वेणु, दर्दुर, पणव, पुष्कर, मृदंग, पटह, आनक, दुन्दुभि तथा नानाविध शंखों का वादन गन्धर्व तथा अप्सराओं के गान-नृत्य के साथ किया जाता था (२३,९८–९९)। युद्ध के अवसर पर वीरों के उत्साहवर्धन के हेतु पटह, मृदंग, शंख तथा घण्टा का प्रयोग किया जाता था (८२,५३–५५)। इन वाद्यों की धीरगम्भीर ध्वनि वीर पुरुषों को युद्ध के लिये प्रोत्साहित करती थी। जन्म, विवाह आदि समारोहों के अवसर पर जिस संगीतानुष्ठान का आयोजन होता था, उसमें विलासिनियों के लास्य नृत्य का योगदान अवश्यमेव रहता था। पाताल में नागराजों के भवन में होने वाले संगीतायोजन में गीत की संगति में वीणा, वेणु, मृदंग तथा पणव वाद्यों का वादन किये जाने का उल्लेख यहां प्राप्त है (२३,९८–९९)। किन्नरों के गीतों के साथ वीणा तथा वेणु से संगत की जाने का उल्लेख है—

वीणावेणुस्वनं गीतं किन्नराणां मनोहरम् । ६१,५७ ।

गीतवाद्य तथा अन्य राजसी विलास-सामग्री[1] पुण्य के परिणाम-स्वरूप पाई जा सकती है, ऐसी मान्यता निम्न श्लोक में व्यक्त हुई है—

एते च विविधाः कामा गीतवाद्यादिकं च यत् ।
सर्वमेतन्मम मतं फलं पुण्यवनस्पतेः ॥ २४,२१ ॥

अभिप्राय यह है कि गान्धर्व का रसास्वादन करने का भाग्य पुण्यवन्तों को लब्ध होता है। पुण्यवान् व्यक्ति जिस पुण्यगति को प्राप्त करते हैं, वहाँ गन्धर्वों का गान तथा अप्सराओं का नृत्य इनके लिये सुलभ माना गया है[2]। लक्ष्मी की

---

१. गीत तथा वाद्य का नारी तथा सुरा से सम्बन्ध पुराण के निम्न श्लोक में पाया जाता है, जो इस कला की राजसी प्रकृति का संकेत करता है—

गीतवाद्यादिवनिताभोगसंसर्गदूषितम् ॥ १७,२३ ॥

२. १०,९२ ।

अष्ट निधियों में मुकुन्द नामक रजोगुणमय निधि निर्दिष्ट है, जिस में, वीणा, वेणु, मृदंग आदि वाद्यों का संगीत सम्मिलित है। इसी निधि के कारण गायक, नर्तक, बन्दि, सूत तथा लास्य-पाठक को द्रव्यलाभ होता है, ऐसा प्रतिपादन पुराण में हुआ है[1]। वीणा का अन्तर्भाव मंगल वाद्यों में है। जिस गृह में वीणा-वादन होता है, उस में यक्षादि क्षुद्र जातियों का प्रवेश सम्भाव्य नहीं[2]। यही वीणा गन्धर्व तथा किन्नरों के लिए अत्यन्त प्रिय वाद्य रहा है।

निष्कर्ष के रूप में संगीतसम्बन्धी निम्न तथ्यों का संकलन इस पुराण के आधार पर किया जा सकता है। साम तथा गान्धर्व दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व इस पुराण में व्यक्त हुआ है। साम का गायन वैदिक परम्परा से सम्बद्ध होते हुए श्राद्धादि पितृकार्यों पर किये जाने के कारण तमोगुणसम्पन्न बतलाया गया है। इसी कारण साम की ध्वनि को अशुचि माना गया हो, तो आश्चर्य की बात नहीं। श्राद्धकल्प के अन्तर्गत ब्रह्मवादियों के द्वारा पितृगाथाओं तथा वीर पुरुषों की गाथाओं को गाने की प्रणालि उस समय विद्यमान थी[3]। गान्धर्व का सम्बन्ध प्रायः लौकिक प्रसंगों पर आयोजित गीत-वाद्य-नृत्य से रहा है। गान्धर्व के अन्तर्गत जाति तथा राग दोनों का प्रचलन इस पुराण से प्रमाणित होता है। वाद्यों के अन्तर्गत वीणा तथा वेणु का प्रमुख स्थान है और इनका वादन लौकिक तथा पारमार्थिक दोनों कार्यों के लिये होता रहा है। ग्राम, मूर्च्छना, तान आदि के साथ मुद्रक, उल्लोप्यक आदि सप्त गीतों का विकास इस समय हो चुका था। इन गीतों के गायन में स्वर, पद तथा लय तीनों का तुल्य महत्व माना जाता था। लौकिक समारोहों पर गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों का सम्मिलित प्रयोग किया जाता था। नृत्य के लिये शरीरसौष्ठव मूलभूत आवश्यकता मानी जाती थी। रूप-सम्पद् तथा गुण-वैभव से युक्त नृत्य ही यथार्थतः नृत्य कहलाता है, तदतिरिक्त नृत्य केवल अंगसंचालनमात्र होते हुए नृत्यकला की श्रेष्ठ उपाधि पाने का अधिकारी नहीं, ऐसी मान्यता तत्कालीन संगीतज्ञों में प्रचलित थी।

तन्त्र तथा आगमसाहित्य में संगीतधारा

भारतीय संस्कृति के दीर्घकालीन इतिहास में धर्म की द्विविध धारा का प्रचलन प्राचीन काल से रहा है—१ वैदिक तथा २ तान्त्रिक[4]। प्रथम के लिये

---

१. ६८, २५-२६।

२ ५०, ८२।

३. ४४, ३२; ७३, ८।

४. हारित मुनि के अनुसार श्रुति द्विविध है—अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः।

निगम अभिधान है तथा दूसरी के लिये आगम संज्ञा है। प्रथम का आधार महर्षियों के चिन्तन पर आधारित वेद तथा उपनिषद् आदि ग्रन्थ माने जाते हैं तथा द्वितीय की आधारशिला लौकिक मान्यताओं पर आधारित शिवसूत्र, शक्तिसूत्र तथा तान्त्रिक पुराण आदि ग्रन्थ हैं। जैसा हमने प्रागैतिहासिक संगीत में देखा है, शिव तथा शक्ति की परम्परा का उद्गम भारत की प्राचीन सिन्धु सभ्यता से सम्बद्ध बताया जाता है। वायुपुराण के अन्तर्गत जिस पाशुपत योग का वर्णन है, वह निःसन्देह इसी परम्परा का अभिन्न अङ्ग है।[1] मार्कण्डेय पुराण में उपलब्ध देवीभागवत इसी आगमसम्प्रदाय का वाहक माना जा सकता है। ई० ५वीं तक विकास प्राप्त आगम-परम्परा में उपलब्ध संगीतधारा का अनुशीलन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।[2]

तान्त्रिक सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि का निर्माण शिव तथा शक्ति के संयोग का परिणाम है। दोनों का संयोग ही नाद का मूल कारण बताया गया है।[3] शंकराचार्य के शब्दों में—

सदाशिवोक्तानि सपादलक्षलयावधानानि वसन्ति लोके।
नादानुसन्धानसमाधिमेकं मन्यामहे मान्यतमं लयानाम् ॥
योगतारावली ॥[4]

योग तथा आगम ग्रन्थों में नाद तथा लय दोनों का सर्वाधिक महत्व है।

श्रुतिप्रमाणको धर्मः। श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च ॥ (द्र० हारितसूत्र, उद्धृत कल्याण पत्रिका, शिवांक, पृ० १२५ पर)

१. द्र० वी० आर्० रामचन्द्र दीक्षितार का लेख, शीर्षक, 'शिवमत की प्राचीनता', कल्याण, शक्ति विशेषांक, पृ० १६८।

२. तन्त्रग्रन्थ प्रामुख्य से ६४ माने गये है, जिनमें यामलाष्टक, वीणातन्त्र तथा उड्डीशमहोदय गान्धर्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण माने जाते हैं। श्री० रामकृष्ण कवि के अनुसार गान्धर्ववेद का सविस्तर विवरण इनमें उपलब्ध है (द्र० 'क्वार्टरली जरनल आफ आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी', खण्ड ३, जुलाई, १९२८, पृ० २६–२७; तथा द्र० कृष्णमाचार्य कृत 'हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर', पृ० ७८ तथा ८४०–४२)। इन तन्त्रग्रन्थों के अभाव में इनका साक्षात् विवरण प्रस्तुत लेखक के लिये सम्भव नहीं हो सका है।

३ सच्चिदानन्दविभवात्सकलात्परमेश्वरात्। आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्बिन्दुसमुद्भवः ॥ शारदातिलक, १,७ (तुलनार्थ द्र० मतंगकृत बृहद्देशी, पृ० १-२, श्लो० ४–१०)

४. उद्धृत, कल्याण, शिवांक, पृ० २८१ पर।

योगशास्त्र में लय-योग का वही स्थान है, जो हठयोग, मन्त्रयोग तथा राजयोग का है। शैवागम के अनुसार नाद की तीन अवस्थायें हैं—१ नाद, २ अनाहत नाद तथा ३ आहत नाद। नाद अथवा महानाद का उद्भव शक्ति से बतलाया गया है, इसी नाद से बिन्दुनाद का आविर्भाव होता है जो अनाहत नाद के रूप में समस्त गगन में व्याप्त रहता है। इसी का गद्यपद्यादि वाङ्मय आदि में व्यक्त वर्णमूलक रूप 'आहत' कहलाता है। नादानुसन्धान लयसिद्धि के लिये परम साधक माना गया है। वीणा तथा वंशी के नाद को लय का परम उत्पादक माना जाता है। लय का अर्थ है ध्येय वस्तु से सम्पूर्ण एकतानता, जो नाद के माध्यम से सहजसाध्य मानी जाती है। संगीत के द्वारा आराध्य की उपासना तन्त्रागमों की साधना का अंग है। उपासना के इस अंग के सम्बन्ध में विष्णुधर्मोत्तर पुराण[1] (प्रायः ई० ५–६) का निम्न वचन उल्लेखार्ह है—

> नृत्तेनाराधयिष्यन्ति भक्तिमन्तस्तु मां शुभे।
> त्रैलोक्यस्यानुकरणं नृत्ते देवि प्रतिष्ठितम्॥ ३४,१७॥

देवताराधना में प्रयुक्त संगीत परम अर्थ का साधक बतलाया गया है—

> देवताराधनं कुर्याद्यस्तु नृत्तेन धर्मवित्।
> स सर्वकामानाप्नोति मोक्षोपायं च विन्दति॥
> धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्गलोकप्रदं तथा।
> ईश्वराणां विलासं तु चार्तानां दुःखनाशनम्॥

इस पुराण के अनुसार ललितकला का लक्ष्य ही कुत्सा अथवा प्रशंसा का हेतु बन जाता है। आध्यात्मिक साधना के रूप में प्रयुक्त संगीत जैसा मोक्षकारक है, वैसा ही लौकिक व्यवसाय के रूप में प्रयुक्त संगीत बन्धनकारक बन जाता है, अतएव वह कुत्सित एवं त्याज्य है (द्र० श्लो० २८)। नाट्यशास्त्र के अनुसार स्नान, जप आदि साधनों की अपेक्षा संगीत परमार्थ-प्राप्ति के लिये अधिक सहायक है—

> श्रुतं मया देवदेवात् ततश्च शंकरोदितम्।
> स्नानजप्यसहस्रेभ्यः श्रेष्ठं मे गीतवादितम्॥ ३६,२५॥

आगमों की यही परम्परा शिव तथा शक्ति की उपासना-प्रणालि में प्रस्फुटित

---

१. कालिकापुराण (ई० ११–१२) के अनुसार विष्णुधर्मोत्तर पुराण तन्त्र-ग्रन्थ है—विष्णुधर्मोत्तरे तन्त्रे बाहुल्यं सर्वतः पुनः। द्रष्टव्यस्तु सदाचारो द्रष्टव्यास्ते प्रसादतः। (९०, २) द्र० काणे, 'हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स', पृ० ७०।

हो उठी है।[१] भगवान शिव स्वयं संगीताचार्य नटराज हैं तथा भारतीय नृत्यकला के प्रतिमान हैं।[२] उनका अर्धनारीनटेश्वर का स्वरूप प्राचीन भारतीय कला तथा साहित्य में बहुशः मुखर हो उठा है। कालिदास की निम्न पंक्ति में भगवान शिव के द्वारा प्रवर्तित ताण्डव तथा लास्य उभय नृत्य प्रकारों का संकेत हुआ है—

रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वांगे विभक्तं द्विधा। (मालविका० अं० १)

नाट्यशास्त्र के साक्ष्य से स्पष्ट हैं कि नाट्य के अन्तर्गत नृत्य का प्रयोग शैव परम्परा की देन है (१,४५)। इस सम्बन्ध में निम्न आख्यायिका नाट्यशास्त्र में उपलब्ध है—देवताओं ने ब्रह्मा के निर्देशन में त्रिपुरदाह नामक डिम प्रयोग का निर्माण किया और उसका अभिनय महादेव के समक्ष प्रस्तुत किया। देवताओं के अभिनयकौशल से प्रसन्न होकर उसमें नृत्य को जोड़ने का सुझाव भगवान् महादेव ने दिया—

मयापीदं स्मृतं नृत्तं सन्ध्याकालेषु नृत्यता।
नानाकरणसंयुक्तैरंगहारैर्विभूषितम् ॥ ४,१३ ॥
पूर्वरंगविधावस्मिन् त्वया सम्यक् प्रयुज्यताम्।

ताण्डव नृत्य का प्रवर्तन भगवान शिव के द्वारा हुआ है तथा इस नृत्यशैली के प्रथम प्रयोक्ता तण्डु है—

सृष्ट्वा भगवता दत्तस्ताण्डिने मुनये तथा।
ताण्डिनाऽपि ततः सम्यग्गानभाण्डसमन्वितः ॥ ४,२५७ ॥
नृत्यप्रयोगः सृष्टो यः स ताण्डव इति स्मृतः।

नन्दिकेश्वर के अनुसार वाङ्मयीन वर्णों की अभिव्यक्ति संगीतमूलक है। पाणिनि के माहेश्वर सूत्रों पर विरचित काशिका में उनकी यह मान्यता मुखर हो उठी है—

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपंचवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥

उनकी सम्मति में साहित्य तथा संगीत दोनों का स्रोत भगवान् शिव हैं।

---

१. भगवान शिव की प्रदोषकालीन उपासना में प्रयुक्त संगीतसम्बन्धी उपकरणों का वर्णन प्रदोषस्तोत्र के निम्न श्लोक में द्रष्टव्य है—

वाग्देवी धृतवल्लकी शतमखो वेणुं दधत्पंकजं
तालोन्निद्रकरी रमा भगवती गेयप्रयोगान्विता।
विष्णुः सांद्रमृदंगवादनपटुर्देवाः समन्तात्स्थिताः
सेवन्ते तमनु प्रदोषसमये देवं मृडानीपतिम् ॥

२. द्र० प्रबंध के अन्त में आ० ५ अ।

ताण्डवनृत्य के अन्त में नटराज शिव ने अपना ढक्का चौदह बार निनादित किया, जिससे चौदह माहेश्वर सूत्रों की उत्पत्ति हुई। नन्दिकेश्वर की अन्य कृति रुद्र-डमरूद्भवविवरण में इसी कल्पना का विकास पाया जाता है।[1] स्वयं पाणिनीय शिक्षा में वर्णसंख्या के सम्बन्ध में शम्भुमत का निर्देश हुआ है, जो साहित्य में प्रवर्तमान शैव परम्परा का संकेत करता है। मतंग की संगीतकृति बृहद्देशी (प्रायः सातवीं शताब्दि) पर शैवागम का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है—

> यथानुभूतदेशाच्च ध्वनेः स्थानानुगादपि ।
> ततो बिन्दुस्ततो नादस्ततो मात्रास्त्वनुक्रमात् ॥ ४ ॥
> व्यंजनत्वं तु सर्वेषां कादिवर्गेषु संस्थितम् ।
> शक्त्यभिव्यक्तिमात्रेण व्यंजनं शिवतां गतम् ॥ ७ ॥

मतंग के अनुसार मूल ध्वनि से वर्ण तथा पद का संयोग होने पर क्रमशः गान्धर्व का उद्भव होता है—

> वर्णपूर्वकमेतद्धि पदं ज्ञेयं सदा बुधैः ।
> पदैस्तु निर्मितं वाक्यं क्रियाकारकसंयुतम् ॥ ९ ॥
> ततो वाक्यान्महावाक्यं वेदाः सांगाः ह्यनुक्रमात् ।
> व्यक्तास्ते ध्वनितः सर्वे ततो गान्धर्वसम्भवः ॥ १० ॥

मतंग के अनुसार गान्धर्व का उद्भव परम्परा के अनुकूल महादेव के मुख से हुआ है—

> एवं स्वरान् विजानीयादुत्पन्नान् गीतसागरे ।
> महादेवमुखोद्भूतान् देशीमार्गे च संस्थितान् ॥ ८८, पृ० २० ॥

मतंग में आगमग्रन्थों के अनुसार स्वरों के स्थान तथा बीज का विवरण निम्नानुसार हुआ है—

> वर्गाष्टकं तु संप्राप्य अकारादियशान्तकम् ।
> वर्णामात्रसमायुक्तमुद्धरेत्स्वरसप्तकम् ॥ ६६, पृ० १८ ॥
> अष्टमस्य तृतीयं तु हरिबीजसमन्वितम् ।
> आद्यं स्वरं स्वरज्ञस्तु उद्धरेत् तु प्रयत्नतः ॥ ६७ ॥
> सप्तमस्य द्वितीयं तु कामबीजसमन्वितम् ।
> द्वितीयं तु स्वरं विद्धि ब्रह्मस्थानसमुद्भवम् ॥ ६८ ॥
> द्वितीयस्यापि वर्गस्य तृतीयं विष्णुसंयुतम् ।
> उद्धरेच्च स्वरं नित्यं स्वरभेदमनोहरम् ॥ ६९ ॥

---

१. द्र० जर्नल आफ म्यूजिक एकाडेमी, मद्रास में एला डेनियूला का एतद्-विषयक लेख, खण्ड २२, पृ० ११९-१२८।

षष्ठस्यापि हि वर्गस्य अन्तिमश्चादिसंयुतम् ।
अविनष्टं विजानीयान्मध्यमं स्वरसत्तमम् ॥ ७० ॥
अकारान्तान्तसंभिन्नं पंचमान्तं समुद्धरेत् ।
ब्रह्मस्थानसमुद्भूतं सुतारध्वनिसंयुतम् ॥ ७१ ॥
आगमस्थं स्वरोद्धारमिति तावत् प्रदर्शितम् ।

शिवपुराण, स्कन्दपुराण तथा पद्मपुराण में शैवागम का प्रभूत विवरण प्राप्त होता है तथा शैव परम्परा के अन्तर्गत सङ्गीत के महत्वपूर्ण स्थान का विवेचन पाया जाता है। इन पुराणों में शिवाराधना के लिये सङ्गीतनिपुण सुन्दरियों की नियुक्ति का आदेश है। ई० ११-१२ के कालिका पुराण में उपासना के विभिन्न अवसरों पर प्रयोज्यमान संगीत के प्रचुर उल्लेख प्राप्त होते हैं। इस तन्त्रात्मक उपपुराण में १०८ हस्त-मुद्राओं का उल्लेख पाया जाता है। ये मुद्राएँ नृत्य में प्रयुक्त हस्ताभिनय के प्रकारों से पर्याप्त साहश्य रखती हैं, यह तथ्य सन्देहातीत है।

शिव उपासना में सङ्गीत-तत्व के गौरव से महाकवि कालिदास परिचित हैं। शिव के प्रबोधनकाल पर किन्नरों के द्वारा गाये जाने वाले कैशिक राग का उल्लेख कुमारसम्भव में पाया जाता है (द्र० सर्ग ८)। मेघदूत में महाकालेश्वर की उपासना के समय सङ्गीताराधना का उल्लेख कालिदास करते हैं (पूर्वमेघ, ३४)। उपासना के अवसर पर देवदासियों के नियुक्त किये जाने की परम्परा मेघदूत की निम्न पंक्ति में अभिव्यक्त हो उठी है--

पादन्यासक्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै-
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः ॥ पूर्वमेघ० ३७ ॥

शैव वाङ्मय में शिव को तथा शक्ति को क्रमशः ताण्डव तथा लास्य का प्रवर्तक माना गया है।[1] दक्षिण के चिदम्बरम् मन्दिर में शिव तथा शक्ति के युगल नृत्य का चित्र उपलब्ध है। परम्परा के अनुसार यह युगल नृत्य परस्पर स्पर्धा के रूप में किया गया था तथा इसी स्पर्धा के आवेश से अभिभूत होकर नटराज ने ऊर्ध्वताण्डव नामक अभिनव करण का आविर्भाव किया था।[2]

प्राचीन तामिल साहित्य में नृत्यकला के प्रवर्तक आचार्य के रूप में नटराज शिव का गौरवगान हुआ है। कोहल पुराणम्, चिदम्बर पुराणम्, पेरिया पुराणम्, तिरुमन्तरम्, उन्मई विलक्कम् आदि प्राचीन तथा मध्यकालीन शैव पुराणों में शिव-नृत्यों के शाश्वत संकेतों का सूक्ष्म विवरण उपलब्ध है। सिलप्पदिकारम् जैसे प्राचीन तामिल ग्रन्थ में शिव तथा शक्ति के अतिरिक्त शिवपुत्र कार्तिकेय

१. इसी प्रबन्ध के अन्त में आ० ५ आ०।
२ प्रबन्ध के अन्त में आ० ५४।

अथवा सुब्रह्मण्य के विशिष्ट नृत्यों का उल्लेख पाया जाता है। इससे प्राचीन तोलपियम नामक ग्रन्थ में सुब्रह्मणय तथा उनकी वह्लि नामक पत्नी के प्रीत्यर्थ विविध नृत्य प्रकारों का विधान है।[1] सिलप्प दिकारम्, कलिटोगइ तथा कुरुंटोगइ आदि प्राचीन तामिल ग्रन्थों में शिव के कुछ विशिष्ट नृत्यों का उल्लेख पाया जाता है, यथा—कुडुकोट्टि, पाण्डरंगम् तथा कपालि। त्रिपुर-दाह के अनन्तर किया गया नृत्य कुडुकोट्टि के नाम से ख्यात है; संग्राम-भूमि पर किया गया नृत्य पण्डरंगम् कहलाता है तथा ब्रह्मदेव के कपाल को लेकर जो नृत्य किया गया था, वह कपालि नाम से अभिहित किया जाता है। दक्षिण के संगीतज्ञों के मत से तामिल प्रदेश में नृत्यकला का प्रसार मुनि अगस्त्य के द्वारा हुआ है। परम्परा अगस्त्य को मूलतः उत्तरात्य प्रदेश का मानती है। इस परम्परा के बल पर यह मानने में आपत्ति नहीं कि नृत्यकला की दृष्टि से उत्तर तथा दक्षिण के मध्य में बहुत प्राचीनकाल से आदान-प्रदान आरम्भ हो चुका था।

प्राचीन तामिल साहित्य में संगीत

प्राचीन भारत में प्रचलित संगीत के अध्ययनार्थ संस्कृत साहित्य के साथ ही तामिल साहित्य का अनुशीलन नितान्त उपादेय है। दक्षिण भारतीय संस्कृति में तामिल भाषा तथा वाङ्मय को प्राचीनता का गौरव प्राप्त है। दक्षिण भारत में प्रचलित प्राचीन सांस्कृतिक धारा का सम्यक् दर्शन जैसा इस वाङ्मय में उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र नहीं। ई० २ के सिलप्पदीकारम् तथा अन्य तामिल ग्रन्थों में संगीतविषयक निम्न प्राचीन कृतियों का उल्लेख मिलता है—अगस्त्य, इन्द्रकाकलीय, पंचभारतीय[2], भारतसेनापतीय, भारत इत्यादि। उपलब्ध ग्रन्थों में सिलप्पदीकारम्, तिवाकरम् तथा परिपादल आदि ग्रन्थों में संगीतविषयक सामग्री प्रचुर मात्रा में पाई जाती है।[3] इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर दक्षिण भारत की प्राचीन संगीतप्रणालि पर प्रकाश डालने का प्रयत्न निम्न प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

१. इन नृत्यों के नाम वेलनवेरियटल तथा वह्लिबुध्रु इत्यादि है।

२. पंचभारतीय शब्द विद्वज्जनों के लिये चर्चा का विषय बना हुआ है। रामकृष्ण कवि के अनुसार यह संज्ञा 'पांच भरतों' के लिये है। ये पाँच भरत इस प्रकार हैं—आदि भरत, नाटयशास्त्रकार भरत, दत्तिल भरत, कोहल भरत तथा याष्टिक भरत। डा० राघवन के अनुसार पंचभारतीय से अभिप्राय पाँच भरतों से न होते हुए उस नाम के ग्रन्थ से है तथा इनको भरत से जोड़ना केवल तर्कमात्र ही कहा जा सकता है (द० 'जर्नल आफ म्यूजिक एकाडेमी', मद्रास)।

३. द्र० पोपलेकृत 'म्यूज़िक आफ इन्डिया'।

सिलप्पदीकारम्[१] :—

(सिलप्पदीकारम् नामक प्राचीन तामिल नाटक में तामिल देश के प्राचीन संगीत का विवरण उपलब्ध है। नाटक की कथावस्तु कोवल नामक श्रीमान् वणिक् तथा नर्तकी माधवी के प्रणय-सम्बन्ध पर आधारित है। नाटक का महत्व प्रमुखतः इसी में है कि वह समस्त भारत में प्रवर्तमान एक ही संगीत-शैली का दिग्दर्शन करता है।)

तामिल साहित्य में सङ्गीत के लिये 'इसइ' संज्ञा का प्रयोग होता रहा है। इसइ के अन्तर्गत गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों का समावेश है। टीकाकार के अनुसार इन तीनों का वैसा ही अभिन्न सम्बन्ध है, जैसा आकाश में उड़ाई जाने वाली पतंग और उसकी प्रतिच्छाया का[२]। नाट्यशास्त्रकार भरत की भांति एक सप्तक में २२ ध्वनि तथा षड्ज-पंचम एवं षड्ज-मध्यम भाव का निर्देश ग्रन्थकार ने किया है। सूक्ष्मतम ध्वनि अर्थात् श्रुति के लिये 'अलकू' संज्ञा है। संस्कृत के वादी, संवादी, अनुवादी तथा विवादी स्वरों के लिये तामिल में क्रमशः 'इनइ', 'किलइ', 'नटपु' तथा 'पगइ' संज्ञाएं पाई जाती हैं। मूर्च्छना के आरम्भिक स्वर के लिये 'कुरल' संज्ञा है। अलकू के विभिन्न अन्तरों से चतुर्विध मूर्च्छनाओं का निर्माण निर्दिष्ट है, जो 'याल' कहलाते हैं। इन चार यालों का नामकरण तथा श्रुति विभाजन निम्नांकित है—

१ मरुथ याल—४, ४, ३, २, ४, ३, २।
२ कुरिंजी याल—२, ४, ३, २, ४, ४, ३।
३ नेयथल याल—४, ३, २, ४, ४, ३, २।
४ पालइ याल—३, २, ४, ३, २, ४, ४।

इन यालों अथवा मूर्च्छनाओं से प्रत्येकशः चार 'पन' अर्थात् मूलभूत रागों की उत्पत्ति बतलाई गई है। इन मूर्च्छनाओं के आरम्भक स्वर क्रमशः अगमिलाइ अर्थात् षड्ज, पुरनिलाइ अर्थात् गान्धार, अरुगियाल अर्थात् पंचम तथा पेरुगियाल अर्थात् निषाद होते हैं।

सप्तक के अन्तर्गत श्रुति-संख्या के सम्बन्ध में प्राचीन तामिल ग्रन्थों में वैसा ही तीव्र मतभेद पाया जाता है, जैसे प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में[३]। इसइ मरबु

---

१. द्र० स्वामिनाथ अय्यर कृत तामिल संस्करण; वी० आर० आर० दीक्षित कृत अंग्रेजी संस्करण (आक्सफर्ड प्रेस, १९३९)। इस नाटक पर निम्न दो भाष्यकारों के भाष्य पाये जाते हैं—१ अडियार्कुनल्लार, २ अरुंपदबुरैयार।

२. द्र० कलचरल हेरिटेज आफ इंडिया, खण्ड ३, रामकृष्ण शताब्दि सभा,

३. द्र० पं० अब्राहाम का क्लेमेन्ट्स के पत्र को उत्तर।

नामक प्राचीन संगीत-ग्रन्थ के अनुसार विभिन्न ग्रामरागों में बाईस श्रुतियों के अन्तर्गत असंख्य सूक्ष्म श्रुत्यन्तर उपलब्ध होते हैं, उदाहरणार्थ—अयपलाइ नामक मूर्च्छना में श्रुति संख्या बारा समान भागों में विभाजित है; वतपलाइ नामक मूर्च्छना में चौबीस भागों में, थिरिकोनपलाइ के अन्तर्गत अड़तालीस भागों में तथा चथुरपलाइ के अन्तर्गत उस से द्विगुण अर्थात ९६ भागों में विभक्त है। इस ग्रन्थ के अनुसार कुल अलकू—संख्या २४ हैं तथा इनका विशिष्ट पनों में प्रयोग षड्ज-पंचम सम्वाद के आधार से होता है। याल वीणा की मुक्त तन्त्री से उद्भूत होने वाली ध्वनि मूलभूत षड्ज है। इसी से 'उलइ' अर्थात् पंचम की उद्भूति होती है। उलइ अर्थात् प से 'कुरल' अर्थात् रि, कुरल से 'इलि' अर्थात् ध, इलि से 'तुट्टम' अर्थात् ग तथा तुट्टम से 'विलरि' अर्थात् मि और विलरि से 'कैविकलइ' अर्थात् म का क्रमशः उद्भव होता है, जो नियतरूप से षड्ज-पंचम के सम्वाद पर आश्रित है[1]। इस प्रकार की स्वर-स्थापना करने के लिए श्रुतिशास्त्रविशारद सङ्गीतज्ञ की आवश्यकता मानी है[2]। कुरल संज्ञा का प्रयोग मूर्च्छना के आरम्भक स्वर के लिए भी पाया जाता है। इस आरम्भक स्वर का निर्देश प्राचीन तामिल के 'वट्टपलाइ' नामक मूलभूत मूर्च्छना के अनुसार किया जाता रहा है[3]।

भाष्यकार आदियारकुनल्लार के अनुसार मुख्य ग्राम की श्रुतियों का विभाजन निम्नानुसार है—

सा ४, रि ४, ग ३, म २, प ४, ध ३, नि २।

स्पष्ट है कि भरत के शुद्धग्राम का सामंजस्य श्रुतिसंख्या की दृष्टि से तामिल सङ्गीत से नेयथल याल से हो सकता है, जिसका श्रुतिविभाजन निम्नानुसार है—

सा ४, रि ३, ग २, म ४, प ४, ध ३, नि २।

सिलप्पदीकारम् के अनुसार स्वरान्तर त्रिविध है—चतुःश्रुतिक, त्रिश्रुतिक, द्विश्रुतिक तथा इनका निर्माण सम-प्रमाण वाले ध्वन्यन्तरों से होता है।

ग्रन्थकार के अनुसार ध्वनि की उत्पत्ति मूलाधार से होकर आलत्ति अर्थात् आलप्ति का रूप धारण कर लेती है। इसी के निम्न दो रूप हैं—१ इशइ और २ पन अर्थात् राग। मूलाधार से निर्गत ध्वनि जिह्वा, नासिका, दन्त प्रभृति

---

१. द्र० सिलप्पदीकारम् की तामिल व्याख्या, नादार कृत, पृ० ७५; उद्धृत एम० राजा राव कृत 'वेदिक आक्टेह्व', पृ० २२ पर।

२. द्र० पं० अब्राहाम का क्लीमेन्ट्स के पत्र को उत्तर, आल इन्डिया म्युज़िक कांफ्रेन्स, बडौदा।

३. वही, पृ० २३–२४।

आठ स्थानों को स्पर्श कर इसइ में परिणत हो जाती है। 'इसइ' को संस्कृत के सङ्गीत अथवा सङ्गीत-स्वर का पर्याय माना जा सकता है। इसी का पल्लवन आलत्ति का रूप धारण कर लेता है। स्वरों का यह विस्तार अर्थात् पल्लवन विभिन्न स्थाय अथवा गमक के द्वारा किया जाता है, जिन में निम्न का अन्तर्भाव है—एडुतल, पडुतल, नलिडल, कम्पितम्, कुटिलन्, तलि, उरुतु और तावकु। व्याख्याकार आदियारकुनल्लार के अनुसार आलत्ति का विस्तार तेन्ना, तेना अथवा तेन्नातेना आदि शब्दों से किया जाता है[1]। आलत्ति तीन भागों में विभक्त है, जो क्रमशः अच्चु (ताल), पारना (नृत्याभिनय) तथा पन (राग) से सम्बद्ध है—१ काट्टालत्ति, २ निरवालत्ति तथा ३ पन्नालत्ति। टीकाकार के अनुसार आलत्ति में लघु तथा गुरु दोनों वर्णों का समान रूप से प्रयोग होता है।

सिलप्पदिकारम् तथा अन्य तामिल ग्रन्थों के आधार पर हरिकाम्बोज अर्थात् उत्तर हिन्दुस्तानी संगीत का प्रचलित खमाज राग तामिल संगीत का आदिम एवं शुद्ध मेल बताया जाता है[2]। कुछ विद्वानों के अनुसार तामिल का 'चेम्पलाइ', जो कि तामिल सङ्गीत का प्राचीनतम एवं शुद्ध मेलराग माना जाता है, हरिकाम्बोज न होते हुए धीरशंकराभरन अर्थात् हिन्दुस्तानी सङ्गीत का प्रचलित बिलावल राग है। संगीतरत्नाकरकार के प्रामाण्य पर यह स्पष्ट है कि दाक्षिणात्य सङ्गीत में मुखारी राग की परम्परा प्राचीन काल से सम्मत रही है। प्रतीत होता है कि श्रुतियों को समप्रमाण मानने तथा सप्तक के १२ समान भाग करने की प्राचीन परम्परा से मुखारी मेल का उद्भव हुआ हो। दाक्षिणात्य सङ्गीतज्ञों के मत से सप्तक के द्वादश सम विभाग करने की प्राचीन प्रणालि अधुना भी दक्षिण पद्धति में अनुसृत होती है।

सिलप्पदीकारम् के प्रायः समसामयिक अन्य ग्रन्थ तिवाकरम् (ई० २–३) में तामिल स्वरों के साथ उत्तरभारतीय स्वरों का उल्लेख है तथा श्रुति एवं सम्वाद–सम्बन्ध का विवेचन है। इस ग्रंन्थ में श्रुति के लिये मात्रा संज्ञा है और सप्तक में २२ मात्राएं वर्तमान बताई गई हैं। रागों के सम्पूर्ण, षाडव तथा औडव तीनों प्रकारों का स्पष्ट निर्देश इसमें हुआ है। सम्पूर्ण रागों के लिये 'पन' संज्ञा है तथा षाडव एवं औडव रागों के लिये 'तिरम्' संज्ञा है।

---

१. द्र० सिलप्पदीकारम् के 'अरंगर्रुकादै' नामक अध्याय पर व्याख्या।

२. दक्षिण के कतिपय संगीतज्ञों की सम्मति से हरिकाम्बोजी मूलभूत ग्रामराग न होते हुए केवल कुरल अर्थात् ऋषभ स्वर से उद्भूत होने वाली मूर्च्छना है (द्र०'सिलप्पदीकारम्'–सं० दीक्षितार, पृ० ३६२; उद्धृत आर० सत्यनारायण द्वारा सम्पादित 'वेदिक आक्टेव्ज़,' पृ० २३ पर)।

परिपादल नामक तामिल ग्रन्थ में सात पालइ अर्थात् ग्रामरागों का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। इसी समय के पुराणाणुरु और पट्टुपट्टु (ई० १–२) नामक अन्य तामिल ग्रन्थों में भेरीवाद्य का गौरवपूर्ण उल्लेख हुआ है। भेरी के तीन प्रकार बताये गये हैं—युद्ध भेरी, न्याय भेरी तथा यज्ञ भेरी, जो भेरी वादन के विभिन्न अवसरों को सूचित करते दिखाई देते हैं[१]।

तामिल साहित्य में वीणा के लिये 'याज़' संज्ञा है। याज़् के निम्न प्रकारों का उल्लेख इस वाङ्मय में पाया जाता है—(१) ऐरियाज़्, जिसमें ७ तथा २१ तंत्रियाँ होती थीं; (२) मकरयाज़्, जिसमें १७ तंत्रियां होती थीं; (३) सकोटयाज़, जिसमें १४ तन्त्रियाँ होती थीं तथा (४) सेकोट्टुयाज़, जिसमें ७ तन्त्रियाँ होती थीं। अन्तिम दो वीणाओं का आकर धनुष के सदृश था तथा इनका वादन कोणदण्ड से किया जाता था। प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार नारदप पेरियाज़ अर्थात् नारदी वीणा में तथा किचक्य अर्थात् कच्छपी वीणा में १,००० तन्त्रियाँ थीं; तबरुयाज़ अर्थात् तुम्बरु की वीणा में ९ तथा मरुतुवयाज़ अर्थात् मरुत् वीणा एवं देवयाज़ अर्थात् देव वीणा में १ ही तन्त्री हुआ करती थी[२]। तामिल परम्परा में वीणा की विशिष्ट महिमा का गान हुआ है। एक प्राचीन तामिल कविता के अनुसार वीणा की ध्वनि सुनने से चित्त निर्मल हो जाता है, हृदय द्रवीभूत हो जाता है तथा वीणावादक का भाषणादि व्यवहार सदैव सौजन्य से युक्त रहता है[३]।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि दक्षिण भारत में तामिल प्रदेश का संगीत ईसवीय आरम्भिक शताब्दियों तक प्रौढता को प्राप्त कर चुका था। प्रो० हैकल जैसे विद्वानों के मत से तामिल लोगों की परम्परा लेम्यूरियन नामक प्राचीन वंश तक पहुँचती है, जिनका संगीतादि ललित कलाओं में नैपुण्य एक निर्विवाद ऐतिहासिक तथ्य के रूप में विद्वज्जनसम्मत है[४]।

भारतीय कला में गन्धर्व एवं किन्नर

भारतीयों की कल्पना में गन्धर्वों का स्थान संगीतकारों में मूर्धन्य है। जैसा कि हमने वेदकालीन संगीत के विवरण में देखा है, गन्धर्वों का अन्तर्भाव दिव्य-

---

१. द्र० पाँपले कृत 'म्यूज़िक आफ इंडिया', पृ० १०–११।

२. द्र० डा० राघवन का 'वीणा' शीर्षक लेख, जरनल आफ म्यूज़िक एकेडेमी, मद्रास, २० वां सम्मेलन।

३. पं० अब्राहाम का क्लीमेन्ट्स के पत्र को उत्तर, आल इण्डिया म्यूज़िक कांफरेन्स, बडौदा, पृ० १७।

४. वही, पृ० १५।

योनि जाति में है[1]। पुराणकालीन वाङ्मय में गन्धर्वों का स्थान अर्धदैवत व्यक्तियों में है। प्राचीन वाङ्मय एवं कला के आधार पर गन्धर्व सम्बन्धी कल्पना का विकास खोजने का प्रयत्न यहाँ किया जा रहा है।

ऋग्वेद में तीन स्थलों को छोड़कर अन्यत्र गन्धर्व का उल्लेख बहुवचन में समूह के अर्थ में हुआ है। गन्धर्व देवयोनि के अन्तर्गत है तथा अन्तरिक्ष के निवासी बतलाये गये हैं (१,२२,८४)। ऋग्वेद, १,२२,१४ में गन्धर्वों का पद ध्रुव अर्थात् अविचल माना गया है। ऋ० १,१८३,२ के अनुसार गन्धर्व इन्द्ररथ के रश्मिपदों को धारण करने वाले हैं। सायण के अनुसार गन्धर्वों का अन्तर्भाव पंचजनों में है[2]। यास्क के अनुसार पंचकृष्टि पंचजन का पर्याय है और इस में गन्धर्वों का अन्तर्भाव है[3]। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार विश्वेदेव के अन्तर्गत देव, मनुष्य, गन्धर्व तथा अप्सरस् का समावेश है[4]। ऋ० ८, ७७, ५ में कहा गया है कि इन्द्र ने ब्रह्म की रक्षा के लिये अन्तरिक्ष-प्रदेश में गन्धर्व का हनन किया था। उसी मण्डल के एक अन्य सूक्त में एतास मुनि को पराजित करने वाले गन्धर्व के साथ शतक्रतु इन्द्र के युद्ध का उपाख्यान है। ऋ० ९, ११३, ३ में गन्धर्वों को इन्द्र के लिए सोम की रक्षा करने वाला बताया गया है। ऋ० ३, ३८, ६ में गन्धर्वों को सोमरक्षक तथा वायुकेश अर्थात् चंचलरश्मियों से युक्त माना गया है—

अपश्यमत्र मनसा जगन्वान् व्रते गन्धर्वान् अपि वायुकेशान् ॥

ऋ० ९,८३–८४ में गन्धर्व को मधुप्रिय तथा देवताओं का रक्षक माना गया है—

गन्धर्वमित्था पदमस्य रक्षति पाति देवानां जनिमान्यद्भुतः ॥
गृभ्णाति रिपुं निधया निधापतिः सुकृतमा मधुनो भक्षमाशत ॥

ऋ० ९,८६, ३६ में दिव्य गन्धर्व का सोम के रूप में स्तवन किया गया है। ऋ० १,१६२,२ में गन्धर्वों को सूर्य के अश्वों का प्रेरक माना गया है। ऋ० ९,८५,१२ के अनुसार गन्धर्व आदित्य स्वरूप हैं तथा स्वर्ग में उनका निवास स्थान है—'ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधिनाके अस्थाद्'।

---

१. अमरकोष १,२ के अनुसार गन्धर्व दिव्ययोनिज हैं। शाश्वतकोष, श्लो० १०१, नानार्थसंग्रह, श्लो० ६ तथा शब्दौघकल्पद्रुम में गन्धर्व को अन्तरिक्ष से उत्पन्न खचर प्राणी बतलाया गया है (द्र० मेदिनीकोष)।

२. द्र० सायण० १,८९, १०; १,१००,१२।

३. ४,२९,३०; यास्क ३.७

४. ३,३१; १३,७,३१।

ऋ० ९,८६,३६ तथा १०,४०,४ के अनुसार गन्धर्व-गण जल में निवास करने वाले व्यक्ति हैं, जहाँ वे अपनी पत्नी अप्सरा के साथ रहते हैं। ऋ० १०,११,२ तथा १०,१७७,२ में गन्धर्व का सम्बन्ध नाद तथा वाणी के साथ दर्शित है। ऋ० १०,११,२ के अनुसार नादप्रियता गन्धर्वों की विशेषता है—

रमद्गन्धर्वी रप्या च योषणा नदस्य नादे परिपातु मे मनः ॥

ऋ० १०,१७७,२ के अनुसार गन्धर्व के द्वारा जिस वाणी का आविष्कार किया गया है, उसी का विस्तार एवं पल्लवन कवियों के द्वारा बाद में हुआ है—

तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषामृतस्य पदे कवयो निपांति ॥

ऋ० ४, २७,३ में कृशानु तथा विश्वावसु नामक विशिष्ट गन्धर्वों का उल्लेख है[1]। गन्धर्वों का नारीजाति पर आधिपत्य होने के कारण दाम्पत्य सुख के लिये उसका आवाहन किया जाता रहा है—

अन्यामिच्छ प्रफर्व्यं संजायां पत्या सृज ॥[2]

सौभाग्यकांक्षिणी वधू पर क्रमशः सोम, गन्धर्व तथा अग्नि का आधिपत्य बताया गया है[3]। ऋ० १०,८५,२२ में विश्वावसु गन्धर्व के वर का प्रतिस्पर्धी होने का उल्लेख है।

यजु की तैत्तिरीय संहिता में गन्धर्व तथा अप्सराओंका एक साथ उल्लेख है[4]। तैत्तिरीय संहिता में गन्धर्वों तथा अप्सराओं का सम्बन्ध विविध देवताओं से स्थापित किया गया है[5]। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार गन्धर्वों की संख्या २७ है—'गन्धर्वाः सप्तविंशतिः'[6]। तै० आरण्यक के अनुसार गन्धर्वगण ११ हैं[7]। तै० संहिता तथा शतपथ ब्राह्मण में निम्न गन्धर्वों का उल्लेख सोमरक्षक के रूप में

---

१. तुलनार्थं द्र० १०, १३९, ४–६; १०,८५,२१–२२।

२. १०. ८५, २२।

३. १०, ८५, ४०।

४. १,५,९; ४,४,३; गन्धर्वाप्सरस् के लिये द्र० शां० २,२; श० प० ९,४,१, २–४ तथा ११,५,७; ऐत० ३,३१; जैमि० उप० १,१२,१; ताण्ड्य० १९,३,२; सा० १,१,८; २,५,६ तथा ३,७,५।

५. ३,४,७१; श० प० ९,४,१,१० में द्र० 'वातो गन्धर्वः, मनो गन्धर्वः, यज्ञो गन्धर्वः। गाः शब्दान् धारयति प्राणवायुः' (धर्मकोष, पृ० १०५)। गन्धर्वः गावो रश्मयः तान् धारयति इति आदित्यः। (वही)। आस्य गन्धर्वः सोमः (वहीं)।

६. ५,१,४,८५

७. १, ९, ३

हुआ है—स्वान, भ्राज, अंधारि, बंभारि, हस्त, सुहस्त तथा कृशानु। इस तालिका में यदाकदा विश्वावसु का अन्तर्भाव भी किया जाता है। अथर्ववेद के अनुसार गन्धर्वों की संख्या ६,३३३ है[१]।

शतपथ ब्राह्मण के एक उपाख्यान में गन्धर्वों को विलासी एवं योषित्काम बतलाया गया है[२]। उपाख्यान में कहा गया है कि गन्धर्वों के द्वारा अपहृत सोमरस की प्राप्ति के लिये देवताओं ने वाणी को नियुक्त किया। वाणी अपने कार्य में सफल हुई। वाणी को अपने वश में रखने की कामना गन्धर्वों को हुई। देवताओं से प्रार्थना करने पर उन्होंने प्रतियोगिता का प्रस्ताव रखा। प्रतियोगिता में गन्धर्वों ने वेदपाठ के द्वारा स्तुतिगान किया तथा देवताओं ने वीणा के साथ गान आरम्भ किया। परिणाम यह हुआ कि वाणी ने देवताओं के संगीत पर लुब्ध होकर उन्हीं का वरण किया। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी गन्धर्वों को स्त्रीलोलुप तथा रूप-सौंदर्य का भोक्ता बताया गया है—

१—रूपमिति गन्धर्वा, गन्ध इत्यप्सरसः। (शत०, १०,५,२,२०)

२—स्त्रीकामा वै गन्धर्वा। (ऐत०, १,२७)

३—त उ ह स्त्रीकामा[३]।

४—ते पत्नीषु एव गन्धर्वा गृध्यन्ति[४]।

ब्राह्मण साहित्य में गन्धर्व का उल्लेख उपद्रवकारी अर्धदैवत के रूप में पाया जाता है—

उपद्रवं गन्धर्वाप्सरोभ्यः। तस्मात् उपद्रवं गृण्हन्त इव चरन्ति। (द० धर्मकोष पृ० १३३३)।

भूत, यक्ष तथा पिशाच की भांति गन्धर्व सुन्दर रमणियों के लिये बाधक बतलाये गये हैं[५]।

---

१. २, ५, २

२. ३, २, ४, २–६; ३, १, १९

३. कौषी० १२,३; २,९; शत० ३,२,४,३; ३,९,३,२०; १४, ६, ३, १

४. शत० ३९, ३, २२;

तुलनार्थं द्र० उणादिसूत्र, ५, ७८–'गविर्गधृणोवाहः' पर। वैदिक साहित्य में अन्यत्र भी गन्धर्व जाति को रूप-रस-गन्ध का उपासक माना गया है—१–गन्धेन च वै रूपेण च गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति (शत० ९, ४, १, ४)। २–गन्धो मे मोदो मे प्रमोदो मे। तन्मे युष्मासु (जै० उ० ३, २५, ४; तुलनार्थं सायण, ऋ० १०, १७, २; १०,५,४७,५)। शब्दकल्पद्रुम के अनुसार गन्धर्व की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'गन्धं संगीतवाद्यादिजनितप्रमोदं अर्वति प्राप्नोति इति'।

५. शत० १४,६,३,१; ६,७,१; कौ० २,९; ऐ० ५, २१–२९; शां० २,९।

कृष्णयजुर्वेद के अन्तर्गत नरमेध में जिन देवताओं के लिये हवन विहित है, उनमें गन्धर्व तथा अप्सराओं का समावेश है और इनके प्रीत्यर्थ व्रात्य अथवा संस्कारहीन पुरुषों की आहुति देने का विधान है ।

अथर्ववेद के अनुसार दिव्यगन्धर्व का निवास द्यु-स्थल में है तथा इनकी पत्नी अप्सराओं का समुद्र में है । अप्सराओं में मनोमोहनी शक्ति विद्यमान है (२,५)।

अथर्व० २,५,२ में गन्धर्वों का परिगणन पितर, देवजन तथा अन्य पृथग्देवों के साथ किया गया है । अप्सरापति गन्धर्व को मयूरपंख धारण कर नृत्य में रत बतलाया गया है (५, ३७, ७)। गन्धर्वों के नृत्यशील होने का वर्णन निम्न रूप में पाया जाता है—

आनृत्यतः शिखण्डिनः गन्धर्वस्याप्सरापतेः ।
ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः । (अथर्व० ८,६)

अथर्ववेद के पापमोचन सूक्त में पाप निवारण के लिये अश्विन, ब्रह्मणस्पति तथा अर्यमन के साथ गन्धर्व एवं अप्सराओं का आवाहन किया गया है (२,६,४,)। गन्धर्व परम गुह्य के रक्षक हैं तथा दिव्य रहस्यों का ज्ञान प्रदान करने वाले हैं—

गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत् । (अथर्व० २,२)

उनकी वाणी मधुर एवं आकर्षक बताई गई है—

अब्रवीद् तद्गन्धर्वः काम्यं बचः । (अथर्व० २०,१२८,३)

याज्ञवल्यस्मृति के अनुसार गन्धर्व नारी जाति को शुभ गीर् अथवा मधुर वाणी प्रदान करते हैं (द्र० १,७१)। तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार गन्धर्वों के दो वर्ग हैं—१ देवगन्धर्व तथा २ मनुष्यगन्धर्व । देवगन्धर्व देवयोनिज तथा अन्तरिक्ष के निवासी हैं और सुन्दर रूप तथा स्वरसम्पन्नता उनकी विशेषता है[1] । मनुष्यगन्धर्व मानव हैं तथा गान्धर्व की निरन्तर उपासना से गन्धर्वलोक को प्राप्त करते हैं[2] ।

जैसा हमने अन्यत्र देखा है, मनुस्मृति आदि स्मृतिग्रन्थों तथा वायुपुराण

---

१. द्र० रामायण, ४, १० तथा ३, २७

२. गन्धर्वलोक के लिये द्र० जै० ब्रा० ५७; श० प० १४,६,६,१ तथा १४,७,१, ३७–३८; बृह० ३,६,१ तथा ४,३,३३; कठो० २,३,५ । जै० ब्राह्मण के अनुसार–'अथ यत् यज्ञाज्जायते तदमुष्मै लोकाय जायते गन्धर्वलोकाय जायते देवलोकाय जायते' । (द्र० पृ० ४०५, धर्मकोष) और द्र० धर्मकोष पृ० ३१६– 'स हैव देवलोकं गमयति य एवं विद्वानुद्गायति। अथहान्ये गन्धर्वलोकं वा पितृलोकं वा गमयन्ति ।'

आदि पुराणग्रन्थों के अनुसार गन्धर्व तथा अप्सराओं की गणना विधाता की आदिम सृष्टि में है (मनु० १,३७–३९)। जैन तथा बौद्ध सम्प्रदायों में गन्धर्व तथा किन्नरों का वही स्थान है जो वैदिक सम्प्रदाय में उपलब्ध होता है। तत्वार्थ-सूत्र नामक जैन धर्मग्रन्थ में देवताओं का विभाजन उनकी स्थिति के अनुसार चतुर्विध बताया गया है—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा वैमानिक। व्यन्तर स्थान में गन्धर्व, किन्नर आदि का निवास है—

'व्यन्तरः किन्नरकिंपुरुषमहोरगन्धर्व······पिशाचाः'[1]।

बौद्धों के अनुसार गन्धब्ब तथा यक्षों का अन्तर्भाव भुम्मदेव के अन्तर्गत है। इनका कार्य बुद्ध तथा बोधिसत्व की परिचर्या करना है[2]। गन्धर्वों के संगीत-विद्यापारंगत होने की बात हाथीगुम्फा शिलालेख से प्रमाणित होती है। ई० २ के इस शिलालेख में कलिंगराज खारवेल को गन्धर्ववेदबुध तथा नृत्यगीतवादित्र में निपुण बतलाया गया है—

'ततिये पुन वसे गन्धर्ववेदबुधो दुपनट ॥ १ ॥ गीतवादितसंदसनाहि उसव-समाजकारापनाहि कीडापयति नगरिं'।[3]

हेमचन्द्र के 'त्रिषष्टिशलाकापुराण' में गन्धर्वों को चतुर्विध आतोद्यों में पारंगत तथा संगीत के द्वारा तीर्थंकर की उपासना में तत्पर बतलाया गया है।[4] मत्स्य-पुराण के अनुसार शिव, विष्णु, ब्रह्मा आदि देवों की प्रतिमाओं के साथ गन्धर्व, किन्नर, अप्सरा आदि परिचारकों की मूर्तियों का निर्माण किया जाना आवश्यक है।[5] भारतीय मूर्तिनिर्माण के प्रामाणिक ग्रन्थ मानसार में अन्य देवताओं के साथ गन्धर्वों की आकृति का वर्णन है। 'यक्षविद्याधरादिलक्षणम्' नामक ५८ वें अध्याय में गन्धर्व को वैशाख स्थान में स्थित तथा गीत, वीणा नृत्त में रत बतलाया गया है—

नृत्तं वा वैणवं वापि वैशाखं स्थानकं तु वा।
गीतवीणाविधानैश्च गन्धर्वाश्चेति कथ्यते ॥ (श्लो० ९–१०)।

---

१. अ० ४, ११; द्र० 'गन्धर्वाज ऐन्ड किन्नराज इन इण्डियन आयकानाग्राफी', पंचमुखीकृत, पृ० १३–१४।

२. बौद्धग्रन्थों में पंचशिख गन्धर्व तथा धृतराष्ट्र यक्ष का प्रचुर उल्लेख है। चित्रों के लिये द्र० भरहुत, भाग २; बरुआ, पृ० ५६-५७।

३. द्र० एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड २०, पृ० ७८; काणे कृत 'हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स,' पृ० १९।

४. श्लो० ४८९; द्र० 'गन्धर्वाज एन्ड किन्नराज इन इण्डियन आयकानाग्राफी', पृ० २५।

५. द्र० अ० २५९; 'गन्धर्वाज एण्ड किन्नराज' पृ० २६।

कुषाणकालीन शिल्प में इन्द्र तथा बुद्ध की भेंट का बाहुल्य से अंकन हुआ है, जिस में गन्धर्व तथा अप्सराओं का रूपांकन भी उपलब्ध है। मथुरा की इन्द्रशैल गुफा में बुद्ध की दक्षिण ओर हाथ में वीणा धारण किये हुए पंचशिख गन्धर्व अंकित है, जिन का अनुसरण छ: अप्सराओं के द्वारा किया जा रहा है।[1] यही प्रसंग तख्त–इ–बहि के उत्खनन में प्राप्त शिलाखण्ड पर अंकित है, जिस में पंचशिख गन्धर्व का वीणावादन स्पष्टत: अंकित हो उठा है।[2]

अमरावती (ई० पू० २००) तथा नागार्जुन कोण्डा (ई० २) के स्तूपों पर उड्डान करने वाली आकृतियाँ पाई जाती हैं जो गन्धर्वों की बताई गई हैं[3]। अजन्ता की एक चित्राकृति में गन्धर्व का परिवार अंकित है, जिस में गन्धर्व तथा अप्सरायें नृत्यरत बतलाई गई हैं। अनुचर के हाथ में तुम्बीयुक्त वीणा स्पष्टत: परिलक्षित होती है। अप्सराओं के हाथ में कांस्यताल तथा तिर्यक् वंशी अंकित है। एक अन्य अप्सरा के स्कन्ध से आधुनिक डग्गे जैसा आनद्ध वाद्य लटकता हुआ अंकित किया गया है।[4]

किन्नर तथा किन्नरियों के सम्बन्ध में कोई उल्लेख वैदिक वाङ्मय में नहीं पाया जाता। महाकाव्य, पुराण तथा शिल्पशास्त्रों में उपलब्ध प्रचुर उल्लेखों से उनकी रूपाकृति के सम्बन्ध में अल्पाधिक परिचय प्राप्त होता है। महाभारत में किन्नरों को राक्षस, वानर तथा यक्षों के साथ पुलस्त्य की संतति माना गया है (द्र० आरण्यक पर्व अ० ६)। भागवत में गन्धर्वों के सहकर्मी के रूप में किन्नरों का उल्लेख है—

नेदुर्मुहुर्दुन्दुभयः सहस्रशो गन्धर्वकिंपूरुषकिन्नरा जगुः ॥ (८,२०, १३)

गन्धर्वों के समान किन्नर भी संगीत-प्रिय हैं तथा मधुर कण्ठ सेगीतगान करने के लिये

---

१. द्र० ऐन्युअल रिपोर्ट, 'आर्किआलीजिकल सर्व्हे आफ इण्डिया', १९०९-१०, पृ० ७४, आ० २७ ब।

२. वहीं, १९०७-८, पृ० १४१-१४२, आ० ४४ ब; तथा द्र० कलकत्ता संग्रहालय में संग्रहीत शिल्प, जो लोरियाना टंगई में उपलब्ध हुआ है तथा ए० फाउचर में उद्धृत किया है; द० 'गन्धर्वाज़ एन्ड किन्नराज़ इन इन्डियन आयकानाग्राफी, पृ० ३२।

३. द्र० 'गन्धर्वाज़ एन्ड किन्नराज़ इन इन्डियन ऐकानाग्राफि', पृ० ३३।

४. द्र० प्रबन्ध के अंत में आ० ६; द्र० अजण्ठा चित्र, खण्ड १, पृ० २९, आ० २४, याज़दानीकृत।

विख्यात हैं[1]। मथुरा के जैन शिल्प में पाँच किन्नरों के द्वारा स्तूप की पूजा अंकित है; उनके हाथों में पुष्पगुच्छों से परिपूर्ण जलकलश तथा पर्णव्यजन है।[2] विष्णु-धर्मोत्तर पुराण के अनुसार किन्नर-मूर्ति के निर्माण में उनकी गीत तथा वाद्यरत भंगिमा का ध्यान अवश्य रखा जाना चाहिये।[3] अग्निपुराण के अनुसार किन्नरों की मूर्ति का वीणाधारिणी होना आवश्यक है—'वीणा हस्ताः किन्नराः' (द्र० अ० ५१)। मानसार में किन्नरमूर्त्ति की इस विशेषता पर बल दिया गया है—

परितः करुणवीणं किन्नरस्य स्वरूपम् ॥[4]

सांची तथा भारहुत शिल्प (ई० पू० ३) में किन्नरों के इसी रूप का अंकन पाया जाता है। जावा, सयाम, और लँका में प्राप्त शिल्पों में तथा अजंता के भित्तिचित्रों में किन्नरियों की ऐसी ही अर्धमानुष तथा अर्धविहंग आकृतियों के दर्शन होते हैं।[5]

---

१. तुलनार्थ द्र० कालिदास, कुमार०—
'उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणाम्' ।। तथा रघुवंश में—
'किमिदं किन्नरकण्ठि सुप्यते ।।

२. एपिग्राफिया इन्डिका, खण्ड २, पृ० ३१९

३. द्र० अ० ४२, १३-१५

४. द्र० अ० ५८; द्र० गन्धर्वाज़ एन्ड किन्नराज़ इन इंडियन ऐकानाग्राफि, पृ० २७।

५. वही, पृ० ४१; अमरकोष में किन्नरों को किंपुरुष वर्ग के समकक्ष माना गया है—'स्यात्किन्नरः किंपुरुषः तुरंगवदनो मयुः।'
इस पर टीका करते हुए क्षीरस्वामी किन्नरों के शरीर को नरवत् तथा मुख को अश्ववत् बताते हैं—'किंचिन्नरोऽश्वमुखत्वात्किन्नरः।'
भागवत, भारत आदि ग्रन्थों में किन्नर तथा किंपुरुष को परस्पर-भिन्न बतलाया गया है। वाचस्पत्यकोष के अनुसार दोनों में निम्न भेद है—

'किंपुरुषः'''स च अश्वाकारजघनः नराकारमुखः।
किन्नरस्तु अश्वाकारवदनःनराकारजघनः इति तयोर्भेदः ।।'

अर्थात् किंपुरुष का पार्श्वभाग अश्व के समान तथा मुख नरवत् है; किन्नरों का मुख अश्वाकार तथा पार्श्वभाग नरवत् है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में उपर्युक्त दोनों प्रकार किन्नर जाति के अन्तर्गत बतलाये गये हैं।

अध्याय अष्टम

अन्य ग्रन्थों में संगीत

कौटिल्यकालीन संगीत की स्थिति

कौटिल्य का अर्थशास्त्र न केवल संस्कृत साहित्य का अमूल्य ग्रन्थ है अपितु अपनी विशिष्टता के कारण विश्वसाहित्य में एक अनुपम स्थान का अधिकारी है। भारत की प्राचीन राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक गतिविधि का परिचय उससे प्राप्त होता है। यहाँ तत्कालीन ऐतिहासिक पार्श्वभूमि में संगीतविषयक सामग्री को उद्‌घाटित करने का प्रयास किया जा रहा है।

अर्थशास्त्र मौर्यकालीन संस्कृति का सार-ग्रन्थ है। मौर्यकाल भारतीय संस्कृति का समुत्कर्ष-काल है, जिसमे भारतीयता के अन्तर्गत विदेशी संस्कृति-तत्वों का ग्रहण पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। मौर्य युग के आरम्भ में भारत तथा अन्य विदेशीय संस्कृतियों का निकट सम्पर्क स्थापित हो चुका था। यूनानी सेनापति अलेक्झण्डर का अभियान (ई० पू० ३२६) तथा मेगास्थनीज का चन्द्रगुप्त की सभा में आगमन (ई० पू० ३१५ के पश्चात्) इसी संगम-यात्रा के उज्जवल दीपस्तम्भ हैं। यूनानी राजा मीनान्दर (ई० पू० १४४) का उल्लेख मिलिन्द के नाम से बौद्ध साहित्य में पाया जाता है। महाभारत, बौद्ध-साहित्य तथा अर्थशास्त्र इस तथ्य के साक्षी हैं कि भारत तथा मध्य एशिया के सुदूर पूर्व तक के प्रदेशों के मध्य में व्यापारिक सम्बन्ध वृद्धिगत था और अफगानिस्तान, बलक एवं ताजिकिस्थान से भारत में अमूल्य वस्तुओं का आयात होता था[1]। चन्द्रगुप्त मौर्य की सभा में एशिया के विभिन्न भागों से आयात की हुई उत्कृष्ट विलास-सामग्री को संग्रहीत किया गया था। शिल्पसम्पन्न गणिकायें तथा नर्तिकायें विशेष आदर तथा अधिकार का भाजन थीं। आयात वस्तुओं के अन्तर्गत सुन्दर दासियों तथा गायक बालकों को राज दरबार में नियुक्त किया जाता था[2]। ईसवीय प्रथम तीन शताब्दियों में बृहत्तर भारत एवं मध्य एशिया में भारतीय उपनिवेश स्थापित हुए थे और भारत का सम्बन्ध रोम, यूनान, अरब इत्यादि देशों से प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से स्थापित हो चुका था।

---

१. द्र० मोतीचन्द्र कृत 'प्राचीन भारतीय वेशभूषा'।

२. द्र० 'पेरिप्लस आफ दी एरीथ्रिअनसी', पृ० ४२ और द्र० 'चन्द्रगुप्त मौर्य एन्ड हिज टाइम्स, पृ० २२४, राधाकुमुद मुकर्जी।

मौर्यकाल में संगीत नागरिक जीवन का अभिन्न अङ्ग था। राजा के लिये उपयुक्त विद्याओं में वेदत्रयी का स्थान था[१]। वर्णाश्रमधर्म की समीचीन प्रतिष्ठापना करने के लिये जिन विद्याओं का अध्ययन राजा के लिये विहित है, उनमें सामवेद का अन्तर्भाव है[२]। श्रेष्ठ अमात्य के लिये यह आवश्यक बताया गया है कि वह विविध शिल्पों में निपुण हो[३]। राजपुरोहित के लिये यह आवश्यक माना गया है कि वह वेदों के साथ उसके शिक्षा आदि षट् अङ्गों में निपुण हो (वहीं) अन्य वेदांगों के साथ सामवेद की शिक्षाओं का ज्ञान भी पुरोहित के लिये अपेक्षित माना जाता हो, ऐसी यथार्थ कल्पना की जा सकती है।

राजसभा में नियुक्त किये जाने वाले कलाकारों में चारण, कुशीलव, तूर्यकार तथा गणिका आदि का समावेश है। तूर्यकरों को कुशीलवों की अपेक्षा द्विगुण वेतन दिया जाता था और प्रसंग पड़ने पर गुप्तचर के रूप में इनका उपयोग किया जाता था[४]। चारणों की नियुक्ति राजा के परिचारक वर्ग में की जाती थी। इनकी सेवाओं को किसी भी क्षण पाने के लिए इनके आतोद्य अथवा वाद्य राजभवन में रखे जाते थे (पृ० ४४)। रूप-यौवन-शिल्पसम्पन्न गणिका को राजनर्तिका के रूप में उच्च वेतन पर नियुक्त किया जाता था। आठ वर्ष की अवस्था से ही योग्य बालिकाओं की नियुक्ति कुशीलवकर्म के लिये की जाती थी[५]।

कुशीलवकर्म गुप्तचर के आवश्यक गुणों में से माना जाता था। उनके लिये आदेश था कि प्रसंग पड़ने पर कुशीलवों का वेशधारण कर वे शत्रुदुर्ग में निवास करें तथा उनसे होने वाले आक्रमण की सूचना शंख तथा दुन्दुभि-वादन से दें[६]। गुप्तचरों के लिये यह आवश्यक माना गया है कि वे विविध भाषा तथा शिल्पों में पारंगत हो। राज्य के सर्वोच्च मण्डलों का रहस्य जानने के लिये नट, नर्तक, गायक, वादक तथा चारणों का यथावश्यक उपयोग किये जाने का विधान कौटिल्य में है[७]। सम्भवतः इनके सर्वत्र अप्रतिहत संचार तथा लोकाकर्षण की

---

१. पृ० ६
२. वहीं पृ० ६,७
३ पृ० १५
४. पृ० २४८
५. पृ० १२३-१२४
६ पृ० ४०२
७. पृ० २०-२१

पात्रता को देख कर इनको गूढ़ रहस्यों के उदघाटन के लिये परम उपयोगी माना गया हो।

शिल्पकुशल महिलाओं तथा गायक-वादकों की नियुक्ति इस कार्य के लिये सुतरां उपयुक्त मानी जाती थी तथा इनको कार्य के अनुकूल वेतन दिया जाता था[१]। रहस्यों के उद्घाटनार्थ ये कलाकार अपने गीत के छद्म से तथा वाद्यों को लाने तथा ले जाने के छद्‌म से गूढ़तम स्थानों में संचार करें, ऐसा चाणक्य का विधान है। चाणक्य ने कहा है कि गुप्तचर का कार्य करने के लिये इच्छुक राजपुत्र के लिये इन शिल्पों का अध्ययन आवश्यक है[२]।

तत्कालीन दुर्गनिवेश के अन्तर्गत विभिन्न कर्मचारियों के लिये समुचित आवास का प्रबन्ध था। गणिका, ताल-वादक आदि वर्गों के लिये नगर में स्वतंत्र स्थान नियत किया जाता था[३]। कलाकारों में नट, नर्तक, गायक, वादक, कुशीलव इत्यादि वर्गों का समावेश होता था। इनमें से कतिपय को राज्य से जीविका-लाभ होता था तथा कुछ अन्य कलाकार जनता के आश्रय से अपनी जीविका का निर्वाह करते थे। वर्षा को छोड़ कर अन्य ऋतुओं में इनका सर्वत्र पर्यटन रहता था। वर्षा ऋतु में किसी एक ही स्थान में निवास कर तद्देशीय जनता का मनोरंजन वे करते थे। इनको पारिश्रमिक अथवा पुरस्कार के रूप में द्रव्य, धान्य आदि दिया जाता था[४]।

इन जन-कलाकारों की गतिविधि तथा प्रवृतियों पर शासन का नियन्त्रण बराबर रहता था। धनलोभ से जनता का उत्पीडन करने वाले तथा समाज-विरोधी कार्यो में तत्पर कलाकारों को उचित दण्ड दिया जाता था। अपने कार्यों से ये कलाकार जनता के दैनिक तथा आवश्यक कार्यों में बाधा उपस्थित न करें इस सम्बन्ध में शासन की ओर से कड़ी निगरानी रखी जाती थी[५]। इनकी कला को उतना ही प्रश्रय दिया था, जितना समाज की नीति तथा सुव्यवस्था के अनुकूल हो। कुशीलव तथा गायक-वादकों का कार्य समाज में कुत्सित दृष्टि से देखा जाता था तथा इनकी गणना दास वर्ग में की जाती थी[६]। मदिरा तथा मदिराक्षी से सम्बद्ध होने के कारण इन व्यवसायों को अनिष्ट तथा

---

१. पृ० २१

२. पृ० ३६

३. पृ० ५५

४. पृ० ४८

५. पृ० २०३

६. पृ० ७ तथा १६५

अनर्थकारी माना गया है। कौटिल्य के अनुसार गीत, वाद्य तथा नृत्य काममूलक व्यसनों में अन्तर्भूत है[1]।

उपर्युक्त कलाकारों को अपने व्यवसाय में पूर्ण स्वातन्त्र्य दिया जाता था तथा इनको अन्य कर्मचारियों के तुल्य वेतन दिया जाता था[2]। इनकी वृत्ति तथा व्यवसाय में बाधा डालने वाले व्यक्तियों को दण्ड के लिये पात्र माना जाता था[3]। इन वर्गों से राजकर के रूप उनके वेतन अथवा द्रव्य का अर्ध भाग लिया जाता था[4]। इनके नियन्त्रणार्थ गणिकाध्यक्ष नामक शासकीय अधिकारी की नियुक्ति होती थी। नट, नर्तक, गायक, वादक, कुशीलव तथा चारण आदि संगीतकला-व्यवसायी वर्गों के लिये यह आवश्यक था कि वे अपना समस्त विवरण गणिका-ध्यक्ष को प्रस्तुत करें। इस विवरण-पत्र में निवास, कार्यक्रम का स्थल, कार्यक्रम से प्राप्त द्रव्य-राशि तथा भविष्य में अपेक्षित कार्यक्रम तथा द्रव्योपलब्धि का सम्पूर्ण विवरण अपेक्षित था। नगर के बाहर से आने वाले आगन्तुक कलाकारों के तूर्य-प्रसंग पर प्रेक्षकों तथा श्रोताओं के लिये प्रेक्षा-वेतन अथवा दर्शन-शुक्ल निश्चित किया जाता था। सामान्यतः रात्रि में प्रथम तूर्य बजने पर नगर में संचार निषिद्ध होता था तथा रात्रि के अन्तिम चरण में पुनः तूर्य के बजने पर यह प्रतिबन्ध दूर होता था। तूर्य-प्रेक्षा जैसे संगीत तथा नाट्य के प्रसंग पर यह प्रतिबन्ध शिथिल किया जाता था[5]। सम्भवतः यह निर्बन्धाभाव ऐसे संगीत कार्यक्रमों के लिये था, जो शासकीय सम्मति तथा प्रोत्साहन से प्रवर्तित होते थे।

गणिका-संस्था का मौर्यकाल में एक विशिष्ट स्थान था। समाज के स्वास्थ्य-संवर्धन के हेतु इस संस्था की महती आवश्यकता थी। इसी के समीचीन निरीक्षण तथा प्रबन्ध के लिये गणिकाध्यक्ष नामक स्वतन्त्र शासकीय कर्मचारी की नियुक्ति होती थी। अर्थशास्त्र के साक्ष्य से स्पष्ट है कि नाट्य तथा संगीतकला को राज्याश्रय प्राप्त था। गणिका, दासी तथा नटों को गीत, वाद्य, नृत्य, नाट्य, नृत्त, वैशिक आदि कलाओं की शिक्षा देने वाले व्यक्तियों को शासन की ओर से द्रव्य दिया जाता था—

---

१. पृ० ३२७ तथा ३८०

२. पृ० १८४

३. पृ० १९४

४. पृ० २४३

५. पृ० १६४; तूर्य प्रेक्षा के लिए द्र० 'अभिनयदर्पण', सं० मनमोहन घोष, पृ० २०।

'गीत–वाद्य-पाठ्य–नृत्त–नाट्याक्षर–चित्र–वीणा-वेणुमृदंग······वैशिककला-ज्ञानानि गणिकादासीरंगोपजीविनीश्च, ग्राह्यतो राजमण्डलादाजीवकं कुर्यात्' ।[1]
इनके पाठ्यक्रम में वैशिकी कला के अतिरिक्त गीत, वाद्य, नृत्त, नाट्य, वीणा, वेणु तथा मृदंग की शिक्षा सम्मिलित थी। ललितकला की इन संस्थाओं का प्रवर्तन राज्य की ओर से होता था[2]। इस संस्था के आचार्यों तथा अन्य विद्यावन्तों को उनकी योग्यतानुसार वेतन राज्य की ओर से दिया जाता था[3]। ऐसी संस्थाओं में गणिकाओं के अतिरिक्त उनके वंशज तथा संगीत का व्यवसाय करने के इच्छुक अन्य शिक्षार्थियों को प्रवेश दिया जाता था—

'गणिकापुत्रान् रङ्गोपजीविनश्च मुख्यान् निष्पादयेयुः सर्वतालावचराणांश्च' ।[4]

अर्थशास्त्र के सिंहावलोकन से स्पष्ट है कि सङ्गीतकला का प्रचार तत्कालीन ग्रामों तथा जनपदों में था और इस कला को राज्याश्रय उपलब्ध था। राज्य की ओर से सङ्गीत तथा नाट्य–शालाओं का प्रबन्ध किया जाता था। वारांगना की बृहत् संस्था पर शासन का सम्पूर्ण नियन्त्रण हुआ करता था तथा इनको गीत, वेणु, मृदंग एवं वैशिकी कलाओं की शिक्षा देने वाले आचार्यों को शासन के द्वारा योग्यतानुसार पुरस्कार दिया जाता था। संगीतकला का राजनीतिक दृष्टि से उपयोग मौर्यकाल की प्रधान विशेषता मानी जा सकती है। राजनीति सम्बन्धी गूढ़ रहस्यों को जानने के लिये सङ्गीतज्ञ पुरुष तथा महिलाओं को नियुक्त किया जाता था। संगीत तथा नाट्य का व्यवसाय प्रायः पतित वर्ग के द्वारा किया जाता था। यद्यपि नट, गायक आदि वर्गों को परम्परागत व्यवसाय की स्वतन्त्रता थी तथापि सामाजिक स्वास्थ्य तथा सुरक्षा की दृष्टि से इन कलाकारों पर शासन का कठोर नियन्त्रण रहता था।

पतंजलिकालीन संगीत (ई० पू० २–ई० १)

पतंजलि का महाभाष्य संस्कृत व्याकरण का महनीय ग्रन्थ है। पाणिनि तथा कात्यायन के पश्चात् संस्कृत भाषा को परिष्कार प्रदान करने का श्रेय महाभाष्यकार को है। भर्तृहरि के अनुसार भारतवर्ष के धार्मिक, सामाजिक,

१. २, २७
२ वहीं, २, ३६; ४, ४
३. ५, ३; पृ० १२४-१२५
४. २, २७

नैतिक तथा शास्त्रीय सिद्धान्तों के बीज महाभाष्य में अन्तर्निहित हैं[१]। पतंजलि का काल ई० पू० द्वितीय शताब्दि विद्वज्जनमान्य है। इस दृष्टि से ईसवी पूर्व २ शताब्दियों में वर्तमान संगीतविषयक परिस्थिति का सम्यक् दिग्दर्शन पतंजलि के महाभाष्य से उपलब्ध हो सकता है।

पतंजलि का काल भारतीय इतिहास का वह कालखण्ड है जिसमें मौर्ययुग तथा शुङ्गयुग का मीलन हुआ है। ई० पू० की यह दो शताब्दियाँ भारतीय इतिहास में क्रान्तिकारिणी रही हैं। वैदिक धर्म के पुनर्जागरण के साथ देववाणी का पुनरुज्जीवन इस युग का प्रधान वैशिष्ट्य है। इसके पूर्व मौर्ययुग में बौद्धों के प्राधान्य के साथ राजाश्रय के अभाव के कारण वैदिक धर्म का प्रायः लोप हो चुका था तथा देववाणी संस्कृत का स्थान प्राकृत जनभाषाओं ने ग्रहण कर लिया था। शुङ्गयुग के आविर्भाव के साथ वैदिक यज्ञ-संस्कृति का पुनः प्रवर्तन हुआ तथा संस्कृत भाषा की पुनः प्रतिष्ठापना सम्पन्न हुई। बौद्ध तथा जैन सम्प्रदायों के प्रभाव से प्रवर्तित प्रादेशिक भाषाओं के साथ ही संस्कृत भाषा-सरित् सप्राण होकर प्रवहित होने लगी। वैदिक तथा लौकिक संस्कृतियों का समानान्तर प्रचलन इस कालखण्ड की विशेषता जान पड़ती है।

पतंजलि के महाभाष्य से यह निन्तात स्पष्ट है कि उच्चवर्णीयों के लिये वेदाध्ययन का स्थान अनिवार्य पाठ्यक्रम के रूप में प्रचलित था। ब्राह्मण बटु के लिये आवश्यक था कि वे धर्म तथा षडंग वेदों का अध्ययन निर्हेतुक रूप से करे—'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेय इति'[२]। वैदिक शब्दों के अध्ययन के पूर्व यह आवश्यक था कि शब्दों के उच्चारण-स्थान तथा सम्यक् उच्चारण की शिक्षा दी जाय। इस परम्परा में शिथिलता उत्पन्न होने के कारण व्याकरण-शास्त्र की दीक्षा ब्राह्मण अध्येताओं के लिये अनिवार्य मानी गई थी—

'तेभ्यस्तत्र स्थानकरणानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते तदद्यत्वे न तथा वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति'।[३]

'तेभ्य एवं विप्रतिपन्नबुद्धिभ्योध्येतृभ्य आचार्या इदं शास्त्रमन्वाचष्टे'।[४]

वेदों के स्वरयुक्त पठन तथा वेद-वर्णों के सम्यक् उच्चारण पर उस समय विशेष ध्यान दिया जाता था। मधुर कण्ठ से वेदपठन करने वाले छात्रों के लिए 'कोकिलाभिव्याहारी' यह संज्ञा प्राप्त थी[५]।

---

१. द्र० वाक्यपदीय, २, ४८४-४८८

२. द्र० १, १, १, पृ० १, पंक्ति १९, सं० अभ्यंकर।

३. वहीं, १.१,१ पृ० ५, पं० ७-९

४. वहीं, पं० १७

५. ६, २, ८०, पृ० १३१, पं० २१

वेदाध्ययन के लिये विभिन्न वेदों की शाखाएँ, रहस्यग्रन्थ तथा शिक्षादि अङ्गों का सम्यक् अध्ययन करना पड़ता था—

'चत्वारो वेदाः सांगाः सरहस्या बहुधा विभिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः'[1] ।

वेद के षडंगों में शिक्षा, छन्द, व्याकरण, कल्प आदि का अन्तर्भाव होता था। सामवेद के सांग अध्ययन में उसके शिक्षा-ग्रन्थों का अध्ययन सम्मिलित रहा हो, इसमें सन्देह के लिये अवकाश नहीं। साम के ये शिक्षा-ग्रन्थ कौन से थे इसका निर्णय प्रमाणाभाव से नहीं किया जा सकता। आपिशलि, पाणिनि तथा व्याडि के साथ गौतम का उल्लेख व्याकरणाचार्य के रूप में अवश्य उपलब्ध है किन्तु साम-शिक्षा के रचयिता गौतम से इनकी एकात्मता स्थापित करने के लिये प्रमाण उपलब्ध नहीं[2] ।

पतंजलि के अनुसार सामवेद सहस्रों शाखाओं में विभाजित हो चुका था। यह स्पष्ट है इन सहस्रों शाखाओं का निर्माण गान-प्रणालि में वर्तमान सूक्ष्म भेदों के कारण ही हुआ हो। पाठ की अपेक्षा गान में व्यक्तिगत विशेषता के लिये विशेष अवकाश रहता है, इसमें सन्देह नहीं। इसी कारण अन्य वेदों की अपेक्षा सामवेद का शाखा-भेद विपुल रहा हो, तो आश्चर्य नहीं। वैदिक अध्ययन-क्रम के अतिरिक्त क्षात्रविद्या, धनुर्विद्या तथा वैद्यक का नामोल्लेख पतंजलि के महाभाष्य में पाया जाता है[3]। पतंजलिपूर्वकालीन सङ्गीतसम्बन्धी विकासक्रम को दृष्टिगत करते हुये उनके समय तक गान्धर्व-विद्या के प्रतिष्ठित होने की यथार्थ कल्पना की जा सकती है।

महाभाष्य में अग्निष्टोम, राजसूय, वाजपेय तथा अश्वमेध जैसे वैदिक यज्ञों का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। इसी काल के अयोध्या-शिलालेख में शुङ्गवंशीय पुष्यमित्र के द्वारा दो अश्वमेध यज्ञ किये जाने के सम्बन्ध में निर्देश है[4]। स्वयं पतंजलि अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख तीन सन्दर्भों में करते हैं[5]। इन यज्ञों का

---

१. पृ० ९, पं० २१-२३

२. ६, २, २, ३६, पृ० १२५, पं० १२

३. १, ३, २१, पृ० २८०, पं० ८; १,१,१, पृ० ९, पं० २१-२३

४. द्र० 'जरनल आफ बाम्बे ओरियन्टल रिसर्च सोसायटी,' वाल्यूम १०, पृ० २०२ (देखें पुरी कृत 'इण्डिया इन पतंजलि' पृ० ३२ तथा तुलनार्थ द्र० 'मालविकाग्निमित्र,' अङ्क ५, पृ० १००)

५. १, ४, ९, पृ० ३१५, पं० ९; ३, १, ८५, पृ० ६४, पं० २२; ७, १, ३९, पृ० २५६, पं० १४

का सम्पादन वैदिक परम्परा के अनुसार विधिवत् किया जाता था[१]। वैदिक-कालीन औद्गात्र तथा वीणावादन इन यज्ञों में किया जाता रहा हो, इसमें सन्देहावकाश नहीं। महाभाष्य में सामगायक उद्गाता तथा उसके सहायक प्रतिहर्ता का स्पष्ट उल्लेख है[२]।

वैदिक संगीत के अतिरिक्त संगीत के लौकिक पक्ष के सम्बन्ध में पर्याप्त परिचय महाभाष्य से प्राप्त होता है। आचार्यों के अन्यान्य सम्प्रदायों में शैलालि तथा मार्दंगिकों का उल्लेख वहाँ उपलब्ध है[३]) इससे स्पष्ट हो जाता है कि नाटच के अतिरिक्त मृदंगवादन की विभिन्न शैलियों का विकास उस समय आरम्भ हो चुका था। पतंजलि में निम्न वाद्यों का उल्लेख प्राप्त होता है—वीणा, तूणव, शंख, मृदंग, मंडूक, झर्झर तथा पिठर। इन कलाओं में नैपुण्यप्राप्त व्यक्ति पतञ्जलि के काल में वर्तमान थे। मृदंग-वादन में निपुण व्यक्ति को 'मार्दंगिक' कहा जाता था—'मृदंगवादनं-शिल्प मस्य मार्दंगिकः'[४]। मड्डुक नामक अवनद्ध वाद्य में प्रवीण व्यक्ति के लिये 'माड्डुक' संज्ञा थी—'मड्डुकवादनं शिल्पमस्य माड्डुकः' (काशिका, पृ० ६६)। जहाँ तक झर्झर तथा पिठर नामक वाद्यों का सम्बन्ध है, उनके वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में निर्णय प्रमाणाभाव से सम्भाव्य नहीं[५]।

संगीत का प्रयोग समाज जैसे लोकोत्सवों के अवसर पर होता था। इस अर्थ में पतंजलि ने समाज, समास तथा समवायक तीनों शब्दों को पर्यायवाचक माना है[६]। इसी के अन्तर्गत स्तूपमह नामक विशिष्ट लोकोत्सव का निर्देश पतंजलि ने किया है[७]। गीत—वाद्य के अतिरिक्त नृत्य तथा नाटच कला का विकास इस युग में उपलब्ध होता है। प्रियतमा को प्रसन्न करने वाले मयूर के नृत्य का उल्लेख करते हुए पतंजलि इसके उद्दीपक पक्ष को स्पष्ट करते हैं—

'प्रियां मयूराः प्रतिनर्नृतीति यद्वत् त्वं नरवर ननृतीषि हृष्टः'।[८]

---

१. १, १, १, पृ० ९ पं० १७

२. २, ४, १, पृ० ३७२, पं० १२; ३, २, १३५, पृ० १३०, पं० २३

३. ४, २, ६६, पृ० २८६ पं० १८; ४, ४, ५५, पृ० ३३२, पं० ४

४. ४, ४, ५५, पृ० ३३२, पं० ५

५. द्र० 'इण्डिया इन पतंजलि', पृ० ३३२, जिसमें झर्झर के अवनद्ध वाद्य होने के सबन्ध में तथा पिठर के कांस्य-सदृश होने के सम्बन्ध में कल्पना की गई है। निर्णायिक प्रमाण के अभाव में इस मत को ग्रहण नहीं किया जा सकता।

६. १, १, ५०, पृ० १२३, पं० ३

७. द्र० वहीं, पृ० २३५

८. ७, ३, ८७, पृ० ३३८, पं० २३-२४

नृत्य करने वाली स्त्रियों के लिये पतंजलि में 'नर्तकिका' शब्द का प्रयोग हुआ है[१]। तत्कालीन शिलालेख से स्पष्ट है कि नटवर्ग के लिये 'शैलालक' संज्ञा का प्रयोग भी किया जाने लगा था[२]। नाट्यकला के विभिन्न अङ्गों का विकास इस युग में स्पष्टतः दृग्गोचर होता है। कंसवध तथा बलिबन्ध की कथाओं को रंगमंच पर अभिनीत किया जाने लगा था—

'ये तावदेते शोभनिका मामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्ति इति······अतश्च सतः व्यामिश्रा हि दृश्यन्ते केचित् कंसभक्ता भवन्ति केचित् वासुदेवभक्ताः। वर्णान्यत्वं खलु पुष्यन्ति। केचिद्रक्तमुखा भवन्ति केचित् कालमुखाः'[३]।

कंसवध तथा बालिबन्ध जैसे उपाख्यानों का उपयोग नाट्य, चित्र तथा काव्य के रूप में प्रचलित था। नट अपनी वेशभूषा के अन्तर्गत नानाविध केशभूषा करते थे—'सर्वकेशिनो नटाः'[४]। भूमिकाभिनय के सम्यक् निर्वाह के लिये पात्रोचित रंग से मुखों को रंजित किया जाता था। नटों के साथ उनकी भार्यायें रंगमन्च पर अभिनय करती थीं—

'व्यंजनानि पुनर्नटभार्यावद्भवति। नटानां स्त्रियो रंगं गता यो यः पृच्छति कस्य यूयं कस्य यूयमिति तं तं तव तवेत्याहुः'[५]।

सफल अभिनय के द्वारा प्रेक्षकों में रसोद्रेक किया जाता था। पाणिनि के 'रसादिभ्यश्व' पर भाष्य करते हुए पतंजलि नट को रसिकपदवाच्य मानते हैं—'रसिको नटः'[६]।

पाणिनि के सूत्र 'हेतुमति च' पर व्याख्या करते हुए पतंजलि ने सौभिक अथवा शोभनिक तथा ग्रन्थिक दोनों के कार्यों का स्पष्ट निर्देश किया है[७]। कैयट के अनुसार ग्रन्थिक के लिये अपर संज्ञा 'कथक' थी[८]। सौभिक वर्ग का कार्य नटों

---

१. ६, ३, ४२, पृ० १५८, पं० १६

२. कुषाण काल के एक शिलालेख में नट के लिये 'शैलालक' शब्द को प्रयुक्त किया गया है, द्र० 'एपिग्राफिया इण्डिका, भाग १, पृ० ३९०, नं० १८। और द्र० पतंजलि, ४,२,६६, पृ० १८—'शैलालिनो नटाः'।

३. ३, १, २६, पृ० ३६, पं० १५

४. २, १, ६९, पृ० ४०३, पं० २२

५ म० भा० भा० ३, पृ० ७; द्र० 'हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स,' पृ० ३२२, काणे

६. ५, २, ९५ पर भाष्य

७. ३, १, २६

८, वहीं, कैयट भाष्य

को अभिनय–शिक्षा देने का था[1]। कंसवध तथा बालिबन्धन जैसी घटनाओं को रंगमञ्च पर प्रत्यक्ष अभिनीत करने के सम्बन्ध में यथावत् शिक्षा वे देते थे। कैयट के निम्न भाष्य से यह परम्परा सुस्पष्ट लक्षित होती है—

'कंसानुकारिणां नटानां व्याख्यानोपाध्यायाः कंसानुकारी नटः सामाजिकैः कंसबुद्ध्या परिगृहीतः कंसो भाष्ये विवक्षितः।'

ग्रन्थिक का कार्य था ग्रन्थ-पठन के साहाय्य से जनता के सम्मुख प्राचीन आख्यानों को प्रस्तुत करना। पौराणिक व्यक्तियों की जीवनी का आद्यन्त वर्णन शब्दों के द्वारा ये लोग करते थे।

'ग्रन्थिकेषु कथम्। यत्रशब्द-ग्रन्थ-गड्डमात्रं लक्ष्यते। तेपि तेषामुत्पत्ति-प्रभृत्या विनाशादृद्धीर्व्याचक्षाणाः संतो बुद्धिविषयान् प्रकाशयन्ति।[2]

आख्यानों को प्रभावोत्पादक करने के लिये अभिनय तथा रंगभूषा का आश्रय किया जाता था—'व्यामिश्राश्च दृश्यन्ते।'

पतंजलिकालीन नाट्य में पाठ्य, गान तथा अभिनय तीनों का समावेश था और इनको सार्वजनिक रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता था। पाणिनि के १, ४, २९ सूत्र पर भाष्य करते हुए पतंजलि ने इसी तथ्य को स्पष्ट किया है—

'आख्यातोपयोगे। उपयोग इति किमर्थम्। नटस्य शृणोति ग्रन्थिकस्य शृणोति। उपयोग इति उच्यमाणेपि अत्र प्राप्नोति। एषोऽपि हि उपयोगः। अतश्च उपयोगो यदारम्भका रंगं गच्छन्ति नटस्य श्रोष्यामो ग्रन्थिकस्य श्रोष्याम इति'[3]।

इससे स्पष्ट है कि पतंजलिकालीन नाट्यकला मूकाभिनय से पर्याप्त आगे बढ़ चुकी थी। नाट्य में कथनोपकथन, अभिनय, रंगभूषा तथा रंगभूमि जैसे विषयों का समावेश हो चुका था तथा रस के सम्बन्ध में कल्पना अंकुरित हो गई थी। नट रंगभूमि पर गायन भी करता था इसका पतंजलि में निम्न प्रमाण पाया जाता है—

'अगासीन्नटः'[4]।

लोककला का प्रस्फुटन भी इस युग में पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। यक्ष, यक्षिणी, किन्नर, किन्नरी तथा नाग की मूर्तियों का निर्माण इस काल में किया जाने लगा[5]। सांची, भारहुत अजन्ता आदि स्थानों पर इसी समय के लोक-

१. २, १, ६९, पृ० ४०३, पं० २२
२. वहीं, पृ० ३६
३. म० भा० पृ० ३२९, पं० ८
४. पाणिनि २,४,७७ पर भाष्य, भाग १, पृ० ४९५
५. द्र० 'इण्डिया इन पतंजलि,' पुरी कृत, पृ० २३०।

लोक-संगीत की कलात्मक अभिव्यंजना प्रस्फुटित हो उठी है। ई० पू० २ के कोण्डाणे तथा कार्ले की लेणों में समूह-नृत्यों के दृश्य अंकित हैं, जिसमें पुरुष तथा स्त्रियों का स्वच्छन्द नृत्य दर्शाया गया है[१]। भारहुत के एक चित्र में एक नृत्य का दृश्य अंकित है जिसमें प्रियतमा नृत्य के माध्यम से प्रियतम का अनुनय-विनय करती हुई अंकित है। एक अन्य चित्र में अप्सराओं को गान-वादन-नृत्य में तत्पर दिखलाया गया है। एक अन्य दृश्य महिलाओं के सामूहिक नृत्य की अवतारणा कर रहा है, जिसमें नृत्य की संगति में गीत तथा वाद्यवादन भी प्रचलित है। एक शिल्प में नागकन्या नृत्य अंकित है जिसमें नागराज के उत्क्षिप्त फणपर नागकन्या विविध भावाभिनयों से नृत्य कर रही है। एक अन्य दृश्य में नागराज का नृत्य अंकित किया गया है।[१]

भारहुत के एक स्तम्भ पर यक्षिणी को नृत्याभिनय की अवस्था में चित्रांकित किया गया है।[१] शुङ्गकालीन मृण्मय मूर्तियों में दो नर्तकियों तथा एक यक्ष की मूर्ति उपलब्ध हुई है, जिसमें यक्ष को सुषिर वाद्य बजाते हुए अंकित किया गया है।[३] कोसम से उपलब्ध शुंगकालीन मूर्तियों में एक युगलमूर्ति प्राप्त हुई है, जिसमें पुरुष को वीणा बजाते हुये दिखलाया गया है[४]।

इस युग के अजण्ठा, सांची तथा भारहुत के शिल्पों में तत्कालीन वाद्यों की आकृतियाँ स्पष्टतः परिलक्षित होती है। इन्द्रशालागुहा के दृश्य में तथा औद्भुत जातक के दृश्य में वीणा का चित्र स्पष्टतः अंकित है[५]। एक अन्य नृत्य-सम्बन्धी दृश्य में नृत्य के साथ कांस्यताल, दो वीणायें तथा मृदंग अंकित है[६]। एक अन्य चित्र में इन्द्र के वीणावादक पंचशिख के हाथ में वीणा अङ्कित है[७]। अवनद्ध वाद्य दो रूपों में अङ्कित पाया जाता है—एक अल्पाकृति, जिसको

---

१. द्र० मथुरा संग्रहालय, आकृति ५, अग्रवाल; द्र० पुरी कृत इण्डिया इन पतंजलि, पृ० २५२।

२. वहीं आ० ३२,३४,३५, ४०; आकृतियों के लिये द्र० अग्रवाल कृत 'हैण्डबुक आफ स्कलपचर्स इन मथुरा म्यूजियम'; द्र० पुरी, पृ० २५२।

३. द्र० भारत कलाभवन काशी। तथा 'जरनल आफ यू० पी० हिस्टारिकल सोसायटी,' खण्ड १८, पृ० ८२; पुरी, पृ० २५३।

४. द्र० कनिंघम 'भारहुत स्तूप,' लन्दन, १८७९, द्र० चित्र २६, ४; २८, ४

५ वहीं, चित्र १६, आ० १ तथा चित्र १५, आ० १

६. द्र० भारहुत, बरुआ, आ० ५६

अङ्गुलियों से बजाया जा रहा है तथा दूसरा बृहदाकार, जिसको स्कन्ध से लटका कर दण्ड से बजाया जा रहा है[१]। एक अन्य चित्र में वंशी तथा दो कांस्य वाद्यों का अङ्कन हुआ है[२]।

इस युग के शिल्पों में जिन वाद्यों का अंकन हुआ है, उनमें प्रामुख्य से वीणा, मृदंग, ढोलक, ढप, वंशी तथा शृंग का अन्तर्भाव है। भारहुत के एक नृत्य-दृश्य में नर्तिकाओं का समूह-नृत्य उपलब्ध है, जिसमें संगति के लिये दो वीणाओं, कांस्य, मृदंग तथा पाणिवादक का अङ्कन किया गया है। मृदंग ऊर्ध्वाकृति है तथा नानातंत्रीयुक्त वीणा को अङ्क में रख कर दक्षिण हस्त में गृहीत कोण के द्वारा बजाया जा रहा है। वीणा का आकार स्पष्टतः ईजिप्सियन लायर से मिलता-जुलता है[३]। सांची के तोरण (ई० पू० २) पर संगीत के प्रसंग में ऐसी ही वीणा का अंकन हुआ है[४]। एक अन्य चित्र में वादक-वृन्द अंकित है, जिसमें एक वंशी-वादक है, दो ढोलकसदृश वाद्य बजा रहे हैं और शेष दो के हाथ में लम्बे शृंगाकृति वाद्य हैं[५]। वंशी स्पष्टतः दो लकड़ियों को मिलाकर बनाई गई है। सांची के नृत्यदृश्य में नृत्य के साथ दो मृदंग तथा वीणा की संगति अङ्कित है। वीणा, जो आकार-प्रकार में आधुनिक तम्बूरे के समान है, स्कन्ध पर स्थापित की गई है[६]।

अवनद्ध वाद्यों के अन्तर्गत भारहुत में ढप, ढोलक तथा मृदंग का चित्र अङ्कित है[७]। ढप को छोड़ कर अन्य सभी वाद्यों को वादन-दण्ड के द्वारा बजाया जा रहा है। मृदंग में एक तिर्यक् स्थापित है तथा अन्य दो ऊर्ध्वाकृति हैं, जो सम्भवतः भरतकालीन त्रिपुष्कर का प्रतिनिधित्व करते हैं। अमरावती के शिल्प में इसी प्रकार की तीन मृदंगाकृतियाँ लक्षित होती हैं, जिसमें वादक वाम हस्त से तिर्यक् मृदंग के वाम मुख को बजा रहा है तथा दक्षिण हस्त से उर्ध्वाकृति मृदंग पर प्रहार कर रहा है[८]। अजण्ठा में अवरोध-संगीत का एक

---

१. वहीं चित्र १६, पृ० ९१
२. वहीं, आ० १२८
३. प्रबंध के अन्त में आ० ७।
४. वहीं, आ० ८।
५. वहीं, आ० ८ आ।
६. वहीं, आ० ९।
७. वहीं, आ० १०, ११, १२, १३।
८. द्र० आ० १४।

दृश्य अङ्कित है, जिसमें नर्तकी के सुन्दर नृत्याभिनय के साथ दो वंशी, दो कांस्य-ताल तथा तीन अवनद्ध वाद्य दर्शित हैं। एक अवनद्ध वाद्य, जो स्कन्ध से लटकाया गया है, स्पष्टतः डमरू से सादृश्य रखता है तथा अङ्गुलियों के द्वारा एक ही ओर से बजाया जा रहा है[1]। अजण्ठा की नं० १० की गुहा में राजा को बोधिवृक्ष की पूजा करते हुये अङ्कित किया गया है। आराधना के साथ गीत, वाद्य तथा नृत्य का प्रदर्शन पन्दरा महिलाओं के द्वारा किया जा रहा है। तीन महिलाएँ नृत्य कर रही हैं, दो के हाथों में शहनाई अथवा नागस्वरम् की आकृति वाले लम्बे सुषिर वाद्य हैं तथा अन्य स्त्रियाँ तालियाँ बजा कर संगति कर रही हैं[2]।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पतंजलि के काल में संगीत तथा नाट्य दोनों कलाओं को लोकप्रियता प्राप्त थी[3]। तत्कालीन समाजों में गीत, वाद्य, नृत्य तथा नाट्य के सामूहिक प्रयोग किये जाते थे। तूर्य, त्रिपुष्कर तथा सप्ततन्त्री वीणा उस समय के लोकप्रिय वाद्य थे। लौकिक संगीत के अतिरिक्त सामगान का प्रचार यज्ञों तक सीमित था। नाट्य के लिये रंगभूमि का निर्माण किया जा चुका था। नटों के अतिरिक्त कथक नामक वर्ग था, जो पौराणिक आख्यानों को अभिनय के साथ प्रस्तुत करता था। नाट्य-व्यवसाय करने वाले लोगों को नृत्य तथा अभिनय का यथाविधि शिक्षण दिया जाता था। रंगमंच पर नटस्त्रियाँ भी भूमिकाभिनय करती थीं तथा प्रसंग पड़ने पर पति के अतिरिक्त किसी अन्य नट की भार्या का अभिनय करने में संकोच का अनुभव नहीं करती थीं। पुरुषों की भूमिका पुरुष-वर्ग करता था तथा स्त्री-भूमिका का अभिनय स्त्रियाँ करती थीं। नट लोग उचित वेश तथा रंग-भूषा के साथ अभिनय करते थे। नाट्य-प्रयोग में पाठ्य, गीत, अभिनय तथा रस इन चतुर्विध उपादानों की कल्पना इस युग तक अङ्कुरित हो चुकी थी। भरत की नाट्यवेदविषयक कल्पना इसी का विकसित रूप मानी जा सकती है[4]।

वात्स्यायन कामशास्त्र में संगीत

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के पश्चात् भारतीय जीवन के इहलौकिक तथा भौतिक पक्ष पर प्रकाश डालने वाला महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ वात्स्यायन कृत कामसूत्र

१. वहीं, आ० १५।

२. द्र० याजदानी कृत 'हिस्ट्री आफ दी डेक्कन,' खण्ड ७।

३. द्र० 'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर,' खण्ड १, पृ० ६३६–६४०, दास गुप्ता तथा डे कृत।

४. द्र० 'नाट्यशास्त्र,' अध्याय १, जिसमें भरत ने नाट्यवेद के अन्तर्गत इन चार अंगों को मान्यता प्रदान की है।

है[१]। यह ग्रन्थ आपाततः काममूलक तथ्यों का उद्घाटक होते हुये धर्माविरोधि काम का समर्थक है[२]। पुरुषार्थचतुष्टय में काम का स्थान महत्त्वपूर्ण है तथा मानव के सम्पूर्ण तथा संघटित व्यक्तित्व के विकास में ही इसका महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं अपि तु अन्तिम पुरुषार्थ की सिद्धि में एक सोपान के सदृश है। वात्स्यायन का कामसूत्र (ई० ३ श०) प्राचीन परम्परा से पृथक् किसी स्वतन्त्र परम्परा का प्रतिपादक ग्रन्थ नहीं, अपितु प्राचीन एवं परम्परागत कामशास्त्र विषयक मान्यताओं पर प्रतिष्ठित ग्रन्थ है। वात्स्यायन के पूर्व कामशास्त्र के प्राचीन आचार्य नन्दिन्, बाभ्रव्य, दत्तक आदि के द्वारा यह परम्परा स्थापित हो चुकी थी, यह तथ्य प्रस्तुत कामसूत्र से प्रमाणित है[३]। इससे स्पष्ट है कि इसमें उपलब्ध संगीतकला विषयक मन्तव्य केवल वात्स्यायन की समकालीन परिस्थिति के द्योतक न होते हुये उससे पूर्व कुछ शताब्दियों से प्रवर्तित परम्परा पर प्रकाश डालने वाले हैं। कामसूत्र में भारत के विभिन्न नगरकेन्द्रों का सांस्कृतिक परिचय प्राप्त है, जो तत्तद्देशीय विशिष्टताओं पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। मुख्यतः कामशास्त्र पर होते हुए भारत के विभिन्न प्रदेशों के सांस्कृतिक जीवन-रहस्यों का उद्घाटन उससे होता है। भारतीय कलाभिरुचि के सम्बन्ध में विभिन्न अज्ञात पक्षों के प्रकटीकरण में सहायक होने के नाते प्रायः ई० पू० ५ से लेकर ई० ३ तक के प्रदीर्घ कालखण्ड तक की संगीतकला विषयक प्रवृत्तियों को समझाने में वह नितान्त सहायक सिद्ध हो सकता है। मानव-जीवन से सन्निकट सम्बन्ध रखने वाले कामशास्त्र की परम्परा में संगीत का मूल्यांकन यहाँ वात्स्यायन के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

कामसूत्र प्रधानतः नागरक जीवन का विवेचन करने वाली कृति है।

---

१. श्मिड के अनुसार यह ई० पू० २ की कृति है—द्र० 'संस्कृत साहित्य का इतिहास,' दास गुप्ता और डे, पृ० ६४५; चकलादार इसे ई० ३ में रखते हैं।

२. सोशल लाइफ इन एनशन्ट इण्डिया,' पृ० ७३, चकलादार कृत।

३. वहीं, पृ० ११–१२।

भरत के नाट्यशास्त्र में कामतन्त्र का स्पष्ट उल्लेख निम्न पंक्तियों में पाया जाता है, जिससे प्रमाणित है कि इन ग्रन्थों की परम्परा ईसवी के बहुत पूर्व प्रतिष्ठापित हो चुकी थी—

'भावाभावौ विदित्वा तु ततस्तैस्तैरुपक्रमैः। पुमानुपचरेन्नारीं कामतन्त्रं समीक्ष्य तु। भावाभावौ विधायैवं ततस्तैस्तैरुपक्रमैः। उपसर्पेत्तथा नारी कामतन्त्रं समीक्ष्य तु॥ ना० शा०॥

नागरक केवल नागर अथवा नगरनिवासी व्यक्ति नहीं। पाणिनि के अनुसार नागरक वह व्यक्ति है जो अपनी कलात्मक सदभिरुचि तथा संस्कृति के कारण सुखमय जीवन व्यतीत करता है[1]। पाणिनि के समय से नगर की संस्कृति का विकास शनैः-शनैः वर्धमान था और कला, साहित्य एवं संस्कृति के केन्द्र-रूप में जनता का प्रवाह तत्कालीन नगरों की ओर प्रवर्तित हुआ था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इसी नागर संस्कृति का प्रतिबिम्ब पड़ा हुआ है। वात्स्यायन में नगर सभी के लिये आकर्षण का केन्द्र है[2]। ग्रामीण व्यक्ति नागर संस्कृति को आदर्श मानकर उस जीवन की अनुकृति करने में कृत कृत्यता मानते थे। ग्राम-निवासी व्यक्ति ललितकला में निपुण होने पर स्वाभाविक रूप से नगर की ओर आकृष्ट हो जाता और अपने जीविकार्जन के साथ ही प्रतिष्ठा और यश प्राप्त करता था। नगर में किसी राजा की सभा में अथवा समृद्ध श्रेष्ठिन् के आश्रय में अथवा नागरकों की गोष्ठियों वा श्रेणियों में कलावान् व्यक्ति को जीविका के लिए पर्याप्त अवकाश प्राप्त होता था। (कामसूत्र के अनुसार जिन व्यक्तियों के पास द्रव्य का अभाव हो, ऐसे भुक्तवैभव व्यक्ति कला-नैपुण्य के माध्यम से विभिन्न समाजों तथा सुख-गृहों से अपनी जीविका का अर्जन कर सकते थे[3]। द्रव्याभाव से पीड़ित नागरक ललितकला-नैपुण्य के आधार पर नागरकों के समाजों में कलाप्रदर्शन करते थे तथा गणिकाओं के भवनों में पर्यटक कलाचार्य का व्यवसाय करते थे[4]।) उस काल का भारतीय समाज कलात्मक विनोदों से जीवन के सुन्दरम् पक्ष का यथार्थ रूप में साक्षात्कार किया करता था। अजण्ठा में उपलब्ध चित्रों में अन्तःपुर में प्रवर्तमान गीत-नृत्य-विनोद का यथार्थ अङ्कन हुआ है[5]। दाक्षिणात्य प्रदेश के रुचिर राजविलासों का विवरण देते हुये वात्स्यायन ने विलास तथा उपभोगों की मनोरंजक सामग्री का उल्लेख किया है[6]। प्रतीत होता है कि स्त्रियों के साथ विलास करते समय उनके शरीर पर स्नेहसूचक प्रहार करने की मनोरंजक प्रणाली वहाँ प्रचलित थी[7]। कभी-कभी

---

१. ६, २, १२८–२।

२. १, ४, सू० १–२।

३. १, ४, सू० ४५।

४ १, ४, सू० ४४।

५. द्र० भारत के कलात्मक विनोद, पृ० ५३, ८८ तथा ९६, हजारी प्रसाद द्विवेदी।

६ सोशल लाइफ इन एनशन्ट इण्डिया, पृ० ६१, चकलादार।

७. द्र० का० सू० २,७,२३, पृ० १४७–१४८।

यह प्रहार प्राणघातक सिद्ध होते थे। पाण्ड्य राजा के सेनाधिपति किसी राजा के द्वारा नर्तकी के भाल पर विद्ध नामक प्रहार किये जाने की घटना कामसूत्र में उल्लिखित है[1]। इस प्रहार के कारण वह नर्तकी अपना नेत्र खो बैठी थी ऐसा उल्लेख वहाँ उपलब्ध है। (महाराष्ट्र की नारियों के सम्बन्ध में वात्स्यायन ने कहा है कि वे चौंसठ पांचाल कला अथवा कामकलाओं में निपुण थीं, जिसमें गीत, वाद्य, नृत्य का मूर्धन्य स्थान था[2]। शिल्प अथवा कलाओं का व्यवसाय करने वाले महिलावर्ग में शिल्पकारिका, कलाविदग्धा, नटी अथवा नाटकीया स्त्रियों का अन्तर्भाव था[3]। ये स्त्रियाँ संगीत, नाट्य, चित्र इत्यादि कलाओं के माध्यम से अपना योगक्षेम वहन करती थीं[4])। इन कलाओं का व्यवसाय करने वाला पुरुष-वर्ग कुशीलव, गायन इत्यादि नामों से ज्ञात था तथा समाज में हीन दृष्टि से देखा जाता था। व्यवसाय की दृष्टि से हीन मानी जाने पर भी कला की दृष्टि से संगीत का स्थान सर्वोच्च था तथा नागरक के जीवन तथा शिक्षादीक्षा का अभिन्न अङ्ग था। उन दिनों किसी नागरक को नागरक कहलाने के लिये तथा सहृदय-गोष्ठियों में प्रवेश पा सकने के लिये कलाओं की मर्मज्ञता आवश्यक होती थी। गीत, वाद्य, नृत्य, चित्रकारी, जलक्रीडा के अन्तर्गत उदक-वाद्यों का वादन, वीणा एवं डमरू आदि वाद्यों का वादन इत्यादि कलाएँ सभी सभ्य नागरकों के लिये आवश्यक मानी जाती थीं। समकालीन साहित्य से विदित होता है कि विवाह योग्य वर तथा वधू के लिये कलाप्रावीण्य एक अभीष्ट गुण माना जाता था[5]। प्रियाराधन के लिये संगीतादि ललित कलायें उपयुक्त मानी जाती थीं। प्राप्तयौवना कन्या के लिये वरसंशोधन करने में कलानैपुण्य साहाय्यप्रद बताया गया है[6]। यौवनस्थिता प्रेयसी के प्रणयाराधन के लिये भी कलाओं में निपुणता परम सहायिका मानी गयी है। प्रियतमा का विश्वास सम्पादित करने के पश्चात् उसके हृदय को सदैव अनुकूल एवं प्रसन्न रखने के लिये संगीत से अधिक श्रेष्ठ साधन नहीं, ऐसा वात्स्यायन का मत है[7]। महिलाओं की संगीत शिक्षा विवाह के पश्चात् भी प्रचलित रहती थी। पति के

---

१. का० सू० २,७, सू० २९, टीका, पृ० १४९।

२. वहीं २, ५, २९, पृ० १२६–१२७; द्र० चकलादार, पृ० ६३।

३. तुलनार्थ द्र० कौटिल्य अर्थशास्त्र।

४. का० सू० ४, २, ७८, पृ० २४४; १,४,४८, पृ० ५७।

५. द्र० चकलादार, पृ० ८४–८५; तुलनार्थ द्र० ललितविस्तर,

६. द्र० वहीं, पृ० ९८; का० सू० ३,४,४१, पृ० २१४।

७. द्र० वहीं पृ० ९७; का० सू० ३, ३, १७, पृ० २०३

इच्छानुकूल वे संगीत का अध्ययन किसी संगीतज्ञ के निरीक्षण में कर सकती थीं अथवा पति के संगीतविशारद होने पर उसी से संगीत के पाठ ग्रहण करती थीं[1]। महिलावर्ग के लिये ललितकलाओं की शिक्षा आवश्यक थी[2]। राजकन्याओं एवं गणिकाओं के लिये इन कलाओं का विशिष्ट अध्ययन अपेक्षित था। ललितकलाओं में प्रवीण वधू अपने बहुपत्नीक पति का मन सदैव वश में रख सकती थीं[3]। वात्स्यायन के अनुसार कर्णमधुर गान प्रियतम के अनुराग-सम्पादन के लिये अमोघ अस्त्र है[4]। ऐसे गीतों में प्रियतम का नाम-धाम निबद्ध करने की प्रणाली थी[5]। प्रणय-व्यवहार के माध्यम के रूप में संगीतादि कलाओं का उपयोग किया जाता था। कामसूत्र में ऐसी परिव्राजिकाओं का उल्लेख है, जो संगीतादि कलाओं में प्रवीण होती थीं तथा इन कलाओं के माध्यम से नागरक के प्रणय-व्यवहारों में साहाय्य करती थीं[6]। वात्स्यायन के अनुसार ललितकलाओं का अध्ययन प्रसंगवशात् जीविकार्जन के लिये उपयुक्त सिद्ध होता था[7]। आपत्ति पड़ने पर महिलायें इसी कला के द्वारा अपनी जीविका चलाती थीं[8]।

वीणा, वंशी, डमरू आदि वाद्यों का उस समय विशेष प्रचार था। संगीताध्ययन के अन्तर्गत इन वाद्यों की शिक्षा महिलाओं को दी जाती थी। वीणा उस समय के अभिजात समाज के लिये प्रियतम वाद्य था। प्रियतमा को भेंट तथा प्रणयोपहार के रूप में छोटी वीणाएँ दी जाती थीं[9]। नागरक की विलास-सामग्री के अन्तर्गत उसका प्रमुख स्थान था। उसके सुशोभित सभाजन-कक्ष में वीणा को नागदन्तक पर लटका कर रक्खा जाता था[10]। वंश वाद्य के

---

१. वहीं १, ३, २; ३, पृ० २८; ३, २, ३६; ६, २, ९; द्र० चकलादार पृ० १२१ तुलनार्थ द्र० रघुवंश, ८, ५७, तथा स्वप्नवासवदत्त, अ० ५, ४।

२. का० सू० १, ३, १६–२३, पृ० ३२–४१; तुलनार्थ द्र० मनु० ९, ७५।

३. द्र० चकलादार, पृ० १२७।

४. द्र० का० सू० ४,१,१५, पृ० ३६४; ३,३,१८, पृ० २०३; ६,२,२२, पृ० ३१२; ६,२,३२, पृ० ३१४।

५. तुलनार्थ–'मद्गोत्रांकं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा'। (मेघदूत, उत्तर०)

६. का० सू० १,४,४८; ५,४,४२; ७,१,१५; तुलनार्थ द्र० का० सू० ५,५, २५, पृ० २८५; ५,४.६२, पृ० २८०।

७. द्र० चकलादार पृ० १२७।

८. वहीं, पृ० १२७।

९. वहीं, पृ० १३५।

१०. वहीं, पृ० ११०।

सम्बन्ध में वात्स्यायन का मत है कि उसमें किसी युवति-हृदय को आकृष्ट करने की शक्ति है[1]। नानाविध वाद्यसमूह के लिये 'तूर्य' नामकरण पाया जाता है। ऐसे वाद्यवृन्द की संगति से स्त्री तथा पुरुष सम्मिलित गायन किया करते थे। ऐसे वृन्द-संगीत का संचालन प्रायः रंगोपजीवी नट के द्वारा किया जाता था। इन संगीत-मण्डलियों के सदस्यों को परस्पर-संघटित रखने पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इस कार्य के हेतु मण्डल का संचालक यदा-कदा अपनी कन्या का विवाह मण्डल के कुशलतम कलाकार के साथ कराता था[2]।

संगीत-शिक्षा का प्रबन्ध संगीतशालाओं के द्वारा किया जाता था। इन शालाओं का संचालन समस्त नगर की ओर से अथवा विभिन्न व्यावसायिक गणों की ओर से होता था। नागरक के पुत्रों तथा गणिकादि वर्गों को संगीत की उच्च शिक्षा दी जाती थी। इन शालाओं का पाठ्यक्रम समाप्त करने पर गणिका तथा अन्य विद्यार्थी न केवल जीविकार्जन के लिये योग्य बन जाते, अपितु सुसंस्कृत नागरक कहलाने के लिये पात्र बन जाते थे। संगीतशालाओं के अतिरिक्त विट, पीठमर्द आदि व्यक्ति निजी रूप से संगीताध्यापन का कार्य करते थे। वात्स्यायन ने विट, विदूषक तथा पीठमर्द का विवरण करते हुये बतलाया है कि पीठमर्द ललितकलाओं में निपुण व्यक्ति हुआ करते थे। तथा दूर दूर से आकर गणिकाओं को संगीतादि कलाओं की शिक्षा देकर जीविका-साधन करते थे।

नागरक के सांस्कृतिक जीवन में गोष्ठियों का प्रमुख स्थान था, जिनमें साहित्य तथा संगीत के सामूहिक आयोजन सम्पन्न होते थे। सन्ध्याकालीन कर्मों से निवृत्त होने पर समस्त नागरक किसी रसिक श्रीमान् के घर पर एकत्रित होकर संगीत के राग-रंग का रसास्वादन करते थे[3]। ऐसे आयोजनों में नृत्य, गीत, वाद्य तथा अभिनय जैसी कलाओं का प्रदर्शन होता। कलाकार होने के नाते गणिकाओं को ऐसी गोष्ठियों में सम्मान का स्थान प्राप्त था[4]। यदा-कदा ऐसी गोष्ठियाँ गणिकाओं के निवास-स्थान पर आयोजित होती थी, जिसमें नगर के सभ्य एवं प्रतिष्ठित व्यक्ति निःसंकोच रूप से सम्मिलित होते थे। चतुःषष्टि

---

१ का० सू० ७,२,४३।

२. द्र० चकलादार, पृ० १३६।

३. वहीं पृ० ११६ तथा १३०।

४. का० सू० १,३,२०—२१, पृ० ४०; तुलनार्थ द्र० 'नाट्यशास्त्र,' अ० २४, १०९–११३।

कलाओं में निपुण व्यक्ति प्रायः इन गोष्ठियों का संचालन किया करता था[1]। सभ्य स्त्रियों के लिये भिन्न गोष्ठियाँ हुआ करती थीं, जिसमें साहित्य तथा संगीत की प्रतियोगिताओं का सफल आयोजन समय-समय पर सम्पन्न होता था[2]। ऐसी गोष्ठियों में अविवाहित स्त्रियों को कलाप्रदर्शन के लिये पर्याप्त अवसर दिया जाता था। सफल कलाकर्त्रियों को योग्यतानुसार पुरस्कार दिया जाता था।[3]

गोष्ठियों के अतिरिक्त समाज नामक सभाओं का आयोजन किया जाता था। ऐसे आयोजन प्रायः नगर के सभी सदस्यों अथवा गण के सदस्यों के स्नेह सम्मेलनस्वरूप हुआ करते थे[4]। इनका आयोजन प्रत्येक पक्ष में प्रायः सरस्वती-मन्दिर में हुआ करता था। ऐसे प्रसंगों पर मन्दिर की सेवा के लिये नियुक्त कुशल संगीतज्ञों तथा कुशीलवों का कलाप्रदर्शन होता था। कभी-कभी कुछ विशिष्ट अवसरों पर विभिन्न देवालयों में नियुक्त कुशीलव वहाँ आकर नाटय-कार्यक्रम प्रस्तुत करते थे। इन नाटयों को 'प्रेक्षणक' कहा जाता था—

"पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेहनि सरस्वत्याः भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः। कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षकमेषां दद्युः।"

समय-समय पर अन्य स्थानों से आये हुए अतिथि कलाकारों के कलाप्रदर्शन को अवसर दिया जाता था और इनको योग्य पुरस्कार प्रदान किया जाता था। विशाल समारोहों पर कलाकारों की बृहत् मण्डलियों का सम्मिलित कार्यक्रम आयोजित होता था, जिसके स्वागत तथा पुरस्कार का दायित्व समस्त गण पर होता था। वात्स्यायन में यक्षरात्रि, कौमुदीजागर तथा सुवसन्तक नामक लोकोत्सवों के नाम दिये हैं, जिनको समस्त नागरिक जन सामूहिक रूप से मनाते थे।[5] इन समारोहों में गीत, वाद्य, नृत्य, नाटक, आख्यायिकाओं तथा हल्लीसक आदि का प्रदर्शन किया जाता था।[6] वात्स्यायन की दृष्टि में इन कार्यक्रमों का आयोजन समाज के ज्ञान-संवर्धन की दृष्टि से नितान्त उपयोगी रहा है।[7]

---

१. का० सू० २,१०,५०–५१।
२ वहीं, १,३,१६।
३ वहीं
४. का० सू० १,४,२७-३३।
५. 'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद,' पृ० १०६, द्विवेदी।
६. द्र० चकलादार, पृ० ११९।
७. का० सू० १,३,१६।

भास के नाटकों में संगीत

भास का उल्लेख कालिदास ने प्राचीन एवं प्रौढ़ नाटककार के रूप में किया है। भास की अन्यान्य कृतियों में संगीतविषयक उल्लेख यत्र तत्र पाए जाते है, जिनके आधार पर तत्कालीन संगीतकला के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है।

संगीतकला के लिये 'गान्धर्व' शब्द का प्रयोग भास की कृति में पाया जाता है। नारद गान्धर्व वेद के प्रवर्तक हैं तथा अपनी वीणा के सहारे हरिस्तव करते हुए बतलाये गये हैं[1]। उनसे सम्बद्ध नारदीय वीणा का स्पष्ट उल्लेख भास में उपलब्ध है—

वैतालिकायाः सकाशे वीणां शिक्षितुं नारदीयां गतासीत्।
(यौगं० अं० २)

गान्धर्व विद्या की शिक्षा तत्कालीन राजपरिवारों में प्रचलित थी। तदतिरिक्त सामान्य जनता में भी संगीत की शिक्षा स्वान्तःसुखाय अथवा जीविका निर्वाह के लिये ग्रहण की जाती थी[2]। राजा वत्सराज के कुल में संगीतशिक्षा परम्परा से प्रवर्तित थी—

'दर्पयत्येनं दायादागतो गान्धर्ववेदः' (यौगं० अं० २)।

राजकन्याओं को संगीत-शिक्षा बाल्यकाल से दी जाती थी। पति के रसिक होने पर यह शिक्षा पतिगृह में अखण्डित रहती थी। महासेनपुत्री वासवदत्ता का आरम्भिक अध्ययन उत्तरा नामक वीणावादिका के संचालकत्व में हुआ था तथा पतिकुल में राजा उदयन के निरीक्षण में यह क्रम अव्याहत रहा। राजभवन के परिसर में संगीतशालाएँ हुआ करती थीं, जिसमें गीत, वाद्य, नृत्य तथा नाट्य आदि कलाओं का यथाविधि शिक्षण प्रचलित रहता था। नाट्यसंगीत के लिये विभिन्न वाद्य तथा वेशभूषा की सामग्री भी वहाँ वर्तमान रहती थी। राजाज्ञा पर तथा विशिष्ट प्रसंगों पर नाटकाभिनय के लिये इन कलाकारों को सज्ज रहना पड़ता था[3]।

गान्धर्व के अध्ययन के लिये पूर्ण निश्चिन्तता की आवश्यकता होती है, इसका संकेत भास की निम्न उक्ति में है—

---

१. बाल० १,५
२. चारु० अं० २
३. प्रतिभा० १

'अये गान्धर्वध्वनिरिव श्रूयते। को नुखल्वयं सर्वकालसुखी पुरुषः कान्तया सह गान्धर्वमनुभवति'।[1]

भास के काल में गान्धर्व की प्रतिष्ठापना उपवेद के रूप में हो चुकी थी, इसका संकेत ऊपर किया जा चुका है। शास्त्र-प्रतिष्ठापना के साथ कला के विभिन्न उपादानों की सम्यक् मीमांसा होने लगी थी, यह तथ्य निर्विवाद है। गान्धर्व के रक्त, सम, स्फुट, मधुर आदि गुणों का उल्लेख निम्न श्लोक में द्रष्टव्य है—

रक्तं च तारमधुरं च समं स्फुटं च भावार्पितं च न च साभिनयप्रयोगम्।
किं वा प्रशस्य विविधैर्बहु तत्तदुक्त्वा भिन्यन्तरं यदि भवेत् युवतीति विद्याम्॥[2]

अर्थात् गायक का गान रक्त है, तार स्थान में गाये जाने पर मधुर है, सम है, स्फुट है, भावपूर्ण है तथा यथायोग्य अभिनय से सम्पन्न है।

भास के नाटकों में वाद्यों के लिये आतोद्य शब्द का प्रयोग हुआ है (बाल० ३)। प्रतीत होता है कि 'तूर्य' शब्द का प्रयोग चतुर्विध वाद्य तथा वाद्य—विशेष उभय अर्थों में हुआ है। वितत अथवा चर्मावृत वाद्यों में पटह, डिण्डिम, दुन्दुभि का उल्लेख प्राप्त है। डिण्डिम, तूर्य तथा पटह वाद्यों का वादन लोकोत्सवों पर तथा मंगल अवसरों पर किया जाता था।[3] युद्धों में वीरों के उत्साह वर्धन के हेतु शंख तथा पटह की ध्वनि की जाती थी[4]। वीणा का गौरव—गान चारुदत्त नाटक के भिन्न श्लोक में हुआ है—

उत्कण्ठितस्य हृदयानुगता सखीव संकीर्णदोषरहिता विषयेषु गोष्ठी।
क्रीडारसेषु मदनव्यसनेषु कान्ता स्त्रीणां तु कान्तरतिविघ्नकरी सपत्नी॥३,१॥

अर्थात् वीणा सोत्कण्ठ पुरुषों के लिये हृदय—सहचरी सखी के समान है तथा विषय—लालसा का निर्दोष रूप है, मदनोचित काम—केलि में कान्ता के सदृश है तथा स्त्रियों के लिये रतिविघ्नकरी सपत्नी के समान है। वीणावादन न केवल मानवों को आकृष्ट करने वाला है, अपितु मन्त्रविद्या के समान मत्तमातंगों को भी वशीभूत करता है।[5] भास के अनुसार नारदीय वीणा का वादन करजाग्र

---

१. अवि० अं० ३

२. चारु० ३, २; गान्धर्व के गुणों के विवरण के लिये द्रष्टव्य इसी प्रबन्ध अ० २ 'ग' विभाग के अन्तर्गत 'शिक्षा—ग्रन्थों में संगीतशास्त्र का शिलान्यास'।

३. बाल०; ५, १४; पृ० ५५३।

४. वहीं पृ० ५५३।

५. प्रतिज्ञा २,१२।

अथवा नखों के द्वारा किया जाता था ।[1] निम्न श्लोक में ऐसी ही अंगुलि-वादित वीणा का संकेत है—

उच्चं हर्म्यं सन्निरुद्धश्च जालास्तन्त्रीनादः श्रूयते सानुनादम् ।
बाह्यस्थानं व्यक्तमेवं प्रयोक्तुं किं सामर्थ्यं स्त्रीकराग्रांगुलीनाम् ॥अभि० ३,५॥

अर्थात् जालियों से जडित उच्च अट्टालिकाओं से तन्त्रीनाद अपने अनुरणन के साथ प्रतिध्वनित हो रहा है । तन्त्री का नाद हर्म्य से बाहर गूँज रहा है । ऐसे नाद–गुंजन की शक्ति स्त्रियों की सुकुमार अंगुलियों में कैसे संभाव्य है ?

कोण से बजाई जाने वाली घोषवती नामक अन्य वीणा का उल्लेख भास में है, जैसे,

हस्तेन स्रस्तकोणेन कृतमाकाशवादितम् ॥[2]

यह वीणा नवतंत्रीयुक्त रही हो ऐसा निम्न वचन से प्रतीत होता है—

नवयोगां घोषवतीं कृत्वा शीघ्रमानय' । (स्वप्न० अं० ६)

वीणा का वादन उत्संग पर रख कर किया जाता था—

श्रुतिसुखनिनदे कथं नु देव्याः स्तनयुगले जघनस्थले च सुप्ता ॥[3]

गीत के साथ करताल अर्थात् हस्ततालकी प्रथा निम्न उक्ति में उल्लिखित है–

स्थूलोऽपि हेतुः करतालनादः संजायते सद्वलयस्वनेन । (अभि० ३)

सामूहिक लोक-नृत्य के रूप में हल्लीसक नामक नृत्तबन्ध का उल्लेख बालचरित में प्राप्त होता है । ऐसे नृत्य का प्रदर्शन गीत तथा वाद्यों के साथ किया जाता था[4] । कालिया की पंच फणाओं पर किये गये हल्लीसक नृत्य की भंगिमा भास के शब्दों में सुनिये—

निर्भर्त्स्य कालियमहं परिविष्फुरन्तं मूर्धार्चितैकचरणश्चलबाहुकेतुः ।
भोगे विषोल्बणफणस्य महोरगस्य हल्लीसकं सललितं रुचिरं वहामि ॥[5]

भावार्थ यह है कि नटवर श्रीकृष्ण का एक चरण कालिया की मूर्धा पर स्थिर है, दूसरा चरण फूत्कार छोडने वाले कालिया की विभिन्न फणों को तीव्र गति से निर्दलित करने में तत्पर है तथा उनकी एक बाहु उत्तोलित ध्वज के सदृश विविध दिशाओं में चालित हो रही है ।

---

१. यौगं० अं० २; बाल० १, ५ ।
२. स्वप्न ५,६ ।
३. वहीं ६,१ ।
४. बाल० पृ० ५३९–४०; पंच० २, पृ० ३९१ ।
५. बाल० ४,६ ।

नृत्यकुशल व्यक्ति के पाद सदैव ताल तथा लय में पड़ते हैं, इसका संकेत चारुदत्त नाटक की निम्न पंक्ति में पाया जाता है—

'किं त्वं भयेन परिवर्तितसौकुमार्या नृत्योपदेशविशदौ चरणौ क्षिपन्ती' ॥
चारु० १, ॥

भावार्थ यह कि भयाक्रान्त होने पर भी वसन्तसेना के पद-न्यास में नृत्य-भंगिमा परिलक्षित होती थी।

भास के समय में नाटक अथवा प्रकरण का प्रारम्भ संगीत से होता था। प्रेक्षकों के प्रसादनार्थ नटी के द्वारा विशिष्ट ऋतु के अनुकूल गीति का गान किया जाता था[1]। सम्भवतः यह गीत आधुनिक झूला, कजरी आदि गीतों के समान रहे हों। ऐसे गीत विशिष्ट ऋतुओं के आनुकूल्य से श्रोता-जन की वृत्तियों को हठात् आकृष्ट कर लेते हों, तो आश्चर्य नहीं।

शूद्रक में संगीत विषयक उल्लेख

शूद्रक के नाम से संस्कृत साहित्य में मृच्छकटिक नामक नाटक विख्यात है। यद्यपि इस कृति के कृतित्व तथा तिथि के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है तथापि बहुमत इसको शूद्रक की कृति मानने के पक्ष में है। ईसवी आरम्भिक शताब्दियों की अथवा उससे कुछ पूर्व की होने के कारण प्रस्तुत प्रबन्ध में तदन्तर्गत संगीत-विषयक उपादानों को निम्न संकलित किया जा रहा है।

नाटक की कथावस्तु का सूत्रपात ही संगीत से हुआ है। आरम्भिक संगीत का कार्यकुशल कुशीलवों के द्वारा अभीष्ट मानकर सूत्रधार संगीतशाला पर दृष्टिपात करता है। नटों के अनुपस्थित होने के कारण स्वयं पर्याप्त समय तक संगीत उपस्थित करता है—'कृतं च सङ्गीतकं मया' (अं० १)।

तृतीय अंक में शास्त्रीय सङ्गीत का रुचिर वर्णन उपलब्ध है। रात्रि के समय चारुदत्त गान्धर्व सुनने के लिये रेभिल नामक श्रेष्ठी के घर जाता है—

'काऽपि वेलार्यचारुदत्तस्य गान्धर्वं श्रोतुं गतस्य' (अं० ३)।

रेभिल स्वयं सिद्धहस्त गायक है और वीणा के साथ भावपूर्ण सङ्गीत प्रस्तुत

---

१. 'आर्ये गीयतां तावत् किंचिद् वस्तु। ततस्तव गीतप्रसादिते रंगे वयमपि प्रकरणमारंभामहे। आर्ये किमिदं चिन्त्यते। ननु गीतये।' (प्रतिज्ञा० अं० १; प्रतिभा० अं० १)

करता है। इस सन्दर्भ में गान्धर्व के गुणों[1] का उत्कृष्ट विवेचन शूद्रक ने निम्न श्लोक में किया है—

रक्तं च नाम मधुरं च समं स्फुटं च भावान्वितं च ललितं च मनोहरं च।
किं वा प्रशस्तवचनैर्बहुभिर्मदुक्तैरन्तर्हिता यदि भवेद्वनितेति मन्ये॥

गान्धर्व का सांगोपांग एवं सहृदय वर्णन निम्न श्लोक में पाया जाता है—

तं तस्य स्वरसंक्रमं मृदुगिरः श्लिष्टं च तन्त्रीस्वनं
वर्णानामपि मूर्च्छनान्तरगतं तारं विरामे मृदुम्।
हेलासंयमितं पुनश्च ललितं रागद्विरुच्चारितं
यत्सत्यं विरतेऽपि गीतसमये गच्छामि शृण्वन्निव॥ ३,५॥

संगीत के अन्तर्गत स्वर-संक्रम, मृदु-मंजुल शब्दरचना, वीणा की संश्लिष्ट अर्थात् गीत से एकात्म ध्वनि, मूर्च्छना के अन्तर्गत वर्णों का प्रयोग,—जिसमें तार से आरम्भ कर मृदु पर अवसान है,—सलील एवं संयमित गान, लालित्य तथा विशिष्ट राग के अन्तर्गत स्वरों का आवृत्तिपूर्वक उच्चारण-सभी गान्धर्व के श्रेष्ठ गुणों में से है। यह विवरण इस तथ्य का परिचायक है कि नाटककार को संगीत की सूक्ष्मता का ज्ञान है तथा स्वर, वर्ण, मूर्च्छना, स्थान तथा राग जैसे पारिभाषिक शब्दों से उसका परिचय है।

शूद्रक के समय नाटक के आरम्भ में संगीत-गान की परिपाटी प्रचलित थी, यह ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है। संगीतशाला के अन्तर्गत संगीत तथा नाट्य दोनों कलाओं की शिक्षा प्रदान की जाती थी। ऐसी संगीतशालाएँ किन्हीं श्रीमान् रसिकों की छत्रछाया में परिवर्धित होती थी तथा इनमें विद्यादानार्थ सुयोग्य कलाचार्यों को नियुक्त किया जाता था, यह बात सन्देहास्पद नहीं। मृच्छकटिक का सूत्रधार जब अपनी संगीतशाला को शून्य देखता है, तब अपने दारिद्रय का स्मरण कर लेता है——

'अये शून्येयमस्मत्संगीतशाला। क्व नु गताः कुशीलवा भविष्यन्ति। (विचिन्त्य) आं ज्ञातम्।..............। मूर्खस्य दिशः शून्याः सर्वशून्यं दरिद्रस्य।' (१,८)

नाट्याचार्यों के भवन का वर्णन करते हुए शूद्रक ने मृदंग, दर्दुर, पणव, वीणा तथा वंश इत्यादि तत्कालीन वाद्यों का उल्लेख किया है——

---

१. गान्धर्व-गुणों के विवरण के लिये द्रष्टव्य इसी प्रबन्ध में भास-सम्बन्धी विवरण तथा अ० २, ग विभाग के अन्तर्गत 'शिक्षाग्रन्थों में संगीतशास्त्र का शिलान्यास।'

'समन्तादवलोक्य । अये कथं मृदङ्गः । अयं दर्दुरः । अयं पणवः । इयमपि वीणा । एते वंशाः । अमी पुस्तकाः । कथं नाट्याचार्यस्य गृहमिदम्' ।

(३, पृ० ९१)

तत्कालीन वीणा तथा वेणु का आकार-प्रकार निम्न उक्ति से ज्ञात होता है—

'वंशं वादयामि सप्तच्छिद्रं वीणां वादयामि सप्ततन्त्रीं नदन्तीम्' । (५,११)

स्पष्ट है कि उस समय सप्ततन्त्री वीणा के साथ सप्तच्छिद्रा वंशी का प्रचलन था ।

वीणा के अन्य प्रकार में वादन अंगुलियों अथवा नखों के आश्रय से किया जाता था । वीणा-तन्त्रियों का वादन 'सारणा' कहलाता था—

'इयमपरा ईर्ष्याप्रणयकुपितकामिनीव अंकारोपिता कररुहपरामर्शेण सार्यते वीणा' । (अं० ४, पृ० १३०)

वीणावादन कोण जैसे वादन-दण्ड से किये जाने का उल्लेख शूद्रक की निम्न उक्ति में उपलब्ध है—

संगीतवीणा इव ताड्यमानास्तालानुसारेण पतन्ति धाराः ॥ ५,५२ ॥

अवंती की वारविलासिनी वासवदत्ता के भवन के वर्णन में सामूहिक सङ्गीत का चित्र मुखर हो उठा है । कुछ युवतियां मृदंग बजा रही हैं, कुछ कांस्यताल बजा रही हैं, एक वंशी बजा रही है, दूसरी वीणावादन कर रही है, कुछ गणिकायें गीत गा रही हैं और कुछ अन्य युवतियों को नृत्य तथा नाट्य की शिक्षा दी जा रही है (अं० ४, पृ० १३०) । वसंतसेना उत्कृष्ट नर्तिका है और भय से पलायन करने में भी उसकी नृत्यकुशलता का आभास मिलता है—

किं त्वं भयेन परिवर्तितसौकुमार्या नृत्यप्रयोगविशदौ चरणौ क्षिपन्ती ॥ १,१७ ॥

नाटक का नायक चारुदत्त रसिक तथा सङ्गीतज्ञ है । सङ्गीत-सभाओं में उपस्थित रहकर सङ्गीत का सूक्ष्म रसास्वादन करने की पात्रता उसमें है । वह संगीतज्ञ तो है ही, स्वयं कलाकार भी है । उसके गृह में संगीत के समस्त वाद्यों का संग्रह है, जिसको देखकर शर्विलक को आशंका होती है कि वह किसी नाट्याचार्य का गृह हो (अं० ३, पृ० ९१) । संगीत उसके जीवन का बहिश्चर प्राण ही है । जलवृष्टि के वर्णन में उसे वीणा की ध्वनि का स्मरण हो आता है तथा जल गिरने की ध्वनि से संगीत की तार तथा मन्द्र ध्वनि का सहज स्मरण होता है—

तालीषु तारं विटपेषु मन्द्रं शिलासु रूक्षं सलिलेषु चण्डम् ॥ ५, ५२ ॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शूद्रक के समय में संगीत के अन्तर्गत राग-गायन का सूत्रपात हो चुका था तथा संगीतविषयक मीमांसा आरम्भ हो चुकी थी। संगीत का नाट्य के अन्तर्गत महत्वपूर्ण स्थान था। वीणा के अन्तर्गत दो प्रकार विद्यमान थे—एक दण्ड से बजाया जाने वाला, तथा दूसरा नख से बजाया जाने वाला। सप्ततन्त्री वीणा तथा सप्तच्छिद्रा वंशी का प्रचलन था। इसके अतिरिक्त मृदंग, पणव, दर्दुर तथा कांस्यताल जैसे वाद्यों का प्रचार था। समाज में संगीत के प्रति रसिकता विद्यमान थी। श्रीमान् लोगों के घर पर संगीतायोजन हुआ करते थे, जिसमें रसिक नागरिक श्रवणार्थ जाया करते थे तथा कला का मार्मिक रसास्वादन करते थे। संगीतकला का अध्ययन सांस्कृतिक उपलब्धि के रूप में किया जाता था। प्रसंग पड़ने पर जीविकानिर्वाह के लिये उसका उपयोग किया जाता था[1]। नाट्य-व्यवसाय के लिये हीन भावना तत्कालीन समाज में थी, यह तथ्य नटभार्या की निम्न उक्ति से स्पष्ट है—

'अस्मादृशजनयोग्येन ब्राह्मणेनोपमन्त्रितेन' (अं० १, पृ० ८)।

१. 'कलेति शिक्षिता आजीविकेति संवृत्ता' (मृच्छ० अं०)।

अध्याय नवम

भरतकालीन संगीत

सा—नाटचशास्त्र में संगीत

(रि) संगीत का टीकाशास्त्र (ग) संगीत के प्रवर्तक आचार्य

नाट्यशास्त्र का स्वरूप एवं वैशिष्ट्य :—

भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार भरत का नाटचशास्त्र नाटचवेद के नाम से सम्मानित रहा है। नाटचशास्त्र के अनुसार वह चार वेदों के अतिरिक्त पंचम तथा सार्ववर्णिक वेद है।[1] भरत का नाटचशास्त्र भारतीय साहित्य तथा संगीत का बृहद् कोष है तथा दोनों के सम्बन्ध में प्राचीन एवं प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत करता है। रस, छन्द, भाषा, वेषभूषा, रंगमंच, अभिनय, संगीत तथा नृत्य में से ऐसा कोई विषय नहीं, जिसका विवरण इस ग्रन्थ में न हुआ हो। महत्व की बात यह कि भारत की प्राचीन नाटचकला पर प्रकाश डालने वाला यही एकमात्र ग्रंथ है तथा इसी के द्वारा प्रणीत परम्परा का परिपालन समस्त भारतवर्ष में अधुना भी किया जाता है।

नाटचशास्त्र के अनुसार नाटचकला अनादिसिद्ध है। नाटचशास्त्र में इस कला को ब्रह्मोक्त माना गया है तथा भरत उसके आदिम प्रयोक्ता बताये गये हैं। नाटचकला में सङ्गीत के योगदान की बात भी अनादि है। नाट्य शास्त्र के प्रथम अध्याय में इन्द्रध्वज नामक उत्सव के अवसर पर नाट्यप्रयोग किये जाने का उल्लेख है। इस प्रयोग में संगीत के लिये नारदादि गन्धर्वों की, वाद्यविधान के लिये स्वाति जैसे वाद्यविशारदों की तथा नृत्य के लिये अप्सराओं की योजना निर्दिष्ट है। नाट्यशास्त्र के स्वरूप एवं वैशिष्ट्य को हृदयंगम करने के लिये नाट्य तथा गान्धर्व के परस्पर सम्बन्ध को देखना उपादेय ही नहीं, अपितु आवश्यक है।

नाट्य और गान्धर्व :—

(नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत नाट्य तथा गान्धर्व दोनों का विवरण प्रस्तुत हुआ है।) भरत की एतद्विषयक मान्यताओं से परिचित होने से पूर्व भरतोक्त नाट्य की व्याप्ति तथा नाट्य एवं गान्धर्व के बीच विभेद को सम्यक् जानना अभीष्ट है।

---

१. १, १२; १, १९ तथा २५।

अमरकोश (ई० ५) के अनुसार नाट्य के विविध अर्थों में नृत्य तथा तौर्यत्रिक सम्मिलित है। नाट्य शब्द जैसा तौर्यत्रिक अर्थात् नृत्य-गीत-वाद्य के सामूहिक प्रयोग का बोधक है, वैसा ही ताण्डव तथा लास्यादि नृत्य प्रकारों के पर्याय स्वरूप उसका प्रयोग अमरकोशकार को सम्मत है।[1] सिद्धान्तकौमुदी में नाट्य शब्द की व्युत्पत्ति 'नट्' धातु से मानी गई है। 'नट्' का अर्थ है नृत्य करना तथा यह कार्य करने वाला व्यक्ति नट् कहलाता है—

'नट् नृत्तौ। इत्थमेव पूर्वमपि पठितम्। तत्रायं विवेकः। पूर्वं पठितस्य नाट्यमर्थः। यत्कारिषु नटव्यपदेशः।'[2]

आदिभरत अथवा नाट्यसर्वस्वदीपिका के अनुसार नाट्य के अन्तर्गत ताण्डव तथा लास्य का समावेश है और इसी के व्यवसायी जन नट कहलाते हैं। 'भरत' संज्ञा इसी वर्ग के लिये है।[3] कालिदास की कृतियों में नाट्य शब्द का प्रयोग नृत्य तथा रूपक-प्रकार दोनों अर्थों में हुआ है। मालविका द्वारा प्रस्तुत छलित नामक नृत्य-प्रकार नाट्य के नाम से सम्बोधित है।[4] इसी नाटक में अन्यत्र नाट्य शब्द का प्रयोग लोकचरितानुकरण के व्यापक अर्थ में किया गया है तथा इसी के अंग-रूप में ताण्डव तथा लास्य नृत्यों का निर्देश किया गया है।[5] नाट्य के समानार्थक रूप में 'तौर्यत्रिक' संज्ञा भी पाई जाती है। तौर्यत्रिक रूप की सिद्धि वाद्यबोधक 'तूर्य' शब्द से हुई है—तूर्य + अण्। तूर्यों का समूह वस्तुतः तौर्यत्रिक है। नाट्यशास्त्र में तूर्य-वृन्द से युक्त वाद्यवादन में कुशल व्यक्ति को तौरिक कहा गया है—

तूर्यपरिग्रहयुक्तो विज्ञेयः तौरिको नाम ॥ ३५,७२ ॥

भरत के अनुसार कुशीलव अर्थात् नटों के लिये आतोद्य-विधान एवं आतोद्य-प्रयोग में कुशल होना आवश्यक है (३५,८४)। सूत्रधार के लिये आवश्यक गुणों में से एक है चतुर्विध आतोद्यों में कुशलता (३५,४५)। आतोद्यों के अभिन्न साहचर्य के कारण नाट्य के लिये तौर्यत्रिक यह संज्ञा मूलतः प्रयुक्त की गई हो, यह मानना तर्कविरुद्ध नहीं। भरत के प्राचीन टीकाकार श्रीहर्ष के अनुसार 'तौर्यत्रिक' रंग अथवा रागात्मिकता का पर्याय है और नृत्य-गीत-वाद्य

---

१. नाट्यवर्ग, २०९–२१०।

२. द्र० पृ० १९६।

३. ना० स० दी० पत्र १० अ।

४. माल० अं० १।

५. वहीं, १,४।

के इसी सामूहिक संयोजन के कारण नाटक के पूर्वरंग की संज्ञा सार्थक है।[1] नाट्यशास्त्र को भवभूति (ई० ७) ने तौर्यत्रिक सूत्र के नाम से सम्बोधित किया है।[2] यह अभिधान नाट्य तथा तौर्यत्रिक की समानता का द्योतक माना जा सकता है, सरूपता का नहीं। निम्न विवरण से स्पष्ट होगा कि भरत की दृष्टि में तौर्यत्रिक नाट्य का केवल अंगमात्र है, उससे समव्यापी नहीं।

भरत के अनुसार नट का कार्य ऐसे नाट्य का प्रयोग करना है, जो चतुर्विध वाद्यों के सशास्त्र प्रयोग से युक्त हो (३५,७८)। नट का कार्य है लोकवृत्तान्त का रसभावसमन्वित अभिनय करना और इस कार्य के अंगभूत होने के नाते आतोद्यविधि का नाट्य में विशेष महत्व है।[3] इसी रूप में आतोद्यविधि का निरूपण भरत ने किया है और उसी के स्पष्टीकरण के लिये गान्धर्व का विवरण कुछ ही अध्यायों में प्रस्तुत किया है। भरतकालीन गान्धर्व मुख्यतः गीत और आनुषंगिक रूप से वाद्यवादन की कला है। नाट्यशास्त्र से स्पष्ट है कि नृत्यकला गान्धर्व से विभिन्न एवं स्वतन्त्र कला है तथा नाट्य के लिये उपकारक होने के नाते गान्धर्व के सदृश इसका प्रयोग भी अंगरूप में विहित है। भरतकाल में संगीत केवल सम्यक् गीत का पर्यायवाचक है, न कि गीत-वाद्य-नृत्य के समन्वित रूप का। 'संगीत' का यही अर्थ संगीत रत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ तक रूढ था, यह तथ्य उनकी निम्न व्याख्या से स्पष्ट है—

'ननु आविष्करोति संगीतरत्नाकरमुदारधीः इति प्रतिज्ञायां संगीतशब्देन लोकप्रसिद्ध्या गीतस्यैव ग्रन्थप्रतिपादनत्वं प्रतीयते न तु वाद्यनृत्ययोरित्याशंकां परिजिहीर्षुः संगीतशब्दार्थमाह।'

मध्यकालीन संगीत-ग्रन्थकारों के अनुसार संगीत स्वयं एक त्रयी है, जिसमें गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों कलाओं का समावेश है। उनकी यह कल्पना वस्तुतः तीनों के अभिन्न व्यावहारिक साहचर्य पर आधारित है, न कि सैद्धान्तिक एकता पर। सम्भवतः इसी परिभाषा के कारण संगीत तौर्यत्रिक तथा नाट्य का पर्याय-स्वरूप माना जाता है तथा नाट्य और संगीत के बीच की भेदक रेखा विस्मृत की जाती है। वस्तुतः संगीत शब्द की व्याप्ति भरतकाल में गीत तक सीमित रही है; गीत, वाद्य तथा नृत्य इस त्रयी का बोध उससे कथमपि नहीं होता, यह तथ्य ध्यान देने योग्य है। भरतोक्त नाट्य में केवल नाट्यांग के रूप में इन तीनों

---

१. अ० भारती, भाग १, पृ० २०९।

२. उ० रा० चरित, अंक ४।

३. ३३, १८; ३५, ७३।

का प्रयोग विहित है, न कि स्वतंत्र रूप में तथा इनके अतिरिक्त पाठ्य, अभिनय आदि अन्य अङ्गों का तुल्य महत्व उसमें स्वीकृत है। नाट्य में अन्तर्भूत होने वाले विषयों का परिगणन भरत ने निम्न श्लोक में स्पष्ट किया है—

रसा भावा ह्यभिनया धर्मिवृत्तिप्रवृत्तयः।
सिद्धिस्वरास्तथातोद्यं गानं रंगं च संग्रहः॥ ६,१०॥

अर्थात् नाट्यसंग्रह में रस, भाव, अभिनय, धर्मि, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान तथा रंग विषयक ज्ञान का समावेश है।

नाट्यवेद दृश्य तथा श्राव्य दोनों है तथा उसका निर्माण चतुर्वेदों से गृहीत अन्यान्य तत्वों से हुआ है।[1] दृश्य तथा श्राव्य होने की बात केवल मात्र गीत, वाद्य अथवा नृत्य पर चरितार्थ नहीं हो सकती, अपितु उसके समुच्चयात्मक प्रयोग से सार्थक होती है। नाट्य का पाठ्यांग ऋग्वेद से, गीतांग सामवेद से, अभिनयांग यजु से तथा रसांग अथर्व से गृहीत किया गया है। इन्हीं चार अङ्गों से नाट्य का कलेवर निर्मित होता है। स्पष्ट है कि गान्धर्व अथवा संगीत नाट्य केवल अंगमात्र है। नाट्यशास्त्र की निम्न उक्ति से स्पष्ट है कि नाट्य तथा गान्धर्व भरत की दृष्टि में मूलतः भिन्न है—

वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना।
एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा ललितात्मकम्॥ १,१८॥

अर्थात् नाट्यवेद की रचना वेद तथा उपवेद दोनों के आश्रय से हुई है। इन उपवेदों में गान्धर्व का अन्तर्भाव निःसन्देह होने के कारण उसकी अपेक्षाकृत प्राचीनता तथा विभिन्नता दोनों स्वतःसिद्ध है। नाट्यशास्त्र में गान्धर्व का जो कुछ विवरण उपलब्ध है, वह स्वाति तथा नारद के प्राचीन लक्षण-ग्रन्थों पर आधारित होने की बात स्वयं भरत ने कही है—

'गान्धर्वमेतत् कथितं मया हि यत्पूर्वमुक्तं त्विह नारदेन'॥[2]

भरत की एक अन्य उक्ति देखिये, जिसमें नाट्य तथा गान्धर्व का पार्थक्य स्पष्टतः उल्लिखित है—

प्रशशास तथा राज्ये दैवीं व्युष्टिमवाप्नुवन्।
गान्धर्वं चैव नाट्यं च दृष्ट्वा चिन्तामुपागतः॥ (३६, ४९)

तथ्य यह है कि नाट्य में गान्धर्व के बहुल प्रयोग से उसको गेयवेद माना

---

१. १, १२; १, १७–१८।
२. ३२, ४८४; ३३, ३।

जाने लगा। काव्यमीमांसा (ई० १०) में उल्लिखित द्रौहिणि के मत में यही परम्परा प्रतिबिम्बित हो उठी है, यथा,

'वेदोपवेदात्मा सार्ववर्णिकः पंचमो गेयवेदः इति द्रौहिणिः' ॥[1]

कल्लिनाथ इसी परम्परा की अभिव्यक्ति अपनी टीका में करते हैं—

"अयमेवोपवेदेषु परिगणितश्च सामवेदस्योपवेदो गान्धर्ववेद इति। नाट्यवेद एव गीतप्राधान्यविवक्षया गान्धर्ववेद उच्यते। अभिनयप्राधान्यविवक्षया तु नाट्यवेद इत्युच्यते'।[2]

कल्लिनाथ के अनुसार नाट्यवेद एवं गान्धर्ववेद मूलतः अभिन्न है, अन्तर है केवल बलाघात (Accent) का। गीत के प्राधान्य को लेकर वह 'गान्धर्ववेद' कहलाता है और अभिनय की प्रधानता को लक्ष्य कर वही 'नाट्यवेद' कहलाता है।

हमारा विनम्र निवेदन है कि कल्लिनाथ का यह मत भरत की नाट्य-विषयक कल्पना से सुसंगत नहीं प्रतीत होता। जैसा ऊपर देखा गया है, भरत के अनुसार गान्धर्ववेद नाट्यवेद से न केवल विभिन्न है, अपि तु प्राचीन भी है। भरत की नाट्यविषयक मान्यता अधिक स्पष्ट करने के लिये निम्न विवरण उपादेय होगा।

भरत के अनुसार नाट्य एक सम्मिश्र कला है, जिस में विशुद्ध गीत तथा नृत्य के अतिरिक्त अन्य कलाओं का समावेश है। भरत के शब्दों में—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ॥ १,११३ ॥
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।
सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च ॥ १,११४ ॥
अस्मिन् नाट्ये समेतानि तस्मादेतन्मया कृतम्।

नाट्यशास्त्र के अनुसार नाट्य त्रैलोक्य के भावों का अनुकरण है और उसकी रंजकता इसी लोकानुकरण में सन्निहित है। नाट्य के अन्तर्गत समाविष्ट विषयों का भरतोक्त निरूपण देखिये—

त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।
क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छ्रमः ॥ १,१०४ ॥
क्वचिद्धास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित्कामः क्वचिद्वधः।
धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम् ॥ १,१०५ ॥

---

१. का० मी० अ० २।

२ सं० रत्ना० नर्तनाध्याय, ४–८, पृ० ६२४।

लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ।
उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम् ॥ १,१०९ ॥
सप्तद्वीपानुकरणं नाट्ये ह्यस्मिन् प्रतिष्ठितम् ।
वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम् ॥ १,११६ ॥
देवतानामृषीणां च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम् ।
कृतानुकरणं लोके नाट्यमित्यभिधीयते ॥ १,११८ ॥

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि नाट्य अपनी विषय-व्याप्ति की दृष्टि से विश्वव्यापक है ।[1] लोकव्यवहार का ऐसा कोई अंग नहीं, जिसका समावेश नाटचकला में न होता हो । वेद, इतिहास तथा आख्यान आदि के आधार पर लौकिक व्यवहार का साभिनय प्रस्तुतीकरण इसका लक्ष्य है और गीत, वाद्य तथा नृत्य का उद्देश्य केवल इसकी रंजकता को बढाना है ।[2] नाटचगृह की रचना तथा रंगपूजा आदि विधिविधान नाटच के इसी व्यापक अर्थ को स्पष्ट करते हैं । नाटचशास्त्र के निम्नलिखित स्थानों पर नाटच संज्ञा का प्रयोग रूपक प्रकारों के लिये किया गया पाया जाता है । इस सम्बन्ध में भरत के निम्न वचन द्रष्टव्य हैं—

१—चतुर्थाध्याय के प्रारम्भ में त्रिपुरदाह नामक डिम रूपक को नाटच के नाम से सम्बोधित किया गया है—

पूर्वरंगे कृते पूर्वं तत्रायं द्विजसत्तमाः ।
तथा त्रिपुरदाहश्च डिमसंज्ञः प्रयोजितः ॥ ४,१० ॥
ततो भूतगणा हृष्टाः कर्मभावानुकीर्तनात् ।
महादेवश्च सुप्रीतः पितामहमथाब्रवीत् ॥ ४,११ ॥
अहो नाट्यमिदं सम्यक् त्वया सृष्टं महामते ।

२—बीसवे अध्याय के आरम्भ में नाट्य का प्रयोग स्पष्टतः दश रूपकों के लिये किया गया है—

नाटकं सप्रकरणमंको व्यायोग एव च ।
भाणः समवकारश्च वीथी प्रहसनं डिमः ॥ २०,२ ॥
ईहामृगं च विज्ञेयं दशमं नाट्यलक्षणम् ।

नाट्य शब्द की विशाल व्याप्ति के बोधक अनेक प्रमाण नाट्यशास्त्र में पाए जाते हैं, जिन से भरत प्रणीत नाट्य-कल्पना के सम्बन्ध में निःसन्दिग्ध कल्पना हो सकती है । इनमें से कुछ ही निम्न उद्धृत किये जा रहे है—

१—चतुर्विधश्चैव भवेन्नाट्यस्याभिनयो द्विजाः ॥ ८,८ ॥

---

१. ६, ६ ।
२. ३२, ४३१ का० मा० प्रति ।

२—अंगोपांगरसैर्भावैस्तथा नाट्यं प्रयोजयेत् ॥ २६,१०९ ॥

३—वेदाध्यात्मपदार्थेषु प्रायो नाट्यं प्रतिष्ठितम् ॥ २६,११२ ॥

४—व्यक्तदोषोनुरागी च स नाट्ये प्रेक्षकः स्मृतः ॥ २७,५४ ॥

५—गीतवादित्रभूयिष्ठं प्रदोषे नाट्यमिष्यते ॥ २७,९१ ॥

६—कुतपो नाट्ययोगेत्र नानादेशसमाश्रयः ॥ २८,६ ॥

७—एवं गानं च नाट्यं च वाद्यं च विविधाश्रयम् ।
अलातचक्रप्रतिमं कर्तव्यं नाट्ययोक्तृभिः ॥ २८,७ ॥

८—एवमेव विना गानं नाट्यं रागं न गच्छति ॥ ३२,४५० ॥

९—शय्या हि नाट्यस्य वदन्ति गीतम् ॥ ३२,४५७ ॥

१०—यादृशं यस्य यद्रूपं प्रकृत्या तस्य तादृशम् ।
वयो वेषानुरूपेण प्रयुक्तं नाट्यकर्मणि ॥ ३५,१२ ॥

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होगा कि भरतप्रणीत नाट्य का क्षेत्र गान्धर्व से पृथक् है तथा विशेषतः रूपकाभिनय को द्योतित करता है। भरत की इसी परम्परा का परिपालन परवर्ती ग्रन्थकारों के द्वारा हुआ है। दशरूपककार धनंजय नाट्य तथा नृत्य के बीच विभेद बताते हुए नाट्य की व्यापक परिधि का संकेत करते हैं। उनके अनुसार 'नाट्य' वह है, जो वाक्यार्थ के अभिनय द्वारा रससिद्धि में सहायक हो। पात्राभिनय के कारण यही रूपक भी कहलाता है।[1] संगीतरत्नाकरकार के अनुसार नाट्य अथवा तौर्यत्रिक चतुर्विध अभिनय के माध्यम से विशिष्ट रस की निष्पत्ति में सहायक होता है।[2] भरत के प्रसिद्ध टीकाकार अभिनवगुप्त के अनुसार नाट्य से तात्पर्य नटवर्ग के व्यवहार से है तथा नाट्यशास्त्र का प्रणयन इसी वर्ग के लिये है—

'नाट्यस्य नटवृत्तस्य शास्त्रं शासनोपायं ग्रन्थम्'।[3]

भावप्रकाशन के अनुसार नट का कर्म ही 'नाट्य' कहलाता है—

नटकर्मैव नाट्यं स्यादिति नाट्यविदां मतम् ॥[4]

निष्कर्ष यह है कि नाट्य तथा गान्धर्व दोनों का विभिन्न क्षेत्र है, यद्यपि दोनों की सीमाएं अवश्य मिलती-जुलती हैं। नाट्य में गान्धर्व का उतना ही अंश अभीष्ट है, जो उसकी रससिद्धि में सहायक हो और इसी हद तक भरत ने उसका उपयोग स्वीकृत किया है। नाट्यशास्त्र में नाट्य का अंगी रूप में विवरण प्राप्त

१. १, ७–१३

२. द्र. ७, २७–२८; ७, १३६२–६६

३. ना. शा. बडौदा सं० पृ० ३

४. भा. प्र. पृ० ४५

है और गान्धर्व का अंग रूप में। नाट्य में गान्धर्व के अतिरिक्त नृत्य, भूमिकाभिनय, रंगविधान आदि अनेक विषयों का समावेश है और नाट्य का यही अर्थ भरत को अभिप्रेत है। इस दृष्टिकोण के आधार पर नाट्यशास्त्र मुख्यतः नाट्य की कृति मानी जा सकती है और गौण रूप से गान्धर्व की।

गान्धर्व की व्युत्पत्ति एवं व्याप्ति

जैसा ऊपर निवेदित किया जा चुका है, भरत के अनुसार नाट्यवेद का निर्माण चार वेदों एवं उपवेदों से हुआ है। ऐसे उपवेदों में गान्धर्व का समावेश स्वतः सिद्ध है, यह तथ्य सन्देहातीत है। गान्धर्व का सम्बन्ध गन्धर्व से है, जो वैदिककाल से लेकर गान-कला में विशारद रहे हैं। गन्धर्वों से जो सम्बद्ध है अथवा गन्धर्व जिसके देवता हैं, वह 'गान्धर्व' के नाम से अभिहित होता है—

अत्यर्थमिष्टं देवानां तथा प्रीतिकरं पुनः।
गन्धर्वाणामिदं यस्मात् तस्माद्गान्धर्वमुच्यते ॥ २८,९ ॥

गान्धर्व सम्यक् रूप से गाया जाने वाला गीत है तथा वीणा एवं वंश इसी की शाखाएं है—

अस्य योनिर्भवेद्गानं वीणा वंशस्तथैव च ॥ २८,१० ॥

गान्धर्व के तीन अंगों का उल्लेख भरत ने निम्न श्लोक में किया है—

यत्तु तंत्रीगतं प्रोक्तं नानातोद्यसमाश्रयम्।
गान्धर्वमिति विज्ञेयं स्वरतालपदाश्रयम् ॥ २८,८ ॥

गान्धर्व के तीन अंगों का उल्लेख इस प्रकार है—१ स्वर, २ ताल, ३ पद (२८,१२)। गान्धर्व में स्वरों का स्थान प्रमुख है और अन्य दो अंगों का विकास इसी प्रमुख अंग पर आश्रित है। स्वर-अंग के अन्तर्गत स्वर, श्रुति, ग्राम, मूर्च्छना, स्थान, साधारण, अठारह जातियाँ, चार वर्ण, अलंकार, तथा गीति का समावेश है।[1] ताल के अन्तर्गत आवाप, निष्क्राम, विक्षेप, प्रवेशक आदि अंगों का अन्तर्भाव है। पद-अंग के अन्तर्गत स्वर, व्यंजन, वर्ण, सन्धि, छन्द, जाति आदि का समावेश किया गया है। गान्धर्व के अन्तर्गत पद ऐसी शब्दरचना है जो स्वर तथा ताल से अनुप्राणित है—

गान्धर्वं यन्मया प्रोक्तं स्वरतालपदात्मकम्।
पदं तस्य भवेद्वस्तु स्वरतालानुभावकम् ॥ ३२,२५ ॥
यत्किंचिदक्षरकृतं तत्सर्वं पदसंज्ञितम्।
निबद्धं चानिबद्धं च तत्पदं द्विविधं स्मृतम् ॥ ३२,२६ ॥

---

१. २८, १३–१८

दत्तिल में गान्धर्व की प्रायः यही व्याख्या पाई जाती है। दत्तिल के शब्दों में–

पदस्थस्वरसंघातस्तालेन सुमितस्तथा।
प्रयुक्तश्चावधानेन गान्धर्वमभिधीयते ॥ द० ३ ॥

अर्थात् गान्धर्व वह है, जो पदाश्रित स्वर से युक्त होता हुआ ताल में निबद्ध है तथा अवधानपूर्वक प्रयुक्त होता है। अवधान से तात्पर्य मानसिक प्रवृत्तियों के ऐसे केन्द्रीकरण से है, जिससे गान्धर्व के तीनों अंगों का सम्यक् सामंजस्य हो सके।[1]

दक्षप्रजापति के अनुसार गान्धर्व के समुचित निर्वाह के लिये अवधान तत्व सर्वाधिक महत्वपूर्ण है—

अवधानानि गान्धर्वं पश्चात्स्वरपदादयः।
अवधानातिरेकेण त्रिविधं नोपपद्यते ॥[2]

उपर्युक्त विवरण से गान्धर्वविषयक निम्न तथ्य व्यक्त होते हैं—'गान्धर्व' मुख्य रूप से गीत का बोधक है, जो स्वर तथा ताल से समन्वित पदसमूह पर आश्रित होता है। सार्थक शब्दों का समूह स्वर तथा ताल में निबद्ध होकर गीत कहलाता है। इसी रूप में वह संगीत अर्थात् सम्यक् गीतम् है। गान्धर्व में गीतानुकूलत्व से वाद्य-वादन का समावेश होता है, परन्तु नृत्यकला का नहीं। भरत की दृष्टि में नृत्यकला स्वतंत्र कला है तथा इसका सम्बन्ध नाट्य से है इसका संकेत हम इससे पूर्व कर चुके हैं। गान्धर्व का यही अर्थ बाणभट्ट (ई० ८) की निम्न उक्ति में स्पष्ट हुआ है—

"तथाहि, पदे, वाक्ये, प्रमाणे······व्यायामविद्यासु······वीणावेणुप्रभृतिषु वाद्येषु, नृतशास्त्रेषु, गान्धर्वविद्यासु······सर्वलिपिषु सर्वदेशभाषासु, अन्येषु कलाविशेषेषु परं कौशलं अवाप।"

गान्धर्व की सनातनता

संगीत विद्या के लिये प्राचीन काल से गान्धर्व शब्द का व्यवहार किया जाता रहा है। सीतोपनिषत् में उपवेदों के अन्तर्गत गान्धर्व का उल्लेख प्राप्त होता है। सामवेद का उपवेद होने के सम्बन्ध में वैखानस का मत निम्न शब्दों में अवतारित किया गया है—

वास्तुवेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्च तथा मुने।
आयुर्वेदश्च पंचैते उपवेदाः प्रकीर्तिताः ॥

---

१. दत्तिल के शब्दों में अवधान का निम्न लक्षण है—
'प्रसिद्धमवधानं तु सम्यग्बुध्यादियोजनम् ॥' दत्तिल, श्लोक ४ ॥

२. सं० र० सुधाकर टीका, पृ० २०

वैखानसमतस्तस्मिन्नादौ प्रत्यक्षदर्शनम् ।
स्मर्यते मुनिभिर्नित्यं वैखानसमतः परम् ॥[१]

शौनक के चरणव्यूह में गान्धर्व के सम्बन्ध में व्यास तथा स्कन्ध की यही मान्यता प्रस्तुत है—

'सामवेदस्य गान्धर्ववेद उपवेदोथर्ववेदस्यार्थशास्त्रश्चेत्याह भगवान् व्यासः स्कन्धो वा ।'

सुश्रुत तथा भावप्रकाश में गान्धर्व के उपवेद होने के सम्बन्ध में समर्थन पाया जाता है । रामायण में श्रीरामचन्द्र तथा लवकुशों का गान्धर्वतत्वज्ञ होने के सम्वन्ध में उल्लेख प्राप्त है ।[२] महाभारत में भी गान्धर्व की शिक्षा राजपुत्रों तथा राजकन्याओं के लिये विहित है ।[3] पुराण वाङ्मय में गान्धर्व का अन्तर्भाव अठारह विद्याओं में किया गया है ।[४] जैन तथा बौद्ध साहित्य के अनुसार गन्धव्ववेद का तत्कालीन सिप्पों अर्थात् शिल्पों में समावेश है ।[५] भास तथा शूद्रक की कृतियों में गान्धर्व का उल्लेख पाया जाता है । भास के काल में गान्धर्व की शिक्षा परम्परानुगत रूप से दी जाती रही तथा ऐसी ही परम्परा प्राप्त विद्या को गौरवास्पद माना जाता रहा है ।[६] अर्थशास्त्र के अनुसार गान्धर्व के आचार्य विशेष सम्मान के अधिकारी रहे है ।[७] खारवेल के हाथिकुम्भ शिलालेख [ई० पू० २] में कलिंगराज खारवेल का 'गन्धर्ववेदबुधः' अर्थात् गान्धर्वशास्त्र का ज्ञाता कहकर गौरव किया गया है ।[८] ई० १ रुद्रदामन् के शिलालेख में रुद्रदामन् में गान्धर्व, न्याय आदि विद्याओं में प्रवीण होने के सम्बध में उल्लेख प्राप्त है ।

---

१. द्र० नि० सा० प्रति, पृ० २९०

२. द्र० इसी प्रबन्ध का अ० ३ के अन्तर्गत 'रामायणकालीन संगीत ।'

३. वही, शीर्षक 'महाभारत में संगीत ।'

४. यमस्मृति, आदित्यपुराण, विष्णुपुराण आदि में गान्धर्ववेद का प्रभूत उल्लेख प्राप्त है (द्र० याज्ञवल्य स्मृति, आनन्दाश्रम प्रति, पृ० ६) ।

विषणुपुराण के अनुसार—'आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः । अर्थशास्त्रं चतुर्थं च विद्या अष्टादशैव ताः ॥' (वही, पृ० ६) ।

५. द्र० इसी प्रबन्ध का अ० ५, शीर्षक 'बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में संगीत ।'

६. द्र० इसी प्रबन्ध का अ० ८

७. द्र० अर्थशास्त्र, ५, ३ ।

८. द्र० 'एपिग्राफिया इंडिका,' खण्ड २०, पृ० ७९ ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि गान्धर्वकला, जो कि वैदिककाल से निरन्तर पल्लवित होती रही, रामायणकाल से लेकर पुराणकाल तक शास्त्र-प्रतिष्ठा को प्राप्त कर चुकी थी। इसके अन्तर्गत स्वर, श्रुति, पद, ताल आदि अंगों की सम्यक् मीमांसा रामायणकाल में होने लगी थी, इस सम्बन्ध में निःसन्दिग्ध प्रमाण उस आदिकाव्य में उपलब्ध हैं। नाट्यशास्त्र से स्पष्ट है कि उस समय गान्धर्व का नारदकृत लक्षणग्रन्थ उपलब्ध था तथा इसी के आधार पर भरत का गान्धर्वविषयक विवेचन आधारित था।

नाट्यकला में संगीत का स्थान

जैसा ऊपर निरूपित किया जा चुका है, भरतकालीन नाट्य में गान्धर्व का का अनिवार्य स्थान रहा है। नाट्यवेश्म की रचना करते समय जिन देवताओं की आराधना विहित है, उनमें नारद, तुम्बुरु तथा विश्वावसु जैसे गन्धर्वाचार्यों का समावेश है (२,६२)। अभिप्राय यही हो सकता है कि नाट्यान्तर्गत संगीत में सफलता प्राप्त हो। नाट्य की आरम्भिक अवस्था से लेकर अन्त तक संगीत का प्रयोग बराबर होता रहा है। नाट्यवेश्म के शिलान्यास पर शंख, दुन्दुभि, मृदंग, पणव इत्यादि समस्त तूर्यों का वादन किया जाना चाहिए, ऐसा नाट्यशास्त्र का आदेश है।[1] जर्जर ध्वज की पूजा के समय भी वाद्यवृन्द के नियोजन की बात उल्लिखित है (३,११)। रंगदेवता के पूजन के अवसर पर शंख, दुन्दुभि, मृदंग, पणव आदि सभी आतोद्यों की ध्वनि मंगलप्रद मानी गई है (३,९४)।

नाट्य के अन्तर्गत ध्रुवा नामक गीतों का विशिष्ट स्थान है। नाट्य में चार गीतियों का प्रयोग विहित है—मागधी, अर्धमागधी, सम्भाविता तथा पृथुला।[2] नाट्यशास्त्र के कालखण्ड में संगीत के मनोरंजन पक्ष के अतिरिक्त अन्य पक्ष का ध्यान भी रखा गया है। वह है नाट्य की कथावस्तु को अग्रसर करना। संगीत का प्रयोग पात्र की प्रकृति, चित्तवृत्ति तथा अवस्था का सूचक होने के अतिरिक्त प्रसंग की अभिव्यंजना के लिये किया जाता था। काव्य की अभिव्यंजना-शक्ति जहाँ क्षीण हो जाती है, वहाँ संगीत का प्रयोग किये जाने के सम्बन्ध में भरत का विधान है—

यस्तु काव्येन नोक्तं स्यात्तद्गीतेन प्रसाधयेत्।

नाट्य का ऐसा एक अंग नही, जो संगीत के प्रयोग से विरहित हो। नाट्य

---

१. २, ३७–३८

२. २९, ८०

के अन्तर्गत वाद्यों के प्रयोग में मनोवैज्ञानिक प्रयोजन निहित था। विशिष्ट भाव तथा रस के अतिरिक्त विशिष्ट मनोभावों को अभिव्यक्त करने के लिये तदनुकूल वाद्यवादन किया जाता था—

> नास्ति किंचिदनायोज्यमातोद्यं दशरूपके।
> रसभावप्रयोगं तु ज्ञात्वा योज्यं विधानतः॥[1]

संगीत के बिना नाट्य नीरस बन जाता है, यह तत्कालीन धारणा नाट्यशास्त्र के निम्न श्लोक में स्पष्ट हो उठी है—

> यथा वर्णादृते चित्रं न शोभाजननं भवेत्।
> एवमेनं विना गानं नाट्यं रागं न गच्छति॥ ३२,४५० ॥

तात्पर्य यह कि बिना रंग-प्रयोग के चित्र जैसा शोभन नहीं दिखाई देता, वैसा ही विना संगीत के नाट्य रागात्मिक नहीं बन पाता।

नाट्यशास्त्र के अनुसार नाट्यांग द्विविध है—१ बाह्य तथा २ आभ्यन्तर। नाट्य का वह अंग जो गीत तथा वाद्य से विरहित होकर केवल विविध गति तथा क्रिया से युक्त रहता है, नाट्य का बाह्यांग कहलाता है; इसके बिपरीत गीत, वाद्य, लय, ताल, अभिनय आदि लक्षणों से सम्पन्न नाट्यांग आभ्यन्तर कहलाता है।[2] संगीत का उद्देश्य सामाजिकों को सहृदय बनाकर उनका ध्यान नाट्यवस्तु पर केन्द्रित करना है। इसीलिए गीत, वाद्य तथा नृत्य का प्रयोग नाट्य में उसी मात्रा में सम्मत है, जो सहृदयों के चितैकाग्रय में बाधक न हो। गीतादि अंगों के अत्यधिक तथा अप्रमाण प्रयोग से नाट्यवस्तु के आकलन में बाधा पहुँचती है। इस अवस्था में नाट्यरस के लिये आवश्यक साधारणीकरण की सृष्टि कदापि सम्भाव्य नहीं। नाट्यशास्त्र की यह मान्यता निम्न श्लोकों में स्पष्टतः प्रतिभासित हो उठी है—

> गीते वाद्ये च नृत्ते च प्रवृत्तेतिप्रसंगतः।
> खेदो भवेत् प्रयोक्तॄणां प्रेक्षकाणां तथैव च॥ ५,१६१ ॥
> खिन्नानां रसभावेषु स्पष्टता नोपजायते।
> ततः शेषप्रयोगस्तु न रागजनको भवेत्॥ ५,१६२ ॥

तथ्य यह है कि नाट्य का सम्यक् रसास्वादन तब तक सम्भव नहीं जब तक प्रेक्षकों की वृत्तियाँ एकाग्र नहीं हो पाती। एकाग्रीकरण के लिये तन्मुखता तथा तदाकारता की नितान्त आवश्यकता है। नाट्यवस्तु से तदाकार होने के लिये संगीत जैसा अन्य माध्यम नहीं। भास, कालिदास आदि के नाटकों के आरम्भ

---

१. ३३, १८ तुलनार्थ द्र० २७, ९०–९४।

२. २४, ६९–७४

में नटी का समयानुकूल संगीत इसीलिये नियोजित था कि प्रेक्षकों की वृत्तियाँ बाह्य विषयों से परावर्तित होकर नाट्यवस्तु पर केन्द्रित हो जायं[1]।

इसी दृष्टि से नाट्य के प्रयोग में सुवाद्यता, सुगानत्व तथा सुपाठ्यत्व का समावेश आवश्यक माना गया है—

> सुवाद्यता सुगानत्वं सुपाठ्यत्वं तथैव च।
> शास्त्रकर्मसमायोगः प्रयोगः स तु संज्ञितः॥[2]

नाट्य-दिग्दर्शकों के लिये यह आवश्यक है कि वह नेपथ्य-रचना के साथ गान तथा वादन का ज्ञान प्राप्त करे।[3] नाट्य के अन्तर्गत विस्वर, विस्थान तथा विताल संगीत का परिहार करने के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्रकार का निम्न कथन मननार्ह है—

> विस्वरविरक्तरागं स्वरसम्पदा च परिहीणम्।
> अज्ञातस्थानलयं स्वरगतमेव विधिं हन्यात्॥
> विषमं मार्गविहीनं विमार्जनं कुलप्रचारं च।
> अविभक्तग्रहमोक्षं पुष्करगतं मारिषं हन्यात्॥[4]

संगीत की इष्टानिष्टता तथा औचित्य एवं अनौचित्य के निर्णय के लिये गन्धर्व अर्थात् गायक को प्राश्निक के रूप में नियुक्त करना चाहिये, ऐसा नाट्यशास्त्र का आदेश है।[5]

जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, नाट्यसंगीत में वाद्यवादन का प्रमुख स्थान है। नाट्यशास्त्र के अनुसार वाद्यवृन्द का सम्यक् संयोजन नाटक की सफलता के लिये आवश्यक है। ऐसे वाद्यवृन्द अथवा आतोद्य-विन्यास के लिये

---

१. इस सम्बन्ध में अभिनवगुप्त उस मत का संकेत करते है, जिन के अनुसार नाट्य विना संगीत के केवल पाठ्यमात्र से अभीष्ट रस की सृष्टि कर सकता है। अभिनव के अनुसार यह तर्क सयुक्तिक नहीं। उनके अनुसार यथार्थ रस-निष्पति में वास्तविक बाधा प्रेक्षकों के चित्त की संकुलता है, जिस के कारण वे नाट्यवस्तु के साथ तादात्म्य की अनुभूति नहीं कर सकते। इस संकुलता को दूर करने के लिये तथा नाट्यवस्तु से अभीष्ट ऐकात्म्य स्थापित करने के लिये संगीत का प्रयोग नाट्य में न केवल अभीष्ट, अपि तु आवश्यक है (अ० भारती, मद्रास प्रति, भाग ३, पृ० ९८)।

२. २७, ९९; तुलनार्थ द्र० ना० शा० ३२, ४०३।

३. २७, ८०

४. २७, २७—२८ का० भा०

५. २७, ६३—६४ तथा ६८

'कुतप' संज्ञा है। नाट्यगृह की रचना तक में वाद्यवृन्द तथा गायकवृन्द की सुविधा का पर्याप्त ध्यान रखा गया है। नाट्यशास्त्र के अनुसार नाट्यवेश्म की रचना ऐसी हो जिस से गायक तथा वादकों के ध्वनि प्रक्षेपण में बाधा न पड़े—

गम्भीरस्वरता येन कुतपस्य भविष्यति ।
भित्तिकर्मविधिं कृत्वा भित्तिलेपं प्रदापयेत् ।।

इससे विदित होगा कि प्राचीन नाट्यशालाओं के निर्माण में ध्वनि-विज्ञान (Acoustics) की दृष्टि से कितना ध्यान रखा जाता था। नाट्यवेश्म की रचना होने पर अन्यान्य विधि-विधान के साथ कुतप की पूजा करने का विधान था।[1] नाट्य के विभिन्न गीतों के अवसर पर कुतप के सम्यक् विन्यास पर ध्यान दिया जाता था।[2]

ऐसे विशाल एवं विविध कुतप विन्यास से प्राचीन रंगभूमि में संगीत स्वर का कैसा गम्भीर गुंजन होता हो, इसकी यथार्थ कल्पना की जा सकती है।[3] कुतप की रचना पूर्वरंग नामक नाट्य विधि का महत्वपूर्ण अंश मानी जाती थी। नाटक के पाठ्यांश के अनुकूल तन्त्रीभाण्ड का संयोजन पूर्वरंग[4] का महत्व-पूर्ण अङ्ग है।

नाट्यगत पूर्वरंग द्विविध है—शुद्ध तथा चित्र। द्वितीय के अन्तर्गत संगीत की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक रहती है तथा अन्य विधिविधान भी विस्तृत रहता है। इसी को उपलक्ष कर संगीत के अतिप्रसंग न करने के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र में निम्न सूचना उपलब्ध है—

कार्यो नातिप्रसंगोत्र गीतनृत्यविधिं प्रति ॥ ५, १६० ॥

मननीय है कि पूर्वरंग में विहित संगीत-नियोजन आगे आने वाली नाट्यवस्तु के अनुरूप किया जाना विहित है, जिस से प्रेक्षकों को नाट्यवस्तु के स्वरूप का आकलन भली भाँति हो जाय।

नाट्यशास्त्र के कालखण्ड में पुरुष तथा नारी दोनों नाट्यप्रयोग में भाग लेते

---

१. ३, १२

२. ४, २७१

३. अभिनवगुप्त के अनुसार 'कुतप' शब्द की व्युत्पत्ति निम्नानुसार है—
   १. कुर्नाट्यभूमिस्ता तपति उज्ज्वलयति।' (अ० भा० भाग १, पृ० ६४)
   २. 'कुतं शब्दं पाति इति।' (वही, पृ० १८४)।

४. अभिनवगुप्त के शब्दों में—'गीततालवाद्यनृतपाठ्यं व्यस्तसमस्ततया प्रयुज्यमानं यन्नाट्यांगभूतं स पूर्वरंग इत्युक्तं भवति।' (वही, पृ० २०९)

थे। नाट्यकर्म में प्रकृति, वय तथा वेष के अनुकूल पात्रों के होनेपर नाट्यशास्त्रकार ने बल दिया है—

यादृशं यस्य यद्रूपं प्रकृत्या तस्य तादृशम् ।
वयोवेषानुरूपेण प्रयुक्तं नाट्यकर्मणि ॥ ३५, १२ ॥

नाट्याभिनय के लिये भरत ने त्रिविध प्रकृति निर्दिष्ट की है—अनुरूप, विरूप तथा रूपानुसारिणी (३५, १५)। प्रथम के अन्तर्गत स्त्री तथा पुरुष क्रमशः उन्हीं भूमिकाओं का अभिनय करते हैं; द्वितीय में बाल अथवा वृद्ध पुरुष क्रमशः विपरीत भूमिकाओं को ग्रहण करते हैं[1] तथा तृतीय के अन्तर्गत पुरुष स्त्री-भूमिका का तथा स्त्रियाँ पुरुष-भूमिका का अभिनय करती हैं।[2] भरत के अनुसार सुकुमार भूमिकाओं का अभिनय तथा गीतगान स्त्रियों के द्वारा ही किया जा सकता है[3] तथा यही परम्परा अनादिकाल से प्रचलित है—

भूमिकं सुकुमारं च नित्यं स्त्रीभिरनुष्ठितम् ।
तथा रम्भोर्वशीप्रभृतिषु स्वर्गे नाट्यं प्रतिष्ठितम् ॥ ३५, २२ ॥

नाट्य में भूमिकाभिनय करने वाली स्त्री के लिये 'नाटकीया' संज्ञा है। उसके लिये यह आवश्यक माना गया है कि वह संगीत कुशल हो—

भाण्डकवाद्यज्ञा या लयतालज्ञा रसानुविद्धा च ।
सर्वाङ्गसुन्दरी चैव कर्तव्या नाटकीया सा ॥ ३५, ७९ ॥

नायिका का पद ऐसी ही महिला को दिया जा सकता है, जो अन्य महिला गुणों के साथ रक्त कण्ठी तथा लयतालज्ञा हो।[4]

सुकुमार प्रयोग तथा संगीत-गान के लिये योग्य महिलाओं का साक्षेपपूर्वक चयन आवश्यक माना गया है।[5] नर्तकी के लिये आवश्यक है कि वह चौंसठ कलाओं में निपुण हो, जिस के अन्तर्गत गीत, वाद्य, नृत्य तथा अभिनय का समावेश स्वतःसिद्ध है।[6] स्त्रियों के द्वारा प्रयुक्त ललित गीताभिनय के लिये 'कैशिकी' वृत्ति संज्ञा थी।[7]

---

१. १३, १८८–१९०
२. ३५, १७–२०
३. द्र० ना० शा० ३५, २१–२४ तथा २७।
४. ३४, ४२; ३५, ६३
५. ३५, २९–३२
६. ३४, ४२–४५
७. ३२, ४७

भरतकालीन नाट्य में संगीत का प्रयोग यवनिकोद्घाटन से पूर्व तथा अनन्तर बराबर किया जाता रहा। यवनिका के अभ्यन्तर से वाद्यनियोजन तथा गीत से सम्बद्ध जो क्रिया कलाप किया जाता था, उसे बहिर्गीत अथवा निर्गीत कहा जाता था—

एतानि च बहिर्गीतान्यन्तर्यवनिकागतैः।
प्रयोक्तृभिः प्रयोज्यानि तन्त्रीभाण्डकृतानि तु॥ ५, ११॥
धातुभिश्चित्रवीणायां गुरुलघ्वक्षरान्वितम्।
वर्णालङ्कारसंयुक्ते प्रयोक्तव्यं बुधैरथ॥ ५, ४३ का० मा०॥
निर्गीतं गीयते यस्मादपदं वर्णयोजनात्।
असूयया च देवानां बहिर्गीतमिदं स्मृतम्॥ ५, ४४ वही॥

बहिर्गीत के अन्तर्गत निम्न नव क्रियाओं का समावेश था—१ प्रत्याहार, २ अवतरण, ३ आरम्भ, ४ आश्रावणा, ५ वक्त्रपाणि, ६ परिघट्टना, ७ संघोटना, ८ मार्गोत्सारित तथा ९ आसारित। यवनिका के उद्घाटित होने पर निम्न अंगों का सम्पादन किया जाता था—१ उत्थापन, २ परिवर्त, ३ नान्दी, ४ शुष्का-पकृष्टा, ५ रंगद्वार, ६ चारी, ७ महाचारी, ८ त्रिक तथा ९ प्ररोचना।[1] इन दोनों का अन्तराल भी गीत तथा नृत्य से विरहित नहीं होता था। ऐसे प्रसंग पर मद्रक तथा वर्धमान जैसे गीत तथा ताण्डव-नृत्य की योजना की जाती थी।[2]

बहिर्गीत का उद्देश्य सम्भवतः आगे प्रयुक्त होने वाले नाट्य के लिये गायक, वादक तथा प्रेक्षक-वर्ग को सज्ज करना है। इसके नवविध अंगों का परिचय तथा महत्व निम्नानुसार है—

प्रत्याहार नामक प्रथम अवस्था में सम्भवतः वाद्यों को लाने तथा सज्ज करने की क्रिया होती है। अवतरण में संगीत कलाकारों का यथा स्थान उपवेशन सम्पादित किया जाता है—

तथावतरणं प्रोक्तं गायिकानां निवेशनम्॥[3]

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार इस अवस्था में स्त्री, बालक आदि प्राकृत जनों के मनरंजन के लिये वाद्यवादन किया जाता है अभिनवगुप्त ने इस सम्बन्ध में एक अन्य मत का निर्देश किया है, जिस के अनुसार गीति के लिये उपयुक्त शुद्ध स्वरसमूह का गान इसमें किया जाता है। इनके शब्दों में—

---

१. ५, १२–१५
२. ५, १३
३. ५, १७ बडो०

"अवतरणकोटौ छन्दसोत्तरसमं वामबहिर्गीतानुवर्ति वाद्यं स्त्रीबालमूर्खादि-कुतूहलादिजननं प्रयोज्यम्। अन्ये मन्यन्ते निवेशनं स्थानस्वरादौ। न तूपवेशन-मत्र। तथा च सप्तस्वरपरिग्रहोवतरणादाशुगत्या (णमिति जात्या) दिरूपांग-सप्तकेन शुद्धसप्तकेन शुद्धसप्तकगीतितप्रयोज्यमिति।"[1]

आरम्भ नामक क्रिया के अन्तर्गत गीत-गान तथा वाद्यवादन की भूमिका रची जाती है—

"परिगीतक्रियारम्भ आरम्भ इति कीर्तितः" ॥ ५, १८ ॥

अभिनवगुप्त के अनुसार स्वरों की परिशीलन रूप आलाप नामक क्रिया इसमें होती है—

"तदनुसन्धानायालापाख्य आरम्भः।"[2]

आश्रावणा नामक क्रिया का उद्देश्य तालदर्शक वाद्यों के सताल एवं सम्मिलित वादन से है—

"ततोऽपि मानरूपतालप्रधानसर्वातोद्यगर्भमनुसन्धानमासमन्ताच्छ्रावयतीत्या-श्रावणा।"[3]

भरत के अनुसार आश्रावणा का उद्देश्य आतोद्यों के सामंजस्यपूर्ण वादन के द्वारा प्रेक्षकों का मनरंजन करना है—

आतोद्यरंजनार्थं तु भवेदाश्रावणाविधिः ॥[4]

वक्त्रपाणि नामक क्रिया के अन्तर्गत वीणा के अनुकूल दक्षिणा, चित्रा आदि वृत्तियों अर्थात् लयक्रियाओं में वादन का अन्तर्भाव है—

वाद्यवृत्तिविभागार्थं वक्त्रपाणिर्विधीयते ॥[5]

अभिनवगुप्त के शब्दों में—

"ततोऽपि प्रतिबिम्बभूतवैणवस्वरस्वरूपानुसन्धानाय दक्षिणादिवृत्तिविभागा-नुसन्धानात्मना वक्त्रपाणिः। वक्त्रे प्रारम्भे हस्तांगुलिव्यापारः।"[6]

परिघट्टना से तात्पर्य तन्त्रीवाद्यों की विशिष्ट क्रिया से है, जिसमें तंत्री के कर्षण से विभिन्न स्वर-समूहों को निकालने की प्रथा थी—

तन्त्र्योजःकरणार्थं तु भवेच्च परिघट्टना ॥ ५, १९ ॥

---

१. वहीं, पृ० २१३
२. वहीं
३. वहीं
४. ना० शा० ५, १८
५. वहीं ५, १९
६. वहीं

प्रतीत होता है कि इस अवस्था में तन्त्री का कर्षण-कार्य बाहुल्य से होता था तथा इनके द्वारा विभिन्न स्वरावलियों का वादन किया जाता था।

अभिनवगुप्त के शब्दों में—

ततस्तु वृत्तिभागगतशुष्कप्रयोगानुसन्धानात् ज्यापरिघट्टना। घट्ट चलन इति पाठात्। पश्चाद्वीणावाद्योपजीवकत्वादवनद्धस्यानुसन्धानरूवाद्यादिना प्रहार-पञ्चकयोगेन क्रियत इति संघोटना। घुट् परिवर्तने।[1]

भरत के अनुसार संघोटना से तात्पर्य ऐसे वीणा वादन से है जिसमें मृदंग जैसे संगति-वाद्यों पर नानाविध हस्त प्रहारों को किया जाता है—

तथा पाणिविभागार्थं भवेत्संघोटनाविधिः।[2]

आसारित तथा मार्गासारित जैसे गीतों के साथ पूर्वरंग में गायन क्रिया का आरंभ होता था। कला, पात आदि तालांगों के साथ सुनिश्चित क्रम से होने वाली इस गीतक्रिया में सभी वाद्यों से संगति-वादन किया जाता था—

कलापातविभागार्थं भवेदासारितक्रिया।[3]

अभिनवगुप्त के अनुसार वीणा तथा मृदंग का सम्मिलित वादन 'मार्गासारित' का प्रमुख लक्षण है—

"वैणवपौष्करशब्दस्य परस्परसम्मेलनं कार्यमिति मार्गासारितम्।"[4]

उपर्युक्त बहिर्गीत के सम्बन्ध में[5] नाट्यशास्त्र में निम्न आख्यायिका उपलब्ध है। देवदानवों की सभा में नारदादि गन्धर्वों ने सगीत तथा निर्गीत दोनों प्रकार का संगीत प्रस्तुत किया। सगीत संगीत देवताओं के स्तुतिपरक होने के कारण असुरों के लिये नितान्त अरुचिकर सिद्ध हुआ। उन्होंने सवादित्र निर्गीत के प्रस्तुत किये जाने पर आग्रह किया। इस प्रकार का गीतहीन अर्थात् सार्थक-शब्दविहीन संगीत देवताओं को स्वीकृत न हुआ। अतएव दोनों को सन्तुष्ट करने के लिये नारद ने उपोहन नामक अंग[6] निर्गीत के आरम्भ में जोड दिया। नारद का यह निर्णय दोनों पक्षों के लिये सन्तोषप्रद सिद्ध हुआ। देवताओं के लिये प्रसन्नता इस बात की रही कि उपोहन नामक आलापसदृश अंग, जो सदैव गीत के आरम्भिक खण्ड के रूप में गाया जाता था, निर्गीत के आरम्भ में भी

१. वहीं
२. ५, २०
३. ५, २१
४. अ० भा० बड़ौ० अ० ५
५. विस्तृत जानकारी के लिए द्र० ना० शा० अ० २९।१२७–१४९ चौ०
६. उपोहन नामक गीतांग के लिये द्र० ना० शा० ३१, २४१–४२।

जोड़ा गया। असुरों की प्रसन्नता का कारण यह था कि उपोहन का गान निरर्थक अक्षरों से किये जाने का विधान बना। यद्यपि देवताओं ने संगीतज्ञ नारद का यह निर्णय मान लिया तथापि अपनी रुचि के अननुकूल होने के कारण इस प्रकार के निर्गीत संगीत के लिये उन्होंने बहिर्गीत संज्ञा दी।[1]

बहिर्गीत के अनन्तर संपन्न होने वाले अंगों में निम्न तीन का संगीत की दृष्टि से विशेष महत्व है—नान्दी, शुष्कापकृष्ट तथा रंगद्वार। नान्दी का पठन सूत्रधार के द्वारा किया जाता रहा है। नान्दी-पठन के लिये यह विधान है कि वह 'मध्यम' स्वर अर्थात् कण्ठ से सहज रूप से उद्भूत होने स्वर में गायी जानी चाहिये—

सूत्रधारः पठेन्नान्दीं मध्यमस्वरमाश्रिताम् ॥ ५,१०६ ॥

नान्दी के अनन्तर अवकृष्टा, अड्डिता आदि ध्रुवाओं का गान विहित है, जिस के अन्तर्गत केवल शुष्काक्षरों अथवा स्तोभाक्षरों का प्रयोग सम्मत है[2]।

इस ध्रुवा में केवल स्तोभक्रिया की जाने के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र का स्पष्ट आदेश है—

न तत्र गानं कर्तव्यं तत्र स्तोभक्रिया भवेत् ॥ ५,१०४ ॥

आचार्य अभिनवगुप्त इसी भाव का स्पष्टीकरण निम्न शब्दों में करते है—
'गीयत इति गानमर्थवद्वाक्यम्। स्तोभानां शुष्काक्षराणाम्। क्रिया गानमित्यर्थः।'[3]

नाट्यशास्त्र में शुष्क अवकृष्टा का निम्न उदाहरण उपलब्ध है—

झण्डे झण्डे दिल्लग दिल्ले। जम्बुक बलितक तेतेनाम्।[4]

सामगान के निरूपण में हमने निर्दिष्ट किया है कि उसके अन्तर्गत हाहा, हूहू इत्यादि निरर्थक शब्दों से स्तोभगान किया जाता रहा। प्रतीत होता है कि आधुनिक संगीत में तनाना, रीरी, तोम्, तनोम्, उदतन आदि आलापसूचक शब्दों का प्रयोग इन्हीं शुष्काक्षरों का परिचायक है।

पूर्वरंग विधि[5] में 'रंगद्वार' संज्ञा उस क्रिया के लिये है, जिस में वाचिक तथा आंगिक अभिनय का सर्व प्रथम अवतरण किया जाता है—

---

१. ५, ४१ का० भा०

२. ५, २५

३. ना० शा० बडौ० खण्ड १, पृ० २३६

४. ५, ११४–११५

५. स्पष्ट है कि पूर्वरंग के अन्तर्गत प्रयुक्त होने वाले संगीत का उद्देश्य गायक तथा वादक को प्रयोग के लिये सज्ज करना है। इस सज्जता से मुख्य प्रयोग तक गायक का कण्ठ तथा वादक की अंगुलियाँ कार्यक्षम होती हो, इस

यस्मादभिनयस्तत्र प्रथमं ह्यवतार्यते ।
रंगद्वारमतो ज्ञेयं वा रंगाभिनयात्मकम् ॥ ५,२६ ॥

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भरतकालीन नाट्य में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। संगीत तथा नृत्य पर आधारित विशिष्ट रूपक प्रकारों अथवा उपरूपकों के अतिरिक्त अन्य रूपकों में भी संगीत का समावेश सम्मत है। भरत-कालीन रूपकों में संगीत का व्यवहार आद्योपान्त किया जाता रहा है। नान्दी में संगीत की ध्वनि आतोद्यों के निनाद के साथ प्रचलित रहती थी (३६, २२–२६)। नान्दी का गान सूत्रधार के द्वारा मध्यम स्वर में किया जाता था, इसका संकेत ऊपर किया जा चुका है। प्रतीत होता है कि यह गान सामान्यतः आर्चिक प्रकार का रहा हो। पूर्वरंग में संगीत अर्थात् गीतयुक्त तथा निर्गीत अर्थात् विशुद्ध वाद्यवादन दोनों का यथावसर प्रयोग किया जाता रहा। संगीत की संगति में वेणु तथा वीणादि वाद्यों का प्रयोग रसानुकूल एवं लयानुकूल किया जाता था (४, २९८–२९९; ३०, १०–११)। इसीलिये वाद्यवादकों के लिये आवश्यक था कि वे संगीत के गीत आदि अंगों में दक्ष हो (३२, ४६१ तथा ४६४)। नाट्य संगीत के गान के लिये महिलाओं को उपयुक्त माना जाता था (३५, २७)। नाट्यशास्त्र के काल में भूमिकाभिनय के सम्बन्ध में यथार्थवादिता पर विशेष ध्यान दिया जाता था तथा इस ध्येय की पूर्ति के लिये स्त्री तथा पुरुष दोनों अनुकूल भूमिका को ग्रहण करते थे। यदा कदा प्रसंग के अनुकूल भूमिकाओं का विपर्यास भी किया जाता था। ई० ८ के कुट्टिनीमत से प्रमाणित है कि भूमिका-भिनय के सम्बन्ध में ये दोनों परम्पराएँ परवर्ती काल में भी प्रचलित रही। कुट्टिनीमत में ऐसे नाटक प्रयोग का उल्लेख है, जिस में सभी भूमिकाओं का अभिनय स्त्रीपात्रों के द्वारा किया गया था[1]। नाट्यशास्त्र से यह नितान्त स्पष्ट है

में सन्देह नहीं। प्रेक्षकों की एकाग्रता के लिये आधुनिक काल में भी प्रयोगारम्भ से पूर्व वाद्यसंगीत तथा चित्रपट-संगीत की ध्वनिमुद्रिकाओं के वादन की प्रथा है।

नाट्य को आरम्भ करने से पूर्व संगीत का इसी प्रकार का प्रयोग खुले मैदान में किये जाने वाले नाटकों में तथा बंगाल की यात्रा आदि के प्रसंगों में अधुना तक किया जाता है (द्र० 'नाट्यशास्त्र,' सं० घोष, पृ० ७८, पा० टि०)। दक्षिण भारत में उपलब्ध कथकली नाट्य के कतिपय प्रकारों में भी पूर्वरंग के प्रायः सभी उपर्युक्त अंगों का प्रयोग उपलब्ध है (द्र० 'जर्नल आफ मद्रास म्यूजिक एकेडेमी,' खण्ड २५, पृ० ८४)।

१. द्र० 'जर्नल आफ म्यूज़िक एकेडेमी,' मद्रास, खण्ड २५, पृ० ८२।

कि नाट्याभिनय के लिये नाट्यगृहों की रचना उस समय होने लगी थी तथा इनके अन्तर्गत वाद्यवृन्द के समुचित विन्यास का प्रवन्ध किया जाता था[1]।

संगीत के स्वर एवं श्रुति-व्यवस्था

नाट्यशास्त्र के अट्ठाइसवें अध्याय में गान्धर्व संग्रह का संक्षिप्त निर्देश करने के पश्चात् भरताचार्य ने संगीत के सप्तस्वरों की गणना प्रस्तुत की है—

षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारो मध्यमस्तथा।
पंचमो धैवतश्चैव निषादः सप्त च स्वरः॥ २८,१९॥

अर्थात् नाट्यशास्त्रकालीन सप्तस्वरों के नाम इस प्रकार है—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत तथा निषाद। किसी स्वरावलि में श्रुतियों के विभिन्न संयोग से स्वर में अवस्थान्तर निष्पन्न होता है। यद्यपि श्रुति की परिभाषा नाट्यशास्त्र में उपलब्ध नहीं, तथापि इसमें स्वरान्तर्गत सूक्ष्म ध्वन्यन्तरों का संकेत है, यह तथ्य विवादास्पद नहीं। किसी स्वरसप्तक के अन्तर्गत स्वरों में श्रुतिविषयक पारस्परिक सम्बन्ध स्वर की चतुर्विध अवस्था का हेतु बन जाता है। इसके अनुसार स्वर के लिये वादी, सम्वादी, अनुवादी तथा विवादी संज्ञा है। वादी वह है, जो अंशस्वर होने के कारण बहुल रूप से प्रयुक्त होता है—

'तत्र यो यत्रांशः स तस्य वादी'।[2]

चतुर्विध स्वरों में से सर्वाधिक स्पष्ट एवं मुखर होने के कारण उसकी संज्ञा 'वादी' है—'वदनाद्वादी'।[3] जिन दो स्वरों के मध्य में नव एवं तेरह श्रुतियों का अन्तराल है, वे परस्पर सम्वादी[4] निर्दिष्ट किये गये हैं—

"ययोश्च नवकत्रयोदशश्रुत्यन्तरे तावन्योन्यम् सम्वादिनौ। यथा षड्जमध्यमौ

---

१. सिरगुजा संस्थान के लक्खनपूर मण्डल में सीताबेंगा नामक गुहा उपलब्ध है, जिस में अर्धवर्तुलाकार प्राचीन नाट्यगृह के चिन्ह स्पष्टतः दृग्गोचर होते हैं। डा० ब्लाच के अनुसार इस स्थान का निर्माण गीत तथा नृत्य आदि के सार्वजनिक प्रयोग के लिये ही किया गया था (द्र० 'आर्कियालाजिकल सर्व्हे आफ इंडिया,' एन्युअल रिपोर्ट, १९०३–४, पृ० १२६)।

इसी गुफा के आस पास जोगिमारा नामक अन्य गुफा में उपलब्ध शिलालेख में 'लूप-दखे' शब्द का प्रयोग पाया जाता है, जो संस्कृत रूपदक्ष का प्राकृत रूप माना जाता है ('हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स,' काणे)।

२. ना० शा० २८, पृ० ३१७

३. वहीं, पृ० ३१८

४. संवादात्संवादी' (द्र० ना० शा० २८, पृ० ३१८)।

षड्जपंचमौ ऋषभधैवतौ गान्धारनिषादौ इति षड्जग्रामे। मध्यमग्रामेप्येवमेव षड्जपंचमवर्ज्यं पंचमर्षभयोश्चात्र सम्वाद इति।"

अर्थात् षड्जग्राम में षड्ज तथा मध्यम, षड्ज तथा पंचम, ऋषभ तथा धैवत, गान्धार तथा निषाद इन स्वर-युग्मों का परस्पर सम्वाद है। मध्यमग्राम में षड्ज-पंचम सम्वाद को वर्ज्य कर शेष सभी सम्वादी युग्म षड्जग्रामवत् रहते है। षड्ज-पंचम सम्वाद के स्थान पर ऋषभ-पंचम का सम्वादित्व मध्यम-ग्राम का प्रमुख वैशिष्ट्य है। विवाद स्वर वह है जिन के मध्य में बीस श्रुतियों का अन्तराल है—

विवादिनस्तु ते येषां विंशतिस्वरमन्तरम्।
तद् यथा-ऋषभगान्धारौ धैवतनिषादौ॥ २८, पृ० ३१८॥

भरत के अनुसार बीस श्रुतियों का अन्तर रि-ग तथा ध-नि में होने के कारण ये स्वर परस्पर विवादी हैं। दत्तिल के अनुसार यह अन्तर आरोही स्वरसप्तक में द्विश्रुतिक सिद्ध होता है—

द्वयन्तरौ तु विवादिनौ[1]॥

वादी, सम्वादी तथा विवादी के अतिरिक्त शेष सभी स्वर परस्पर अनुवादी बताये गये हैं।

"एवं वादिसंवादिविवादिषु स्थापितेषु शेषाः अनुवादिनः संज्ञकाः। यथा षड्जस्य ऋषभगान्धारधैवतनिषादाः। ऋषभस्य मध्यमपंचमनिषादाः। गान्धार-स्यापि मध्यमपंचमधैवताः। मध्यमस्य धैवतपंचमनिषादाः। पंचमस्य धैवत-निषादौ। धैवतस्य ऋषभपंचममध्यमा षड्जग्रामे। मध्यमग्रामेपि मध्यमस्य पंचमधैवतनिषादाः पंचमस्य ऋषभषड्जगान्धाराः। धैवतस्य षड्जर्षभगान्धाराः। निषादस्य षड्जार्षभगान्धाराः[2]"।

षड्ज तथा मध्यम दोनों ग्रामों में सप्त स्वरों के अन्तर्गत कुल बाईस श्रुतियाँ हैं। षड्जग्राम, जो कि भरतकालीन शुद्ध स्वर-ग्राम है, श्रुतिविभाजन निम्नानुसार है—

तिस्रो द्वे च चतस्रश्च चतस्रस्तिस्र एव च।
द्वे चतस्रश्च षड्जाख्ये ग्रामे श्रुतिनिदर्शनम्॥ २८,२२॥
षड्जश्चतुश्रुतिर्ज्ञेयः ऋषभस्त्रिःश्रुतिः स्मृतः।
द्विश्रुतिश्चापि गान्धारो मध्यमश्च चतुःश्रुतिः॥ २८,२३॥
चतुःश्रुतिः पंचमः स्यात् त्रिःश्रुतिर्धैवतस्तथा।
द्विश्रुतिस्तु निषादः स्यात् षड्जग्रामे स्वरान्तरे॥ २८,२४॥

---

१. दत्तिल० श्लो० १९

२. ना० शा० २८, पृ० ३१८

अर्थात् षड्जग्राम की व्यवस्था में षड्ज से आगे तार षड्ज तक ३,२,४,४,३ २ तथा ४ इस प्रकार प्रत्येक स्वर के श्रुत्यन्तर हैं। मध्य षड्ज की ४ श्रुतिया, ऋषभ की ३, गान्धार की २, मध्यम की ४, पंचम की ४, धैवत की ३ तथा निषाद की २ श्रुतिया मानी गई है। इस प्रकार श्रुतियों की सप्तकगत संख्या कुल २२ होती है।

सप्तस्वरों की शुद्धावस्था अपनी अपनी श्रुतियों के आरम्भ में है अथवा अन्त में, इस सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश नाट्यशास्त्र में नहीं। तथापि निम्न प्रमाण से उसके सम्बन्ध में सबल अनुमान सम्भाव्य है। साधारण नामक विशिष्ट स्वर-विधि में भरत ने गान्धार एवं निषाद के द्विश्रुत्युत्कर्ष का विधान किया है। द्विश्रुतियों के उत्कर्ष से इन दो नये स्वरों का स्थान क्रमशः ग और म तथा नि और सा के मध्य में आ जाता है। यहाँ निषाद द्विश्रुतियों से उत्कृष्ट होने पर षड्ज के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाता है और गान्धार मध्यम के क्षेत्र में प्रविष्ट होता है परन्तु ये नवीन स्वर मध्यम तथा षड्ज के स्थान को कथमपि क्षति नहीं पहुँचाते। शुद्ध स्वरों की स्थिति प्रारम्भिक श्रुति पर मान लेने से स्वरगत श्रुतिरचना निम्नानुसार होगी—

श्रुतिसंख्या १ २ ३ ४ । ५ ६ ७ । ८ ९ । १० ११ १२ १३ ।
। । । ।
स्वरनामसा । रि । म ।

श्रुतिसंख्या १४ १५ १६ १७ । १८ १९ २० । २१ २२ ।।
। । ।।
स्वरनाम म । ध । नि ।।

उपर्युक्त श्रुतिरचना में साधारणविधि के अन्तर्गत आठवी श्रुति का गान्धार द्विश्रुति चढाये जाने से मध्यम के स्थान को ग्रहण कर लेगा तथा २१ वीं श्रुति-वाला निषाद भी द्विश्रुति से उत्कृष्ट होने पर षड्ज की १ ली श्रुति पर स्थानापन्न होगी। इस परिस्थिति में दो स्वरों के एक ही श्रुतिस्थान पर स्थापित किये जाने की अनिष्ट आपत्ति आ जायेगी तथा स्वरसाधारण की प्रक्रिया निरर्थक सिद्ध होगी। साधारण का तात्पर्य अन्तरस्वरता से है, जो दो स्वरों की मध्यवर्ती स्थिति की द्योतिका है। दो स्वर एक ही श्रुतिस्थान पर आ जाने से स्वर-साधारण्य का कोई तात्पर्य ही शेष नहीं रहता। स्वर की शुद्ध एवं प्रकृत अवस्था अन्तिम श्रुति पर मानने से साधारण विधि की अन्वर्थता सिद्ध होती हुई दिखाई देती है। इसके अनुसार शुद्ध स्वरों की संस्थिति निम्नानुसार होगी—

श्रुतिसंख्या १ २ ३ ४ । ५ ६ ७ । ८ ९ । १० ११ १२ १३ ।
। । । ।
स्वरनाम सा । रि । ग । म ।

श्रुतिसंख्या	१४ १५ १६ १७	१८ १९ २०	२१ २२
स्वरनाम	प	ध	नि

जैसा स्पष्ट है, उपर्युक्त श्रुतिरचना में प्रत्येक शुद्ध स्वर अपनी अन्तिम श्रुति पर स्थित है, जिस के कारण साधारणविधि के अन्तर्गत गान्धार तथा निषाद के के द्विश्रुत्युत्कर्ष के लिये अवकाश प्राप्त है। गान्धार जो ९ वीं श्रुति पर है, द्विश्रुति से उत्कृष्ट होकर मध्यम के स्थान को क्षति न पहुँचाते हुए उसकी प्रथम २ श्रुतियों को ग्रहण कर सकता है तथा गान्धार एवं मध्यम दोनों के ठीक मध्यवर्ती होने के कारण अन्तरस्वरता को यथार्थ रूप से प्राप्त कर सकता है। निषाद के सम्बन्ध में भी यही प्रक्रिया चरितार्थ होती है।

निष्कर्ष यह कि यद्यपि स्वर की शुद्ध स्थिति के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र में स्पष्ट निर्देश उपलब्ध नहीं, तथापि स्वरों की शुद्ध अवस्था उनकी अन्तिम श्रुतियों पर होने की बात उपर्युक्त विवेचन से भरतप्रणीत प्रतीत होती है। दत्तिल के प्रामाण्य पर इसी निष्कर्ष का समर्थन प्राप्त है।[1] दत्तिल के अनुसार किसी विशिष्ट ध्वनि को षड्ज के रूप में गृहीत करने पर सप्तक के स्वरों में निम्न श्रुत्यन्तर होंगे—

गृहीत ध्वनि सा ३ रि २ ग ४ म ४ प ३ ध २ नि ४ सा।

स्वरों की शुद्धावस्था अन्तिम श्रुति पर होने के सम्बन्ध में प्राचीन परम्परा मतंग के निम्न कथन में स्पष्टतः प्रतिभासित हो उठी है—

"त्रिश्रुतिरिति क्रम्यादौ देयः षड्जश्चतुश्रुतिः।
तदूर्ध्वं द्वे श्रुती त्यक्त्वा तृतीय ऋषभो मतः॥
ततश्चैकां श्रुतिं त्यक्त्वा गान्धारो द्विश्रुतिः स्मृतः।
तदनु त्रिश्रुतीस्त्यक्त्वा कर्तव्यो मध्यमस्वरः॥
तदूर्ध्वं पंचमः कार्यः परित्यज्य श्रुतित्रयम्।
श्रुतिद्वयं परित्यज्य कर्तव्यो धैवतस्ततः॥
एकां श्रुतिं परित्यज्य निषादस्तदनन्तरम्।
षड्जग्रामसमुद्भूत उक्तोसौ श्रुतिमण्डलः॥"[1]

---

१. श्लो० १२–१४

१. बृह० पृ० १०; उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष स्पष्ट है कि भरत के शुद्ध स्वरग्राम की श्रुतिसंख्या दक्षिण के मुखारी नामक मेल से सर्वथा विभिन्न है। दक्षिण के आदिम मेल मुखारी को भरत परम्परा का प्रस्थापित रूप माना जाता है, तथा इसके श्रुत्यन्तर निम्नांकित हैं—

षड्ज (चतुःश्रुतिक), ऋषभ (द्विश्रुतिक), गान्धार (चतुश्रुतिक), मध्यम

भरतकालीन ग्राम

जैसा ऊपर निरूपित किया गया है, नाट्यशास्त्र में दो ग्रामों का नामोल्लेख है—षड्ज तथा मध्यम। तृतीय ग्राम, जोकि गान्धार नाम से विख्यात है,

---

(चतुश्रुतिक), पंचम (चतुश्रुतिक), धैवत (द्विश्रुतिक), निषाद (चतुश्रुतिक)।

आधुनिक उत्तरात्य संगीत की स्वरलिपि के अनुसार यह स्वरसप्तक निम्नानुसार होगा—सा रे॒ रे म प ध॒ ध सां—जोकि प्राचीन यूनानी संगीत के क्रोमैटिक अर्थात् अर्धस्वराधारित मेल से मिलता-जुलता है। श्रुत्यन्तरों की दृष्टि से भरतोक्त परिभाषा से वह संगत नहीं माना जा सकता। मुखारी मेल के सा से म तया प से सां इन दो अर्धों में प्रत्येकशः दो द्विश्रुतिक स्वरों का प्रयोग विहित है, जो भरतोक्त स्वरसप्तक से असंगत है। भरत के अनुसार द्विश्रुत्यन्तर वाले स्वरों में विवादित्व आ जाता है और इसी की बहुल मात्रा मुखारी को दूषित सिद्ध करती है। महत्व की बात यह कि स्वर की शुद्धावस्था भरत के अनुसार स्वर की अन्तिम श्रुति पर है। दाक्षिणात्य संगीत परम्परा में स्वर की शुद्धावस्था आदिम श्रुति पर मानी जाती है तथा विकृतावस्था उससे परवर्ती श्रुतियों पर दर्शित की जाती है। इस अवस्था में दाक्षिणात्य शुद्ध मेल को क्रोमैटिक के अन्तर्गत तथा भरतोक्त ग्राम को डायटोनिक अर्थात् द्विस्वरक मेल के अन्तर्गत रखा जा सकता है। (द्र० 'म्यूज़िक आफ़् हिन्दुस्तान,' फ़ाक्स स्ट्रैन्गवेज़, पृ० ११८–१२१; 'ध्वनि और संगीत,' ललितकिशोर सिंह, पृ० ११९–१२०, १८९–१९०, २१३–२१४; तुलनार्थ द्र० लक्ष्यसंगीत पत्रिका, खण्ड ३, सं० २, पृ० ३२–३६ पर पं० भातखण्डे का लेख)

प्राचीन यूनानी संगीत में इन दोनों मेलों का विवरण प्राप्त है। डायटौनिक वह है जिसमें सप्तक के प्रत्येक अर्ध में दो बृहत् स्वरान्तर (Tones) तथा एक लघुतम स्वरान्तर (Limma) हुआ करते हैं। क्रोमैटिक में प्रत्येक चतुःस्वरात्मक अर्ध में लघुतम स्वरान्तरों (Limma) की बहुलता होती है। भरतोक्त शुद्ध स्वर ग्राम में प्रत्येक अर्ध में केवल एक ही द्विश्रुतिक अर्थात् अर्धस्वरान्तर की स्थिति मानी जाती है तथा अन्य स्वर त्रिश्रुतिक तथा चतुःश्रुतिक जैसे बृहत् अन्तरालों पर स्थित माने जाते हैं। दाक्षिणात्य शुद्धमेल मुखारी के अन्तर्गत सा से रि तथा रि से ग ये स्वर एक-एक अर्धस्वरान्तर पर स्थित है तथा ग से म तीन अर्धस्वरान्तर की दूरी पर स्थित है। ऐसे स्वरान्तर प्रत्यक्ष गायन में काठिन्य उपस्थित कर देते हैं, ऐसी दाक्षिणात्य संगीतज्ञों की मान्यता मननार्ह है। (इस सम्बन्ध में विस्तार के लिये द्र० 'ग्रामर आफ़ साउथ

भरत के द्वारा कथमपि उल्लिखित नहीं। अनुल्लेख का कारण यही हो सकता है कि नाट्यशास्त्र के निर्माण काल तक इस ग्राम का व्यवहार से लोप हो गया था। नारदी शिक्षा में गान्धार ग्राम के स्वर्गस्थ होने का स्पष्ट उल्लेख है, जिसका संकेत यथास्थान किया जा चुका है। दतिल के अनुसार गान्धार ग्राम का केवल सैद्धान्तिक अस्तित्व है, व्यावहारिक अस्तित्व नहीं—

केचिद् गान्धारमप्याहुः स तु नेहोपलभ्यते ॥ (दतिल, ११)

षड्ज एवं मध्यम दोनों ग्रामों की कुल २२ श्रुतियाँ हैं तथा इन श्रुतियों का स्वरगत विभाजन दोनों ग्रामों में प्रायः समान है। षड्ज तथा मध्यम ग्राम की श्रुतिविषयक व्यवस्था निम्नानुसार है—

१. षड्जग्राम—षड्ज (चतुःश्रुतिक), ऋषभ (त्रिश्रुतिक), गान्धार (द्विश्रुतिक), मध्यम (चतुःश्रुतिक), पंचम (चतुःश्रुतिक), धैवत (त्रिश्रुतिक), निषाद (द्विश्रुतिक)।

२. मध्यमग्राम—मध्यम (चतुःश्रुतिक), पंचम (त्रिश्रुतिक), धैवत (चतुःश्रुतिक), निषाद (द्विश्रुतिक), षड्ज (चतुःश्रुतिक), ऋषभ (त्रिश्रुतिक), गान्धार (द्विश्रुतिक)।

इससे स्पष्ट है कि षड्ज तथा मध्यम ग्राम का अन्तर प्रामुख्य से पंचम स्वर में निहित है। मध्यम ग्राम का पंचम षड्ज ग्राम के पंचम से श्रुत्यपकृष्ट अर्थात् एक श्रुति निम्नतर है। जैसा ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है, षड्ज ग्राम का पंचम १७ वीं श्रुति पर स्थित है। इस अवस्था में मध्यम-ग्रामीण पंचम का स्थान निःसन्देह १६ वीं श्रुति पर होना चाहिये। निम्नांकित तालिका से मध्यम ग्राम का श्रुति विभाजन-स्पष्ट होगा—

१ २ ३ ४ सा	५ ६ ७ रि	८ ९ ग	१० ११ १२ १३ म
१४ १५ १६ प	१७ १८ १९ २० ध	२१ २२ नि	

जैसा हमने यथास्थान निरूपित किया है, वादी, सम्वादी आदि चतुर्विध स्वरों में केवल सम्वादी स्वर की स्थिति षड्ज तथा मध्यम ग्राम की भेदिका है। अन्य सभी समान होते हुए केवल त्रिश्रुति ऋषभ तथा त्रिश्रुति पंचम इनका ९ श्रुत्यन्तरों से सम्पन्न परस्पर सम्वाद मध्यम ग्राम को षड्ज ग्राम से विभिन्न एवं वैशिष्ट्यपूर्ण बनाता है। इन दो ग्रामों में षड्ज ग्राम का मूलभूत होना

इण्डियन म्यूजिक,' पं० सुब्रह्मण्य अय्यर, पृ० ८४–८५; तथा 'साउथ इण्डियन म्यूजिक,' खण्ड ४, पृ० १८७, सं० प्रो० साम्बमूर्ति)

भरत को निश्चित रूप से अभिप्रेत है। जैसा ऊपर प्रतिपादित किया जा चुका है, मध्यम ग्राम की परिकल्पना षड्ज ग्राम की पार्श्वभूमि में ही उन्होंने की है। षड्ज ग्राम के पंचम को एक श्रुति से अपकृष्ट करने पर मध्यम ग्राम की उद्भूति हो जाती है, स्वतंत्र रूप से नहीं। षड्ज ग्राम की श्रुतिव्यवस्था को जानने पर ही मध्यम ग्राम की स्वररचना स्वयं एवं सहज हृदयंगम हो सकती है। अतएव स्पष्ट है कि षड्ज ग्राम भरतकालीन मूलभूत ग्राम रहा है। इसी प्राकृतिक स्वरग्राम को आधुनिक परिभाषा में तत्कालीन शुद्ध स्वरमेल अथवा शुद्ध स्वर-सप्तक कहना आपत्तिजनक न होगा।

भरतोक्त श्रुतिदर्शनविधान

षड्ज तथा मध्यम ग्राम का श्रुतिविषयक अन्तर निर्दिष्ट करते हुए नाट्यशास्त्रकार का निम्न कथन महत्वपूर्ण है—

मध्यमग्रामे तु श्रुत्यपकृष्टः पंचमः कार्यः।[1]

अर्थात् मध्यमग्राम में पंचम को एक श्रुति से अपकृष्ट किया जाना चाहिये। यह श्रुत्यपकर्ष किस प्रमाण तक किया जाये, इस सम्बन्ध में भरत का निम्न कथन है—

पंचमस्य श्रुत्युत्कर्षापकर्षाभ्यां यदन्तरं मार्दवादायतत्वाद् वा तावत्प्रमाण-श्रुतिः।[2]

अर्थात् पंचम की एक श्रुति को चढ़ाने में अथवा उतारने में जो अन्तर है, अर्थात् पंचम की एक श्रुति को मृदु (निम्न) तथा आयत (उच्च) करने में जो अन्तर है, उसी प्रमाण तक षड्जग्रामीण पंचम की श्रुति का अपकर्ष किया जाना चाहिए। श्रुतियों का उत्कर्ष तथा अपकर्ष कैसै किया जाय, इस सम्बन्ध में निदर्शन नाट्यशास्त्र में प्रस्तुत है, जो श्रुतिदर्शनविधान[3] के नाम से संज्ञित हुआ है। भरत के शब्दों में—

निदर्शनं च सम्भिव्याख्यास्यामः। यथा, द्वे वीणे तुल्यप्रमाणतन्त्र्युपपाद-नदण्डमूर्च्छिते षड्जग्रामाश्रिते कार्ये। तयोरन्यतरी मध्यमग्रामिकीं कुर्यात्। पंचमस्यापकर्षे श्रुतिं तामेव पंचमस्य श्रुत्युत्कर्षविशात् षड्जग्रामिकीं कुर्यात्। एवं श्रुतिरपकृष्टा भवति। पुनरपि तदेवापकर्षात् गान्धारनिषादावपि इतरस्यां धैवतर्षभौ प्रविशतः श्रुत्यधिकत्वात्। पुनस्तदेवापकर्षाद्धैवतर्षभावितरस्या पंचम-

---

१. ना० शा० अ० २८, पृ० ३१८

२. वही

३. यही प्रक्रिया संगीतरत्नाकर आदि मध्यकालीन संगीतविषयक ग्रन्थों में में 'सारणा' नाम से अभिहित की गई है।

षड्जौ प्रविशतः श्रुत्यधिकत्वात्। तद्वत पुनरपकृष्टायां तस्या पंचममध्यमषड्जा इतरस्यां मध्यमनिषादगान्धारवन्तः प्रवेक्ष्यन्ति चतुःश्रुत्यधिकत्वात्। एवमनेन श्रुतिदर्शनविधानेन द्वैग्रामिक्यो द्वाविंशाः श्रुतयः प्रत्यवगन्तव्याः।[1]

नाट्यशास्त्र के इस अंश का शब्दशः अनुवाद निम्न प्रस्तुत किया जा रहा है—

"इसके निदर्शन का व्याख्यान हम कर रहे हैं। यथा, दो वीणाएँ षड्ज-ग्रामाश्रित की जाय, जिसमें तन्त्री, उपपादनदण्ड तथा मूर्च्छना परस्परतुल्य हो। इन दो वीणाओं में से एक को मध्यमग्राम की करना चाहिए। पंचम के अपकर्ष पर उसी श्रुति को पंचम के श्रुत्युत्कर्ष से षड्जग्रामिकी करना चाहिए। इस प्रकार श्रुति अपकृष्ट होती है। पुनः उसी अपकर्ष क्रिया से वीणा के निषाद तथा गान्धार अन्य वीणा के धैवत तथा ऋषभ में प्रवेश करते हैं। पुनः उसी अपकर्ष क्रिया से वीणा के धैवत तथा ऋषभ दूसरी वीणा के पंचम तथा षड्ज में प्रवेश करते हैं—एक श्रुति से अधिक होने के कारण। तद्वत् ही वीणा के पुनः अपकृष्ट होते पर उस वीणा के पंचम, मध्यम तथा षड्ज दूसरी वीणा के क्रमशः मध्यम, गान्धार तथा निषाद में प्रवेश करेंगे—चार श्रुतियों से अधिक होने के कारण। इस प्रकार इस श्रुतिदर्शनविधान से उभयग्रामों की बाईस श्रुतियों का परिज्ञान हो सकता है।"

उपर्युक्त व्याख्यान से निम्न तथ्य प्रकट होते हैं—

१. षड्ज तथा मध्यम दोनों ग्रामों में केवल बाईस श्रुतियाँ है, न न्यून न अधिक।

२. उपर्युक्त प्रक्रिया का प्रयोजन केवल उभय ग्रामों की २२ श्रुतियों को स्पष्ट करना है।

३. श्रुतिदर्शन के अन्तर्गत स्वर को मृदु तथा आयत अर्थात् निम्न तथा उच्च करने की क्रिया अन्तर्भूत है। श्रुति का यह अपकर्ष तथा उत्कर्ष कैसा किया जाना चाहिए, इसी के स्पष्टीकरण के लिये पंचम स्वर के उत्कर्ष तथा अपकर्ष की चर्चा वहाँ प्रस्तुत है।

४. प्रमाणश्रुति से तात्पर्य पंचम की मध्यमग्रामीण प्रमाणभूत श्रुति से है, जिसका परिमाण प्रत्येक सारणा में समान है।

५. श्रुतिदर्शन के अन्तर्गत चार सारणाओं में पंचम की अपकृष्ट श्रुति को प्रत्येक बार षड्जग्रामीण करना है अर्थात् उस श्रुति के आधार पर षड्जग्रामीण श्रुत्यन्तर स्थापित करना है।

---

१. ना० शा० पृ० ३१८–३१९

६. श्रुतिदर्शन के लिये दोनों वीणाओं का तन्त्री, वादनदण्ड तथा मूर्च्छना की दृष्टि से पूर्णांशेन तुल्य होना आवश्यक है।

भरत के इसी सारणाविषयक अंश का स्पष्टीकरण निम्न किया जा रहा है—

१—दो समान वीणाओं में से एक को मध्यमग्राम में परिवर्तित करना है, जिससे इसका पंचम षड्जग्राम के चतुःश्रुतिक प के स्थान पर एक श्रुति के अपकृष्ट अर्थात् त्रिश्रुतिक सिद्ध हुआ तथा मध्यमग्राम की स्थापना सिद्ध हुई। अब इस पंचम के अपकृष्ट होने पर इसी श्रुति को—श्रुतिं तामेव—एक श्रुत्युत्कृष्ट अर्थात् षड्जग्रामीण चतुःश्रुतिक पंचम के आधार पर अर्थात् उसी के समान षड्जग्रामीण करना है। षड्जग्रामीण करने का तात्पर्य यही है कि मूल षड्जग्रामीय वीणा में प्राप्त श्रुत्यन्तर इस वीणा के सप्त स्वरों में भी स्थापित किये जाँय। इस प्रकार चल वीणा की प्रथम सारणा में प्रत्येक स्वर की एक श्रुति का अपकर्ष हुआ। भरत के अनुसार—"षड्जग्रामे च षड्जस्य संवादः पंचमस्य"—यह षड्जग्राम की कुंजी है तथा यह संवाद विशिष्ट श्रुत्यनतर से स्थापित किया जाने वाला है। अतः इसी के आधार पर नवीन षड्जग्राम की स्थापना अभीष्ट है। यह स्थापित किये जाने पर सप्तस्वरों की एकेक श्रुतियाँ स्वतः अपकृष्ट होंगी! यही प्रथम सारणा है।

२—द्वितीय सारणा की प्रक्रिया ठीक प्रथम सारणा के सदृश है। प्रथम सारणा के प्रयोग से ध्रुव वीणा के स्वर प्रत्येकशः एक-एक श्रुति से अपकृष्ट हुए हैं। अब द्वितीय सारणा की विधि भी पूर्ववत् प से आरम्भ होगी। प्रथम सारणा से प्राप्त प को प्रमाणश्रुति से अपकृष्ट कर उस एक श्रुत्यपकृष्ट पंचम के आधार पर पुनः षड्जग्राम की स्थापना करना होगी। च्युत पंचम को षड्जग्रामिक करने से सभी स्वर पुनः प्रत्येकशः एक-एक श्रुति से च्युत होंगे। इस कारण चल वीणा के ग तथा नि, जो ध्रुव वीणा के ग तथा नि से क्रमशः एक ही श्रुत्यन्तर पर हैं, ध्रुव वीणा के क्रमशः रि तथा ध में प्रविष्ट होंगे। 'तदेवापकर्षात्' अथवा 'तद्वदेवा-पकर्षात्' इस पद से यह आशय स्पष्ट है कि प्रथम सारणा की सम्पूर्ण प्रक्रिया का अनुसरण द्वितीय तथा उससे परवर्ती सारणाओं में करना है। प्रत्येक सारणा में प्रथमतः षड्जग्राम से मध्यम ग्राम करने में प को उसी हिसाब से अपकृष्ट करना होगा, जिससे मध्यम तथा षड्जग्राम का अन्तर द्योतित होता हो। इसका अर्थ यह कदापि नहीं लिया जाना चाहिये कि अन्य स्वरों के अपकर्ष उसी प्रमाण से हो। अन्य स्वरों के अपकर्ष के लिये "षड्जग्रामिकीं कुर्यात्" में पर्याप्त स्पष्ट संकेत नाट्यशास्त्र में उपलब्ध है।

२—तृतीय सारणा में पुनश्च उसी प्रक्रिया का अवलम्ब करना है, जिसका अनुसरण प्रथम दो सारणाओं में किया गया था। तीसरी सारणा तक सभी

स्वरों की तीन श्रुतियाँ अपकृष्ट होकर ध्रुव वीणा के सा तथा प में चल वीणा के रि तथा ध मिल जाते है, कारण यह कि सा–रि तथा प—ध के मध्य में परस्पर तीन श्रुतियों का अन्तर है।

४—इसी उपर्युक्त प्रक्रिया की पुनरावृति किये जाने पर चतुर्थ सारणा में चल वीणा के सा, म तथा प ध्रुव वीणा के नि, ग तथा म में क्रमशः विलीन होते है। इस रीति से चारों सारणाओं में कुल बाईस श्रुतियों की उपलब्धि हो जाती है।

उपर्युक्त व्याख्यान से स्पष्ट है कि भरतोक्त श्रुतिदर्शनविधान तत्कालीन संगीतज्ञों के स्वरज्ञान को आधारभूत मानता है। भरत का यह गृहीत कृत्य (Assumption) है कि सारणा प्रक्रिया का आधारभूत मध्यमग्रामीण पंचम संगीतज्ञों को भलीभाँति विदित है। इस पंचम को षड्जग्रामीण बनाने के लिये जिस संवाद का आश्रय लेना है, वह भी प्रत्यक्ष श्रुत्यन्तरों पर आधारित है। अतः इस पंचम के संवादी स्वरों की स्थापना भी तत्कालीन श्रुति के स्वरूपज्ञान पर निर्भर है। भरतकालीन श्रुति का प्रमाण जिस समय तक स्पष्ट नहीं, उस समय तक सारणा प्रकरण ही क्या, भरत का श्रुति पर आधारित समस्त संगीत कल्पनागोचर ही सिद्ध हो सकता है।

श्रुतिविषयक यह गद्यांश आधुनिक संगीतज्ञों के लिये तीव्र मतभेद का विषय बन गया है। संदिग्धता मुख्यतः श्रुति का वास्तविक अर्थ तथा उसके मूल्य के सम्बन्ध में है। कुछ मनीषियों के विचार से, जिस में पं० भातखण्डे तथा क्लीमेन्ट्स आदि विचारक प्रमुख है, भरतोक्त प्रमाणश्रुति से तात्पर्य समस्त श्रुतियों में अवस्थित समान ध्वनि-परिमाण से है अर्थात् इन २२ श्रुतियों का विभाजन समान रूप से समस्त सप्तक में परिव्याप्त है। उनके अनुसार चतुःश्रुतिक सा की प्रत्येक उत्तरोत्तर श्रुति में एक समान ध्वन्यन्तर है अर्थात् सा की प्रथम तथा द्वितीय श्रुति में जो अन्तर है, वही द्वितीय तथा तृतीय में और तृतीय तथा चतुर्थ में है तथा यही प्रमाण २२ वीं श्रुति तक बराबर अक्षुण्ण रहता है। इसके विपरीत अन्य विचारकों का विचार है कि भरतोक्त श्रुतियां विषम प्रमाण की हैं अर्थात् श्रुतियों के परस्पर अन्तर में भिन्नता है तथा श्रुतिनिदर्शन में आवश्यक श्रुत्यपकर्ष प्रत्येक बार विभिन्न परिमाण की श्रुति से सम्पन्न होता है। इस वर्ग की मान्यताओं का मूलाधार या यो आधुनिक ध्वनि-विज्ञान है अथवा संवाद-तत्व का तथाकथित सार्वभौमत्व।

प्रथम वर्ग की मान्यताओं के सम्बन्ध में हमारा विनम्र निवेदन यह है कि प्रमाणश्रुति से तात्पर्य समस्त स्वरों की परिमाण-श्रुति से लेना भरतोक्त नहीं कहा जा सकता। भरत के अनुसार प्रमाणश्रुति का उद्देश्य केवल षड्ज तथा

मध्यमग्रामीण पंचम के अन्तर को स्पष्ट करना है। सभी स्वरों का अपकर्ष उसी प्रमाण से किये जाने के सम्बन्ध में कोई संकेत भरत में उपलब्ध नहीं। उपर्युक्त विवेचन में हम स्पष्ट कर चुके हैं कि षड्जग्राम को मध्यमग्राम में परिवर्तित करने पर अन्य स्वरों की स्थापना संवादतत्व पर प्रस्थापित हो जाती है। दूसरे वर्ग के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उसमें भरतोक्त संवाद का स्पष्टीकरण आधुनिक तथा भौतिक ध्वनिविज्ञान की दिशा में अग्रसर पाया जाता है। भरत के अनुसार संवाद का अर्थ गायकों के कर्णप्रत्यय पर आधारित सार्वभौम (?) संवाद नहीं किया जा सकता। उनकी दृष्टि में नव तथा तेरह श्रुत्यन्तर ही स्वरों में संवाद उपस्थापित करता है। ऐसे ही श्रुत्यन्तरों के लिये भरत ने 'संवदतीति संवादः' कहा है। यदि संगीतकारों का कर्णप्रत्यय संवाद-स्थापना के लिये पर्याप्त होता, तो उसके श्रुत्यन्तर निर्दिष्ट करने की आवश्यकता न पड़ती। भरतकाल में संवाद की स्पष्ट परिभाषा यह प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है कि तत्कालीन संगीतकारों को उस श्रुत्यन्तर की विशद कल्पना थी। जैसा ऊपर विवेचित है, भरत ने प्रमाणश्रुति का प्रयोग केवल षड्जग्राम तथा मध्यमग्राम की भिन्नता को स्पष्ट करने के लिये किया है, किसी अन्य अभिप्राय से नहीं। भरत के अनुसार षड्जग्राम को मध्यमग्राम में परिवर्तित करते समय प्रत्येक बार इसी प्रमाण का अवलम्ब करना है, किसी न्यूनाधिक प्रमाण का नहीं। यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इस प्रमाण का प्रयोग अन्य स्वरापकर्ष के लिये भरतसम्मत नहीं कहा जा सकता है। संवाद के सार्वभौमत्व तथा आधुनिक ध्वनिविज्ञान जैसे सिद्धान्तों का भरत पर आरोपण केवल कालविपर्यय के दोष से दूषित माना जा सकता है। निर्दोष अनुसंधान के 'नानपेक्षितमुच्यते' इस सिद्धान्त का उल्लंघन भरतसिद्धान्त के यथार्थ ज्ञान के लिये कहाँ तक सहायक होगा, यह नितान्त संदेहास्पद है।[1]

भरत का मूर्च्छना-प्रकरण

सप्त स्वरों की श्रुतिसंख्या तथा श्रुतिदर्शनविधान को निरूपित करने के पश्चात् भरत ने मूर्च्छनाओं का विवरण प्रस्तुत किया है। भरत के अनुसार

---

१. श्रुतिविषयक विभिन्न विचारों के लिये द्र० पं० भातखण्डे, 'संगीतशास्त्र' कृष्णराव मुले, 'भारतीय संगीत', पृ० १२५–१२८; ललितकिशोर सिंह, 'ध्वनि एवं संगीत'; पृ० १७२–१७४; बी० जी० परांजपे, 'प्रिंसिपिल्स आफ मेलाडिक क्लासिफ़िकेशन इन एन्शन्ट इंडियन 'म्यूजिक'; आल इंडिया ओरियन्टल कांफ़्रेंस, १९२२; ओंकारनाथ, 'प्रणवभारती'; पृ० ६३–७६; श्री० बृहस्पति, 'भरत का संगीत सिद्धान्त'।

षड्ज तथा मध्यम दो ग्रामों को मिलाकर कुल चतुर्दश मूर्च्छनाएँ हैं—मूर्च्छना द्वैग्रामिक्यश्चतुर्दश (अ० २८, पृ० ३१९)।

षड्जग्राम की मूलभूत सप्त मूर्च्छनाएँ निम्नानुसार हैं—

आद्या ह्युतरमन्द्रा स्याद् रजनी चौतरायता ।
चतुर्थी शुद्धषड्जा तु पंचमी मत्सरीकृता ॥ २८,२७ ॥
अश्वक्रान्ता तु षष्ठी स्यात् सप्तमी चाभिरुद्गता ।
षड्जग्रामाश्रिता एता विज्ञेयाः सप्त मूर्च्छनाः ॥ २८, २८ ॥

अर्थात् षड्जग्राम की मूर्च्छनाएँ क्रमशः उत्तरमन्द्रा, रजनी, उत्तरायता, शुद्धषड्जा, मत्सरीकृता, अश्वक्रान्ता तथा अभिरुद्गता नाम से प्रसिद्ध है। इन सभी में उत्तरमन्द्रा को आद्या बतलाया गया है।

मध्यमग्राम से उत्पन्न सप्त मूर्च्छनाएँ क्रमेण निम्नानुसार है—

सौवीरी हरिणाश्वा च स्यात् कलोपनता तथा ।
चतुर्थी शुद्धमध्या तु मार्गवी तथा ॥ २८, २९ ॥
हृष्यका चैव विज्ञेया सप्तमी द्विजसत्तमाः ।
मध्यमग्रामजा ह्येता विज्ञेयाः सप्त मूर्च्छनाः ॥ २८,३० ॥

अर्थात् मध्यमग्राम की मूर्च्छनाओं के नाम क्रमशः सौवीरी, हरिणाश्वा, कलोपनता, शुद्धमध्या, मार्गवी, पौरवी तथा हृष्यका है।

उभय ग्रामों की मूर्च्छनाओं के आरम्भिक स्वर के सम्बन्ध में भरत का निम्न विधान स्पष्ट है—

आसां षड्जनिषादधैवतपञ्चममध्यमगान्धारर्षभाः षड्जग्रामे । मध्यमग्रामे तु ।———। आसां मध्यमगान्धारर्षभषड्जनिषादधैवतपञ्चमाः । तत्र षड्जग्रामे षड्जेनोत्तरमन्द्रा, निषादेन रजनी, धैवतेनोत्तरायता———। अथ मध्यमग्रामे—मध्यमेन सौवीरी, गान्धारेण हरिणाश्वा, ऋषभेण कलोपनता—।

अर्थात् षड्जग्राम की सप्त मूर्च्छनाएं क्रमशः षड्ज, निषाद, धैवत, पंचम, मध्यम, गान्धार तथा ऋषभ से आरम्भ होती हैं। मध्यमग्राम की मूर्च्छनाएँ क्रमशः मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज, निषाद, धैवत तथा पंचम से आरम्भ होती हैं।

भरतप्रणीत मूर्च्छना—क्रम से एक तथ्य नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि भरतकालीन मूर्च्छना अवरोही क्रम से स्थापित की जाती थी। षड्जग्राम की आद्या मूर्च्छना 'उत्तरमन्द्रा' से यही तात्पर्य निकाला जा सकता है। वह इसी अर्थ में 'उतरमन्द्रा' है कि आरम्भिक स्वर के अनन्तर इसका क्रम मन्द्र स्थान में व्याप्त है। नान्यदेव ने अपने भरतभाष्य में इसकी व्युत्पति निम्न प्रकार से दी है, जो उपर्युक्त अनुमान का समर्थन करती है—

षड्जे तूत्तरमन्द्रा स्यान्मन्द्रश्चात्रोत्तरस्वरः। तस्मादुत्तरमन्द्रेयम् ॥[1]

भरत के अनुसार 'मूर्च्छना' की परिभाषा इस प्रकार है—

क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त मूर्च्छनास्त्वभिसंज्ञिताः ॥ २७,३१ ॥

अर्थात् सप्त स्वरों का क्रमिक संस्थान मूर्च्छना कहलाता है। यद्यपि इस क्रम के आरोही अथवा अवरोही होने के सम्बन्ध में स्पष्ट प्रतिपादन नाट्यशास्त्र में नहीं, तथापि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इनका अवरोही क्रम ही भरत को अभिप्रेत है। सामगान के विवरण में हम देख चुके हैं कि वैदिक संगीत में स्वरों का क्रम अवरोही माना जाता था। सामगान की इसी परम्परा का परिपालन मूर्च्छना की स्थापना में किया जाता होगा, यह कथन आपत्तिजनक नहीं। जैसा कि हम आगे चलकर देखने वाले हैं, मध्यम स्वर के प्रवरत्व के सम्बन्ध में भरत सामपरम्परा का निःसंदिग्ध स्वीकार करते हैं—

गान्धर्वकल्पेऽभिमतः सामगैश्च महर्षिभिः ॥ २८,६९ ॥

मतंग की बृहद्देशी में सप्त स्वरों के आरोह तथा अवरोह दोनों क्रमों को मूर्च्छना संज्ञा दी गई है—

आरोहणावरोहणक्रमेण स्वरसप्तकम् ॥[2]

जहां तक मूर्च्छनामण्डल के निर्माण का प्रश्न है, उन्होंने अवरोही क्रम को ही स्वीकृत किया है—

तद्यथा—नि ध प म ग रि सा इति षड्जग्रामे। ग रि स नि ध प म ऊर्ध्वा मध्यमग्रामे[3]।"

यद्यपि आगे चलकर चतुर्दश मूर्च्छानाओं के उदाहरण उन्होंने 'स रि ग म प ध नि, नि स रिं ग म प ध' इस प्रकार आरोही क्रम से प्रस्तुत किये हैं, तथापि भरत-प्रणीत अवरोही क्रम की परम्परा उन्हें विदित है, यह तथ्य पूर्वोक्त निदर्शन से स्पष्ट है। उनकी दृष्टि में मूर्च्छना के अन्तर्गत आरोही तथा अवरोही दोनों क्रम अन्तर्भूत है। अतएव उनके द्वारा निर्दिष्ट आरोही मूर्च्छना को भरतोक्त मूर्च्छना का रूपान्तर माना जा सकता है, दोनों में कोई मूलभूत एवं तात्विक भेद नहीं। भरत तथा मतंग की इस मूर्च्छना का रूप निम्न निदर्शन से स्पष्ट होगा—

१—भरतोक्त उत्तरमन्द्रा : सा नि़ ध़ प़ म़ ग़ रि़। सा़।

२—मतंगोक्त उत्तरमन्द्रा : सा़ रि़ ग़ म़ प़ ध़ नि़। सा।

---

१. द्र० 'भरतकोष,, रामकृष्ण कवि, पृ० ७१।

२. पृ० २२, श्लो, ९४

३. वहीं, पृ० २२-२३

निम्न तालिका से यह विषय पूर्णांशेन हृदयंगम होगा—

मूर्च्छना–नाम	ग्राम–नाम	आरम्भिक स्वर
१ उत्तरमन्द्रा	षड्ज	षड्ज
२ रजनी	,,	निषाद
३ उत्तरायता	,,	धैवत
४ शुद्धषड्ज	,,	पंचम
५ मत्सरीकृता	,,	मध्यम
६ अश्वक्रान्ता	,,	गान्धार
७ अभिरुद्गता	,,	ऋषभ
८ सौवीरी	मध्यम	मध्यम
९ हरिणाश्वा	,,	गान्धार
१० कलोपनता	,,	ऋषभ
११ शुद्धमध्या	,,	षड्ज
१२ मार्गवी	,,	निषाद
१३ पौरवी	,,	धैवत
१४ हृष्यका	,,	पंचम

यहाँ यह ध्यान में रखा जाय कि उपर्युक्त १४ मूर्च्छनाओं की स्थापना उन-उन ग्रामों की शुद्ध स्वरावलि पर आधारित है। मूर्च्छना का सम्बन्ध मुख्य रूप से वीणा पर स्थापित किये जाने वाले स्वर-संस्थान से है। इस सम्बन्ध में भरत का निम्न कथन मननार्ह है—

"एतेषां स्वराणां मूर्च्छनाधिकारत्वं तु तन्त्र्युपपादनदण्डेन्द्रियवैगुण्याद्रुपजायते"।[1]

द्वाविंशति श्रुतियों के निदर्शन में सर्वप्रथम वीणाओं पर षड्जग्राम के स्वरों को मूर्च्छित करने का विधान पाया जाता है—

"द्वे वीणे तुल्यप्रमाणतन्त्र्युपपादनदण्डमूर्च्छिते षड्जग्रामाश्रिते कार्ये"।[2]

इससे स्पष्ट है कि अभीष्ट स्वर-व्यवस्था को वीणा पर स्थापित करने की प्रणालि भरतकाल में विद्यमान थी तथा इसी के लिये 'मूर्च्छना' संज्ञा थी। जैसा हम आगे चलकर देखने वाले हैं, भरतकाल में सप्ततन्त्री तथा नवतन्त्री वीणा का प्रामुख्य से प्रचलन है। प्रथम वीणा का नाम चित्रा है तथा दूसरी का विपंची। इन वीणाओं की परिमित तन्त्रियों पर केवल एक विशिष्ट स्वरावलि की स्थापना की जा सकती थी। यद्यपि इन्हीं में से किसी एक को प्रारम्भिक

१. २८, पृ० ३१८
२. वहीं

स्वर मानकर अन्य स्वरावलि का उद्‌भव सम्भाव्य था तथापि उस स्वरावलि का सम्पूर्ण क्षेत्र उसी वीणा पर उपलब्ध नहीं होता था। उदाहरणार्थ, वीणा पर यदि सा नि़ ध़ प़ म़ ग़ रि़—इस उत्तरमन्द्रा नामक मूर्च्छना की स्थापना की गई हो तथा बाद में नि, ध अथवा प को अंश स्वर मानकर विशिष्ट स्वरावलि का वादन अभीष्ट हो, तो उस स्वरावलि के कुछ ही स्वर उपर्युक्त वीणा में उपलब्ध होते थे। अतः उन-उन स्वरावलियों के पूर्ण रूप को प्राप्त करने के लिये उन-उन स्वरों को आरम्भिक स्वर मानकर सप्तस्वरों को वीणा पर दूसरी बार स्थापित किया जाना आवश्यक था। ऐसी मूर्च्छना के आरम्भिक स्वर को ऐसी उच्चता (Pitch) पर स्थापित किया जाता था, जिस से उस स्वर की सम्पूर्ण मूर्च्छना का गायन एवं वादन सुविधापूर्ण होता था—

'मध्यमस्वरेण तु वैणेन मूर्च्छनानिर्देशो भवत्यनाशित्वात् मध्यमस्वरस्य'।[1]

निम्नांकित तालिका-द्वय से यह विषय पूर्णतः हृदयंगम हो सकता है—

(१) षड्जग्राम की मूर्च्छनाएँ

	आरम्भक स्वर	मूर्च्छना-नाम	स्वररचना
१	सा	उत्तरायता	सा नि ध प म ग रि
२	नि	रजनी	नि ध प म ग रि सा
३	ध	उत्तरमन्द्रा	ध प म ग रि सा नि
४	प	शुद्धषड्जा	प म ग रि सा नि ध
५	म	मत्सरीकृता	म ग रि सा नि ध प
६	ग	अश्वक्रान्ता	ग रि सा नि ध प म
७	रि	अभिरुद्‌गता	रि सा नि ध प म ग

(२) मध्यमग्राम की मूर्च्छनाएं

	आरम्भक स्वर	मूर्च्छना-नाम	स्वररचना
१	म	सौवीरी	म ग रि सा नि ध प
२	ग	हरिणाश्वा	ग रि सा नि ध प म
३	रि	कलोपनता	रि सा नि ध प म ग
४	सा	शुद्धमध्या	सा नि ध प म ग रि
५	नि	मार्गी	नि ध प म ग रि सा
६	ध	पौरवी	ध प म ग रि सा नि
७	प	हृष्यका	प म ग रि सा नि ध

१. २८, पृ० ३२१

मूर्च्छनाओं का चतुर्विधत्व

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, षड्ज तथा मध्यम दोनों ग्रामों की १४ मूर्च्छनाएँ उन-उन ग्रामों की शुद्ध स्वरावलि पर आधारित है। षड्ज तथा मध्यम ग्राम की स्वरव्यवस्था प्रायः परस्परतुल्य है, केवल दो स्वरों को छोड़कर। षड्जग्राम की शुद्ध स्वरव्यवस्था में पंचम तथा धैवत क्रमशः चतुःश्रुतिक एवं त्रिश्रुतिक है; इसके विपरीत मध्यम ग्राम की शुद्ध स्वरावलि में ये दोनों स्वर क्रमशः त्रिश्रुतिक एवं चतुःश्रुतिक है।[1] दोनों ग्रामों की उपर्युक्त १४ मूर्च्छनाओं में स्वर-योजना अपनी स्वाभाविक श्रुतिव्यवस्था पर आधारित है, यह इसी अर्थ में सार्थक है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि षड्जग्राम की समस्त सप्त मूर्च्छनाओं में पंचम सदैव चतुःश्रुतिक रहेगा तथा धैवत त्रिश्रुतिक होगा, चाहे आरम्भक स्वर कोईसा क्यों न हो। उसी प्रकार मध्यम ग्राम की सभी मूर्च्छनाएं त्रिश्रुतिक पंचम तथा चतुःश्रुतिक धैवत पर ही अवलम्बित होंगी, मूर्च्छना का आरम्भ चाहे जिस स्वर से क्यों न हो। इसी अर्थ में इन १४ मूर्च्छनाओं को शुद्ध संज्ञा प्राप्त है, जो स्वरव्यवस्था की दृष्टि से शुद्ध तथा स्वर-संख्या की दृष्टि से सम्पूर्ण है। जब इन्हीं मूर्च्छनाओं में अन्तर ग तथा काकलि नि का प्रयोग किया जाता है, ये साधारणकृता कहलाती हैं। ऊपर यह देखा जा चुका है कि शुद्ध ग तथा नि दोनों ग्रामों में द्विश्रुतिक है। इनके स्थान पर मूर्च्छनाओं में जब चतुःश्रुतिक ग अर्थात् अन्तरसंज्ञक ग तथा चतुःश्रुतिक नि अर्थात् काकलिसंज्ञक नि का प्रयोग किया जाता है, मूर्च्छनाएँ साधारणकृत संज्ञा को प्राप्त होती है। षड्ज तथा मध्यम ग्राम की चतुर्दश मूर्च्छनाओं में इन दो स्वरों का प्रयोग करने से १४ नवीन मूर्च्छना प्रकार बनते हैं। इन्हीं चौदह मूर्च्छनाओं को षाडज अर्थात् षट्स्वरी तथा ओडब अर्थात् पंचस्वरी किये जाने पर दोनों ग्रामों में मिलाकर कुल २८ प्रकार बन जाते हैं। इस प्रकार पूर्ण, साधारण कृत, षाडव तथा ओडव इन चतुर्विध प्रकारों से दोनों ग्रामों में मिलाकर कुल मूर्च्छनाएं ५६ होती हैं—

एवमेताः क्रमयुताः षट्पंचाशत् स्वराः स्मृताः। षाडवोडुवितसंज्ञिताः पूर्णाः साधारणकृताश्चेति चतुर्विधाश्चतुर्दश मूर्च्छनाः।[2]

साधारणकृत मूर्च्छना

साधारणकृता मूर्च्छना स्थापित करने के लिये नाट्यशास्त्र में निम्न विधि बतलाई गई है, जो अल्पाधिक परिवर्तन से षड्ज तथा मध्यम दोनों ग्रामों में चरितार्थ की जा सकती है—

---

१. अ० २८, २४-२५
२. वहीं, ३१-३२, पृ० ३२०

"द्विविधैकमूर्च्छनासिद्धिः तत्र द्विश्रुतिप्रकर्षाद्धैवतीकृते गान्धारे मूर्च्छनाग्रामयोरन्यतरत्वम् तद्वशान्मध्यमादयो यथासंख्येन निषादादिमत्त्वं प्रतिपाद्यन्ते। मध्यमग्रामे धैवतमार्दवाद् द्वैविध्यं भवति। तुल्यश्रुत्यन्तरत्वाच्च। श्रुत्यन्तरं पंचमधैवतयोस्तद्वत् गान्धारोत्कर्षाच्चतुःश्रुतिकमन्तरं भवति। शेषाश्चापि मध्यमपंचमधैवतनिषादर्षभषड्जा मध्यमादित्वं प्राप्नुवन्ति तुल्यश्रुत्यन्तरत्वात्"।[1]

उपर्युक्त गद्यांश का तात्पर्य निम्न रीति से स्पष्ट किया जा सकता है। गद्य में निर्दिष्ट प्रक्रिया से एक अर्थात् साधारणकृता मूर्च्छना की सिद्धि दो प्रकार से सम्भाव्य है। एक यह कि षड्जग्राम के द्विश्रुति शुद्ध गान्धार की दो श्रुतियों के उत्कर्ष से उसको धैवतस्थानीय बनाने से इस मूर्च्छना की सिद्धि हो सकती है। इससे पर्यायशः दो कार्य सिद्ध होते हैं—१ नवीन साधारणकृता नामक मूर्च्छना का निर्माण तथा २ नवीन अर्थात् मध्यम ग्राम की सृष्टि। षड्जग्राम के गान्धार को धैवतस्थानीय बनाने पर अग्रिम मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद, षड्ज, ऋषभ आदि क्रमेण निषाद, षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम तथा पंचम आदि बन जाते हैं। यह तो षड्जग्राम का मध्यमग्राम में परिवर्तन हुआ। इसकी विपरीत क्रिया करने से मध्यमग्राम का परिवर्तन षड्जग्राम में किया जा सकता है तथा साधारणस्वर की उपलब्धि हो जाती है। मध्यमग्राम के चतुःश्रुतिक धैवत को मृदु बनाने पर अर्थात् द्विश्रुति के अपकर्ष से गान्धारस्थानीय करने पर पुनः द्वैविध्य सिद्ध होता है—१ साधारणकृता नामक नवीन मूर्च्छना के निर्माण से तथा २ नवीन परिवर्तित ग्राम के सृजन से। दो ग्रामों का पारस्परिक परिवर्तन इस विधि से सम्भाव्य होने का कारण विशिष्ट स्वरों में वर्तमान समानश्रुतिकत्व है। मध्यमग्रामिक पंचम तथा धैवत में जो स्वाभाविक रूप से चतुःश्रुतिक अन्तर पाया जाता है, वही अन्तर गान्धार के द्विश्रुतिक उत्कर्ष से षडजग्राम के ऋषभ एवं

---

१. अ० २८, पृ० ३२०; इसी का एक अन्य पाठभेद निम्न रूप में पाया जाता है—

"द्विविधैकमूर्च्छनासिद्धिः। तत्र षड्जग्रामे द्विश्रुत्युत्कर्षाद्धैवतीकृते गान्धारे मूर्च्छना ग्रामयोरव्यक्ता। अन्तरवशाच्च मध्यमादयो यथासंख्येन निषादादित्वं प्रतिपद्यन्ते। तद्वद् मध्यमग्रामे धैवतमार्दवाद्द्वैविध्यं तुल्यश्रुत्यन्तरत्वाच्च संज्ञान्यत्वम्। मध्यमग्रामे हि चतुःश्रुतिकमन्तरं पंचमधैवतयोः। तद्गान्धारोत्कर्षाच्चतुःश्रुतिकमेव भवति। शेषाश्चापि मध्यमपंचमधैवतनिषादषड्जर्षभा मध्यमादित्वं प्राप्नुवन्ति। तुल्यश्रुत्यन्तरत्वात्"। (द्र० अ० भा० प्राच्य परिषद पत्रिका अधिवेशन १, पूना, पृ० ४३६ पर प्रा० वि० जी० परांजपे द्वारा बीकानेर प्रतियों की तुलना से प्रस्तुत पाठ)

गान्धार के मध्य में उपलब्ध होता है। धैवतस्थानीय ग को मृदु अर्थात् द्विश्रुत्य-पकृष्ट करने से षड्जग्रामीय म, प, ध, नि आदि स्वर अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहते हैं और शुद्ध षड्जग्राम की उत्पत्ति होती है। दतिल ने इसी क्रिया को निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—

> गान्धारं धैवतीकुर्याद् द्विश्रुत्युत्कर्षणाद् यदि ।
> तद्वशान्मध्यामादींश्च निषादादीन् यथास्थितान् ॥ २६ ॥
> ततोभूद् यावतिथ्येषा षड्जग्रामस्य मूर्च्छना ।
> जायते तावतिथ्येव मध्यमग्राममूर्च्छना ॥ २७ ॥
> श्रुतिद्वयापकर्षेण गान्धारीकृत्य धैवतम् ।
> पूर्ववन्मध्यमाद्याश्च भावयेत् षड्जमूर्च्छनाः ॥ २८ ॥

इस विधि का सम्यक् स्पष्टीकरण आवश्यक है। जैसा हमने ऊपर देखा है, मूर्च्छनाओं के साधारणकृत प्रकार निर्मित करने के लिये यह विधि है। साधारण स्वर के अन्तर्गत चतुःश्रुतिक ग अर्थात् अन्तर ग तथा चतुःश्रुतिक नि अर्थात् काकलि नि का अन्तर्भाव होता है। मूर्च्छनाप्रकारों में इन दोनों साधारण स्वरों का प्रयोग विहित है। इनकी स्थापना के लिये भरत ने उत्कर्ष तथा मार्दव का विधान किया है। प्रथम क्रिया में श्रुतियों का उत्कर्ष करना है और दूसरी में मृदुत्व अर्थात् अपकर्ष करना है। षड्जग्रामीय स्वरव्यवस्था के लिये श्रुत्युत्कर्ष का विधान 'धैवतीकृते गान्धारे' इन शब्दों से हुआ है। षड्जग्राम के गान्धार को मध्यमग्रामीय धैवत बनाना है; प्रथम द्विश्रुतिक है तथा दूसरा चतुःश्रुतिक है। गान्धार का उत्कर्ष दो श्रुतियों से उस अवस्था तक करना अभीष्ट है कि वह मध्यमग्राम का धैवत बन जाय। इस प्रकार चतुःश्रुतिक गान्धार को धैवत मानकर अग्रिम स्वरों पर क्रमशः निषाद, षड्ज इत्यादि स्वरों की कल्पना करने पर मध्यमग्राम की उद्भूति स्वयं हो जाती है। द्विश्रुतिक ग को चतुःश्रुतिक करने के कारण अग्रिम म-स्थानीय निषाद केवल दो ही श्रुतियाँ प्राप्त कर लेता है, यह बात ध्यान देने योग्य है। इसी के विपरीत षड्जग्राम पर मध्यम ग्राम का आरोपण न करते हुए उसी ग्राम की स्वर व्यवस्था में षड्जग्रामीय ग को चतुःश्रुतिक बनाकर अन्य श्रुतिव्यवस्था अक्षुण्ण रखने पर अन्तर गान्धार नामक साधारण स्वर की सृष्टि हो जाती है।

इसकी विपरीत क्रिया मध्यम ग्राम में अभीष्ट है। मध्यम ग्राम का धैवत, जो कि ग्राम-व्यवस्था के अनुकूल चतुःश्रुतिक है, दो श्रुतियों से मृदु अथवा अपकृष्ट करना है, यहाँ तक कि वह षड्जग्राम का द्विश्रुतिक शुद्ध गान्धार बन जाय। इस क्रिया से दो कार्य सिद्ध होंगे—एक यह कि मध्यमग्राम का परिवर्तन

षड्जग्राम में होगा तथा दूसरा यह कि स्वयं मध्यमग्राम में काकलि निषाद की उपलब्धि होगी, जो धैवत से चतुःश्रुतिक अन्तर पर स्थित है। मध्यमग्राम का स्वाभाविक एवं शुद्ध धैवत चतुःश्रुतिक है और निषाद द्विश्रुतिक। धैवत की दो श्रुतियाँ कम करने पर उसकी अवशिष्ट श्रुतियाँ निषाद को मिल जायगी और यह चतुःश्रुतिक अर्थात् काकलि निषाद बन जायगा। मध्यमग्रामीण अन्य श्रुत्यन्तरों को अक्षुण्ण रखने से मध्यमग्राम के अन्तर्गत एक नवीन चतुःश्रुतिक अर्थात् काकलि निषाद का आविर्भाव स्वयं हो जाता है। इसी द्विश्रुतिक ध को षड्जग्रामीय ग मानकर अग्रिम नि, सा आदि स्वरों को क्रमशः म, प आदि मान लेने से षड्जग्राम की यथावत् सिद्धि हो जाती है।

निम्न तालिका[1] से यह विषय नितान्त हृदयंगम होगा—

१ षड्जग्राम की शुद्ध मूर्च्छना—४ सा ३ रि २ ग ४ म ४ प ३ ध २ नि

२ षड्जग्राम के अन्तर्गत गान्धार को चतुःश्रुतिक करने पर अन्तर गान्धार की सिद्धि—

४ सा ३ रि ४ ग २ म ४ प ३ ध २ नि

३ गान्धार के धैवतस्थानीयत्व से मध्यमग्राम की सिद्धि—

४ ध २ नि ४ सा ३ रि २ ग ४ म ३ प

४ मध्यमग्राम की शुद्ध मूर्च्छना—४ म ३ प ४ ध २ नि ४ सा ३ रि २ ग

५ मध्यमग्राम के अन्तर्गत धैवत को द्विश्रुतिक करने पर काकलि नि की सिद्धि—

४ म ३ प २ ध ४ मि ४ सा ३ रि २ ग

६ धैवत के गान्धारस्थानीयत्व से षड्जग्राम की सिद्धि[2]—

२ ग ४ म ४ प ३ ध २ नि ४ सा ३ नि

भरतोक्त मूर्च्छना-तानें

षड्जग्राम तथा मध्यमग्राम की चतुर्विध मूर्च्छनाओं में दो प्रकार षट्स्वरी अर्थात् षाडव तथा पंचस्वरी अर्थात् ओडव होने के सम्बन्ध में ऊपर उल्लेख

---

१. मूर्च्छना के अन्तर्गत निर्दिष्ट अङ्क श्रुत्यन्तरों के द्योतक है।

२. तालिका के अन्तर्गत नं० ३ तथा ६ को क्रमशः मध्यम तथा षड्ज से लिखने पर उभयग्रामों का स्वरूप स्पष्टतः प्रतिभासित हो सकता है। इन दो मूर्च्छनाओं के सम्बन्ध में यह ध्यान रखने योग्य है कि षड्जग्राम के द्विश्रुतिक गान्धार के द्विश्रुत्युत्कर्ष से मध्यमग्रामीण धैवत मान लेने पर अग्रिम निषाद की २ ही श्रुतियाँ रहेगी तथा मध्यमग्राम के चतुःश्रुतिक धैवत के द्विश्रुत्यपकर्ष से षड्ज-ग्रामीण मान लेने पर अग्रिम निषाद की ४ श्रुतियाँ हो जावेगी।

किया जा चुका है। ऐसी ही असम्पूर्ण अथवा न्यूनस्वरा मूर्च्छनाओं के लिये मूर्च्छनातान संज्ञा नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त है। भरताचार्य के अनुसार शुद्ध तथा साधारण स्वरों से समन्वित सम्पूर्ण अर्थात् सप्तस्वरयुक्त स्वरावलि के लिये 'मूर्च्छना' संज्ञा है तथा षाडव एवं ओडव स्वरावलि के लिये मूर्च्छनातान संज्ञा है। भरतानुयायी दत्तिलाचार्य का यही अभिप्राय निम्न श्लोकों से व्यक्त होता है—

इत्येता मूर्च्छनाः प्रोक्ताः सरणाश्चैव वैशिकैः।
संस्थाप्य मूर्च्छनामेवं या वक्ष्याम्यनुगः क्रमः ॥ २९ ॥
पंचस्वराः षट्स्वराश्च मूर्च्छना याः प्रकीर्तिताः।
(तनाना ? ताना) श्चतुरशीतिस्तु ता एवाप्तैरुदाहृताः ॥ ३० ॥

उपर्युक्त श्लोक में 'सरणाश्चैव वैशिकैः' स्पष्टतः अपपाठ प्रतीत होता है। उसके स्थान पर 'सारणाश्चैव वैणिकैः' कहने पर मूर्च्छना के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो सकता है, जिस से अभिप्राय यह है कि वीणावादक जिस स्वरावलि स्थापना को सारणा कहते हैं, इसी को गायक जन मूर्च्छना नाम से सम्बोधते हैं। साधारणकृता मूर्च्छनाओं की स्थापना-विधि को निर्दिष्ट करने पर पंचस्वरी तथा षट्स्वरी मूर्च्छनाओं के लिये 'तान' संज्ञा का प्रयोग दत्तिल ने किया है तथा ऐसी तानें कुल चौरासी बतलाई है। प्रतीत होता है कि मूर्च्छनाओं का वादन करते समय वीणा-तन्त्री में तनन का कार्य होता है। वीणा की तार को तानने पर नाना विधि स्वरों की निष्पत्ति होती है, यह तथ्य बुधजनविदित है। इसी प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए दत्तिल कहते हैं—

एवं कृतेति तानत्वे गणयित्वा विनाशिनम्।
विद्वानेतावतिथ्येषा मूर्च्छनेत्यवधारयेत् ॥ ३७ ॥
क्रममुत्सृज्य तन्त्रीणां तननैर्मूर्च्छनास्तु याः।
पूर्णाश्चैवाप्यपूर्णाश्च कूटतानास्तु ते स्मृताः ॥ ३८ ॥

मूर्च्छनातानों की प्रक्रिया तथा संख्या के सम्बन्ध में भरत का निम्न कथन निःसंदिग्ध है—

तत्र मूर्च्छनातानाश्चतुरशीतिः। तत्रैकोनपंचाशत् षट्स्वराः, पंचत्रिंशत् पंचस्वराः, लक्षणं तु षाडवानां सप्तविधम्। यथा ऋषभनिषादपंचमहीना-श्चत्वारस्तानाः षड्जग्रामे। मध्यमग्रामे तु षड्जर्षभगान्धारहीनास्त्रय-यस्तानाः। एवमेतेपि षाडवासु मूर्च्छनासु क्रियमाणा भवन्त्येकोनपंचाशत् तानाः। पंचस्वराणां तु पंचविधमेव लक्षणं यथा षड्जपंचमहीना ऋषभपंच-महीना गान्धारनिषादहीना इति त्रयस्तानाः षड्जग्रामे। मध्यमग्रामे तु षड्जधै-वतहीनौ निषादगान्धारहीन इति द्वौतानाविति। पंचस्वरासु सर्वासु मूर्च्छनासु

क्रियमाणास्तानाः षट्त्रिंशत् भवन्ति। षड्जग्रामे एकविंशतिर्मध्यमग्रामे चतुर्दश। एवमेते एकत्र गम्यमानाश्चतुरशीतिर्भवन्ति[1] ।

भावार्थ यह है कि मूर्च्छना-तानें चौरासी हैं। उनमें से ४९ षट्स्वर वाली अर्थात् षाडव हैं तथा शेष ३५ पंचस्वर युक्त अर्थात् ओडव हैं। षाडव तानें दो ग्रामों को मिलाकर सात प्रकार की बनती है। षड्जग्राम में रि, नि, प (तथा सा) से विहीन चार प्रकार तथा मध्यमग्राम में सा, रि, ग हीन तीन प्रकार तानों के होते हैं। अतः षड्जग्राम की सात मूर्च्छनाओं में से प्रत्येकशः रि, नि, प, सा इन चार स्वरों को वर्जित करने से कुल ७ × ४ = २८ और मध्यमग्राम की ७ मूर्च्छनाओं में से प्रत्येकशः सा, रि, ग इन तीन स्वरों को वर्जित करने से ७ × ३ = २१ प्रकार बनते हैं। अतः दोनों ग्रामों में मिलाकर षाडव प्रकारों में २८ + २१ = ४९ तानें कुल होती है। ओडव अर्थात् पंचस्वरी तानें दोनों ग्रामों में मिलाकर पाँच प्रकार की होती है। षड्जग्राम में सा-प, रि-प तथा ग-नि इन तीन जोडियों को प्रत्येक मूर्च्छना से वर्ज्य कर तीन प्रकार ओडव तानों के होते हैं तथा शेष दो मध्यमग्राम की मूर्च्छनाओं से सा-ध तथा नि-ग इन जोडियों को वर्ज्य करने से निष्पन्न होते हैं। षड्जग्राम की सप्त मूर्च्छना में उपर्युक्त तीन प्रकार करने से ७ मूर्च्छनाएँ × ३ = २१ प्रकार की ओडव तानें होती और मध्यमग्राम की ७ मूर्च्छनाओं में से प्रत्येकशः दो जोडियाँ वर्ज्य करने से ७ × २ = १४ ओडव तानें कुल होती हैं। इस प्रकार दोनों ग्रामों को मिलाकर पंचस्वरी मूर्च्छना तानें २१ + १४ = ३५ होती है[2] । अतएव दो ग्रामों की षाडव तानें ४९ और ओडव तानें ३५ मिलाकर कुल तानें ४९ + ३५ = ८४ होती है। इन तानों का स्वरप्रस्तार निम्नलिखित सारिणी से नितान्त स्पष्ट होगा—

१. षड्जग्राम की षाडव तानें २८ (सा, रे, प, नि स्वर प्रत्येक मूर्च्छना से वर्ज्य कर)

१	×	रि	ग	म	प	ध	नि	उत्तरमन्द्रा मूर्च्छना के ४ षाडव प्रकार
२	सा	×	ग	म	प	ध	नि	
३	सा	रि	ग	म	×	ध	नि	
४	सा	रि	ग	म	प	ध	×	

१. अ० २८, पृ० ३२०

२. नाट्यशास्त्र के उपर्युल्लिखित उद्धरण में 'षट्त्रिंशत्' स्पष्टतः अपपाठ है। 'षड्जग्रामे एकविंशतिर्मध्यमग्रामे चतुर्दश-इस वचन से २१ (षड्जग्रामीय) + १४ (मध्यमग्रामीय) = ३५ संख्या उपलब्ध होती है।

५	नि	×	रि	ग	म	प	ध	रजनी मूर्च्छना के ४ षाडव प्रकार
६	नि	सा	×	ग	म	प	ध	
७	नि	सा	रि	ग	म	×	ध	
८	×	सा	रि	ग	म	प	ध	
९	ध	नि	×	रि	ग	म	प	उत्तरायता मूर्च्छना के ४ षाडव प्रकार
१०	ध	नि	सा	×	ग	म	प	
११	ध	नि	सा	रि	ग	म	×	
१२	ध	×	सा	रि	ग	म	प	
१३	प	ध	नि	×	रि	ग	म	शुद्धषड्जा मूर्च्छना के ४ षाडव प्रकार
१४	प	ध	नि	सा	×	ग	म	
१५	×	ध	नि	सा	रि	ग	म	
१६	प	ध	×	सा	रि	ग	म	
१७	म	प	ध	नि	×	रि	ग	मत्सरीकृता मूर्च्छना के ४ षाडव प्रकार
१८	म	प	ध	नि	सा	×	ग	
१९	म	×	ध	नि	सा	रि	ग	
२०	म	प	ध	×	सा	रि	ग	
२१	ग	म	प	ध	नि	×	रि	अश्वक्रान्ता मूर्च्छना के ४ षाडव प्रकार
२२	ग	म	प	ध	नि	सा	×	
२३	ग	म	×	ध	नि	सा	रि	
२४	ग	म	प	ध	×	सा	रि	
२५	रि	ग	म	प	ध	नि	×	अभिरुद्गता मूर्च्छना के ४ षाडव प्रकार
२६	×	ग	म	प	ध	नि	सा	
२७	रि	ग	म	×	ध	नि	सा	
२८	रि	ग	म	प	ध	×	सा	

२. षड्जग्राम की ओडव तानें २१ (सा–प, रि–प, ग–नि जोडियाँ वर्ज्य कर)

१	×	रि	ग	म	×	ध	नि	उत्तरमन्द्रा मूर्च्छना के ३ ओडव प्रकार
२	सा	×	ग	म	×	ध	नि	
३	सा	रि	×	म	प	ध	×	
४	नि	×	रि	ग	म	×	ध	रजनी मूर्च्छना के ३ ओडव प्रकार
५	नि	सा	×	ग	म	×	ध	
६	×	सा	रि	×	म	प	ध	

७	ध	नि	×	रि	ग	म	×	
८	ध	नि	सा	×	ग	म	×	उत्तरायता मूर्च्छना के ३ ओडव प्रकार
९	ध	×	सा	रि	×	म	प	
१०	×	ध	नि	×	रि	ग	म	
११	×	ध	नि	सा	×	ग	म	शुद्धषड्जा मूर्च्छना के ३ ओडव प्रकार
१२	प	ध	×	सा	रि	×	म	
१३	म	×	ध	नि	×	रि	ग	
१४	म	×	ध	नि	सा	×	ग	मत्सरीकृता मूर्च्छना के ३ ओडव प्रकार
१५	म	प	ध	×	सा	रि	×	
१६	ग	म	×	ध	नि	×	रि	
१७	ग	म	×	ध	नि	सा	×	अश्वक्रान्ता मूर्च्छना के ३ ओडव प्रकार
१८	×	म	प	ध	×	सा	रि	
१९	रि	ग	म	×	ध	नि	×	
२०	×	ग	म	×	ध	नि	सा	अभिरुद्गता मूर्च्छना के ३ ओडव प्रकार
२१	रि	×	म	प	ध	×	सा	

इस प्रकार षड्जग्राम की कुछ षाडव तानें २८ + ओडव तानें २१ = ४९ मूर्च्छना–तानें निष्पन्न होती हैं।

३. मध्यमग्राम की षाडव तानें २१ (सा, रि, ग स्वर प्रत्येक मूर्च्छना से वर्ज्य कर)

१	म	प	ध	नि	×	रि	ग	
२	म	प	ध	नि	सा	×	ग	सौवीरी मूर्च्छना के ३ षाडव प्रकार
३	म	प	ध	नि	सा	रि	×	
४	ग	म	प	ध	नि	×	रि	
५	ग	ग	प	ध	नि	सा	×	हरिणाश्वा मूर्च्छना के ३ षाडव प्रकार
६	×	म	प	ध	नि	सा	रि	
७	रि	ग	म	प	ध	नि	×	
८	×	ग	म	प	ध	नि	सा	कलोपनता मूर्च्छना के ३ षाडव प्रकार
९	रि	×	म	प	ध	नि	सा	

१०	×	रि	ग	म	प	ध	नि	
११	सा	×	ग	म	प	ध	नि	शुद्धमध्या मूर्च्छना के ३ षाडव प्रकार
१२	सा	रि	×	म	प	ध	नि	
१३	नि	×	रि	ग	म	प	ध	
१४	नि	सा	×	ग	म	प	ध	मार्गी मूर्च्छना के ३ षाडव प्रकार
१५	नि	सा	रि	×	म	प	ध	
१६	ध	नि	×	रि	ग	म	प	
१७	ध	नि	सा	×	ग	म	प	पौरवी मूर्च्छना के ३ षाडव प्रकार
१८	ध	नि	सा	रि	×	म	प	
१९	प	ध	नि	×	रि	ग	म	
२०	प	ध	नि	सा	×	ग	म	हृष्यका मूर्च्छना के ३ षाडव प्रकार
२१	प	ध	नि	सा	रि	×	म	

४. मध्यमग्राम की ओडव तानें १४ (ग,–नि तथा रि–ध प्रत्येक मूर्च्छना से वर्ज्य कर)

१	म	प	ध	×	सा	रि	×	सौवीरी मूर्च्छना के २ ओडव प्रकार
२	म	प	×	नि	सा	×	ग	
३	×	म	प	ध	×	सा	रि	हरिणाश्वा मूर्च्छना के २ ओढव प्रकार
४	ग	म	प	×	नि	सा	×	
५	रि	×	म	प	ध	×	सा	कलोपनता मूर्च्छना के ३ ओडव प्रकार
६	×	ग	म	प	×	नि	सा	
७	सा	रि	×	म	प	ध	×	शुद्धमध्या मूर्च्छना के २ ओडव प्रकार
८	सा	×	ग	म	प	×	नि	
९	×	सा	रि	×	म	प	ध	मार्गी मूर्च्छना के २ ओडव प्रकार
१०	नि	सा	×	ग	म	प	×	
११	ध	×	सा	रि	×	म	प	पौरवी मूर्च्छना के २ ओडव प्रकार
१२	×	नि	सा	×	ग	म	प	
१३	प	ध	×	सा	रि	×	म	हृष्यका मूर्च्छना के २ ओडव प्रकार
१४	प	×	नि	सा	×	ग	म	

अतएव मध्यमग्राम की कुल षाडव तानें २१ + ओडव तानें १४ = ३५ मूर्च्छना तानें मध्यमग्राम के अन्तर्गत निष्पन्न होती हैं। उभय ग्रामों की कुल तानों की गणना ८४ होती हैं—

अ—षड्जग्राम की कुल षाडवौडव तानें = ४९

आ—मध्यमग्राम की कुल षाडवौडव तानें = ३५

दोनों ग्रामों की कुल षाडवौडव तानें = ८४

भरतोक्त साधारण विधि

भरतोक्त स्वरसाधारण का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। षड्ज तथा मध्यम उभय ग्रामों में सप्त शुद्ध स्वरों के अतिरिक्त नाट्यशास्त्रकार ने अन्य दो स्वरों को मान्यता दी है—१ चतुःश्रुतिक गान्धार तथा २ चतुःश्रुतिक निषाद जो क्रमश अन्तर गान्धार तथा काकलि निषाद कहलाते हैं। अपनी शुद्ध अवस्था की अपेक्षा द्विश्रुति से उत्कृष्ट अर्थात् ऊपर चढ़ाये गये इन स्वरों के लिये 'साधारण' नामक पारिभाषिक संज्ञा का प्रयोग नाट्यशास्त्र में हुआ है। साधारण 'अन्तरस्वर' के लिये पारिभाषिक संज्ञा है—

साधारणं नामान्तरस्वरता। कस्मात्? द्वयोरन्तरस्थं तत् साधारणम्। यथा ऋत्वन्तरे।

साधारण से तात्पर्य दो स्वरों के मध्यवर्ती अर्थात् अन्तर स्वर से है। स्वरों का यह साधारण्य ऋतुओं के साधारण्य के सदृश है। वसन्त तथा शिशिर के सन्धिकाल पर छाया में खड़े रहने पर शीत का अनुभव होता है तथा आतप में रहने पर तीव्र उष्णता का अनुभव होता है, प्रतीत होता है कि न तो वसन्त ऋतु आई है, न ही शिशिर का सम्पूर्ण अवसान हुआ है। ठीक ऐसी ही धूपछाँह की सम्मिश्र अवस्था साधारण स्वरों की होती है—

छायासु भवति शीतं प्रस्वेदो वा भवति चातपस्थस्य।

न च नागतो वसन्तो न च निःशेषः शिशिरकालः॥ २८,३३॥

नाट्यशास्त्र के अनुसार यह स्वरसाधारण्य केवल गान्धार तथा निषाद इन्हीं दो स्वरों में उपलब्ध होता है और साधारण्य होने पर यही स्वर क्रमशः अन्तर तथा काकलि संज्ञा को प्राप्त करते हैं। स्वरसाधारण्य की प्रक्रिया का विवरण देते हुए भरत कहते हैं—

स्वरसाधारणं काकल्यन्तरस्वरौ। तत्र द्विश्रुतिप्रकर्षणान्निषादादयः। काकलिसंज्ञो निषादो न षड्जः। द्वाभ्यामन्तरस्वरत्वात् साधारणत्वं प्रतिपद्यते। एवं गान्धारस्वरोप्यन्तरस्वरसंज्ञः गान्धारो न मध्यमः। तयोरन्तरस्वरत्वात्। अत एव स्वरसाधारणं तस्मान्निषादः काकलिसंज्ञः। कलत्वात् काकली कृष्टत्वाद्वा

अतिसौक्ष्म्याद्वा अथवा काक्षित्वात् उभयसम्बन्धत्वात् काकलीसंज्ञा। यथा षण्णां रसानां मध्ये लवणः क्षारसंज्ञः एवं निषादः काकलीसंज्ञः। साधारणस्वर श्वान्तर-संज्ञो भवति। (२८, पृ० ३२१)

अर्थात् स्वरसाधारण्य दो श्रुतियों के प्रकर्षण से होता है। दो श्रुतियों से प्रकृष्ट गान्धार और निषाद ग तथा म और नि तथा सा इन के मध्यवर्ती स्थान पर स्थित होने के कारण साधारण कहलाते हैं। यह साधारण अवस्था गान्धार तथा निषाद जैसे प्रकर्ष प्राप्त स्वरों की होती है, न कि मध्यम अथवा षड्ज की। काकलि संज्ञा निषाद को दी जाती है, न कि षड्ज को; उसी प्रकार अन्तर संज्ञा गान्धार को प्राप्त होती, न कि मध्यम को। साधारण स्वर के लिये स्थितिनिदर्शक 'अन्तर' संज्ञा प्राप्त है तथापि निषाद की साधारणावस्था काकलि कहलाती है। भरत के अनुसार काकलि का सम्बन्ध कलत्व अर्थात् सूक्ष्मत्व, कृष्टत्व अर्थात् अतिसूक्ष्मत्व तथा काक्षित्व अर्थात् उभय सम्बद्धत्व से है। ये उपादान 'साधारण नि' में पाये जाते हैं, इसीलिए वह काकलि कहलाता है। षड् रसों के बीच जिस प्रकार लवण को क्षार संज्ञा प्राप्त है, उसी प्रकार निषाद के लिये काकलि संज्ञा है। इससे सम्भवतः अभिप्राय यही हो सकता है कि क्षार का उपयोग जिस प्रकार आवश्यक होने पर भी अल्पमात्रा में होता है, वैसा ही सूक्ष्म प्रयोग काकलि निषाद का किया जाता है। प्रयोग की सूक्ष्मता के कारण यह कैशिक कहलाता है, ऐसा भरत का कथन है—

अस्य तु प्रयोगसौक्ष्म्यात् कैशिकं नाम निष्पद्यते। (२८, पृ० ३२१)

प्रत्यक्ष प्रयोग में इनका अल्पत्व कैसे रखा जाता है, इस सम्बन्ध में नाट्य-शास्त्रकार का निम्न कथन मननार्ह है—

एवं स्वरसाधारणं अस्यालपनिषादगान्धारासु जातिषु प्रयोगः।

अर्थात् स्वरसाधारण का प्रयोग उन्हीं जातियों में किया जाता है, जिन में निषाद तथा गान्धार का स्वल्प प्रयोग विहित है। यह प्रयोग केवल आरोह में विहित है, अवरोह में नहीं। (द्र० २८।३४–३५)

स्वरसाधारण्य के अतिरिक्त जातिसाधारण का उल्लेख भरत ने किया है, जिससे तात्पर्य षड्जग्रामीण तथा मध्यमग्रामीण जातियों की परस्पर समान स्वरावलि से तात्पर्य है। भरत के शब्दों में—

"जातिसाधारणमेकग्रामांशानां जातिनां जात्योर्वा अन्यस्मिन् ग्रामे प्रत्यं-गदर्शनम्।"

जाति तथा जातिराग

गान्धर्व संग्रह के अन्तर्गत जाति का समावेश नाट्यशास्त्र में हुआ है, जो परम्परागत स्वरावलियों अथवा धुनों के वर्गीकृत समूह की अभिव्यंजना करने

वाला है। 'राग' शब्द पारिभाषिक संज्ञा के रूप में नाट्यशास्त्र में अपेक्षाकृत न्यून मात्रा में पाया जाता है, परन्तु वह राग-प्रणालि के तत्कालीन अस्तित्व को प्रमाणित करने वाला है, इसमें सन्देह नहीं। भरत के परवर्ती कोहल, कश्यप, याष्टिक, दुर्गशक्ति आदि संगीतज्ञों के द्वारा जाति की अपेक्षा राग-प्रणाली का अधिक एवं सविस्तार विवेचन किया गया है। प्रतीत होता है कि इस समय तक प्राचीन जातियों का स्थान राग-प्रणाली में ग्रहण कर लिया था। इसी को दृष्टिगत कर बृहद्देशीकार मतंग ने रागों का लक्ष्यलक्षणयुक्त विवेचन प्रथमबार प्रस्तुत किया है। उनके शब्दों में—

रागमार्गस्य यद् रूपं यन्नोक्तं भरतादिभिः।
निरूप्यते तदस्माभिर्लक्ष्यलक्षणसंयुतम् ॥[1]

नाट्यशास्त्र में राग–प्रणाली का अस्तित्व निम्न प्रमाणों से प्रमाणित हो जाता है—

अन्तर ग तथा काकालि नि जैसे साधारणसंज्ञक स्वरों का विशिष्ट प्रयोग निर्दिष्ट करते हुए भरत 'जातिराग' के उद्भव की बात निम्न शब्दों में उद्घाटित करते हैं—

क्रियमाणोवरोही स्यादल्पो वा यदि वा बहु।
जातिरागं श्रुतिं चैव नयन्ते त्वन्तरे स्वराः ॥ २८, ३५ ॥

भरत का कथन है कि उपर्युक्त दो साधारण स्वरों का प्रयोग अल्पनिषाद-गान्धारा जातियों में केवल आरोह में किया जाना चाहिए। इसी प्रकार का प्रयोग उन जातियों के लिये रक्तिजनक सिद्ध हो सकता है। इसी के विपरीत इन स्वरों का प्रयोग अवरोह में करने से श्रुतिभिन्नत्व के साथ जातिराग की निष्पत्ति होती है। यहाँ जाति तथा जाति-राग के मध्य में विभेद भरत को अभिप्रेत है, इसमें सन्देह नहीं। यहाँ उल्लेखनीय है कि जातिराग का उद्भव जाति-नियम उल्लंघन से बताया गया है। इस स्थान पर जातिराग से तात्पर्य जाति के रक्तिगुण से कथमपि नहीं लिया जा सकता, जोकि भरत को अन्यत्र ग्राह्य है। यहाँ राग का अर्थ रक्तिगुण लिये जाने से जाति के नियमित स्वरूप में रक्तिगुण का अभाव मानने की अनिष्टापति आ जावेगी। जाति के अन्तर्गत साधारण स्वरों का आरोही प्रयोग जाति के रक्तिगुण को देखकर ही किया जाता होगा, यह तथ्य नितान्त स्पष्ट है। जातिनियम के परिपालन में रक्ति का अभाव और उल्लंघन में रक्ति का उद्भव विरोधाभास ही कहा जा सकता है। भरत के अनुसार

---

१. श्लो० २७९, पृ० ८१

स्वरसाधारणविषयक नियमोल्लंघन से जो परिणाम निकलता है, वह जाति न कहलाते हुए 'जातिराग' संज्ञा से संज्ञित होगा। जाति तथा जातिराग के बीच एक महत्वपूर्ण विभेद का आभास यहाँ प्राप्त होता है। जातियों में नियम का परिपालन कठोरता से किया जाता है, जातिराग में नियमों की शिथिलता सह्य है। संगीतरत्नाकर की परिभाषा में जाति यदि मार्ग सङ्गीत है, तो जातिराग देशी संगीत है। जाति शास्त्रीय नियमों से आबद्ध तथा सीमित है, जातिराग इन नियमों से परे देशरुचि तथा लोकरुचि पर अवलम्बित है। दूसरे शब्दों में जाति अभिजात समाज की वस्तु है तथा जातिराग लोक-व्यवहार में नित्यशः प्रयुक्त होने वाली वस्तु है।

अध्याय ३३ में मृदंग की त्रिविध मार्जना के विवरण में जातिराग का निम्न उल्लेख उपलब्ध होता है—

एतेषामनुवादी तु जातिरागस्वरान्वितः।
आलिंगे मार्जनं प्राप्य निषादस्तु विधीयते ॥[1]

मृदंगवाद्य के गुणों का विवेचन करते हुए नाट्यशास्त्र में विशिष्ट रागों के साथ मृदंग की समीचीन संगति का स्पष्ट विधान पाया जाता है—

स्फुटप्रहारं विशदं विभक्तं रक्तं विघुष्टं करलेपनं च।
त्रिमार्जनं पूरितरागयोगं मृदंगवाद्यं गुणतो वदन्ति ॥[2]

अर्थात् वही मृदंग-वादन श्रेष्ठ है, जो बोलों की विशदता, स्पष्ट प्रहार, रक्तिगुण आदि के साथ अभीष्ट राग की रम्यता को वृद्धिगत करे। यहाँ रक्तिगुण का उल्लेख पृथक् होने के कारण 'पूरितरागयोगम्' में राग शब्द को विशिष्ट पारिभाषिक संज्ञा के रूप में ग्रहण करना सुसंगत है।

नाट्यशास्त्र में कुतपविन्यास अथवा वाद्यवृन्दनियोजन के सम्बन्ध में ग्रामराग तथा मूर्च्छनाओं का उल्लेख निम्न शब्दों में हुआ है—

स्वरंगाभिमुखमार्दंगिकपाणविकदार्दरिकेषु गायकगायिकावंशिकवैणिकसहितेषु अशिथिलायततन्त्रीबद्धास्तनितेषु आतोद्येषु आतोद्येषु यथाग्रामरागमूर्च्छनामार्जनानुलिप्तेषु मृदंगेषु.........प्रथममेव त्रिसामः कर्त्तव्यः।[3]

---

१. ३३, ९६; नाट्यशास्त्र की काव्यमाला प्रति में इस श्लोक की प्रथम पंक्ति का निम्न पाठभेद पाया जाता है—

एतेषामनुवादी तु जातीनां यः स्वरः स्मृतः ॥

२. ३३, २६९ का० मा० प्रति

३. अ० ३३, पृ० ४४९

यहाँ मृदंगवादक के लिये यह आवश्यक माना गया है कि वह ग्राम, राग तथा मूर्च्छना के अनुकूल अभीष्ट मार्जना की स्थापना मृदंग पर सम्पादित करे। तभी उस मृदंग का वादन गायकों के द्वारा गाये जाने वाले विशिष्ट राग तथा मूर्च्छना की योग्य संगत करने के लिये पात्र हो सकता है। मृदंगवादन में कनिष्ठिका के प्रयोग का निर्देश करते हुए 'राग' शब्द का उल्लेख इसी पारिभाषिक अर्थ में नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होता है—

वादककनिष्ठिकाभ्यां शीघ्रगताभ्यां तु करणरागवर्णाः।

शेषास्तु वादनकृताः स्मृताः प्रकाराश्च वाद्यानाम् ॥ ३२, ६० ॥

तात्पर्य यह कि मृदंग के विविध करण तथा रागों के आरोहावरोह रूप वर्णों का वादन कनिष्ठिका अंगुलि से किया जाना चाहिये। आधुनिक संगीत में भी गायक के द्वारा गाये गये स्वरावर्तों का यथार्थ अनुकरण मृदंगों पर किया जाता है, यह तथ्य संगीतज्ञों के लिये अनुभवसिद्ध है।

तालों के विवरण में विविध पातों का उल्लेख करते हुए ध्रुव नामक पात को भरत राग-प्रणालि में उपयुक्त मानते हैं—

ध्रुवं तु माद्रिकं पातः रागमार्गप्रयोजकः ॥ ३१, ३९ ॥

ग्रामरागों का स्पष्ट नामनिर्देश अ० ३२ में उपलब्ध है, जो इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि ग्रामरागों का प्रवर्तन नाट्यशास्त्र के निर्माणकाल में हो चुका था। ग्रामरागों के अस्तित्व को प्रमाणित करने वाले ये श्लोक[1] निम्नानुसार हैं—

मुखे तु मध्यमग्रामः षड्जः प्रतिमुखे स्मृतः।

साधारितं तथा गर्भे मर्शे कैशिकमध्यमः ॥

कैशिकं च तथा कार्यं गानं निर्वहणे बुधैः।

संधिवृत्ताश्रयश्चैव रसभावसमन्वितः ॥ ३२,४५३–३५४ ॥

---

१. इन श्लोकों के सम्बन्ध में प्रक्षिप्तत्व की आशंका मान्य नहीं हो सकती, कारण यह कि नाट्यशास्त्र के सभी संस्करणों में यह श्लोक उपलब्ध है। प्रो० रामकृष्ण कवि के अनुसार नाट्यशास्त्र के विभिन्न संस्करणों में अ० ३२ के अन्तर्गत जो कुछ अन्तर पाया जाता है, वह ध्रुवा-गीतों की संख्या के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं। दूसरी बात यह कि नाट्यशास्त्र के अन्य अन्तःप्रमाणों के आधार पर राग का अस्तित्व प्रमाणित हो जाने से इन श्लोकों को प्रक्षिप्त मानना संगत नहीं। तीसरी बात यह कि कालिदास में उपलब्ध रागविषयक उल्लेख नाट्यशास्त्र से स्पष्टतः प्रभावित है। कालिदास का समय ई० ५ वीं मानने पर भी यह स्पष्ट है कि ग्रामराग-विषयक श्लोकों का समावेश नाट्यशास्त्र में उस समय तक हो चुका था तथा भरतोक्त होने के सम्बन्ध में गौरव उन्हें प्राप्त था।

अर्थात् नाटक की मुखसंधि में मध्यम ग्रामराग की योजना की जानी चाहिये, प्रतिमुख में षड्ज ग्रामराग का प्रयोग किया जाना चाहिये, गर्भसन्धि के अन्तर्गत साधारित, विमर्शसन्धि के अन्तर्गत कैशिकमध्यम तथा निर्वहणसन्धि में कैशिक राग का प्रयोग किया जाना चाहिये।

मतंग की बृहद्देशी में भरत के नाम से निम्न उद्धरण प्रस्तुत हैं, जो सप्त ग्रामरागों के प्रवर्तन का प्रमाण उपस्थित करता है—

मुखे तु मध्यमग्रामः षड्जः प्रतिमुखे भवेत् ।
गर्भे साधारितश्चैवावमर्शे तु पंचमः ॥
संहारे कैशिकः प्रोक्तः पूर्वरंगे तु षाडवः ।
चित्रस्याष्टादशांगस्य त्वन्ते कैशिकमध्यमः ॥
शुद्धानां विनियोगोऽयं ब्रह्मणा समुदाहृतः ॥[1]

उपर्युक्त उद्धरण के आधार पर स्पष्ट हो जाता है कि इन सप्त ग्रामरागों को शुद्ध एवं ब्रह्मोक्त माना जाता रहा है। मतंग के अनुसार जाति तथा ग्रामराग के बीच जन्यजनकसम्बन्ध भरत मुनि को अभिप्रेत है—

ननु एते ग्रामविशेषसम्बन्धाः। कुतोऽयं विशेषलाभः। उच्यते। भरतवचनादेवासौ विशेषो लभ्यते। तथा चाह भरतमुनिः—जातिसम्भूतत्वाद् ग्रामरागाणामिति। यत् किंचिदेतद् गीयते लोके तत् सर्वंजातिषु स्थितमिति वचनात्[2]।

यद्यपि नाट्यशास्त्र के उपलब्ध संस्करणों में जाति तथा ग्रामराग के सम्बन्ध पर प्रकाश डालने वाला उपर्युक्त वचन नहीं प्राप्त होता, तथापि इस तथ्य को देखते हुए कि मतंग की बृहद्देशी भरतमत का अक्षरशः अनुवाद है तथा भरत के नाम से उद्धृत उद्धरणों में से अधिकांश नाट्यशास्त्र के उपलब्ध संस्करणों में पाये जाते हैं, यह स्वीकृत किया जा सकता है कि भरत के नाम से उद्धृत उपर्युक्त मान्यता भरत-परम्परा की प्रातिनिधिक है।

उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भरत के काल-खण्ड में जाति तथा राग दोनों की परम्परा समानान्तर रूप से प्रचलित थी। जातियों का मूलाधार यद्यपि प्रचलित जन-संगीत था, तथापि नियमों के संस्कार एवं परिष्कार से उन्होंने शिष्टजनसम्मत संगीत का स्थान प्राप्त कर लिया था। नाटकों में उनका गायन निश्चित स्वर, ताल, लय, गीति तथा प्रसंग आदि नियमों से नियंत्रित था। इन नियमों में यत्किंचित् परिवर्तन भी जातिराग के निर्माण का

१. पृ० ८७
२. बृहद्देशी, पृ० ८७

कारण बन जाता था। संगीतरत्नाकरकार के अनुसार जाति का संगीत के अन्तर्गत स्थान वेदमन्त्रों के तुल्य है। जिस प्रकार वेदमन्त्रों का स्वर, वर्ण आदि के सम्बन्ध में उल्लंघन हानि की सम्भावनाओं से भरा रहता है, उसी प्रकार जातियों का प्रयोग भी नियत स्वर, पद तथा ताल के विपरीत नहीं किया जा सकता—

ऋचो यजूंषि सामानि क्रियते नान्यथा यथा।
तथा सामसमुद्भूता जातयो वेदसम्मिताः॥[1]

जैसा आरम्भ में निर्दिष्ट किया गया है, राग-परम्परा का सविस्तर विवेचन भरत के अनन्तर कोहल, काश्यप, याष्टिक, शार्दूल तथा मतंग आदि संगीतज्ञों के द्वारा किया गया है। मूर्च्छना-क्रम के विवरण में कोहल जाति तथा राग दोनों का स्पष्ट उल्लेख करते हैं—

योजनीयो बुधैर्नित्यं क्रमो लक्ष्यानुसारतः।
संस्थाप्य मूर्च्छना जातिरागभाषादिसिद्धये॥[2]

कोहल के सम्बन्ध में आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है कि उन्होंने विविध रागों में गाये जाने वाले रागकाव्यों का निरूपण प्रस्तुत किया है। परम्परा के अनुसार कोहल भरत के प्रधान शिष्यों में से हैं, यहाँ तक कि नाट्यशास्त्र में अविवेचित एवं अवशिष्ट अंश प्रस्ताररूप से कोहल के द्वारा विवेचित होने की बात नाट्यशास्त्र की निम्न पंक्ति में स्पष्टतः उल्लिखित है—

शेषं प्रस्तारतन्त्रेण कोहलः कथयिष्यति॥[3]

भरत तथा कोहल का पारम्परिक सम्बन्ध यह मानने के लिये बाध्य करता है कि कोहल का रागकाव्यविषयक विवेचन नाट्यशास्त्र के पूरक के रूप में हुआ है तथा नाट्यशास्त्र की प्राचीन परम्परा को वहन करने का श्रेय उसे प्राप्त है।

मतंग की बृहद्देशी से स्पष्ट है कि राग-प्रणालि की मौलिक चर्चा कश्यप के द्वारा हुई है[4]। जातियों के अंशस्वरों के विनियोग के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त

---

१. अ० १, जातिप्रकरण, पृ० २७३

२. बृह० पृ० ३२

३. नाट्यशास्त्र की काशी प्रति में इसी सम्बन्ध में निम्न श्लोक पाया जाता है—'शेषमुत्तरतन्त्रेण कोहलः कथयिष्यति। प्रयोगः कारिकाश्चैव निरुक्तानि तथैव च'॥ ३६, ६५॥

४. कश्यप सम्बन्धी विवेचन में हमने स्पष्ट किया है कि कश्यप भरत के परवर्ती हैं तथा उनका समय ई० ५ वीं के पूर्व है (द्र० इसी अध्याय का 'ग' विभाग)।

कश्यप के नाम से निम्न वचन प्रस्तुत करते हैं—'पूर्वरंगे तु षाडवः'। ग्रामरागों के विभिन्न अंग तथा नाट्यान्तर्गत विनियोग के सम्बन्ध में कश्यप की निम्न मान्यता मतंग के द्वारा उद्धृत है—

"तथा चाह काश्यपः—

क्वचिदंशः क्वचिन्न्यासः षाडवौडविते क्वचित्।
अल्पत्वं च बहुत्वं च ग्रहोपन्याससंयुतम्॥
मन्द्रतारौ तथा ज्ञात्वा योजनीयं महर्षिभिः।
ग्रामरागाः प्रयोक्तव्या विधिवद् दशरूपके॥
पूर्वरंगे तु शुद्धा स्याद् भिन्ना प्रस्तावनाश्रया।
वेसरा मुखयोः कार्या गर्भे गौडी विधीयते॥
साधारितावमर्शे स्या × हणे स्यात् × सर्वदा॥[1]

भरत परम्परा के इन प्रतिष्ठित आचार्यों की साक्ष्य से सुतरां स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र के निर्माण-काल में राग-प्रणालि का अस्तित्व विद्यमान था[2]।

भरतोक्त जातियां

पूर्वगत व्याख्यान में दिखाया जा चुका है कि भरतकालीन संगीत में जाति तथा जातिराग उभय परम्पराओं का प्रचलन था। यद्यपि नाट्यशास्त्र में जाति की

---

१. बृह० पृ० १०३–१०४

२. भरतकालीन राग-प्रणालि के सम्बन्ध में श्री० जे० ग्रोसे का मत निम्नानुसार है—

'हमारे विचार से रागसिद्धान्त का प्रवर्तन अपेक्षाकृत आधुनिक होना चाहिये, क्योंकि भरतकृत नाट्यशास्त्र में राग शब्द की परिभाषा कथमपि उपलब्ध नहीं होती। पश्चाद्वर्ती काल में अत्यन्त महत्वप्राप्त राग जैसे तत्व के विवेचन के लिये एकाध अध्याय भी नाट्यशास्त्र में नहीं पाया जाता।'''इसीलिये हमारी दृष्टि में नाट्यशास्त्र के रचना-काल में रागों का अन्तर्भाव गान्धर्व के अन्तर्गत नहीं होता था। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि रागों का स्वरूप जातियों से सदृश होने के कारण तथा जाति एवं राग दोनों का उद्देश्य उससे सफल होने के कारण इन रागों ने शनैः-शनैः जातियों का स्थान ग्रहण कर लिया।'

इस सम्बन्ध में हमारा विनम्र निवेदन है कि नाट्यशास्त्र के अन्तः एवं बहिर्गत प्रमाणों से यह नितान्त स्पष्ट है कि श्री० जे० ग्रोसे का यह मत कि भरतकाल में राग-प्रणालि का प्रचलन न था, प्रमाणपरिपुष्ट नहीं प्रतीत होता। इस सम्बन्ध में सविस्तर विवेचन प्रबन्ध के कलेव में ही किया जा चुका है।

परिभाषा नहीं पाई जाती, तथापि उसमें विवेचित जाति-लक्षणों तथा तत्सम्बन्धी सविस्तर विवरण के माध्यम से जाति के स्वरूप के सम्बन्ध में यथार्थ कल्पना प्राप्त हो सकती है। भरत ने जातियों का विवेचन गान्धर्व के स्वर तथा पद दोनों के अन्तर्गत किया है—

> स्वराश्च श्रुतयो ग्रामो मूर्च्छनाः स्थानसंयुताः।
> स्थानं साधारणे चैव जातयोऽष्टादशैव च॥ २८,१३॥
> छन्दो वृतानि जात्यश्च नित्यं पदगतात्मकाः।
> गान्धर्वसंग्रहौ ह्येषा विस्तारं च निबोधत॥ २८,१८॥

स्वरगत जातियाँ अष्टादश हैं जिनका सम्बन्ध कण्ठगत तथा वीणागत स्वरों से है। पदगत जातियों का सम्बन्ध स्वररचना से न होते हुए छन्द तथा अक्षर-रचना से है। यहाँ केवल स्वरगत जातियों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, गान्धर्व-संग्रह के अन्तर्गत अन्य विषयों के साथ अष्टादश जातियों का उल्लेख नाट्यशास्त्र में हुआ है। इनका विभाजन उस समय प्रचलित षड्जग्राम तथा मध्यमग्राम दो ग्रामों में किया गया है। षड्जग्राम नामक मूलभूत स्वर-व्यवस्था के अन्तर्गत जिन सप्त जातियों का अन्तर्भाव है, वे इस प्रकार हैं—षाड्जी, आर्षभी, धैवत, नैषादी, षड्जोदीच्यवती, षड्जकैशिकी तथा षड्जमध्यमा। मध्यमग्राम नामक स्वर-व्यवस्था के अन्तर्गत एकादश जातियों का अन्तर्भाव है, यथा—गान्धारी, मध्यमा, पंचमी, रक्तगान्धारी, गान्धारोदीच्यवा, गान्धारपंचमी, मध्यमोदीच्यवा, आन्ध्री, नन्दयन्ती, कार्मारवी और कैशिकी। इस सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र का कथन निम्नोद्धृत है—

> षड्जर्षभी धैवती च नैषादी च तथा परा।
> षड्जोदीच्यवती षड्जकैशिकी षड्जमध्यमा॥ २८,३८॥
> षड्जग्रामाश्रया ह्येता विज्ञेया सप्त जातयः।
> अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि मध्यमग्रामसंश्रयाः॥ २८,३९॥
> गान्धारी रक्तगान्धारी गान्धारोदीच्यवा तथा।
> मध्यमोदीच्यवा चैवं मध्यमा पंचमी तथा॥ २८,४०॥
> गान्धारपंचमी चान्ध्री नन्दयन्ती तथापरा।
> कर्मारवी कैशिकी च ज्ञेयास्त्वेकादशापरा॥ २८,४१॥

इन अष्टादश जातियों में से केवल तीन जातियों में स्वरसाधारण का प्रयोग भरत द्वारा निर्दिष्ट है। जैसा ऊपर देखा गया है, स्वरसाधारण यह संज्ञा

अन्तर ग अर्थात् चतुःश्रुतिक गान्धार एवं काकलि नि अर्थात् चतुःश्रुतिक निषाद के लिये है। इन स्वरों का प्रयोग जिन तीन जातियों के लिये निर्दिष्ट है, वे निम्नानुसार हैं—मध्यमा, पंचमी तथा षड्जमध्या (अथवा षड्जमध्यमा)। भरत के शब्दों में—

स्वरसाधारणगतास्तिस्रो ज्ञेयास्तु जातयः।
मध्यमा पंचमी चैव षड्जमध्या तथैव च ॥ २८,३६ ॥

स्वरसाधारण का प्रयोग करने वाली तीन जातियों में से एक अर्थात् षड्ज-मध्या षड्जग्राम से उद्भूत है तथा अन्य दो मध्यग्राम से सम्बद्ध है। जातियों का यह ग्रामगत वर्गीकरण निम्न सारणी से स्पष्ट होगा—

षड्जग्राम	मध्यमग्राम
१ षाड्जी—शुद्धस्वरयुक्त	१ गान्धारी—शुद्धस्वरयुक्त
२ आर्षभी— ,,	२ मध्यमा—साधारणस्वरयुक्त
३ धैवती— ,,	३ पंचमी— ,,
४ नैषादी— ,,	४ रक्तगान्धारी—शुद्धस्वरयुक्त
५ षड्जकैशिकी— ,,	५ गान्धारोदीच्यवा— ,,
६ षड्जोदीच्यवा— ,,	६ गान्धारपंचमी— ,,
७ षड्जमध्या—साधारणस्वरयुक्त	७ मध्यमोदीच्यवा— ,,
	८ आन्ध्री— ,,
	९ नन्दयन्ती— ,,
	१० कार्मारवी— ,,
	११ कैशिकी— ,,

इस प्रकार उभयग्रामों की कुल १८ जातियाँ निष्पन्न होती हैं, जिन में से षड्जग्राम की ७ जातियों में से ४ शुद्ध हैं तथा ३ विकृत हैं तथा मध्यमग्राम की ११ जातियों में से ३ शुद्ध हैं एवं ८ विकृत हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अष्टादश जातियों में से सप्त शुद्ध जातियों का नामकरण सप्तस्वरों के नाम से हुआ है। भरत के शब्दों में—

तत्र शुद्धा षड्जग्रामे षाड्जी आर्षभी सधैवती निषादवती। गान्धारी मध्यमा पंचमी मध्यमग्रामे[1]।

भरत के अनुसार जातियां शुद्ध तथा विकृत दो भागों में वर्गीकृत की जा सकती हैं—

१. २८, पृ० ३२२

जातयो द्विविधाः शुद्धा विकृताश्च ।[1]

शुद्ध जाति वह है, जिस में विशिष्ट ग्राम के सम्पूर्ण सप्तस्वर विद्यमान हों–'अन्यूनस्वराः' तथा जाति का नामसूचक स्वर ही उसका अंश, ग्रह तथा न्यास हो—'स्वरांशग्रहन्यासाः'। उदाहरणार्थ, जब षाड्जी जाति में सम्पूर्ण सात स्वरों का प्रयोग होता है, तब सम्पूर्ण स्वरों की षाड्जी शुद्ध कहलाती है। षाड्जी जाति का जो दूसरा षाडव अर्थात् षट् स्वर वाला स्वरूप नाट्यशास्त्र में उल्लिखित है, शुद्ध जाति में अन्तर्भूत न होगा। भरत के अनुसार उस स्थान पर शुद्ध जाति का विकृतत्व माना जाना चाहिये। केवल सप्तस्वर से युक्त होना ही जाति की शुद्धता के लिये पर्याप्त नहीं। भरत के अनुसार मध्यमोदीच्यवा, षड्ज-कैशिकी आदि चार जातियाँ सदैव सप्त स्वरों से युक्त होती हैं, तथापि वह शुद्धा नहीं कहलातीं। शुद्धत्व के लिये दूसरी आवश्यक बात यह है कि जाति का नामसूचक स्वर ही उस जाति का अंश, ग्रह तथा न्यास स्वर होना चाहिये, जैसे, शुद्धा षाड्जी के लिये अनिवार्य है कि उसका नामसूचक षड्ज स्वर ही उसका अंश, ग्रह तथा न्यास स्वर हो, तदतिरिक्त अन्य स्वर को वह स्थान प्राप्त नहीं हो सकता। इनमें से एक, दो अथवा उससे अधिक लक्षणों की हीनता जब जाति में पाई जाती है, तब इस विक्रिया से जाति विकृत संज्ञा को प्राप्त होती है। तात्पर्य यह कि जाति के नामसूचक स्वर को ग्रह, अंश तथा न्यास के रूप में प्रयुक्त कर यदि सप्त स्वरों के साथ उसका विस्तार किया जाय, तो शुद्धा जाति निष्पन्न होती है। अंश तथा ग्रह स्वर को बदलकर अथवा एक या दो स्वरों को वर्ज्य कर जाति का विस्तार जब किया जाता है, तो शुद्धा जाति विकृत बन जाती है। केवल एक उपादान ऐसा है, जो कि विकृत अवस्था में भी परिवर्तित नहीं होता और वह है न्यास स्वर। शुद्ध जाति के विकृत होने पर भी न्यास स्वर अपरिवर्तनीय रहता है। इस सम्बन्ध में नाट्य-शास्त्र का निम्न कथन उल्लेखार्ह है—

शुद्धा अन्यूनस्वराः स्वरांशग्रहन्यासाः। एभ्योऽन्यतमेन द्वाभ्यां बहुभिर्वा लक्षणैर्विक्रियामुपगता न्यासवर्ज्यं विकृतसंज्ञा भवन्ति[2]।

'न्यासवर्ज्य' यह पद यहां लक्षणीय है। शुद्धा जातियों में विकृतत्व आने के लिये अन्यूनस्वरत्व तथा अंश एवं ग्रह सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन पर्याप्त है। न्यास स्वर में परिवर्तन शुद्धा तथा विकृता दोनों प्रकार की जातियों में सम्भाव्य नहीं। केवल अन्तर यह है कि शुद्धा जातियों में न्यास स्वर मन्द्र स्थान

१. वहीं
२. २८, पृ० ३२२

में होना अनिवार्य है तथा विकृता जातियों में वह मन्द्र के अतिरिक्त अन्य स्थान में हो सकता है—

न्यासविधावप्यासां मन्द्रो नियमात् भवति । शुद्धासु विकृतास्वनियमात्।[1]

ई० १३ के संगीतरत्नाकरकार मन्द्र के इस अनिवार्य विधान से केवल तार स्थान का निषेध मानते हैं। दूसरे शब्दों में न्यास के मन्द्र स्थान में होने से उनका अभिप्राय यह है कि न्यास स्वर तार स्थान में कदापि न हो— 'तारन्यासविहीनास्ता' संगीतरत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ इसका समर्थन मतंगोक्ति के आधार पर निम्न शब्दों में करते हैं—

यदपि भरतेन न्यासः शुद्धासु मन्द्रे स्यात् इत्युक्तं तत्तारनिषेधपरं द्रष्टव्यम् अन्यथा षड्ज्यां मध्यषड्जन्यासत्वं मतंगोक्तं लक्ष्ये विरुध्येत[2] ।

भावार्थ यह कि भरत के मन्द्रविषयक विधान को केवल तारनिषेध पर माना जाना चाहिये, अन्यथा मतंग ने षाड्जी जाति में जो मध्यषड्ज पर न्यास बतलाया है, वह लक्ष्यविरुद्ध सिद्ध होगा।

इस सम्बन्ध में हमारा विनम्र निवेदन है कि मतंग का विधान भरतोक्त लक्षण से कथमपि विपरीत नहीं माना जा सकता। मतंग की बृहद्देशी में शुद्धा तथा विकृता जातियों के निरूपण में भरत का अनुगामित्व स्पष्टतः दृग्गोचर होता है। मतंग के शब्दों में—

तत्र न्यासवल (ज्यं ?) माह- तत्र न्यासविधौ यज्जातयः शुद्धाः तासु नामकारि (?) यो न्यासः नियमेन मन्द्रो भवति। विकृतासु च नामक-विकारी (?) वा मन्द्रो भवतीत्यनियमः। तत्र शुद्धानां जातीनां शुद्धत्वं विकृतत्वं च रूपद्वयमस्ति[3] ।

अन्यत्र भी शुद्धा जाति के लक्षण में वे कहते हैं—

मन्द्रन्यासा च पूर्णा च शुद्धा जातिस्तथोच्यते ।[4]

षाड्जी जाति के सम्बन्ध में भरतोक्त जाति लक्षणों की चरितार्थता निर्दिष्ट करते हुए वे षड्जोन्यासः इस प्रकार स्पष्ट संकेत करते हैं, जो उपर्युक्त सन्दर्भ में मन्द्रस्थानीय षड्ज ही हो सकता है।[5] उनके अनुसार षाड्जी में केवल एक षड्ज ही न्यास स्वर हो सकता है—

---

१. वहीं
२. १, ७
३. पृ० ५३–५४, बृह०
४. वहीं, पृ० ६८, श्लो० २५१
५. वहीं, पृ० ६९

तद्यथा षड्जाया एकषड्जो नाम न्यासः ।[1]

यह षड्ज मन्द्र के अतिरिक्त दूसरा कोई षड्ज हो सकता है, इसके लिये मतंग का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं। यदि मन्द्र को छोड़कर मध्यस्थानीय षड्ज षाड्जी जाति का न्यास स्वर हो, तो उपर्युक्त मतंगवचन को देखते हुए वह षाड्जी विकृत मानी जानी चाहिये।

जहाँ तक संगीतरत्नाकर के विधान का प्रश्न है, उनके समय उपलब्ध जाति-स्वरूपों से भरतकालीन जाति-रूपों का निर्णय करना असमीचीन प्रतीत होता है। संगीत जैसी गतिमान (dynamic) ललितकला में लक्ष्य सदैव पतिवर्तनशील रहता है और उसी के अनुसार लक्षणों का निर्माण सृजनशील संगीतज्ञों के द्वारा किया जाता है। शार्ङ्गदेव का स्पष्ट कथन है कि उनके संगीत सिद्धान्त लक्ष्य तथा लक्षण के सामंजस्य पर आधारित हैं। इस तथ्य को देखते हुए उनके द्वारा प्रोक्त लक्षण को भरत सिद्धान्त पर चरितार्थ करना असमंजस प्रतीत होता है। भरत की मन्द्रगत न्यासस्वर के सम्बन्ध में निःसन्दिग्ध उक्ति तथा इस सम्बन्ध में मतंग का समर्थन यही मानने के लिये बाध्य करता है कि शुद्ध जातियों का न्यास स्वर सदैव मन्द्र स्थान में ही सम्मत रहा है। मूर्च्छना अथवा सारणा के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण तथ्य इससे प्रस्फुटित हो जाता है। शुद्ध जातियों के लिये न्यास स्वर की मन्द्र में स्थिति अनिवार्य होने के कारण सारणा विधि में यह आवश्यक है कि उस स्वर की बोधक तन्त्री वीणा पर निबद्ध हो अर्थात् वीणा पर ऐसी मूर्च्छना स्थापित की जाय, जिसमें न्यास स्वर के मन्द्र स्थान की उपलब्धि हो। भरतकालीन सप्ततन्त्री वीणा में इस आवश्यकता की पूर्ति तभी सम्भाव्य है, यदि मूर्च्छना की स्थापना अवरोही क्रम से उस अभीष्ट स्वर तक की जाय। उदाहरण के लिये यदि जातिगान अथवा जातिवादन में षड्जग्राम की षड्ज से आरम्भ होने वाली स्वरावलि प्रयोज्यमान हो तो वीणा पर तन्त्रियों की सारणा निषाद से लेकर अवरोही क्रम से मन्द्र षड्ज तक की जाना आवश्यक है, अर्थात् तन्त्रियों का निबन्धन नि़ ध़ प़ म़ ग़ रि़ सा़ इस रूप में किया जाना चाहिये। तभी शुद्ध जाति के न्यास के लिये मन्द्र सा की उपलब्धि सम्भाव्य हो सकती है।

विकृत अर्थात् समवायज जातियाँ

शुद्धा जातियों की परिणति विकृता जातियों में किन कारणों से होती है, इसका सम्यक् दिग्दर्शन ऊपर किया जा चुका है। प्रत्येक शुद्धा जाति के इस

---

१. वहीं पृ० ६०

प्रकार कितने भेद हो सकते हैं, इसका परिज्ञान संगीतरत्नाकर पर आधारित निम्न सारणी से होगा—

जातिनाम	कुल विकृत भेद संख्या	विकृतत्व के प्रकार	
		औडवषाडवादि भेद	ग्रह, अंशादि नियम भंग से उत्पन्न भेद
१. षाड्जी	१५	८	७
२. आर्षभी	२३	१६	७
३. गान्धारी	२३	१६	७
४. मध्यमा	२३	१६	७
५. पंचमी	२३	१६	७
६. धैवती	२३	१६	७
७. निषादवती	२३	१६	७
कुल संख्या	१५३	१०४	४९

उपर्युक्त विकृत जातियों के अतिरिक्त, जो कि शुद्ध जाति में औडव-षाडवादि भेद तथा ग्रह, अंशादि नियमभंग से उत्पन्न होती है, भरत ने अन्य एकादश जातियों का स्पष्ट निर्देश किया है, जो जातियों के परस्पर मिश्रण से उत्पन्न होती है—

तत्रैकादश जातयोऽधिकृताः परस्परं संयोगादेकादश निर्वर्तयन्ति ।
(२८,पृ० ३२२)।

इनकी उद्भव-विधि के सम्बन्ध में भरत कहते हैं—

शुद्धा विकृताश्चैव समवायाज्जातयस्तु जायन्ते ।
ता एव शुद्धविकृता भवन्ति चैकादशान्यास्तु[1] ॥

अर्थात् शुद्ध तथा विकृत जातियों का जब परस्पर मिश्रण किया जाता है, शुद्धविकृता जातियाँ उत्पन्न होती हैं और ऐसी जातियाँ अधिकृत रूप से केवल

१. ना० शा० २८, ४३; मतंग की बृहद्देशी में भरत के नाम से इसका निम्न पाठभेद पाया जाता है--

'पुनरेवाशुद्धकृता भवन्त्यथैकादश परास्तु' । (द्र० पृ० ५४)

एकादश ही हैं। भरत के अनुसार ऐसी परस्परोत्पन्न जातियाँ निम्नानुसार हैं—षड्जमध्यमा, षड्जोदीच्यवा, षड्जकैशिकी, गान्धारोदीच्यवा, मध्यमोदीच्यवा, रक्तगान्धारी, आन्ध्री, नन्दयन्ती, गान्धारपंचमी, कार्मारवी तथा कैशिकी[1]। इन समवायज अथवा सम्मिश्र जातियों का स्वरूप निम्न सारणी से स्पष्ट होगा—

शुद्धविकृता अर्थात् समवायज जातियाँ	घटक जातियाँ	किस ग्राम से उत्पन्न
१. षड्जमध्यमा	षाड्जी + मध्यमा	षड्ज
२. षड्जोदीच्यवा	षाड्जी + गान्धारी + धैवती	षड्ज
३. षड्जकैशिकी	षाड्जी + गान्धारी	मध्यम और षड्ज
४. गान्धारोदीच्यवा	षाड्जी + गान्धारी + धैवती + मध्यमा	मध्यम
५. मध्यमोदीच्यवा	गान्धारी + पंचमी + धैवती + मध्यमा	मध्यम
६. रक्तगान्धारी	गान्धारी + पंचमी + नैषादी + मध्यमा	मध्यम
७. आन्ध्री	गान्धारी + षड्जा	मध्यम
८. नन्दयन्ती	गान्धारी + पंचमी + आर्षभी	मध्यम
९. गान्धारपंचमी	गान्धारी + पंचमी	मध्यम
१०. कार्मारवी	नैषादी + आर्षभी + पंचमी	मध्यम
११. कैशिकी	षाड्जी + गान्धारी + मध्यमा + पंचमी + नैषादी	मध्यम

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि विभिन्न जातियों के सम्मिश्रण से एकादश शुद्धविकृत जातियों की उत्पत्ति होती है। समवाय से भरत का यह अभिप्राय लक्षित होता है कि दोनों में से एक जाति पूर्णतः शुद्ध हो तथा दूसरी किसी कारण-वश विकृत हो। जैसे, षड्जमध्यमा जाति का निर्माण यदि षाड्जी तथा मध्यमा दो जातियों से होता हो, तो दोनों में से एक जाति पूर्णरूपेण शुद्ध होनी चाहिये तथा दूसरी ग्रह, अंश आदि के न्यूनत्व के कारण विकृत होनी चाहिये। शुद्ध जाति का संयोग किसी विकृत जाति से किये जाने पर शुद्ध जाति का शुद्धत्व नष्ट हो जाता है, यह स्पष्ट है।

दत्तिल ने अष्टादश जातियों का वर्गीकरण स्पष्टतः तीन विभागों में किया है—१ शुद्धा, २ विकृता, ३ संकरोद्भवा। दत्तिल के शब्दों में—

---

१. ना० शा० २८, ४५–५३

जातयोष्टादश ज्ञेयास्तासां सप्तस्वराख्यया ।
शुद्धाश्च विकृताश्चैव शेषास्तत्संकरोद्भवाः ॥ ४८ ॥

इन जातियों के विवरण के अन्त में 'कैशिकीमिति संकराः' इस प्रकार उनके सम्मिश्र होने के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख दत्तिल ने किया है[1] । उनके अनुसार ऐसी संकर अर्थात् संकीर्ण जातियों की संख्या असंख्य हो सकती हैं—

संकरे रूपबाहुल्यं जातिनिर्देश इष्यते ॥[2] द्र० ९६ ॥

मतंग की बृहद्देशी में भरतप्रोक्त विषय का स्पष्ट प्रतिपादन निम्न शब्दों में पाया जाता है—

तत्र शुद्धानां जातीनां शुद्धत्वं विकृतत्वं च रूपद्वयमस्ति । एकादशानां जातीनां विकृतोद्भवत्वाद् विकृतत्वमेव रूपं भवति । ननु शुद्धत्वमिति कुत एतत् । ता हि परस्परसंसर्गाज्जायन्ते[3] ।

अर्थात् एकादश जातियों की संज्ञा शुद्धविकृत इसीलिये है कि उनका उद्भव शुद्ध तथा विकृत दोनों के संसर्ग से होता है ।

जातियों का स्वरसंख्यानुसार वर्गीकरण :—

जातियों में प्रयोज्यमान स्वरों की संख्या को दृष्टिगत करते हुए समस्त जातियों का त्रिविध विभाजन नाट्यशास्त्र में हुआ है—१ सम्पूर्ण अर्थात् सप्त स्वर वाली, २ षाडव अर्थात् छः स्वर वाली, ३ ओडव अर्थात् पांच स्वर वाली । अष्टादश जातियों में से चार जातियाँ नियत रूप से सम्पूर्ण हैं, चार षाडव हैं तथा शेष दस ओडव हैं—

आभ्यश्चतस्रो नियमात् ज्ञेयाः सप्त स्वरा बुधैः ।
दश पंचस्वरा ज्ञेयाश्चतस्रश्चैव षट्स्वराः ॥ २८,५४ ॥

---

१. द्र० ५४

२. समवायज जातियों का विवरण केवल संक्षेप में दिये जाने की बात भरत की निम्न उक्ति में स्पष्ट है—'तासां या निर्वृता ······ । तां वक्ष्यामि यथावत् संक्षेपेण क्रमेणेह' ॥ २८, ४४ ॥

३. द्र० पृ० ५४; कल्लिनाथ के अनुसार ये जातियाँ केवल शुद्धा जातियों के समवाय से उद्भूत नहीं होतीं, अपि तु प्रथम उल्लिखित विकृत भेदों के समवाय से उत्पन्न होती हैं—

'एताः पुनस्तद्विकृतभेदसंसर्गोत्पन्नत्वान्न तथेति तु शब्दार्थः' । सं० र० १,७,८ ।

षड्ज तथा मध्यमग्राम की जातियों का स्वरसंख्यादर्शक वर्गीकरण निम्न तालिका से स्पष्ट होगा[1]—

नित्यपूर्णा	षाडव होनेवाली	ओडव होनेवाली
१. षड्जकैशिकी	१. षाड्जी	१. आर्षभी
२. मध्यमोदीच्यवा	२. गान्धारोदीच्यवा	२. गान्धारी
३. कार्मारवी	३. आन्ध्री	३. मध्यमा
४. गान्धारपंचमी	४. नन्दयन्ती	४. पंचमी
		५. धैवती
		६. नैषादी
		७. षड्जोदीच्यवा
		८. षड्जमध्या
		९. रक्तगान्धारी
		१०. कैशिकी

इन जातिरूपों में अंशस्वर रागजनक माना जाता है, अतएव तार तथा मन्द्र सप्तकों में इनका बहुल प्रयोग अभीष्ट है।[2] भरतोक्त जातियों में एक से लेकर सप्तस्वरों तक का प्रयोग अंश स्वर के रूप में उपलब्ध है, तथा प्रत्येक जाति के लिये नियत अंशस्वर का ही प्रयोग होता है। भरत के अनुसार जातियों में अंशस्वर तथा उनके सम्वादी स्वरों का लोप कदापि सम्भाव्य नहीं। इसी कारण जाति की षाडव तथा ओडव अवस्था में केवल अंश के असम्वादी स्वरों का वर्ज्यत्व ही सम्मत है, उदाहरणार्थ, षड्जमध्यमा जैसी सम्पूर्ण जाति में निषाद अंश स्वर होने के कारण उसका षाडवत्व गान्धार के लोप से कथमपि सम्भाव्य नहीं कारण यह कि ग तथा नि परस्पर-सम्वादी हैं।[3] भरत के अनुसार जातियों में मध्यम को छोड़कर शेष सभी स्वरों का लोप किया जा सकता है। उनके शब्दों में—

> **मध्यमस्य विनाशस्तु कर्तव्यो न कदाचन।**
> **सर्वस्वराणां प्रवरो ह्यविनाशी तु मध्यमः।**
> **गान्धर्वकल्पेऽभिमतः सामगैश्च महर्षिभिः॥ २८, ६९॥**

नाट्यशास्त्र में १८ जातियों के ग्रह, अंश, न्यास, अपन्यास आदि के सम्बन्ध में सविस्तर विवरण प्रस्तुत है, जिसका निरूपण संलग्न सारणी में किया गया है।

---

१. द्र० ना० शा० २८, ५५–६१

२. द्र० २८, ७२

३. २८, ६३–६७

जाति के दशविध लक्षण

जाति के दशविध लक्षणों का निरूपण नाट्यशास्त्र के निम्न श्लोक में हुआ है—

ग्रहांशौ तारमन्द्रौ च न्यासोपन्यास एव च ।
अल्पत्वं च बहुत्वं च षाडवौडविते तथा ॥ २८,७० ॥

अर्थात् जाति के दश लक्षण निम्नानुसार हैं—ग्रह, अंश, तार, मन्द्र, न्यास, अपन्यास, अल्पत्व, बहुत्व, षाडवत्व तथा ओडवत्व। जाति—कल्पना के सम्यक् ज्ञान के लिये इनके लक्षणों को समझना नितान्त आवश्यक होने के कारण इनमें से प्रत्येक के लक्षण निम्न प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

१—ग्रह स्वर :—ग्रह स्वर का भरतोक्त लक्षण निम्नानुसार है—

ग्रहस्तु सर्वजातीनामंश एव हि कीर्तितः ।
यत्प्रवृत्तं भवेद्गानं सोंऽशो ग्रहविकल्पितः ॥ २८,७१ ॥

अर्थात् समस्त जातियों में ग्रह स्वर अनिवार्यतः अंशस्वर ही हुआ करता है। 'ग्रह' उस अंश को कहा जाता है जिससे जाति का गान आरम्भ होता हो। जैसा ऊपर निरूपित किया जा चुका है, भरतकालीन जातियों में एक से अधिक स्वरों का प्रयोग जातियों के अंशस्वरों के रूप में किया जाता रहा है। इनमें से जिस विशिष्ट अंश स्वर से जाति का गान आरंभ किया जाता हो, वही ग्रह कहलाता है। मतंग के शब्दों में—

तत्रादौ जात्यादिप्रयोगो गृह्यते येनासौ ग्रहः ।[1]

शुद्ध जातियों में ग्रह तथा अंश अनिवार्य रूप से एक ही होता है और जाति का न्यास भी उसी स्वर पर किया जाता है। विकृत जातियों में अनेक अंश स्वरों में से एक ग्रह स्वर होता है परन्तु समस्त जाति में वही अंश स्वर के रूप में प्रयुक्त हो, यह अनिवार्य नहीं। अंश के रूप में प्रयुक्त किये जाने वाले स्वर का वादित्व अनिवार्य है और इसी के सम्वादी, अनुवादी आदि स्वरों से जाति का स्वरूप निर्णीत होता है। इसके विपरीत ग्रह के रूप में प्रयुक्त अंश स्वर का वादी होना अनिवार्य नहीं।

२ अंश स्वर :—भरतोक्त जातियों में अंश स्वर का सर्वाधिक महत्व है। इसका भरतोक्त लक्षण निम्न उद्धृत है—

यस्मिन्वसति रागस्तु यस्माच्चैव प्रवर्तते ।
तेन वै तारमन्द्राणां योऽत्यर्थमुपलभ्यते ॥
मन्द्रं च तारविषया पञ्चस्वरपरा गतिः ॥ २८,७२ ॥

---

१. द्र० बृह० पृ० ५६

अनेकस्वरसंयोगो योऽत्यर्थमुपलभ्यते ।
अन्यच्च बलिनो यस्य संवादी चानुवाद्यपि ॥ २८,७३ ॥
ग्रहोपन्यासविन्यासविन्यासाभ्यासगोचरः ।
परिवार्य स्थितो यस्तु सोंऽशो स्याद् दशलक्षणः ॥ २८,७४ ॥[1]

अर्थात् अंश स्वर निम्न दश लक्षणों से युक्त रहता है—(१) इसमें राग का निवास हो, (२) इससे राग का आविर्भाव होता हो, (३–४) वह तार तथा मन्द्र अवधि का नियामक हो, (५) नानाविध स्वरसमूहों में उसका सर्वाधिक प्रयोग हो तथा उसके सम्वादी एवं अनुवादी स्वर भी शेष स्वरों की अपेक्षा प्रबल हों, (६, ७, ८, ९–१०) जो ग्रह, अपन्यास, विन्यास, सन्यास तथा न्यास के माध्यम से समस्त जाति को परिवेष्ठित करता हो।

अंश के उपर्युक्त लक्षण में 'राग' शब्द मननीय है। हमारे विचार से यहाँ राग शब्द रक्तिगुण का बोधक माना जा सकता है, न कि जातिराग का अथवा ग्रामराग का। जैसा अन्यत्र निरूपित किया गया है, नाट्यशास्त्र में जातिराग का उल्लेख जाति के विपर्यस्त तथा नियमहीन प्रयोग के लिये किया गया है। भरत की दृष्टि से दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व है। जाति के दश लक्षणों में अंश को सर्वप्रमुख माना गया है और इसी में जाति का राग निहित बतलाया गया है। अतएव राग शब्द का प्रयोग जाति के रक्तिगुण के रूप में अभिप्रेत हो सकता है, जातिराग जैसे रूढ अर्थ में नहीं। दूसरे शब्दों में, भरत के अनुसार जाति का अंश स्वर वही है, जिसमें रंजकता अथवा रक्तिगुण की स्थिति हो तथा जिससे रंजकता प्रवृत्त हो। मतंग के शब्दों में—

'रागजनकत्वाद् व्यापकत्वाच्चांशस्यैव प्राधान्यम् ।
यस्मिन्नंशे क्रियमाणे रागाभिव्यक्तिर्भवति सोंऽशः ॥[2]

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार जाति से तात्पर्य ऐसे विशिष्ट स्वरसन्निवेश से है, जिस में रक्तिगुण का प्राधान्य होता है[3]।

३—४ तार तथा मन्द्रः—तार तथा मन्द्र का विशिष्ट अवधि तक प्रयोग जाति की विशेषताओं में से है। भरत के अनुसार तार की मर्यादा निम्न प्रकार है—

---

१. इसी का मतंग द्वारा उद्धृत पाठभेद निम्नांकित है—
नेता च तारमन्द्राणां योऽत्यर्थमुपलभ्यते ।
ग्रहापन्यासविन्याससन्यासन्यासगोचरः ।
अनुवृत्तश्च यश्चैह सोंऽशः स्याद्दशलक्षणः ॥ द्र० बृह० पृ० ५८ ॥

२. बृह० पृ० ५६–५७

३. द्र० भरतकोष, प्रो० रामकृष्ण कवि, पृ० २२७।

अथ पञ्चस्वराः कण्ठ्यांशात् (?) तारगतिः ।
अंशात्तारगतिं विद्याद्‌ा चतुर्थस्वरादिह ॥ २८,९२ ॥
पञ्चमं त्वथवा गच्छेत्ततोऽशविहितं त्विह ।
आपंचमात्पंचमाद्वा नातः परमिहेष्यते ॥ २८,९३ ॥

अर्थात् कण्ठ्य अंश से चतुर्थ या पंचम स्वर के अन्तर पर तार-गति आरम्भ होती है। जाति का गान कण्ठ्य अंश से लेकर तार स्थान में चार अथवा पांच स्वरों तक अथवा मतान्तर से सात स्वरों तक किया जाता है।[1] किसी भी अवस्था में इससे विस्तार अभीष्ट नहीं माना गया है। कण्ठ्य अंश से तात्पर्य है उस अंश स्वर से जो मध्य स्थान में गाया जाता है। जाति की तारावस्था इसी स्वर से चतुर्थ अथवा पंचम तक सीमित रहती है। यदि कण्ठ्य अंश मध्य सा है, तो तार गति मध्य म, मध्य प अथवा अधिकाधिक तार सा तक की जानी चाहिये। मन्द्र स्थान में स्वरों की गति त्रिविध मानी गयी है—

"त्रिविधा मन्द्रगतिः—अंशपरा न्यासपरा चेति अपन्यासपरा चेति वा[2]।"

अर्थात् जातिगायन में मन्द्र स्थान की अवधि त्रिविध मानी गई है—(१) अंश स्वर तक, (२) न्यास स्वर तक तथा (३) अपन्यास स्वर तक।

इस सम्बन्ध में भरत की स्थानविषयक परिभाषा को जानना निनान्त उपादेय होगा। भरत ने शारीरी तथा दारवी वीणा के सम्बन्ध में तीन स्थानों का निर्देश किया है—मन्द्र, मध्य तथा उच्च[3]। मन्द्र स्थान को उरोगत अर्थात् कण्ठगत से निम्न स्थान वाला बतलाया गया है। पाठ्य के अन्तर्गत मन्द्र का प्रयोग निर्वेद ग्लानि, शंका, चिन्ता, मूर्च्छा आदि प्रसंगों पर किया जाना चाहिये, ऐसा भरत का स्पष्ट संकेत है—

'मन्द्रो नाम उरःस्थानगतो निर्वेदग्लानिशंकाचिन्तौत्सुक्य—
मूर्च्छामदादिषु[4]।

मन्द्र, मध्य तथा उच्च तीनों के उद्भव-स्थान तथा प्रयोजन का निर्देश करते हुए वे कहते हैं—

उरसः शिरसः कण्ठात् स्वरः काकुः प्रवर्तते ।
आभाषणं तु दूरस्थे शिरसा सम्प्रयोजयेत् ॥ १९,४१ ॥

---

१. बृह० पृ० ५८
२. २८, पृ० ३२६
३. १९, ४०
४. १९, पृ० २२२

नातिदूरेपि कण्ठेनाप्युरसा चापि पार्श्वतः ।
उरसोदाहृतं वाक्यं शिरसा दीपयेद् बुधः ॥ १९,४२ ॥
कण्ठेन शमनं कुर्यात् पाठ्यं योगेषु सर्वदा ॥ १९,४२ ॥

अर्थात् उरस्, शिर एवं कण्ठ तीन स्थानों से स्वर का उद्भव बतलाया गया है। स्वाभाविक ध्वनि जो कि कुछ दूर तक सहजरूप से श्रवणगोचर होती है, मध्यस्थानीय कहलाती है ; दूरी पर स्थित व्यक्ति को बुलाने के लिये जिस उच्च ध्वनि का प्रयोग किया जाता है, वह शिरोगत है तथा सन्निकट में स्थित व्यक्ति को जिस उपांशु स्वर से बुलाया जाता है, वह उरस्थानीय है। भरत के अनुसार पाठ्य का क्रम उरस् से लेकर शिरःस्थान तक होना चाहिये अर्थात् भाषण की ध्वनि शनैः शनैः उच्च की जानी चाहिये। इन दोनों की मध्यवर्ती स्थिति मध्यस्थानीय है तथा इसी से दीप्त भाषण अथवा गान का शमन अर्थात् अवसान किया जाता है। मध्य स्थान का सम्बन्ध कण्ठ से है और यही पाठ्य तथा गान का स्वाभाविक क्षेत्र है। मन्द्र तथा उच्च का समावेश केवल पाठ्य के अलंकार के रूप में भरत ने किया है[1]। मध्य स्वर के अविनाशत्व का यही अभिप्राय है कि वह गायक के स्वाभाविक अर्थात् कण्ठ्य स्वर का द्योतक है तथा पर मूर्च्छना का निर्देश इसी की अनुकूल ध्वनि में किया जाता है—

'मध्यमस्वरेण तु वैणेन मूर्च्छनानिर्देशः भवत्यनाशित्वात् मध्यमस्वरस्य[2]।

पाठ्य तथा गान ऐसे ही सहज स्वर में आरम्भ किया जाना उचित है, जिस से मन्द्र तथा उच्च दोनों स्वर-क्षेत्रों में संचार किया जा सके। भरत की दृष्टि से ध्वनि की उच्चनीचता को दृष्टिगत कर स्वर की स्थिति पंचविध होती है—१ मध्य, २ उच्च, ३ दीप्त, ४ मन्द्र तथा ५ नीच। प्रथम का सम्बन्ध कण्ठ से है और ध्वनि की स्वाभाविक अवस्था का वह द्योतक है। द्वितीय का सम्बन्ध शिर से है और इसी को 'तार' कहा जाता है। दीप्त स्वर का उद्भव स्थान वही है तथापि उच्च से उच्चतर होने के कारण उसके लिये 'तारतर' संज्ञा है। मन्द्र स्वर उरस् से उच्चरित होता है तथा नीच नामक स्वर इससे निम्न होने के कारण मन्द्रतर भी कहलाता है[3]। पाठ्य में इन सभी का प्रयोग यथास्थान किया जाता है और इन्हीं का अनुसरण गान तथा वाद्य में किया जाता है। भरत के शब्दों में—

दीपनं नाम त्रिस्थानशोभि वर्धमानस्वरं च। प्रशमनं नाम तारं गतानां स्वराणामवैस्वर्येणावतरणम्।······सर्वेषां। चैतेषां मन्द्रमध्यतारव्यवस्थायां

---

१. १९, श्लो० ४५, पृ० २२२
२. २८, पृ० ३२१
३. १९, पृ० २२२

स्थानगतः प्रयोगः। तत्र दूरस्थाभाषणे तारः शिरसो नातिदूरे मध्यं कण्ठेन पार्श्वतो मन्द्रमुरसा प्रयोजयेत् पाठ्यमिति। मन्द्रात्तारं गच्छेत्ताराद्वा मन्द्रमिति[1]।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होगा कि तार, मन्द्र आदि शब्दों का प्रयोग केवल अपेक्षाकृत उच्च तथा निम्न स्वरों के लिये किया गया है तथा सप्तक का अर्थ इस से कथमपि अभिप्रेत नहीं। तार स्वर वह है, जो एक ही सप्तक में होने पर मध्य स्वर से ऊंचा है और मन्द्र वह है, जो मध्य स्वर की अपेक्षा निम्न है। उदाहरणार्थ, एक ही सप्तक में उच्चरित 'सा रि ग म प' में यदि ग कण्ठ्य स्वर है, तो म तथा प तार स्वर है और रि तथा सा मन्द्र है। पाठ्यविषयक यह विवरण पूर्णशिन गान्धर्व पर चरितार्थ होने के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र का निम्न वचन असन्दिग्ध है—

प्रयोजनमपि स्थानप्राप्तिः। स्थानं तु त्रिविधं पूर्वोक्तलक्षणं काकुविधाने।[2]

दत्तिल के अनुसार बाईस श्रुतियों का उच्चारण उरस्, शिर तथा कण्ठ तीनों स्थानों में सम्भाव्य है तथा इन श्रुति-ध्वनियों का उच्चारण उत्तरोत्तर होता जाता है—

नृणामुरसि मन्द्रस्तु द्वाविंशतिविधो ध्वनिः।
स एव कण्ठमध्ये स्यात् तारः शिरसि गीयते॥ ८॥
उत्तरोत्तरतारस्तु वीणायामधरोत्तरः।
इति ध्वनिविशेषास्ते श्रवणाच्छ्रुतिसंज्ञिताः॥ ९॥

मतंगोक्त तार लक्षण में तार संज्ञा का प्रयोग आपेक्षिक उच्चता के लिये किया गया पाया जाता है। उनके अनुसार अंश स्वर के ऊर्ध्व में पाँच स्वर तक जाना ही तारता का लक्षण है—

इदानीं तारलक्षणमुच्यते—बलवति च श्रुतिकैंशै दुर्वै (?) बलैंशांशे अंशस्वरप्रयोगादारभ्य पंचस्वरपरा तारगतिः।......। नन्दयन्ती यथा—सा स रि ग सा। इति पञ्चमांशत्वात् षड्जस्तारः[3]।

तात्पर्य यह कि नन्दयन्ती के आरम्भिक अंश स्वर प से प, ध, नि, सां इस प्रकार उच्च सा तक पहुँच जाना यही इसकी तारावधि है। मतंग के अलंकार लक्षणों में तार तथा मन्द्र को सप्तकबोधक न मानकर अपेक्षाकृत उच्चता (Pitch) का द्योतक माना गया है। उनकी दृष्टि में 'मन्द्र' से तात्पर्य

१. १९, पृ० २२४
२. २८, पृ० ३२१
३. बृह० पृ० ५८

प्रसन्नपूर्वक उच्चरित ध्वनि से है—'मन्द्रशब्देन प्रसन्नध्वनिरुच्यते'।[1] उदाहरण के लिये, उनका प्रसन्नमध्य अलंकार का विवरण देखा जा सकता है, जिस से स्पष्ट होगा की मन्द्र, मध्य तथा तार सप्तकवाचक न होते हुए एक ही सप्तक के अन्तर्गत त्रिविध स्थान के द्योतक हैं—

> **"यत्र मन्द्रो मध्ये आद्यन्तयोश्च तारः, स प्रसन्नमध्यः।**
> **यथा सा नि धा प मा ग री सा**
> **सा री ग म प ध नी सा इति प्रसन्नमध्यः।[2]**

इसमें मध्यस्थानस्थ सा को मन्द्र बतलाया गया है तथा आदिम एवं अन्तिम सा को तार बतलाया गया है, जो इन स्वरों की तारतमिक उच्चता पर प्रकाश डालने वाला है।

५—६ न्यास और अपन्यासः—न्यास, अपन्यास, विन्यास तथा सन्यास की परिभाषा नाट्यशास्त्र में उपलब्ध नहीं, तथापि दत्तिल तथा मतंग के आधार पर उनके सम्बन्ध में निम्न परिचय प्राप्त होता है। दत्तिल के अनुसार न्यास वह स्वर है जिस पर गीत का अवसान होता है तथा अपन्यास वह स्वर है जो गीत के विदारी अर्थात् मध्य खण्ड के अन्त में प्रयुक्त होता है।[3] न्यास तथा अपन्यास में विभेद यह है कि न्यास सम्पूर्ण गीत के अन्त में आता है तथा अपन्यास गीत के मध्य में आता है। शुद्ध जाति में अंश स्वर ही न्यास स्वर होता है, विकृता जातियों में न्यास स्वर तथा अंश स्वर की अभिन्नता अपरिहार्य नहीं। अठारह जातियों में कुल मिलाकर इक्कीस न्यास स्वर तथा छप्पन अपन्यास स्वर बतलाये गये हैं—

'अथ न्यासः। अंशसमाप्तौ स चैकविंशतिविधः। स च कदाचित् जात्यन्तरोपन्यासः स षट्पंचाशत्संख्यः[4]।'

'संन्यास' वह न्यासस्वर है जो गीत के प्रथम खण्ड के अन्त में अंश स्वर के अविवादी रूप में आता है। मतंग के शब्दों में—

"संन्यासः सोभिधीयते। अंशस्य विवादो यथा न भवति प्रथमविदार्यान्ते यदि प्रवृत्तो यदा भवति, तदासौ संन्यास इत्यर्थः"।[5]

---

१. बृह० पृ० ३५
२. वहीं
३. वहीं पृ० ६०; दत्तिल श्लो० ६०
४. ना० शा० २८, पृ० ३२७
५. बृह० पृ० ५७

'विन्यास' भी अंश का अविवादी होता है, अन्तर केवल यह कि विन्यास खण्डगत शब्दों अथवा पदों के अन्त में प्रयुक्त किया जाता है[1]।

७—८ अल्पत्व एवं बहुत्व :—उपर्युक्त अंश प्रकारों के अतिरिक्त जातियों को व्यक्त करने वाला द्विविध अन्तरमार्ग भरत ने बतलाया है। 'अन्तरमार्ग' से अभिप्राय ऐसे स्वर-संचार से है, जिस में स्वरों का अल्प अथवा बहुल प्रयोग किया जाता है। हमें विदित है कि जाति में अत्यन्तबहुल स्वर अंशस्वर होता है, तदतिरिक्त अनंश स्वरों का प्रयोग अपेक्षाकृत अल्प प्रमाण में किया जाता है। केवल अंशस्वरों के आधार पर जाति-गान कथमपि सम्भाव्य नहीं, अतएव तदतिरिक्त स्वरों का भी अल्पाधिक प्रयोग जातिस्वरूप को स्पष्ट करने में नितान्त उपादेय होता है। जाति विशेष के अनुसार कुछ अनंश स्वरों का प्राबल्य तथा अन्य का दौर्बल्य जातियों का 'अन्तरमार्ग' कहलाता है। भरत के शब्दों में—

संचारोऽशबलस्थानामल्पत्वं दुर्बलेषु च।
द्विविधोऽन्तरमार्गस्तु जातीनां व्यक्तिकारकः ॥ २८,८३ का० मा० ॥

स्वरों का अल्पत्व दो प्रकार से सम्पादित किया जाता है—१ लंघन से २ अनभ्यास से। षाडव तथा औडव जातियों में विशिष्ट स्वरों के वर्ज्यत्व के कारण ऐसे स्वरों का लंघन ही सम्मत है, इसके अतिरिक्त अन्य स्थानों पर अनभ्यास अर्थात् स्वरों के सकृत् उच्चारण से स्वरों का अल्पत्व रखा जाता है। भरत के शब्दों में—

"द्विविधमल्पत्वं लंघनादनभ्यासाच्च। गीतान्तरमार्गमुपगतानां षाडवौडवितकरणत्वमंशानां च स्वराणां लंघनादनभ्यासाच्च सकृदुच्चारणं यथाजाति तद्वत् बहुत्वमल्पत्वविपर्ययात् द्विविधमेषामन्येषामपि बलिनां संचारः।"[2]

संगीतरत्नाकरकार के अनुसार 'अन्तरमार्ग' से अभिप्राय स्वरों की ऐसी वैचित्र्यपूर्ण संगति से है, जो प्रायः विकृत जाति के गौण स्वरों में सम्पादित की जाती है। तात्पर्य यह कि जाति में न्यास, अंश आदि स्वरों का प्राबल्य होता ही है, परन्तु इनके अतिरिक्त विविध स्वरों का विशिष्ट एवं चमत्कृतिजनक संचार भी दिखाई देता है। संगीतरत्नाकरकार के शब्दों में—

---

१. विन्यास स्वर की निम्न परिभाषा संगीतरत्नाकर में पाई जाती है—"अंशाविवाद्येव विन्यासः स तु कथ्यते। यो विदारीभागरूपपदप्रान्तेऽवतिष्ठते ॥" स्वराध्याय, पृ० १८९; तुलनार्थ द्र० बृह० पृ० ५७ ॥

२. अ० २८, पृ० ३२६

न्यासादिस्थानमुज्झित्वा मध्ये मध्येऽल्पतायुजाम् ।
स्वराणां या विचित्रत्वकारिण्यंशादिसंगतिः[1]

प्रतीत होता है कि अन्तरमार्ग का प्रयोग आधुनिक रागरूपों की निदर्शक पकड के समान किया जाता रहा है ।

९—१० षाडवत्व तथा ओडवत्व :—सम्पूर्ण जातियों के अतिरिक्त षाडव तथा ओडव जातियों की चर्चा नाट्यशास्त्र में पाई जाती है । जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, षाडव तथा ओडव क्रमशः छः स्वरों से युक्त तथा पाँच स्वरों से युक्त स्वरावलि के निदर्शक हैं । भरत के अनुसार कुल अठारह जातियों में से चार नित्य-सम्पूर्ण हैं तथा षाडव जातियों की सम्भाव्य संख्या चौदह हैं । अठारह जातियों में से औड्डवत्व केवल दस जातियों में सम्भाव्य है ।[2] यहाँ षाडव तथा ओडव से यह अभिप्राय नहीं कि ये जातियाँ सदैव षट् अथवा पंच स्वरों में गाई जाती हों । अर्थ केवल यही है कि अठारह जातियों में से केवल यही जातियाँ षट् तथा पंच जैसे न्यून स्वरों में गाई जा सकती हैं । यद्यपि जाति में न्यूनान्यून पाँच स्वरों की स्थिति आवश्यक है तथापि देशी संगीत में यदाकदा इससे न्यून अर्थात् चार स्वरों का प्रयोग होता है, ऐसा भरत का विधान है—

षट्स्वरस्य प्रयोगोऽयं तथा पञ्चस्वरस्य च ।
चतुःस्वरप्रयोगोऽपि देशापेक्षः प्रयुज्यते ॥ २८,९५ ॥

इस पर भाष्य करते हुए मतंग ने कहा है कि चतुः स्वर का प्रयोग अधिकतर शबर, पुलिन्द, कांबोज, किरात इत्यादि आदिवासी लोगों के संगीत में पाया जाता है—"चतुःस्वरात् प्रभृति न मार्गः शवरपुलिन्दकाम्बोजबंगकिरातबाह्लीकान्ध्र-द्रविडवनादिषु प्रयुज्यते" ।[3]

जाति तथा वाद्य से रसनिष्पति

जैसा ऊपर निवेदित किया जा चुका है, भरत के अनुसार जातियाँ अपने विशिष्ट अंशस्वर के कारण रसात्मिकता की पोषक होती हैं । भरत की मान्यता यह है कि जिस जाति का अंशस्वर जिस रस का पोषक हो, उस रस के परिपोष के लिये नाट्य में उसी जाति का गान किया जाना चाहिए—

यो यदा बलवान् यस्मिन् स्वरो जातिसमाश्रयात् ।
तत्प्रयुक्ते रसे गानं कार्यं गेये प्रयोक्तृभिः ॥ २९,१२ ॥

---

१. स्वरा० पृ० १९१
२. २८, ९४
३. बृह० पृ० ५९

जातिगान तथा वाद्यवादन दोनों के अन्तर्गत सप्तस्वरों में से कुछ स्वर विशिष्ट रस के अनुकूल बताये गये हैं—

मध्यपंचमभूयिष्ठं हास्यश्रृङ्गारयोर्भवेत् ।
षड्जर्षभप्रायकृतं वीररौद्राद्भुतेषु च ॥ २९,१३ ॥
गान्धारसप्तमप्रायं करुणो गानमिष्यते ।
तथा धैवतभूयिष्ठं बीभत्से सभयानके ॥ २९,१४ ॥

अर्थात् मध्यम तथा पंचम स्वर का प्राबल्य हास्य तथा श्रृङ्गार का उत्पादक होता है, षड्ज तथा ऋषभ वीर, रौद्र तथा अद्भुत रस के पोषक होते हैं, गान्धार तथा निषाद करुण रस का परिपोष करते हैं तथा धैवत का बहुल प्रयोग बीभत्स तथा भयानक रस का प्रेरक सिद्ध होता है ।

उपर्युक्त विधान से स्पष्ट है कि सप्तस्वरों में से एक ही स्वर भिन्न-भिन्न रसों का पोषक माना गया है तथा कुछ विशिष्ट स्वरयुग्म विशिष्ट रस के परिपोषक माने गये हैं। उदाहरणार्थ, यद्यपि षड्ज अंशस्वर व्यक्तिगत रूप से श्रृङ्गार तथा हास्य का कारण सिद्ध होता है तथापि आर्षभी एवं षाडजी जाति में वीर, अद्भुत तथा रौद्र रस को पुष्ट करता है। इन अंशविशिष्ट रसों का निर्माण नियमानुकूल गायन अथवा वादन करने से सम्भव हो सकता है, ऐसा भरत का कथन है। विभिन्न स्वरों से उद्भूत होने वाले रसों का अनुभव श्रोताओं को तभी हो सकता है, जब संगीत निर्देशक नाट्य के रस, कार्य, अवस्था आदि को दृष्टिगत कर तदनुकूल रसोत्पत्ति के लिये नियमपूर्वक गान एवं वादन की योजना करे। षड्जग्राम तथा मध्यमग्राम की विभिन्न जातियों की अंशाधृत रस-कल्पना निम्न रूप से प्रस्तुत की गई है—

षड्जोदीच्यवती चैव षड्जमध्या तथैव च ।
षड्जमध्यमबाहुल्यात् कार्यं श्रृङ्गारहास्ययोः ॥
आर्षभी चैव षाड्जी च षड्जर्षभग्रहस्वरान् ।
वीराद्भुते च रौद्रे च निषादांगपरिग्रहात् ॥
गान्धार्यंशोपपत्त्या च करुणे षड्जकैशिकी ।
धैवती धैवतांशा च बीभत्से सभयानके ॥
ध्रुवा विधाने कर्तव्या जातिगाने प्रयत्नतः ।
रसं कार्यमवस्थां च ज्ञात्वा योज्या प्रयोक्तृभिः[1] ॥

मध्यमग्राम विषयक जातियों के रस का भरतोक्त विवेचन निम्नानुसार है—

गान्धारी—रक्तगान्धार्योर्गान्धारांशोपपत्तितः ।
करुणे तु रसे कार्यो जातिगाने प्रयोक्तृभिः ॥

---

१. अ० २९, १–४

मध्यमा पंचमी चैव नन्दयन्ती तथैव च।
मध्यपंचमबाहुल्यात् कार्यं शृङ्गारहास्ययोः ॥
मध्यमोदीच्यवा चैव गान्धारोदीच्यवा तथा।
षडजर्षभांशनिष्पत्त्या कर्तव्या वीररौद्रयोः ॥
कर्मारवी तथा चान्ध्री निषादांशोपपत्तितः।
अद्भुते तु रसे कार्ये जातिगाने प्रयोक्तृभिः ॥
कैशिकी धैवतांशा स्यात् तथा गान्धारपंचमी।
प्रयोक्तव्या बुधैः सम्यक् बीभत्से सभयानके[2] ॥

इन समस्त जातियों में षड्जमध्या जाति का रस की दृष्टि से विशिष्ट स्थान है। षड्ज तथा मध्यम के बाहुल्य से वह शृङ्गार तथा हास्य की निष्पादिका होती ही है, परन्तु प्रयोगविधि के अन्तर्गत सभी स्वर पर्याय से अंशभूत होने के कारण सभी रसों की पोषिका मानी गई है—

एकैव षड्जमध्या ज्ञेया सर्वरस संश्रया जातिः।
तस्या ह्यंशाः सर्वे स्वरास्तु विहिता प्रयोगविधौ ॥ २९,११ ॥

स्वर तथा जाति एवं रसों का भरतोक्त सम्बन्ध निम्न तालिका से स्पष्ट हो सकता है—

जाति.	रस	स्वरयोजना
१. षड्जोदीच्यवती	शृङ्गार-हास्य	षड्ज तथा मध्यम-बाहुल्य (का०) मध्यम तथा पंचम-बाहुल्य (का० मा०)
२. षड्जमध्या	,, ,,	,, ,,
३. आर्षभी	वीर, अद्भुत, रौद्र	षड्ज तथा ऋषभ ग्रह
४. षाडजी	,, ,,	,, ,,
५. षड्जकैशिकी	करुण	गान्धार तथा निषाद अंश (का० मा०)
६. धैवती	बीभत्स-भयानक करुण (का० मा०)	धैवत अंश
७. गान्धारी	करुण	गान्धार तथा निषाद अंश (का० मा०) गान्धार अंश (का०)

२. वहीं, ६–१०

जाति	रस	स्वयोजना
८. रक्तगान्धारी	करुण	गान्धार अंश (का०)
९. मध्यमा	शृङ्गार, हास्य	मध्यम-पंचम-बाहुल्य
१०. पंचमी	,, ,,	,, ,,
११. नन्दयन्ती	,, ,,	,, ,,
१२. मध्यमोदीच्यवा	वीर, रौद्र शृङ्गार, हास्य (का० मा०)	षड्ज तथा ऋषभ अंश मध्यम तथा पंचम बाहुल्य (का० मा०)
१३. गान्धारोदीच्यवा	वीर, रौद्र वीर, रौद्र तथा अद्भुत (का० मा०)	षड्ज तथा ऋषभ अंश ,, ,, (का० मा०)
१४. कार्मारवी	अद्भुत वीर, रौद्र तथा अद्भुत (का० मा०)	निषाद अंश षड्ज, ऋषभ अंश (का० मा०)
१५. आन्ध्री	अद्भुत वीर, रौद्र तथा अद्भुत (का० मा०)	निषाद अंश षड्ज, ऋषभ अंश (का० मा०)
१६. कैशिकी	बीभत्स, भयानक	धैवत अंश
१७. गान्धारपंचमी	बीभत्स, भयानक शृङ्गार, हास्य (का० मा०)	धैवत अंश मध्यम, पंचम बाहुल्य (का० मा०)
१८. नैषादी	करुण (का० मा०)	निषाद अंश (का० मा०)

बल एवं ओजस् के द्योतनार्थ काकलि नि तथा अन्तर ग का प्रयोग भरत के द्वारा निर्दिष्ट है—

काकल्यन्तरविहिता विशेषयुक्तास्तु बलवन्तः ॥ २९,१५ ॥

वाद्य-वादन के अन्तर्गत भी विशिष्ट रसनिष्पत्ति के लिये विशिष्ट स्वरों का प्राबल्य नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट है[1]। भरत के शब्दों में—

वाद्यप्रयोगविहितान् स्वरांश्चैव निबोधत ॥ २९,१६ ॥
हास्यशृङ्गारयोः कार्यौ स्वरौ मध्यमपंचमौ ।
षड्जर्षभौ च कर्तव्यौ वीररौद्राद्भुतेष्वथ ॥ २९,१७ ॥

भरत के गान्धर्वविषयक विवरण से स्पष्ट है कि भरतोक्त वाद्यवादन

१. २९, १६–१८

जातिगान का अनुगामी रहा है। वाद्यों के द्वारा की जाने वाली संगति का सिद्धान्त इसी कल्पना को विशद करता है। नाट्यशास्त्र के शब्दों में—

यं यं गाता स्वरं गच्छेत्तमातोद्यैः प्रयोजयेत्।
यतिपाणिसमायुक्तं गुरुलघ्वक्षरान्वितम् ॥ २९,३५ ॥

वीणा वादन का विधान गीतसंश्रय के रूप में विवेचित होने के कारण वाद्यगत रस निष्पति गीत के सिद्धान्तों पर आधारित है, यह मानना आपत्ति-जनक नहीं। प्रत्यक्ष जातिगान का विवेचन भी नाट्यशास्त्र में ध्रुवा गीतों के सन्दर्भ में किया गया है, जिस से स्पष्ट है कि भरतोक्त रस नाट्य के अन्तर्गत इन गीतों के स्थान, प्रसंग इत्यादि उपादानों पर निर्भर है। भरत के अनुसार रस की उद्भूति विभाव, अनुभाव, संचारी भाव तथा व्यभिचारी भावों के समुचित संयोग से होती है। रस निष्पत्ति के यह सभी उपादान नाट्य में ही सम्भव हो सकते है, नाट्यातिरिक्त विशुद्ध गान्धर्व में नहीं। गीत के अन्तर्गत आलम्बन विभाव की स्थिति दृष्टिगत हो सकती है किन्तु वाद्य संगीत में उस की स्थिति सम्भाव्य नहीं। वाद्यगत रस के विवेचन में भरत ने उन्हीं अंशों को रसोत्पादक माना है, जो जातियों में स्थान पाकर रसनिष्पादक सिद्ध होते हैं। अतः यही सम्भव है कि वाद्यों में विशिष्ट रसोत्पत्ति के लिये विशिष्ट जातियों का वादन आवश्यक है, जो नाट्यगत ध्रुवागीतों से सम्बद्ध होने के कारण रसानुभूति में सहायक हो। मध्यकालीन संगीत ग्रन्थकारों के अनुसार संगीत के सप्तस्वरों का विशिष्ट रस से नियत साहचर्य का सम्बन्ध है, जिस की परि-कल्पना नाट्यशास्त्र में उपलब्ध नहीं[1]।

संगीत में वर्ण एवं अलंकार :—

नाट्यशास्त्र के अनुसार वर्ण एवं अलंकारों का स्थान पाठ्य तथा गेय दोनों में समान रूप से महत्वपूर्ण है। भरतप्रणीत पाठ्य स्वर, ताल, लय आदि से विरहित नहीं। नाटकान्तर्गत पाठ्य के प्रभावशाली होने के लिये निम्न षट् गुणों का होना नितान्त आवश्यक माना गया है—सप्त स्वर, तीन स्थान, चार वर्ण, द्विविध काकु, षट् अलंकार तथा षट् अंग[2]। पाठ्यगत वर्ण उच्चारण की विविध भंगिमा से सम्बद्ध है तथा संगीत के वर्ण स्वरोच्चारण की क्रिया के द्योतक हैं। नाट्यशास्त्र के अनुसार उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा कम्पित ये

---

१. भरत की रसविषयक मान्यता का सांगोपांग विवरण इसी अध्याय के अन्त में 'भरत की रस-कल्पना' शीर्षक से प्रस्तुत किया गया है।

२. १९, पृ० २२१

चार पाठ्य वर्ण है, जिन का समीचीन संयोग विभिन्न रसों के लिये हेतुभूत सिद्ध होता है—

'तत्र हास्यश्रृङ्गारयोः स्वरितोदात्तैः वीररौद्राद्भुतेषूदात्तकम्पितैः, करुणवात्सल्यभयानकेषूदात्तस्वरितकम्पितैः वर्णैः पाठ्यमुपपादयेदिति'।[1]

पाठ्य के अलंकार छः बतलाये गये हैं, यथा, उच्च, दीप्त, मन्द्र, नीच, द्रुत तथा विलम्बित।[2]

संगीत के निम्न चार वर्ण नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट हैं—आरोही, अवरोही, स्थायी तथा संचारी। भरत के शब्दों में—

आरोही चावरोही च स्थायिसंचारिणौ तथा॥ २९,१९॥
वर्णाश्चत्वार एवैते अलंकारास्तदाश्रयाः।
आरोहन्ति स्वरा यत्र आरोहीति स भण्यते॥ २९,२०॥
यत्र चैवावरोहन्ति सोऽवरोहीतिसंज्ञितः।
स्थिरस्वराः समा यत्र स्थायिवर्णः स संज्ञितः॥ २९,२१॥
संचरन्ति स्वयं यत्र स संचारीतिसंज्ञितः॥

'वर्ण' भरत-संगीत की परिभाषिक संज्ञा है, जो गानक्रिया की द्योतक है तथा गीत के विविध अलंकारों के लिये आश्रयभूत हैं[3]।

मतंग की निम्न उक्ति से इसी बात का समर्थन होता है—'वर्णशब्देन गानमुच्यते'।[4] गान के प्रसंग में गीति के पदों को लेकर विविध स्वरगुच्छों से मण्डित करने की क्रिया होती है, यह तथ्य बुधजन-विदित है। स्वरालापों के माध्यम से गीति-पदों का आकर्षण-विकर्षण करना यही वर्ण का उद्देश्य बतलाया गया है—

पदं लक्षणसंयुक्तं यदा वर्णौ तु कर्षति।
तदा वर्णस्य निष्पति विज्ञेया स्वरसम्भवा॥ २९,२३॥

मतंग के निम्न उद्धरण में वर्ण सम्बन्धी यही मान्यता प्रतिभासित हो उठी है—

"ननु कथं वर्णनिष्पत्तिः। उच्यते। यदा हि स्वरा वर्णकर्षमाकर्षयन्ति गीतवशात् स्थायित्वेन संचारित्वेन आरोहित्वेन अवरोहित्वेन तदा वर्णस्य निष्पत्तिः। यथा षाज्जा स्थायि वर्णी (?)—सा सा सा। संचारी यथा।

---

१. वहीं पृ० २२२
२. १९, ४५, पृ० २२२
३. २८, २०—२४; बृह० पृ० ३४
४. बृह० पृ० ३३

धैवता । ध ध नी नी प धा आरोही नन्दयन्त्यां गा गा गा गा पापाधपमनि-रिरिरिरि पनिसधनिनिधा । अवरोही तत्रैव समनन्तरस्वरः पापापापापापापापा धनीमापागा गा गा गा गादिरप्येवं भवतीति (?)" ।[1]

वर्णों का विस्तार त्रिस्थानगुणगोचर अर्थात् मन्द्र, मध्य तथा तार तीनों स्थानों में बतलाया गया है—

शरीरस्वरसम्भूता त्रिस्थानगुणगोचरा ।[2]

स्थायी वर्ण वह है, जिसमें स्वरों की स्थिति स्थिर तथा सम रहती है—

स्थिरःस्वराः समा यत्र स्थायिवर्णः स संज्ञितः ।[3]

स्पष्ट है कि इसमें गान क्रिया एक स्वर की एक ही अवस्था तक सीमित रहती है। स्वर का गमक युक्त अथवा आन्दोलित प्रयोग इसके अन्तर्गत अभिप्रेत नहीं। एक ही स्वर का एक ही स्थान में गम्भीर उच्चारण इस वर्ण का वैशिष्ट्य माना जा सकता है। मतंग ने इसी तथ्य को निम्न शब्दों में स्पष्ट किया है—

'यत्र समाः स्वरा अनुपहतरूपास्तिष्ठन्ति तेभ्यो यद् गीतं वर्णाभिव्यक्तिकृत् यत्र पदे स वर्णः स्थायीत्युच्यते ।'[4]

प्रतीत होता है कि स्वर का एक ही स्थान पर अविकृत उच्चारण स्थायी वर्ण के अन्तर्गत अभिप्रेत है। इस वर्ण के दो रूप सम्भाव्य हो सकते हैं—(१) किसी स्वर का दीर्घकाल तक गम्भीर उच्चारण, जैसे सा ऽ ऽ ऽ ऽ, म ऽ ऽ ऽ, प ऽ ऽ ऽ, इत्यादि और (२), किसी स्वर की पुनरावृत्ति, जैसे सा सा, म म, प प इत्यादि[5]। इसके अनुसार एक ही स्वर का दो स्थानों में उच्चारण स्थायी वर्ण के अन्तर्गत नहीं आ सकता। जैसे सा सां अथवा सा सां। ऐसे स्वरों का स्वरूप क्रमशः आरोही तथा अवरोही वर्ण में रखा जा सकता है।

आरोही तथा अवरोही वर्ण के अन्तर्गत क्रमशः स्वरों का आरोहण तथा अवरोहण समाविष्ट है (२९, २०–२१)। मतंग ने स्पष्ट किया है कि स्वरों का आरोहण, चाहे नियमित क्रम से हो अथवा क्रमविपर्यास से हो, आरोही वर्ण कहलाता है, जैसे सा रि ग, सा ग प, सा म प इत्यादि। मतंग के शब्दों में—

---

१. वहीं, पृ० ३४

२. ना० शा० २९, २२; बृह० पृ० ३४

३. ना० शा० २९, २१

४. बृह० पृ० ३३

५. मध्यमा जाति के अन्तर्गत स्थायी वर्ण का निम्न उदाहरण मतंग ने दिया है—'मध्यमाया तु मा मा मा मा' (बृह० पृ० ३३)।

'यत्र गेयाः स्वरा आरोहन्ति एकैकशः सान्तरा वा स वर्ण आरोहीत्युच्यते'[1]।

उपर्युक्त की भाँति स्वरों का अवरोहण, चाहे जिस क्रम से हो, अवरोही वर्ण कहलाता है, यथा, म ग रि सा, म रि सा, म सा इत्यादि। मतंग के शब्दों में—

'परस्परैकान्तरद्व्यन्तरस्वरावरोहादवरोहीति।'[2]

संचारी वर्ण वह है जिस में स्वरों का परस्पर संचरण दृष्टिगत होता है (२९, २१)। यह संचरण सान्तर तथा क्रमबद्ध दोनों रूपों में हो सकता है। सान्तर वह है जिस में मध्यवर्ती स्वरों को वर्ण से वर्ज्य किया जाता है। मतंग के शब्दों में—

'यत्र गीते संचरन्ति स्वराः परस्परमन्तसहिता एकैकशो वा स संचारी वर्ण उच्यते।'[3]

स्पष्ट है कि इस वर्ण के अन्तर्गत स्थायी, आरोही तथा अवरोही तीनों वर्णों का प्रयोग सम्मिलित रूप से हुआ करता है। इस वर्ण के उदाहरण-स्वरूप निम्न वर्ण प्रस्तुत किये जा सकते हैं—सा रि ग रि सा सा, म प ध प म म, ध नि सां नि ध ध इत्यादि।

जैसा ऊपर निवेदित किया जा चुका है, गीत के अलंकारों का निर्माण इन्हीं चतुर्विध वर्णों पर आधारित है। भरत का स्पष्ट कथन है कि इन अलंकारों का प्रयोग यथायोग्य रूप से विभिन्न वर्णों के अनुकूल किया जाना चाहिये—

गीतालंकाराणां करणविधिरयं यथावदुपदिष्टः।
एभिरलंकर्तव्या गीतिर्वर्णाविरोधेन॥ २९, ७३॥

अलंकारों की उपयुक्तता के सम्बन्ध में भरत कहते हैं—

शशिना रहितेव निशा विजलेव नदी लता विपुष्पेव।
अविभूषितेव च स्त्री गीतिरलंकारहीना स्यात्॥ २९,७५॥

अर्थात् अलंकारों से विरहित गीत वैसा ही श्रीहीन प्रतीत होता है, जैसी चन्द्रमा से रहित निशा, जल से विहीन नदी, पुष्प से विरहित लता तथा अलंकारों से विहीन स्त्री।

इन अलंकारों की अलंकरण–शक्ति उनके सानुपात प्रयोग में है, इस सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र का निम्न अभिप्राय मननीय है—

स्थाने चालंकारं कुर्वन्ति ह्युरसि काञ्चिकां बध्येत्।
अतिबहवोऽलंकारा वर्णविहीनास्तु योक्तव्याः॥ २९,७४॥

---

१. वहीं

२. वहीं, पृ० ३४

३. वहीं, पृ० ३३

अर्थात् कटि में पहनने योग्य कांची वक्षस्थल पर नहीं पहनी जाती, उसी प्रकार अलंकारों का प्रयोग गीति में अनुचित स्थान एवं प्रमाण में नहीं किया जा सकता। ध्रुवा गीतों का उद्देश्य नाट्य के अन्तर्गत सफल भावाभिव्यक्ति करना है, अतएव प्रसंग के अनुकूल अलंकारों का प्रयोग ही वहाँ उचित सिद्ध होता है—

यस्मादर्थानुरूपा हि ध्रुवा कार्यार्थदर्शिका।
वर्णानां तु पुनः कार्यं कृशत्वं पदसंश्रयम् ॥ २९, ४० ॥

अलंकारों के अन्तर्गत निम्न का परिगणन नाट्यशास्त्र में हुआ है—

प्रसन्नादि, प्रसन्नान्त, प्रसन्नाद्यन्त, प्रसन्नमध्य, सम, निवृत्त, प्रवृत्त, कम्पित, कुहर, रैचितव्य अथवा रेचित, प्रेखोलितक, मन्द्रतारप्रसन्न, तारमन्द्रप्रसन्न, प्रसाद अथवा प्रस्तार, उद्वाहित, अवलोकित अथवा उपलोलक, निष्कूजितक, उद्गीत, ह्लादमान, रंजित, आवर्तक, परिवर्त अथवा परावृत्त, उद्घट्टित, आक्षिप्त, सम्प्रदान अथवा सम्प्रदाय, हसित, हुंकार, सन्धि-प्रच्छादन, विधून अथवा विधूम, गात्रवर्ण।[1]

इन अलंकारों का प्रयोग प्राचीन सप्त गीतों में विभिन्न वर्णों के आधार पर किया जाता रहा है परन्तु नाट्यान्तर्गत ध्रुवा गीतों में उनमें से सभी का प्रयोग अभीष्ट नहीं—

सप्तरूपगता ज्ञेया अलंकारास्त्विमे बुधैः।
नेष्यन्ते हि ध्रुवास्वेते जातिवर्णप्रकर्षणात ॥ २९,३८ ॥

गीतालंकारों के विवेचन में भरत ने उन्हीं अलंकारों के लक्षण प्रस्तुत किये हैं, जो उनके समकालीन संगीत जगत् में प्रचलित थे। भरतप्रणीत अलंकारों के अन्तर्गत निम्न अलंकार सभी वर्णों में प्रयुक्त किये जाते रहे हैं—प्रसन्नादि, प्रसन्नान्त, प्रसन्नाद्यन्त, प्रसन्नमध्य, बिन्दु, कम्पित, रैचित, तारमन्द्रप्रसन्न, मन्द्रतारप्रसन्न, प्रेंखोलित, सम, निवृत्त, प्रवृत्त, प्रसाद, अवलोक तथा वेणु[2]।

अलंकारों के लक्षण-निरूपण में भरत ने स्थायी वर्ण के अतिरिक्त अन्य तीन वर्णों के सम्बन्ध में अलंकारों की चरितार्थता स्पष्ट की है, जो उनके स्वर-रूप को समझने में सहायक हो सकती है—

स्थायिवर्णादृते त्वन्ये सर्ववर्णाः प्रयोगिनः ॥ २९, ४४ ॥

यहाँ स्थायिवर्णाश्रित अलंकारों के सम्बन्ध में किंचित निवेदन अभीष्ट है। भरत के अनुसार निम्न सात अलंकार स्थायी वर्ण पर आधारित हैं—प्रसन्नादि, प्रसन्नान्त, प्रसन्नाद्यन्त, प्रसन्न, सम, प्रस्तार तथा प्रसाद (२९, ३१–३२)। यहाँ

---

१. २९, २५–३०

२. वहीं, ४१–४४

प्रश्न उपस्थित होता है कि स्थायी वर्ण में अविकृत रूप से प्रयुक्त किये जाने वाले एक ही स्वर में ये अलंकार कैसे निर्मित किये जा सकते हैं। इसके सम्बन्ध में प्रतीत यही होता है कि ये सभी अलंकार एक ही स्वर के गायन अथवा उच्चारण की विभिन्न प्रणालियाँ हैं। आधुनिक रागगायन में आरम्भिक स्वर (Tonic Note) को लगाते समय इसी प्रणालि का अवलम्ब किया जाता है। भरत के अनुसार प्रसन्नादि वह है, जिस में स्वर को प्रसन्न रूप में अर्थात् कव्य स्वर में गाकर क्रमशः दीप्त किया जाता है। इसी के विपरीत स्वर का दीप्त उच्चारण आरम्भ में कर बाद में उसी ध्वनि को प्रशमित करना 'प्रसन्नान्त' कहलाता है। स्वर-ध्वनि को आदि तथा अन्त में प्रसन्न रूप में गाकर मध्य में दीप्त करना 'प्रसन्नाद्यन्त' कहलाता है। इसके विपरीत नाद का गान पृथुल उच्चारण से आरम्भ कर बाद में उसको लघु रूप से गाना और अन्त में पुनः पृथुल करना 'प्रसन्नमध्य' कहलाता है। जहाँ स्वर-ध्वनि को गुरु अथवा लघु न कर आद्योपान्त एक ही ध्वनि में उच्चरित किया जाता है, वह 'सम' कहलाता है—

सर्वसाम्यात् समो ज्ञेयः स्थिरस्त्वेकस्वरोऽपि यः ॥ २९,४७ ॥

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि स्थायी वर्ण के इन अलंकारों का सम्बन्ध ध्वनि के छोटेपन तथा बड़प्पन से है, न कि स्वर की उच्चनीचता (Pitch) से। एक ही ध्वनि (Magnitude) को उच्च तथा नीच न करते हुए लघु तथा पृथु कण्ठ से गाना संगीतज्ञों के लिए अनुभवजन्य तथ्य है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार इन अलंकारों के लक्षण निम्नानुसार है—

१. प्रसन्नादि—अलंकार यह क्रमशः दीप्त होता हैं।[1]

२. प्रसन्नान्त—उपर्युक्त अलंकार के विपरीत यह व्यस्त रूप से उच्चरित होता है।[2]

३. प्रसन्नाद्यन्तः—यह अलंकार आदि तथा अन्त में प्रशमित होता है।

४. प्रसन्नमध्य, वह है जो मध्य में प्रसन्न होता है।

५. सम, वह है जो एक ही स्वर पर समान रूप से स्थिर होता है।

६. बिन्दु, वह है जो एक कलावधि तक तारस्वर को स्पर्श कर पुनः स्वस्थान पर स्थिर हो जाता है।

७. निवृत्त और प्रवृत्त अलंकारों में मन्दगति से ऊपर जाकर लौटने की क्रिया होती है।

८. वेणु अलंकार वह है जिस की लय आक्रीडित होती है।

---

१. २९, ४५

२. २९, ४६

९. कुहर, वह है जिस के अन्तर्गत कण्ठ में पवन को निरुद्ध किया जाता है।

१०. रेचित अलंकार में कुहर के सदृश पवन निरोध होता है किन्तु वह शिरोगत होता है तथा स्वर का कम्पन त्रिकला तक किया जाता है।

११. कम्पित, वह है जिस में तीन कला तक कम्पन कर उरस में वायुनिरोध किया जाता है।

१० प्रेंखोलित अलंकार गतागतप्रवृत होता है अर्थात् अलंकार की गति झूले की भांति ऊपर तथा नीचे दोनों ओर जाने की होती है।

१३. तारमन्द्रप्रसन्नः—तार से आरम्भ कर शनैः शनैः मन्द्र से होते हुए मध्य स्थान तक पहुँचने से यह अलंकार निष्पन्न होता है।

१४. मन्द्रतारप्रसन्न :—उरोगत मन्द्र से आरम्भ कर तार को स्पर्श करके के बाद स्वर को प्रशमित करने से अर्थात् मध्यस्थानीय स्वर का उच्चारण करने से यह अलंकार होता है।

१५. प्रस्वार अथवा प्रस्तार :—इस अलंकार में एक-एक स्वर से क्रमशः आरोह करने की क्रिया होती है।

१६. प्रसाद :—उपर्युक्त प्रस्वार के विपरीत इसमें निवृत्त अथवा अवरोहण की क्रिया शनैः शनैः की जाती है।

१७. उद्घाहित :—दो निकटवर्ती स्वरों में से एक स्वर का एककला तक आरोहण तथा वहीं से एककला की अवधि में मूलस्वर तक अवरोहण करने से यह अलंकार निर्मित होता है[1]।

१८. अवलोकित :—उपर्युक्त उद्घाहित अलंकार की जब द्विवार आवृत्ति होती है, यह अलंकार सिद्ध होता है।

१९. क्रम :—एक, दो या तीन स्वरों का क्रम से आरोह तथा अवरोह इस अलंकार के लिये कारण होता है।

२०. निष्कूजित :—एक-एक स्वरान्तर को लाँघ कर आरोह करने से यह अलंकार निष्पन्न होता है। मतंग के अनुसार कोहल की इस अलंकार के सम्बन्ध में यही मान्यता है—'कोहलमते च एकान्तरस्वरारोहान्निष्कूजितः' (बृह० पृ० ३९)।

२१. ह्लादमान :—निष्कूजित अलंकार के क्रम का निर्वाह करते हुए न्यूनान्न्यून दो स्वरों से लेकर छः स्वरों तक आरोहण किया जाता है।

---

१. २९, ४६—५५

२२. रंजित :—दो स्वरों में से सन्निकट एवं पार्श्ववर्ती स्वर पर दो कलाओं तक स्थिर होकर अर्धकला की अवधि में तीसरे स्वर पर आरोहण करना तथा इसी क्रिया से मूल स्वर तक पुनः अवरोह करना।

२३. आवर्तक :—सन्निकट चार स्वरों से क्रमशः अथवा सान्तर संचार करना। क्रमशः किया जाने वाला संचार अष्ट कलावधि में किया जाता है तथा सान्तर संचार चार कलाओं में किया जाता है।

२४. परिवर्तक :—तीन स्वरों का आरोह कर एक स्वरान्तर का लंघन करना और वहाँ से पुनः लौट जाना। यह क्रिया अष्ट कलावधि में सम्पादित की जाती है।[1]

२५. उद्‌घटित :—इस अलंकार की भरतोक्त परिभाषा निम्नलिखित है, जो नितान्त संदिग्ध प्रतीत होती है—

यस्य स्वरावतीतौ यथापरं ह्यन्तरस्वरो भवति।
एककलं चैव तथा स भवेदुद्‌घटितो नित्यम्॥[2] २९,६३॥

मतंग के अनुसार इसके आरोह में तीसरे स्वर को वर्ज्य कर अग्रिम दो स्वरों तक आरोह किया जाता है तथा उसी क्रम से अवरोह किया जाता है, जैसे सा रि म प, प म रि सा; रि ग प ध, ध प ग रि।[3]

२६. आक्षिप्तक :—यह अलंकार तीन स्वरों के समूह से बनता है तथा इसकी कालावधि षट् कला होती है। प्रथम स्वर को एक कला की अवधि में गाकर अन्य दो स्वरों को छः कलाओं की अवधि में गाया जाता है।

२७. सम्प्रदाय :—यह अलङ्कार चार स्वरों के समूह से बनता है तथा स्वरों की गति एक-एक स्वरान्तर को छोड़कर प्रवृत होती हैं।

२८. हसित :—इसकी भरतोक्त परिभाषा निम्नांकित है, जो संदिग्ध प्रतीत होती है—

द्विरपि विकलं गदितं हिंसितमिव चारितं तथा हसितम्।
समनन्तरं कृतं तत्तज्ज्ञैराचिह्नमित्येव॥

---

१. २९, ५६–६२
२. २९, ६३
३. बृह० पृ० ४०

उपर्युक्त से केवल यही स्पष्ट हो पाता है कि यह अलंकार आक्षिप्त अलंकार का विभेद मात्र है।

२९. हुंकार :—यह हसित अलंकार का विभेद मात्र है, जिस में तीन या चार सन्निकट स्वरों का आरोह एककला की अवधि में किया जाता है।

३०. सन्धिप्रच्छादन :—सन्निकट स्वर पर आरोहण कर चतुष्कल अवधि में अवरोह करने से यह अलंकार बनता है। इसकी भरतोक्त परिभाषा निम्नलिखित है—

स्थानानंतरमारुह्य प्रत्येति ततश्चतुष्कलं क्रमशः।
नोर्ध्वपरिक्षेपः स्यात् सन्धिः प्रच्छादनो नाम॥

३१. विधून :—इसकी भरतोक्त परिभाषा निम्नानुसार है—

आदौ पदमुत्पाद्य तु यत्र स्याद्विस्वरे लघुनि वर्णे।
समनन्तरमारोहत्येककलं तद्विधूनं तु॥

मतंग की व्याख्यानुसार प्रतीत होता है कि एक स्वर को दीर्घकाल तक उच्चरित कर उसके परवर्ती दो स्वरों का द्रुत उच्चारण कर आरोह करने से यह अलंकार बनता है, जैसे सा सा सा सा, रिग (द्र० बृह० पृ० ४२)।

३२. उद्गीत :—आरोह तथा अवरोह दोनों में प्रस्वार नामक अलंकार की क्रिया करने से यह अलंकार बनता है[1]।

३३. गात्रवर्ण :—इसकी भरतोक्त परिभाषा निम्नलिखित है—

ओंकारवदारोहेदनन्तरं तु स्वरं कलान्तरयोः।
द्वौ द्वौ प्रकम्प्यमानौ स्वरौ ततश्च प्रसन्नौ द्वौ॥ २९, ७१॥

तात्पर्य यह कि एकार तथा ओंकार से स्वरों का आरोह तथा अवरोह करने की क्रिया इसमें की जाती है। इसकी विशेषता इसी में है कि प्रथम दो स्वरों को कम्पित रूप में गाकर उसके पश्चात्वर्ती दो स्वरों को प्रसन्न अर्थात् सम रूप में गाया जाता है[2]।

भरतोक्त अलंकारों का स्थायी आदि चतुर्विध वर्णों से सम्बन्ध निम्नांकित तालिका से स्पष्ट होगा—

---

१. २९, ६४–७०

२. २९, ७१–७२; मतंग की बृहद्देशी (प्रायः ६–७ शताब्दि) में अलंकारों के लक्षण तथा स्वरूप उपलब्ध हैं। समय की दृष्टि से बहुत परवर्ती होते हुए भरतसाम्प्रदायिक होने के कारण उनके अलंकार-रूप भरत का बोध कराने के लिये साहाय्यप्रद हैं।

स्थायी	आरोही	अवरोही	संचारी
१ प्रसन्नादि	१ निष्कूजित	१ विधूम	१ मन्द्रतारप्रसन्न
२ प्रसन्नान्त	२ हुंकार	२ गात्रवर्ण	२ बिन्दु
३ प्रसन्नाद्यन्त	३ हसित	३ उद्वाहित	३ प्रेंखोलित
४ प्रसन्न अथवा प्रसन्नमध्य	४ बिन्दु	४ उद्गीत	४ तारमन्द्रप्रसन्न
५ सम	५ रेचित	५ वेणु	५ निवृत्त
६ प्रस्तार	६ प्रेंखोलित		६ प्रवृत्त अथवा प्रवर्तक
७ प्रसाद	७ आक्षिप्त		७ कुहर
	८ विधम		८ वेणु
	९ उद्घटित		९ रंजित
	१० ह्लादमान		१० अवलोकित
	११ सम्प्रदान		११ आवर्तक
	१२ सन्धिप्रच्छादन		१२ परावृत्त
	१३ प्रसन्नादि		
	१४ प्रसन्नान्त		

भरतकालीन गीतियाँ

भरत के अनुसार गीतियों का अन्तर्भाव गान्धर्व के अन्तर्गत है।[1]

भरत के अनुसार ये गीतियाँ नाट्य के अतिरिक्त गान्धर्व में भी गायी जाती रही हैं। (२९,८०), संगीतरत्नाकरकार के अनुसार वर्ण, पद तथा लय से समन्वित गानक्रिया गीति कहलाती है—

वर्णाद्यलंकृता गानक्रिया पदलयान्विता।
गीतिरित्युच्यते सा च बुधैरुक्ता चतर्विधा ॥[2]

परम्परा के अनुसार ये गीतियाँ चतुर्विध रही है—१ मागधी, २. अर्धमागधी, ३. सम्भाविता, ४. पृथुला (२९,७७)। इनकी भरतोक्त परिभाषा निम्नानुसार है–

भिन्नवृत्तिर्प्रगीता या सा गीतिर्मागधी मता।
अर्धकालनिवृत्ता च विज्ञेया त्वर्धमागधी ॥ २९,७८ ॥
सम्भाविता च विज्ञेया गुर्वक्षरससन्विता।
लघ्वक्षरकृता नित्या पृथुला सम्प्रकीर्तिता ॥ २९,७९ ॥

स्पष्ट है कि भरत के अनुसार भिन्न वृत्ति में गायी जाने वाली गीति मागधी कहलाती थी। 'वृत्ति' संगीत का पारिभाषिक शब्द है, जिसका तात्पर्य गायन

१. २८, १२–१४

२. स्वराध्याय, पृ० २८०

तथा वादन की विशिष्ट शैली से है।[1] वृत्तियाँ त्रिविध बतलाई गई है—१. चित्रा, २. वार्तिक तथा ३. दक्षिणा। चित्रा वृत्ति में गान का प्राधान्य तथा वाद्य का अपेक्षाकृत संक्षेप होता है। द्रुत लय, सम यति तथा अनागत ग्रह इसकी विशेषताएँ हैं। वार्तिक वृति में गीत तथा वादित्र का समान स्थान होता है तथा मध्य लय, स्रोतोगता यति तथा द्विकल ताल इस शैली की विशेषतायें हैं। दक्षिणा नामक तीसरी वृत्ति में विलम्बित लय, गोपुच्छा यति तथा चतुष्कल ताल का प्राधान्य रहता है। नाट्यशास्त्र के शब्दों में—

"तिस्रो गतिवृत्तयः प्राधान्येन ग्राह्याः चित्रावृत्तिर्दक्षिणा चेति। तासां वाद्य-ताललयगीतियतिमार्गप्रधानानि यथास्वं व्यंजनानि भवन्ति। तत्र चित्रायां संक्षिप्तवाद्यं तालद्रुतलयसमा यतिः अनागतग्रहाणां प्राधान्यम्। तथा वृत्तौ गीतिवादित्रद्विकलतालमध्यलयस्रोतोगता यतिः। समग्रमार्गाणां प्राधान्यम्। दक्षिणायां गीतिचतुष्कलतालविलम्बितलयगोपुच्छा यतिः अतीतमाग्रहमार्गाणां प्राधान्यम्"।[2]

जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, मागधी नामक गीति से तात्पर्य ऐसी गीत-शैली से है जो भिन्न नामक वृत्ति में गायी जाती थी। भिन्न वृत्ति होने का तात्पर्य यह दिखाई देता है कि इस गीत-शैली का गान तीन विभिन्न लय-खण्डों में किया जाता रहा अर्थात् गीत के प्रथम खण्ड का गान विलम्बित लय में, द्वितीय खण्ड का गान मध्य लय में तथा तृतीय एवं अन्तिम खण्ड का गान द्रुत लय में किया जाता था। संगीतरत्नाकरकार के निम्न शब्दों में इसी प्रचार का स्पष्ट संकेत हुआ है—

गीत्वा कलायामाद्यायां विलम्बितलयं पदम्।
द्वितीयायां मध्यलयं तत्पदान्तरसंयुतम्॥
सतृतीयपदे ते च तृतीयस्या द्रुते लये।
इति त्रिरावृतपदा मागधीं जगदुर्बुधाः॥[3]

मागधी से अपेक्षाकृत अर्धकाल में अर्थात् द्रुत लय में गायी जाने वाली गीति अर्धमागधी कहलाती है तथा गुरु एवं लघु अक्षरों से युक्त गीति क्रमशः सम्भाविता एवं पृथुला कहलाती है। दत्तिल के शब्दों में—

तत्र स्यान्मागधी चित्रै पदैः समनिवृत्तकैः।
अर्धकालनिवृत्तैस्तु वर्णाद्या चार्धमागधी॥ २३८॥

---

१. २९, पृ० ३३८

२. पृ० ३३८

३. स्वरा० पृ० २८०

वृत्तौ लघ्वक्षरप्राया गीतिः सम्भाविता स्मृता ।
गुर्वाक्षरैस्तु पृथुला वर्णाढ्या दक्षिणे सदा ॥ २३९ ॥
मार्गेषु ता यथायोगं चतस्रो गीतयः स्मृताः ।

पुष्कर वाद्य के विवरण में भरत ने त्रिसंयोग के नाम से विविध तालाक्षरों के महत्वपूर्ण स्थान का संकेत किया है[1] जिस में गुरुसंचय अर्थात् गुरु तालाक्षरों का संयोग विलम्बित गति के लिये अनुकूल माना है तथा लघु संचय अर्थात् लघु अक्षरों का प्रयोग द्रुत लय के अनुकूल निर्दिष्ट है ।[2] संगीतरत्नाकर के अनुसार अर्धमागधी गीत–शैली के निम्न दो प्रकार हैं—(१) प्रथम प्रकार के अन्तर्गत गीति के प्रथम खण्ड अथवा कला में मागधी के समान पदविन्यास होता है, दूसरे खण्ड में प्रथम पद के अन्त्य अक्षर का पुनरुच्चारण कर अग्रिम पद का उच्चारण किया जाता है तथा तीसरी कला में द्वितीय पद के अन्त्याक्षर को पुनरुच्चारित कर अन्तिम पद लिया जाता है ।[3] द्वितीय प्रकार में पदों की केवल द्विवार आवृत्ति की जाती है[4] । संगीतरत्नाकर में उपलब्ध निम्नांकित उदाहरणों से स्पष्ट होगा कि ये गीतियां स्वर तथा पद के विभिन्न संयोग तथा लय–वैचित्र्य पर आधारित रही हैं ।

१ मागधी

गीतिखण्ड	गीति–कला								लय
१	१	२	३	४	५	६	७	८	
	मा	०	गा	०	मा	०	धा	०	विलम्बित
	दे	०	०	०	वं	०	०	०	,,
२	ध	नि	ध	नि	सं	नि	ध	नि	मध्य
	दे	०	बं	०	रु	०	द्रं	०	,,
३	रि	ग	रि	ग	म	ग	रि	स	द्रुत
	दे	वं	रु	द्रं	बं	०	दे	०	,,

१. अ० ३३, पृ० ४३२
२. ३३, पृ० ४४१; द्र० बृह० पृ० ४९–५३
३. स्वरा० पृ० २८२
४. सं० र० पृ० २८३ पर पाठभेद

२ अर्धमागधी अर्थात् औड्मागधी

गीतिखण्ड	गीति-कला							
१	१	२	३	४	५	६	७	८
	स	०	रि	०	ग	०	रि	०
	दे	०	०	०	वं	०	०	०
२	स	०	स	०	ध	०	नि	०
	वं	०	रु	०	द्रं	०	०	०
३	प	०	ध	०	प	०	म	०
	द्रं	०	वं	०	दे	०	०	०

३ सम्भाविता

गीतिखण्ड	गीति—कला			
१	धा	मा	मा	रिग
	भ	०	त्कृया	०
२	री	गा	सा	सा
	दे	०	वं	०
३	नि	धा	सा	नी
	रु	०	द्रं	०
४	धा	नी	मा	मा
	वं	०	दे	०

४ पृथुला

गीतिखण्ड	गीति—कला			
१	मा	गा	री	गा
	सु	र	न	त
२	सा	धनि	धा	धा
	ह	र	प	द
३	धा	सा	धा	नी
	यु	ग	लं	०
४	प	निधप	मा	मा
	प्र	ण	म	त

भरतोक्त प्राचीन गीत

ध्रुवागीतों के अतिरिक्त नाट्यशास्त्र में आसारित, वर्धमान आदि अन्य प्राचीन गीतों का सविस्तर विवरण प्रस्तुत है। तालविभाग तथा अक्षरविन्यास के अनुसार आसारित आदि गीतों के निम्न चार प्रकार बताए गए हैं—कनिष्ठ, लयान्तर, मध्यम तथा ज्येष्ठ[1]। इन चारों प्रकारों का गायन निम्न चार अङ्गों से किया जाता रहा है—मुख, प्रतिमुख, देह तथा संहरण[2]। इन्हीं अङ्गों को क्रमशः उपोहन, युग्म तथा ओज कहा जाता था—

> उपोहनं मुखं तेषां युग्मं प्रतिमुखं भवेत्।
> ओजः शरीरसंहारावेवमंगविधिक्रमः।
> इत्येवं चतुरंगानि ज्ञेयान्यासारितानि तु ॥ ३१,१९४ ॥

'ज्येष्ठ' आसारित में उपोहन अङ्ग आठ कला का होता है, 'मध्यम' आसारित में सात का, 'लयान्तर' में छः का तथा 'कनिष्ठ' में पाँच कला का होता है।[3]

अक्षर-संख्या के अनुसार आसारित गीत के तीन भेद माने गए हैं—यथाक्षर, द्विसंख्यात तथा त्रिसंख्यात। प्रथम में गान गीत के वर्णों के सर्वथा अनुकूल किया जाता है, अक्षरों की पुनरावृत्ति के लिए उसमें कथमपि स्थान नहीं। अन्य दो प्रकारों में वर्णों की निवृत्ति का विधान है अर्थात् प्रथम गाये गए वर्णों का आवृत्ति पूर्वक गान इनमें विहित है। यह आवृत्ति 'द्विसंख्यात' में दो बार तथा 'त्रिसंख्यात' में तीन बार की जाती है। इनका गान विभिन्न कलाओं तथा मार्गों में किए जाने का विधान है। उदाहरण के लिए, यथाक्षर का गान द्विकल एवं चित्र मार्ग में, द्विसंख्यात का गान चतुष्कल वार्तिक में तथा त्रिसंख्यात का गान अष्टकल दक्षिण मार्ग में किया जाना चाहिए, ऐसा नाट्यशास्त्र का स्पष्ट संकेत है (३१, २०८–२१८)। वर्णों की आवृत्ति का उद्देश्य गीत का अलंकरण रहा है तथा ऐसी आवृत्ति वस्तु के आदि, मध्य तथा अन्त में आवश्यकतानुसार किया जाता रहा है।[4]

आसारित के सदृश वर्धमान गीतों का वैशिष्ट्य वर्ण तथा तालाक्षरों के सम्यक् संयोग में निहित है।[5] भरत के अनुसार दोनों में बीजांकुरवत् कार्यकारण

---

१. इनके उदाहरणों के लिए द्र० ना० शा० ३१,१९९,३१,२०१, ३१,२०४ तथा ३१,२०७।

२. ३१, १९३

२. ३१, १९५–९८

४. ३१, २२१–२३

५. ३१, २२४

का सम्बन्ध है। आसारित के अन्तर्गत ताल, लय, वाद्य, पात्र तथा अभिनय की वृद्धि कर देने से 'वर्धमान' गीतों की निष्पत्ति होती है, ऐसा भरत का कथन है (३१,२६३–२६४)। इन गीतों के विभिन्न खण्डों के लिए 'कण्डिका' संज्ञा थी। अक्षरक्रम तथा लयवैचित्र्य के अनुसार इन चार खण्डों का निर्माण किया जाता था। इन कण्डिकाओं के नाम क्रमशः निम्नानुसार है—विशाला, संगता, सुनन्दा तथा सुमुखी। विशाला नामक प्रथम खण्ड नव कला अर्थात् अठारह लघु अक्षरों से संयुक्त होता था, संगता नामक द्वितीय खण्ड अष्ट कला अर्थात् सोलह लघु अक्षरों का होता था, तृतीय अर्थात् सुनन्दा नामक खण्ड षोडश कला अर्थात् बत्तीस लघु अक्षरों में गाया जाता था तथा सुमुखी नामक चतुर्थ खण्ड का गान बत्तीस कला अर्थात् चौंसठ लघु अक्षरों से गाया जाता था (वही ३१,२३१–२३२)। प्रसंगानुसार इन खण्डों का क्रम परिर्वातित किया जा सकता था (वहीं, २४७–२४९)।

इन गीतों के विभिन्न खण्डों में उपोहन की कला तथा विधि विभिन्न हुआ हुआ करती थी। विशाला नामक खण्ड में आरम्भिक उपोहन पाँच कला तक किया जाता था, संगता के लिए छः कला तक, सुनन्दा के लिए सात कला तक तथा अन्तिम अर्थात् सुमुखी नामक खण्ड के लिए आठ कला तक किया जाता था (वहीं २३५–२३६)। इन गीतों में उपोहन अङ्ग को द्विद्विर गाने की प्रथा थी (वहीं, २४५)।

भरत के अनुसार इन गीतों का उद्भव शिव के ताण्डव नृत्य के प्रसंग पर हुआ है तथा इनका पिण्डीबन्ध नामक नृत्याकृतियों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन गीतों का लक्ष्य तथा लक्षण उभय अङ्गों से युक्त शास्त्र रहा है, ऐसा संकेत नाट्यशास्त्र में उपलब्ध है (वहीं, २२५–२३०)।

जैसा ऊपर देखा जा चुका है, आसारित आदि प्राचीन गीतकों में 'उपोहन' एक महत्वपूर्ण अंग रहा है। उपोहन के सम्बन्ध में भरत की परिभाषा निम्नांकित है—

> उपोह्यन्ते स्वरा यस्मात् तस्मात् गीतं प्रवर्तते।
> तस्मादुपोहनं ज्ञेयं स्थायिस्वरसमाश्रयम् ॥ ३१,२४१ ॥
> अथवोपोह्यते यस्मात्प्रयोगः सूचनादिभिः।
> तस्मादुपोहनं ह्येतद्गानाभाण्डसमाश्रयम् ॥ ३१,२४२[1] ॥

---

१. ना० शा० के का० मा० संस्करण में इस श्लोक की द्वितीय पंक्ति का निम्न पाठभेद पाया जाता है—

तस्मादुपोहनं प्रोक्तं शुष्काक्षरसमन्वितम् ॥ ३१,१२५ ॥

अर्थात् उपोहन वह है जिससे स्वरों के उपवहन अर्थात् परिशीलन के पश्चात् गीत का प्रवर्तन होता है और जो स्थायी स्वर-वर्ण को लेकर प्रचलित होता है। उपोहन नाट्य का वह खण्ड है जिसमें आगे किए जाने वाले नाट्य प्रयोग की सूचना गीत तथा वाद्य की ध्वनि के द्वारा दी जाती है।

उपोहन में प्रयुक्त होने वाले अक्षरों को 'ब्रह्मगीत' कहकर भरत ने उसका निम्न उदाहरण प्रस्तुत किया है—

"अव्दलन्चन्जगति लवतदिधि अणुं एतत् वाले ज्ञेयं कुत्सवृद्धं धयाअगति-दितदित गिसलवृद्धमध्येति चावृद्धं भवज्येष्ठम्"

(३१,१९९)।

वर्धमान गीत के सुनन्दा नामक खण्ड में की जाने वाली उपोहन-गीति निम्नानुसार है—

"क्रन्दुं जगति अवलितकदिगिति श्रलकुचलति विभो"।

(का० मा० पृ० ४९९)

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निम्न अनुमान 'उपोहन' के सम्बन्ध में किया जा सकता है। उपोहन गीत का प्रारम्भिक अंग है, जिसमें एक-एक स्वर को लेकर शुष्क अर्थात् अर्थहीन शब्दों का परिशीलनपूर्वक गान किया जाता था (३१, १२५ का० मा०)। इसके अनन्तर मद्रक, अपरान्तक जैसे कतिपय गीतों में 'प्रत्युपोहन' नामक एक अन्य अङ्ग होता था, जो सम्भवतः आधुनिक संगीत के "जोड आलाप" अर्थात् द्विगुण आलाप के सदृश था (३१,३१६[१])। इन अङ्गों के प्रवर्तन के लिए निम्न दो उद्देश्यों की परिकल्पना सम्भाव्य है—एक यह कि गीत के प्रमुख खण्डों को गाने से पूर्व कण्ठ-स्वर को अपने कार्य के लिये पूर्णतः सक्षम बनाया जाय तथा दूसरा यह कि नाट्यान्तर्गत गीतों के द्वारा आगामी प्रयोग की सूचना पहले ही प्रस्तुत की जाय। भरतोक्त विवरण से स्पष्ट है कि यह भाग विशिष्ट अक्षर एवं तालक्रिया से निबद्ध रहता था। आधुनिक संगीत में गीतगान के पूर्व रेनैना, तनना, तनोम्, नोम्, तननन आदि अर्थहीन शब्दों का लययुक्त प्रयोग आरम्भिक आलापों के रूप में किया जाता है, जिनका उद्देश्य स्पष्टतः गाये जाने वाले राग-रूप का आभास देना है।

उपर्युक्त गीतों के अतिरिक्त "सप्तरूप' के नाम से प्रख्यात प्राचीन गीतकों का सविस्तर विवरण नाट्यशास्त्र में उपलब्ध है (३१,२८८–४१४)। यह गीत निम्नानुसार है—मद्रक, अपरान्तक, प्रकरी, ओवेणक, उल्लोप्यक, रोविन्दक तथा उत्तर (३१,२८७)। भरत के अनुसार ये सभी गीत 'ब्रम्होक्त' होने के कारण

१. तथा द्र० ३१, ३२७–३३०, ३१,३४२।

पुण्यकारक हैं (३१,४१९)। इन गीतों के विभिन्न खण्डों के लिए पारिभाषिक संज्ञा 'वस्तु' है (३१,२०३–२०६[१])। वस्तु के चतुर्थ भाग के लिए 'पाद' संज्ञा है (३१, ३०९)। प्रत्येक वस्तु के निम्न तीन अंग हैं—विविध, एकक तथा वृत्त (३१,२६८)। यह तीनों मिलकर 'विदारी' कहलाते हैं (३१,२६९)। विदारी की भरतोक्त परिभाषा निम्नानुसार है—

पदवर्णसमाप्तस्तु विदारीत्थमिसंज्ञिता।
न्यासापन्यासमंशान्तं वस्तु तत्परिकीर्तितम् ॥ ३१,२७० ॥
विदारयन्ति यस्माद्धि परमध्यस्वरो यदा।
तदा विदारी विज्ञेया गुरुवर्णानुकारिणी ॥ ३१,२७१ ॥

इससे स्पष्ट है कि गीत के अन्तर्गत जहाँ पद की समाप्ति न्यास, अपन्यास अथवा अंश स्वर पर की जाती है, वह 'विदारी' है। दत्तिल के अनुसार मुख्य गीत को विदारित अर्थात विभाजित करने के कारण यह 'विदारी' कहलाता है। (द्र० १४२)।

विविध नामक विदारी त्रिविध है—सामुद्ग, अर्धसामुद्ग तथा विवृत्त। लघु तथा सम वर्ण वाला विदारी 'सामुद्ग' कहलाता है। अर्ध सम तथा अर्ध विषम विदारी 'अर्धसामुद्ग' कहलाता है। पूर्णतया विसदृश अक्षर-रचना होने पर विदारी 'विवृत्त' कहलाती है (वहीं, २७९–२८३)। वृत्त नामक विदारी के निम्न दो प्रकार हैं—प्रवृत्त तथा अवगाढ़। प्रथम की विशेषता आरोही स्वरों में है, द्वितीय की विशेषता अवरोही स्वरों में है (वहीं, २७४–२७६[२])।

उपर्युक्त गीतों का छन्दादि नियमों के अनुसार त्रिविध विभाजन किया जाता है—निर्युक्त, पदनिर्युक्त तथा अनिर्युक्त। गीत के विविध अङ्गों से निबद्ध गीत-रचना 'निर्युक्त' कहलाती है, गीतांगों से विहीन किन्तु छन्द, पाद आदि नियमों से युक्त रचना 'पदनिर्युक्त' कहलाती है तथा गीत एवं छन्द दोनों से विहीन गीत-रचना 'अनिर्युक्त' कहलाती है[3] (३१,४१४–४१६)।

भरतकालीन ध्रुवा-गीत

नाट्यशास्त्र के अध्याय ३२ में ध्रुवा-गीतों के सम्बन्ध में सविस्तर विवरण पाया जाता है। प्रत्यक्ष नाट्य-प्रयोग में तथा उससे पूर्व भी ध्रुवा-गीतों का महत्वपूर्ण स्थान होने के सम्बन्ध में स्पष्ट संकेत नाट्यशास्त्र में स्थान-स्थान पर

---

१. तथा द्र० ना० शा० ३१,३०८।
२. तुलनार्थ द्र० दत्तिल, १४५–१४८।
३. द्र० दत्तिल, १५६–१५९।

उपलब्ध है[1]। भरत की प्रतिज्ञा के अनुसार गान्धर्व संग्रह में छन्द, वृत्त तथा पदगत जाति का अन्तर्भाव है (२८,१८)। छन्द, वृत्त तथा पद की विशिष्ट रचना ध्रुवा-गीतों के निर्माण में सहयोग देती रही है। गीति का आधार ही निबद्ध पदसमूह है और यही पदसमूह जाति अर्थात् वृताक्षरप्रमाण, सम, अर्धसम आदि प्रकार, षट्कल आदि प्रमाण, स्थान तथा नाम इन पाँच अङ्गों से ध्रुवा-गीतों का निर्माण करते हैं—

> जातिः स्थानं प्रकारश्च प्रमाणां नाम चैव हि।
> ज्ञेया ध्रुवाणां नाटयज्ञैर्विकल्पाः पंचहेतुकाः॥ ३२, ३३०-३१॥

भरत के अनुसार उनके द्वारा किया गया ध्रुवा–गीतों का विवेचन नारदादि आचार्यों की परम्परा के अनुसार है—

> ध्रुवेति संज्ञितानि स्युर्नारदप्रमुखैर्द्विजैः।
> यान्यंगानीह मुक्तेषु तानि मे सन्निबोधत॥ ३२,१॥

गान्धर्व-शास्त्र में ध्रुवाविधान महत्वपूर्ण विषयों में से अन्यतम है और नाट्य में इसका प्रयोग यथाविधि किया जाना आवश्यक है—

> एवं प्रयोक्तृभिः कार्या ध्रुवाणां सन्निवेशनम्।
> यथास्थानाश्रसोपेतं यथावृत्तकृतं तथा॥ ३२,४४९॥

ध्रुवा-गीत में स्वर, पद तथा ताल तीनों का मंजुल सामंजस्य है।[2] वर्ण, अलंकार, लय, यति, उपपाणि इन अंगों के पारस्परिक ध्रुव अर्थात् नियत सम्बन्ध के कारण इनको 'ध्रुवा' कहा जाता है।[3] आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार नाटक के विभिन्न प्रसंगों में भावनात्मक ऐक्य स्थापित करने के कारण ये नाट्य-गीत ध्रुवा कहलाते हैं। इसी उद्देश्य को लेकर इन गीतों का गान नाट्य के विभिन्न प्रसंगों पर किया जाता रहा (३२,३३४)।

नाट्यशास्त्र के प्रामाण्य पर कहा जा सकता है कि नाट्यशास्त्र की रचना से पूर्व ध्रुवा–गान का प्रचार था तथा नारद जैसे गन्धर्वाचार्यों के द्वारा उसकी विवेचना की जा चुकी थी। नारद के नाम से ख्यात 'नारदी शिक्षा' में ध्रुवा-गीतों के सम्बन्ध में कथमपि विवेचन नहीं पाया जाता। सम्भवतः गान्धर्व की यह परम्परा मौलिक रूप से प्रचलित रही हो और उसी को नाट्यशास्त्र में सर्वप्रथम लेखबद्ध किया गया हो। ध्रुवा-गीतों की परम्परा का क्रियात्मक रूप भरत के पूर्व से लेकर परवर्ती संस्कृत नाटक-ग्रन्थों में बराबर पाया जाता है। कालिदास

---

१. ५, १०५ तथा ११९
२. ३२, ४८३
३. ३२, ७

के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में इन्हीं ध्रुवा-गीतों का प्राचुर्य है। बाण ने इन गीतों की ज्वलन्त परम्परा का उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है। यह गान भाव तथा ताल से अनुप्राणित रहता था, ऐसी उनकी साक्ष्य है[1]। दामोदर के 'कुट्टिनीमत' में श्रीहर्ष के रत्नावलि नाटक के प्रत्यक्ष अभिनय का वर्णन किया गया है, जिसमें प्रवेश तथा निर्गमन के समय प्रावेशिकी आदि ध्रुवा-गीतों के गाये जाने का उल्लेख है[2]। मुरारि के 'अनर्घराघव' नामक नाटक में तथा राजशेखर के नाटकों में ध्रुवा-गीतों की उपयुक्तता निर्दिष्ट है[3]। उपर्युक्त से स्पष्ट है कि ध्रुवा-गीतों की परम्परा भरत-पूर्वकाल से लेकर बाण के समय तक विशुद्ध एवं भरतप्रोक्त रूप में विद्यमान थी।

भरत के अनुसार ध्रुवाओं का प्रयोग यथास्थान तथा यथारस किए जाने पर नाट्य को उज्ज्वल बना देता है (३२,४५५)। ध्रुवा का गान स्वर, वर्ण, स्थान, लय आदि अङ्गों के साथ किए जाने पर नाट्य को सफल बना देता है।[4] ध्रुवाओं का गान विभिन्न ग्रामरागों में किए जाने के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र में स्पष्ट संकेत पाया जाता है। नाटकों की विभिन्न सन्धियों में इन गीतों के लिए मध्यम, षड्ज, साधारित, कैशिकमध्यम तथा कैशिक राग का विधान विहित है।[5] इन ध्रुवा-गीतों का निर्माण ऋक्, पाणिका, गाथा तथा सप्तरूप प्राचीन गीतों के अङ्गों को लेकर बतलाया गया है—

> या ऋचः पाणिका गाथा सप्तरुपांगमेव च।
> सप्तरूपं प्रमाणं हि सा ध्रुवेत्यभिसंज्ञिता ॥ ३२, २ ॥

---

१. द्र० हर्षचरित, पृ० २० तथा कादम्बरी, पृ० १३१ (सं० वैद्य)।

२. द्र० कुट्टिनीमत, श्लो० ८५७–९२४। इस सम्बन्ध में निम्न श्लोक द्रष्टव्य है—
प्रावेशिक्यवसाने द्विपदीग्रहणान्तरे विशति सूत्री।
निश्चक्राम गृहिण्या सार्धं निःसरणगीतेन ॥

३. द्र० 'जरनल आफ म्यूजिक अकादमी', मद्रास, खंड २५, पृ० ८५–८६। ध्रुवागीतों का आभास दक्षिण के आधुनिक नृत्य-नाट्यों में 'दारु' के नाम से प्राप्त होता है। इनमें विशिष्ट पात्रों का प्रवेश 'पात्रप्रवेशदारु' नामक गीतों के गान के अनन्तर होता है। यह गीत वाद्य तथा नृत्य से उपलक्षित रहता है (वहीं, पृ० ८५)।

४. ३२, ४५६–५७

५. वहीं, ४५३–५४

एभ्यस्त्वंगेभ्य उद्धृत्य नानाछन्दः कृतानि च।
ध्रुवात्वं यानि गच्छन्ति तानि वक्ष्याम्यहं द्विजाः ॥ ५२, ३ ॥

प्राचीन गीतों के जिन अङ्गों का परिगणन ध्रुवा-गीतों के आधारभूत तत्व के रूप में किया गया है, वे इस प्रकार हैं—मुख, प्रतिमुख, वैहायसिक, स्थिर, प्रवृत्त, वज्र, सन्धि, संहरण, प्रस्तार, उपवर्त, भाषघात, चतुरस्त्र, अवपात, प्रवेश्य, शीर्षक, संविष्टत, अन्ताहरण तथा महाजनिक (३२, ४–६)।

नाट्य के अन्तर्गत उनके स्थान तथा प्रयोजन के अनुकूल ध्रुवाओं का पंचविध वर्गीकरण है—प्रावेशिकी, आक्षेपिकी, प्रासादिकी, अन्तरा तथा नैष्क्रामिकी (३२, २३–२४)। नाट्य के प्रवेश पर प्रसंग के अनुकूल जिस ध्रुवा का गान होता है वह 'प्रावेशिकी' कहलाती है। अंक की समाप्ति पर अथवा पात्रों के निष्क्रमण पर गायी जाने वाली ध्रुवा 'नैष्क्रामिकी' कहलाती है। इन दोनों प्रसंगों के मध्य में नृत्य के साथ जिसका गान किया जाता है, वह 'आक्षेपिकी' है और इसका गान द्रुत लय में किया जाता है। 'प्रासादिकी' नामक ध्रुवा का सम्बन्ध विशिष्ट मनःस्थिति में साथ है। प्रमुख रस के अतिरिक्त अन्य किसी रस में निमग्न श्रोता को मूलभूत रस आस्वादन कराने के लिए इस ध्रुवा का प्रयोग किया जाता है। मनःप्रसाद की सम्पादिका होने के कारण यह 'प्रासादिकी' कहलाती है। नाट्य प्रयोग में उत्पन्न दोष को दूर करने के लिए जिस ध्रुवा का प्रयोग होता है, वह 'अन्तरा' कहलाती है तथा खेद, विस्मृति, क्रोध आदि अवस्थाओं पर इसके प्रयोग का विधान है[1]।

जैसा ऊपर कहा गया है, प्राचीन गीतकों के अङ्ग, कला तथा छन्दों आधार पर ध्रुवा की उद्भावना होती है। गीतकों के षट्कल तथा अष्टकल विभाग ध्रुवा में त्र्यस्र तथा चतुरस्र ताल का निर्माण करते हैं[2]। प्राचीन ध्रुवागीत शब्द, छन्द तथा ताल की दृष्टि से पूर्णतः निबद्ध हुआ करते थे[3]। ध्रुवा में शब्दों का प्रयोग भावाभिव्यक्ति के लिये आवश्यक माना जाता था। संगीत के आरोहावरोहादि वर्णों का उसी सीमा तक प्रयोग किया जाता था जो अर्थव्यक्ति में बाधक न हो। इसी दृष्टि से केवल कुछ ही गीतालंकार ध्रुवा-गान के लिए उचित माने गए हैं। ध्रुवा का स्थान गान्धर्व के निबद्ध सङ्गीत में है, यह बात मननीय है। भरत के अनुसार गान्धर्व स्वरतालपदात्मक है तथा उसमें पद स्वर तथा ताल इन दोनों के पोषक हैं—

---

१. वहीं, ३३५–४०
२. वहीं, ११–१३
३. वहीं, ३३

पदं तस्य भवेद्वस्तु स्वरतालानुभावकम् ॥ ३२,२५ ॥

पद दो प्रकार का है—निबद्ध तथा अनिबद्ध। अक्षरों की नियत संख्या, छन्द तथा यति के नियमों से नियन्त्रित पदसमूह 'निबद्ध' कहलाता है। यति तथा पाद के नियमों से स्वतन्त्र तथा आतोद्यों में स्वच्छन्द रूप से बजाए जाने वाले अक्षर 'अनिबद्ध' कहलाते हैं। वाद्यों पर जिन नानाविध करणों तथा बोलों का अनिर्बन्ध रूप से वादन किया जाता है, वही 'अनिबद्ध' पद है। आधुनिक वाद्यवादन के पूर्व जो स्वरसमुदाय 'नोम् तोम्' के रूप में बजाए जाते हैं, वे इसी के उदाहरण हैं। इनमें लय अवश्य रहती है, परन्तु ताल का बन्धन नहीं रहता। गान्धर्व के पद के सम्बन्ध में भरत का कथन निम्नांकित है—

यत्किंचिदक्षरकृतं तत्सर्वं पदसंज्ञितम् ।
निबद्धं चानिबद्धं च तत्पदं द्विविधं स्मृतम् ॥ ३२,२६ ॥
अतालंच सतालंच द्विप्रकारकं च तद्भवेत् ।
सतालं च ध्रुवार्थेषु निबद्धं तच्च वै स्मृतम् ॥ ३२,२७ ॥
यत्तु वा करणोपेतं सर्वातोद्यानुरंजकम् ।
अतालमनिबद्धं च पदं तु ज्ञेयमेव च ॥ ३२,२८ ॥
नियताक्षरसम्बन्धं छन्दोयतिसमन्वितम् ।
निबद्धं तु पदं ज्ञेयं नानाछन्दःसमुद्भवम् ॥ ३२,२९ ॥
स्वच्छन्दयतिपादं तु तथा च नियताक्षरम् ।
अनिबद्धं पदं ज्ञेयं महाताललयाक्षरम् ॥ ३२,३० ॥
अनिबद्धाक्षराणि स्युर्यान्यजातिकृतानि तु ।
आतोद्यकरणैस्तेषां विधानमपि निर्दिशेत् ॥ ३२,३१ ॥
अपदान्यनिबद्धानि तालेन रहितानि च ।
आतोद्येषु नियुक्तानि यानि तानि तु योजयेत् ॥ ३२,३२ ॥

भरत के अनुसार गीत का ऐसा कोई पद नहीं, जो छन्द पर आश्रित न हो। भरत के शब्दों में—

नास्ति किंचिदवृत्तं हि पदं गानकृताश्रयम् ।
तस्माद्गानमभिप्रेक्ष्य तद्वृत्तं योजयेत् ध्रुवम् ॥ ३२,४०० ॥

भरत के अनुसार ध्रुवा के निर्माण में जाति, स्थान, प्रमाण आदि पाँच अंग होते हैं[1]। इनमें से जाति का निर्धारण वृत्त तथा अक्षर के अनुपात से होता है (३२,३३१)। भरत के अभिप्राय से प्रावेशिकी आदि ध्रुवाओं के लिये उनके गान के लिए अनुकूल छन्दों का प्रयोग होता है और इसी आधार पर उनकी

---

१. वहीं, ३३०–३१

विभिन्न जातियों का विधान है[1]। रस तथा गुण के आधार पर ध्रुवाओं के निम्न छः प्रकार माने गए हैं—शीर्षक, उद्धता, अनुबन्धा, विलम्बिता, अड्डिता और अपकृष्टा[2] उदाहरण के लिये अड्डिता नामक ध्रुवा में शृङ्गार का तथा प्रसाद गुण का प्राधान्य माना गया है (३२,३५७)।

ध्रुवागीतों में प्रथम आलाप-गान, पश्चात् वाद्य तथा उसके अनन्तर छन्दगान यही क्रम अभीष्ट माना गया है—

पूर्वगानं ततो वाद्यं ततो वृत्तं प्रयोजयेत् ।
गीतवाद्यांगसम्बन्धः प्रयोग इति शंसितः ॥ ३२,४०३ ॥

ध्रुवा के साथ मृदंग अथवा पुष्कर जैसे वाद्य से संगति की जाती थी। गीत के साथ इस वाद्य का वादन किस स्थान से आरम्भ किया जाय इस सम्बन्ध में सविस्तर विवरण 'भाण्डसमाश्रय ग्रह' के अन्तर्गत किया गया है।[3] भरत के शब्दों में—

अभाण्डमेकं गानस्य परिवर्तं प्रयोजयेत् ।
यच्चतुर्थे सन्निपाते तस्य भाण्डग्रहो भवेत् ॥ ३२,४४० ॥

इससे स्पष्ट है कि ध्रुवागान का प्रथम आवर्तन विना भाण्डवाद्य की संगत से किया जाता था तथा चौथे 'सन्निपात' नामक ताल-स्थान पर मृदंग अथवा पुष्कर का वादन आरम्भ किया जाता था। गीत के साथ मृदंगादि वाद्यों का प्रथम आघात 'ग्रह' कहलाता है—'ग्रहो गानसमः'[4]। इसी ग्रह स्थान को दिग्दर्शित करने के लिए वाद्य पर आघात के साथ अँगुलियों का उपयोग किया जाता था[5]।

भरतकालीन ध्रुवा-गीत शब्द-संगीत अथवा काव्य-संगीत के श्रेष्ठ निदर्शन हैं। ध्रुवा-गीतों का उद्देश्य अर्थाभिव्यक्ति होने के कारण उसका गान ऐसे ही प्रसंगों पर किया जाता था, जब उसकी उद्देश्य-सिद्धि के लिये अनुकूल वातावरण उपस्थित हो। इसीलिए गायन, रुदन, संभ्रम, उत्पात इत्यादि प्रसंगों पर ध्रुवा-गान अनुपयुक्त माना गया है (३२,३५१)। तात्पर्य यह है कि इन गीतों का उद्देश्य नाट्यानुकूल भावों का परिपोष करना है। ऐसा प्रयोग नाट्य की शोभा वैसे ही वृद्धिगत करता है, जैसे नक्षत्रों का उदय गगन की शोभा को—

---

१. वहीं, ३४-४५; १५३-६२
२. वहीं, ३५३-६०
३. वहीं, ४३९-४८
४. वहीं, ४४७
५. वहीं, ४४१

तथा रसकृता नित्यं ध्रुवाः प्रकरणाश्रिताः ।
नक्षत्राणीव गगनं नाट्यमुद्योदयन्ति ताः[1] ।।

भावपरिपोष उद्देश्य होने के कारण गीत के वर्ण तथा अलंकारों का प्रयोग उसी मात्रा तक विहित है, जो कि उद्देश्यपूर्ति में बाधक न हो। गान के अत्यधिक प्रयोग से अर्थव्यक्ति में व्याघात होने की सम्भावना रहती है, यह तथ्य अनुभवसिद्ध है। ध्रुवागान में रसहानि उपस्थित न हो, इस लिए भरत का निम्न संकेत मननीय है—

गीते वाद्ये च नृत्ते च प्रवृत्तेऽतिप्रसंगतः ।
खेदो भवेत् प्रयोक्तॄणां प्रेक्षकाणां तथैव च ।।
खिन्नानां रसभावेषु स्पष्टता नोपजायते ।
ततः शेषप्रयोगस्तु न रागजनको भवेत् ।।[2]

अर्थात् गीत, वाद्य तथा नृत्त का अत्यधिक प्रयोग प्रयोक्ता तथा प्रेक्षक दोनों के लिए खेदजनक होता है। प्रयोक्ता तथा प्रेक्षकों की ऐसी मनःस्थिति में नाट्य की रसानुभूति सम्भाव्य नहीं और इसी कारण नाट्य का समस्त प्रयोग रंजकता से विहीन सिद्ध होता है।

नाट्यशास्त्र के आधार पर ध्रुवा-गीतों की कुछ अन्य विशेषताओं का निरूपण निम्न किया जा रहा है। भरतकालीन नाट्य में इन गीतों का विशिष्ट स्थान रहा है। जिस प्रसंग की अभिव्यक्ति कथनोपकथन तथा अन्य तत्सदृश उपादानों से न की जा सकती थी, उसकी अभिव्यंजना ध्रुवा-गीतों के माध्यम से की जाती थी। गद्य तथा काव्य के द्वारा जिन भावों की अभिव्यंजना असंभाव्य रहती, उनके लिए गीतों का प्रयोग किया जाता था—

यानि वाक्यैस्तु न ब्रूयात्तानि गीतैरुदाहरेत् ।
गतैरेव हि वाक्यार्थैरन्यैः प्रातेवलाश्रयैः ।। ३२,३७५ ।।

भरतकालीन ध्रुवाओं के कुछ उदाहरण नाट्यशास्त्र के आधार पर निम्न प्रस्तुत है—

१—विविहवणविहारी कमलवणसुअंधी ।
कुमुअवणविवोही सरदि सरई वाओ ।। ३२,१३६ ।।

२—हंसदलसमुदिए सा रसकुलमुहले
मत्तमहुअरगणे हिंडेइ महुअरिआ ।। ३२, १४० ।।

३—एसो वसन्तमहुआसिआअणो
सैलो व्व पुव्वपणवस्स छालिओ ।

---

१. ३२, ४३६ का० भा०
२. ५, १६१-१६२

दोवासं हि घनइओगआसणे
रम्मो वणंगणपखाणओ ॥ ३२,१५० ॥

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि ध्रुवा के लिये मुख्यतः प्राकृत भाषा की उपादेयता नाट्यशास्त्र में स्वीकृत की गई है। केवल देवता विषयक गान अथवा संकीर्तन में संस्कृत भाषा का प्रयोग उपादेय माना गया है (३२,४०८–४०९; ४१९)। प्रतीत होता है कि नाट्यशास्त्र के पूर्व ही संस्कृत नाटकों के अन्तर्गत प्राकृत ध्रुवाओं का प्रयोग उनकी गेयानुकूलता के कारण किया जाता रहा है। कालिदास के नाटकों में उपलब्ध प्राकृत गीत, जिनका गान मालविका, हंसपदिका, पुरुरवा आदि के द्वारा हुआ है, इसी तथ्य को स्पष्ट करते हैं।

ध्रुवाओं की अन्य विशेषता उनकी सांकेतिकता में है। जैसा ऊपर निवेदित किया जा चुका है, ध्रुवाओं का उपयोग उन अर्थों तथा प्रसंगों की अभिव्यक्ति के लिए विहित था, जिनके लिए काव्य निःशक्त सिद्ध होता था। प्राचीन नाट्य के नियमानुसार रंगमंच पर कुछ घटनाओं का प्रदर्शन वर्जित था। तत्कालीन नाट्य की सीमित परिधि के कारण जिन घटनाओं एवं मनोभावों का चित्रण संभाव्य न था, उसी का सम्पूर्ण विवरण गीत की सांकेतिक भाषा में सम्पन्न किया जाता था[1]। पात्रों की प्रकृति के अनुकूल विभिन्न संकेतों का विवरण भरत ने प्रस्तुत किया है[2]। भरत के अनुसार यह संकेत मुख्यतः सादृश्य गुण पर आधारित रहा करता था। उदाहरण के लिए नृपस्त्री का संकेत शर्वरी, वसुधा, ज्योत्स्ना, नलिनी इत्यादि शब्दों से, वेश्यादि का संकेत वल्ली, सारसी, शिखिनी, मृगी इत्यादि से तथा अन्य अधमप्रकृति महिलाओं का संकेत भ्रमरी, कोकिला आदि शब्दों से किये जाने के सम्बन्ध में स्पष्ट विधान नाट्यशास्त्र में है। उदाहरण के लिये भरत का निम्न श्लोक द्रष्टव्य है—

शर्वरी वसुधा ज्योत्स्ना नलिनी तरुणी नदी।
नृपस्त्रीणां भवन्त्येता औपम्यगुणसंश्रयाः ॥ ३२,३८५ ॥

भरतकालीन वीणावादन एवं वाद्यवृन्द

जैसा अन्यत्र दर्शाया गया है, भरतकालीन वाद्यवृन्द के लिए 'कुतप' संज्ञा थी। नाट्य के अन्तर्गत कुतप का त्रिविध विभाजन किया जाता था—१. तत कुतप, २. अवनद्ध कुतप तथा ३. नाट्य कुतप[3]। नाट्य को प्रभावात्मक बनाने के

---

१. आधुनिक रंगमंच पर यही कार्य दृश्य–पट (Scenic Trappings) तथा सविस्तार संकेतों (stage Directions) के माध्यम से सम्पन्न किया जाता है। इन्हीं अभावों की पूर्ति प्राचीन ध्रुवागीतों के द्वारा की जाती रही है।

२. ३२, ३७७–८७

३. २८, ३

लिए कुतप के यथायोग्य सन्निवेश को विशेष महत्व दिया जाता था तथा इस दृष्टि से चतुर्विध आतोद्यों की रंगभूमि पर विशिष्ट रचना की जाती थी। 'तत कुतप' में गायक-गायिकाओं की संगति करने के लिए तन्त्रीवाद्यों तथा सुषिर वाद्यों का सन्निवेश किया जाता था। इस सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र में 'वैपंचिक', 'वैणिक' तथा 'वंशवादक' तीनों का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। अवनद्ध कुतप में 'मार्दंगिक', 'पाणविक' तथा 'दार्दुरिक' जैसे चर्मवाद्य-वादकों का समावेश था। तृतीय अर्थात् 'नाट्यकुतप' के अन्तर्गत गायक तथा वादकवृन्द के साथ विभिन्न नट-नटीयों को यथायोग्य स्थान पर बैठाया जाता था[1]। इन तीनों का सम्मिलित वृन्द 'अलातचक्र' के समान चक्राकार रूप में सन्निविष्ट किया जाना चाहिए, ऐसा भरत का संकेत है—

एवं गानं च नाट्यं च वाद्यं च विविधाश्रयम्।
अलातचक्रप्रतिमं कर्तव्यं नाट्ययोक्तृभिः॥ २८,७॥

नाट्य का पूर्वरंग आरम्भ होने से पूर्व 'कुतपविन्यास' का कार्य यथाविधि सम्पादित किया जाता था। इसकी विधि नाट्यशास्त्र के निम्न गद्यांश में स्पष्ट हुई है—

"एतेषां प्रयोगमिदानीं वक्ष्यामि। तत्रोपविष्टः प्राङ्मुखो रंगे कुतपविनिवेशः कर्तव्यः। तत्र पूर्वोक्तयोर्नेपथ्यगृहद्वारयोर्मध्ये कुतपविन्यासः। स्वरंगाभिमुखमार्दंगिकपाणविकदार्दुरिकेषु गायकगायिकावंशिकवैणिकसहितेषु अशिथिलायततन्त्रीबद्धास्तनितेषु आतोद्येषु······वादनकैर्देवतानामावाहनविसर्जनार्थं प्रथममेव त्रिसामः कर्तव्यः"[2]।

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि भरतकालीन वाद्यवृन्द का स्थान रंगभूमि पर नेपथ्य के दो द्वारों के मध्य में निर्धारित था तथा इनको प्रेक्षकों के सम्मुख बैठाया जाता था। भरतप्रणीत कुतपरचना से स्पष्ट है कि ततवादकों में विपंचीवादक तथा वीणावादक दोनों का स्वतन्त्र स्थान था। भरत ने समकालीन ततवाद्यों में विपंची एवं चित्रा को प्रमुख माना है तथा कच्छपी एवं घोषका उनकी अंगभूत है—

विपंची चैव चित्रा च दारवीष्वंगसंज्ञिते।
कच्छपीघोषकादीनि प्रत्यंगानि तथैव च॥ ३३,१५॥

भरतकालीन वाद्यवृन्द में 'वैणिक' से तात्पर्य 'चित्रा वीणा' के वादक से रहा हो, यह तथ्य नितान्त स्पष्ट है। वीणागत अलंकारों का निर्देश करते हुए

---

१. २८, ४–६
२. अ० ३३, पृ० ४४९

भरत ने चित्रा तथा विपंची का स्वतन्त्र नामनिर्देश किया है तथा अलंकारों के उपसंहार में 'वीणा' से तात्पर्य 'चित्रा वीणा' से लिया है—

एवं तज्ज्ञैर्ज्ञेया वीणावाद्ये तु धातवः प्रोक्ताः।
वक्ष्येऽधुना विपंचीवाद्यविधाने तु करणार्थम् ॥ २९,१०७ ॥

इन दोनों वीणाओं का स्वरूप भरत के अनुसार निम्नोक्त है—

सप्ततन्त्री भवेत् चित्रा विपंची नवतन्त्रिका।
विपंची कोणवाद्या स्याच्चित्रा चांगुलिवादना ॥ २९,११४ ॥

तात्पर्य यह कि चित्रा वीणा सात तन्त्रियों में निबद्ध रहा करती थी तथा उन तन्त्रियों का वादन अँगुलियों से किया जाता था। विपंची में नव तन्त्रियाँ थीं, जिनका वादन 'कोण' के द्वारा किया जाता था। 'कच्छपी', 'घोषका' आदि अन्य ततवाद्यों का परिचय नाट्यशास्त्र में उपलब्ध नहीं, तथापि उनके उपांग होने से प्रतीत होता है कि इनमें सप्त से न्यूनसंख्याक तन्त्रियों की स्थिति रही हो। संगीतरत्नाकर के अनुसार 'घोषका' एक तन्त्री वाली वीणा है—'घोषकश्चैकतन्त्रिका'[1]। प्राथमिक स्वरूप के होने के कारण इनका स्थान वाद्यवृन्द में गौण रहा हो, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

ई० ५ के अमरकोशकार के अनुसार वीणा, वल्लकी तथा विपंची तीनों 'वीणा वाद्य' के विभिन्न स्वरूप हैं। उनके समय में प्रचलित 'सप्ततन्त्री' वीणा के लिए अपर संज्ञा 'परिवादिनी' थी। तत्कालीन वीणा के विभिन्न अङ्गों का परिचय निम्न श्लोक में उपलब्ध होता है—

कोणो वीणाऽऽदिवादनम् ॥
वीणादण्डः प्रवालः स्यात् ककुभस्तु प्रसेवकः ॥
कोलंबकस्तु कायोऽस्या उपनाहो निबन्धनम् ॥ नाट्यवर्ग २०६ ॥

वीणावादन के लिए जिस दण्ड का प्रयोग किया जाता था, उसके लिए 'कोण' संज्ञा थी, वीणादण्ड को 'प्रवाल' कहा जाता था, वीणा के अन्तिम वक्र भाग को 'प्रसेवक' कहा जाता था, वीणा के कलेवर के लिए 'कोलम्बक' संज्ञा थी तथा तन्त्रियों को जिस स्थान पर निबद्ध किया जाता था, उसको 'उपनाह' कहा जाता था।

तन्त्रीयों को अभीष्ट स्वरों में बद्ध करने की क्रिया 'सारणा' कहलाती थी[2]। तन्त्रीयों को निम्न तथा उच्च स्वरों में मिलाने के लिए क्रमशः शिथिल तथा दृढ़

---

१. वाद्याध्याय, पृ० २४८

२. तुलनार्थ द्र० मेघदूत की निम्न पंक्ति—'तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलां सारयित्वा कथंचित (तथा द्र० मृच्छकटिक)।

किया जाता था। ऐसी क्रियाओं के लिए 'मार्दव' तथा 'आयतत्व' संज्ञाएँ थीं—"यदन्तरं मार्दवादायतत्वाद्वा तावत् प्रमाणश्रुतिः"…[1]। पुष्करवाद्यों को स्वर में मिलाने के लिए इन्हीं क्रियाओं का आश्रय लेना पड़ता था—

भेरीपटहझंझाभिस्तथा दुन्दुभिडिंडिमैः।
शैथिल्यादायतत्वाच्च स्वरे गाम्भीर्यमिष्यते ॥ ३३,२७ ॥

विविध जातियों के वादनार्थ वीणा पर अभीष्ट मूर्छना की स्थापना की जाती थी, जिसका उद्देश्य वीणा पर अभीष्ट स्थानों की उपलब्धि था—"प्रयोजनमपि स्थानप्राप्तिः"।[2] यह स्पष्ट है कि तत्कालीन वीणा में सात अथवा नव तन्त्रीयों के होने के कारण वीणा-वादन का क्षेत्र विशिष्ट स्थान तक सीमित रहता था। इससे विभिन्न स्थान-विस्तार के लिए उस वीणा पर उन स्थानों की निदर्शक स्वरावलि की स्थापना आवश्यक हो जाती थी। वीणा पर मूर्छना-स्थापन के सम्बन्ध में भरत का निम्न प्रतिपादन महत्वपूर्ण है—

"मध्यमस्वरेण तु वैणेन मूर्छनानिर्देशः भवत्यनाशित्वात् मध्यमस्वरस्य"।[3] अर्थात् वीणा पर मूर्च्छना का निर्देश 'मध्यम स्वर' से किया जाना चाहिए। 'मध्यम स्वर' से तात्पर्य यहाँ 'मध्यस्थानीय' अथवा कण्ठ्य स्वर से है, न कि 'मध्यम' संज्ञक स्वर से इस तथ्य का समर्थन मतंग की निम्न उक्तियों से होता है—

१—"ननु त्रिषु स्थानेषु स्वरप्रयोग इत्युक्तम्। कारीपिधाने। काकु-विधाने? तत्र कतमं स्वरसप्तकमवलम्ब्य मूर्च्छना कार्येति ये संशेरते तान् प्रत्याह-मध्यमसप्तकेन मूर्च्छनानिर्देशो तावन्मन्द्रतारसंसिद्ध्यर्थम्"[4]।

२—"ननु मध्यमसप्तकेन मूर्च्छनानिर्देशः क्रियते यदि तदा किमुक्तं मध्य-मेन स्वरेणेति। सत्यमुक्तम्। स्वरजात्यपेक्षया एकवचनम्। कण्ठ्ये स्वरे मूर्च्छना कार्येति भावः"[5]।

तात्पर्य यह कि वीणा पर अभीष्ट मूर्च्छना का आरम्भ मध्यस्थानीय स्वर से किया जाना चाहिए, चाहे वह स्वर षड्ज हो, ऋषभ हो, गान्धार, मध्यम अथवा तदतिरिक्त स्वर हो। उदाहरणार्थ, षड्जग्राम की आरम्भिक अथवा उत्तरमन्द्रा मूर्च्छना की स्थापना मूर्च्छना के भरतोक्त अवरोहित्व को देखते हुए निम्नानुसार होगी—

---

१. ना० शा० २८, पृ० ३१८
२. वहीं, पृ० ३२१
३. २८, पृ० ३२१
४. बृहद्देशी, पृ० २९
५. वहीं

१—सा	प्रथम तन्त्री
२—नि़	द्वितीय तन्त्री
३—ध़	तृतीय तन्त्री
४—प़	चतुर्थ तन्त्री
५—म़	पंचम तन्त्री
६—ग़	षष्ठ तन्त्री
७—रि़	सप्तम तन्त्री

यहाँ स्पष्ट है कि प्रथम तन्त्री मध्यस्थानीय षड्ज में निबद्ध है तथा अन्य छः तन्त्रियाँ अवरोही क्रम से निबद्ध हैं। किसी जाति में आवश्यक स्वरावलि को प्राप्त करने के लिए इसी प्रकार की मूर्च्छनाओं की स्थापना अनिवार्य मानी गई है। भरत के अनुसार मूर्च्छना—तानों का प्रयोजन 'स्थानप्राप्ति' है। गेय जाति के लिए आवश्यक तार तथा मन्द्र अवधि को दृष्टिगत कर वीणा-तन्त्रियों में उसी स्वरावलि का संस्थापन मूर्च्छना का उद्देश्य रहा है। मन्द्र तथा तार की भरतोक्त परिभाषा को देखते हुए यह स्थान-संस्थापन एक ही सप्तक के अन्तर्गत रहा होगा ऐसी यथार्थ कल्पना की जा सकती है। भरतकालीन वीणा का सप्ततन्त्रीत्व इसी तथ्य का पोषक है। भरतोक्त तानक्रिया का स्वरूप वीणा की इसी परिमितता को स्पष्ट करता है। जैसा हमने यथास्थान देखा है, भरत के अनुसार सप्तस्वरों से न्यून स्वरावलि 'मूर्च्छना-तान' कहलाती है। इन षाडव तथा ओडव स्वरावलियों की स्थापना वीणा-तन्त्री पर द्विविध रूप से सम्भाव्य है—१. मूर्च्छना से लोप्य स्वरों की बोधक तन्त्रियों की अभीष्ट स्वर में सारणा करने से तथा २. लोप्य स्वरों की बोधक तन्त्रियों के अस्पर्श से। यही अभिप्राय नाट्यशास्त्र के निम्न कथन में अभिव्यक्त हो उठा है—

"द्विविधास्तानक्रिया तन्त्र्यां प्रवेशो निग्रहश्च। तत्र प्रवेशो नामाधरस्वर-प्रकर्षादुत्तरमार्दवाच्च। निग्रहस्त्वसंस्पर्शः। मध्यमस्वरासंस्पर्शः।"[1]

अर्थात् तन्त्री पर यह क्रिया क्रम से 'प्रवेश' तथा 'निग्रह' कहलाती है। 'प्रवेश' वह है जिसमें लोप्य स्वर-बोधक तन्त्री को वा तो अग्रिम स्वर में मिलाया जाता है अथवा पश्चाद्वर्ती निम्न स्वर में मिलाया जाता है। 'निग्रह' का तात्पर्य लोप्य मध्यवर्ती स्वरों के 'असंस्पर्श' से है। मध्यस्थानीय स्वर के अनिवार्यत्व को देखते हुए तानक्रिया का यह विकल्प वीणा के मध्यमस्वर पर प्रायः चरितार्थ नहीं होना चाहिये। भरत के उपर्युक्त अंश का तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि किसी स्वरावलि में मूर्च्छना का प्रारंभिक स्वर लोप्य

१. तुलनार्थ द्र० दत्तिल, श्लोक ३६।

होने पर इसकी बोधक तन्त्री का निग्रह अर्थात् असंस्पर्श पर्याप्त है तथा उस तन्त्री को निम्न अथवा उच्च स्वर में मिलाने की आवश्यकता नहीं। मतंग के निम्न वचन इस सम्बन्ध में नितान्त महत्वपूर्ण हैं—

१—"कथमेषां तानानां प्रयोगः कार्य इति। उच्यते। द्विविधस्तानप्रयोगः प्रवेशेन निग्रहेण च। प्रवेशो ऋषभापेक्षया षड्जस्याधरीभूतस्य लोपनीयस्य विप्रकर्षपीडनम्। ऋषभापावदानम् इति यावत्। इति विप्रकर्षण प्रवेशेन। मार्दवेन यथा—तस्यैव षड्जस्य निषादापेक्षया उत्तरीभूतस्य मार्दवं शिथिलीकरणं निषादपादानं (?) प्रवेश इति द्विविधं प्रवेशनम्। निग्रहस्त्वनन्तरः स्वपरित्यागास्पदं दर्शनम्। प्रयोगस्तु यथा—सासागरिपापापामारि"।[1]

२—"ननु त्रिषु स्थानेषु स्वरप्रयोग इत्युक्तम्। कारीपिधाने तत्र कतमं स्वरसप्तकमवलम्ब्य मूर्च्छना कार्येति ये संशेरते तान् प्रत्याह—मध्यमसप्तकेन मूर्च्छना निर्देशो तावन्मद्रतारसंसिद्ध्यर्थम्"[2]।

भरतानुयायी दत्तिल तान की इन्हीं दो क्रियाओं को स्वीकृत करते हैं, तथापि तन्त्रियों के 'तनन' अर्थात् आकर्षण से एकाधिक स्वरों को निकालने की क्रिया उनके समय प्रचलित हो गई थी, ऐसा निम्न वचन से प्रतीत होता है—

क्रममुत्सृज्य तन्त्रीणां तननैर्मूर्च्छनास्तु याः।
पूर्णाश्चैवाप्यपूर्णाश्च कूटतानास्तु तै स्मृताः ॥ ३८ ॥

वीणावाद्य के वर्णालंकार

गायन के वर्णालंकारों के सदृश वीणागत अलंकारों का विवेचन भरत ने किया है। इन अलंकारों के लिए 'धातु' पारिभाषिक संज्ञा है। भरतकालीन नाट्य के पूर्वरंग में आश्रावणा, आरम्भ, वक्त्रपाणि आदि बहिर्गीतों का जो विधान था, उसमें वीणावादन का प्रमुख स्थान था और इस प्रसंग पर वीणा वाद्य का वादन नानाविध बोलों तथा लयकारियों के साथ किया जाता था[3]। भरत के कथनानुसार ऐसे वाद्य-संगीत का प्रयोग चित्रवीणा पर यथायोग्य 'धातुओं' से, गुरु-लघु अक्षरों के साथ तथा यथोचित वर्ण एवं अलंकारों से समन्वित किया जाना आवश्यक है :—

धातुभिश्चित्रवीणायां गुरुलध्वक्षरान्वितम्।
वर्णालंकारसंयुक्तं प्रयोक्तव्यं बुधैरिह ॥ ५,४२, वहीं ॥

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार 'धातु' ऐसे वीणागत स्वरों की संज्ञा है,

---

१. बृह० पृ० २८
२. वहीं, पृ० २९
३. ना० शा० ५, ८–११, बड़ौदा

जो वीणा-तन्त्रियों के छेड़ने से उत्पन्न होते हैं—"धातवस्तन्त्री विशेषांगुलिविशेष-संयोगजा वैणवस्वरा:"[1]। अभिनवगुप्त का कथन है कि जिस प्रकार भाण्ड—वाद्य पर 'धृत् द्दङ्' आदि गुरु तथा 'मट कट' आदि लघु वर्णों का प्रयोग करने से वाद्य की रंजकता वृद्धिगत होती है, उसी प्रकार चित्रा आदि वीणाओं पर तत्सदृश नानाविध 'धातुओं' का वादन किया जा सकता है—

"चित्रा नाट्योपरंजनार्था या वीणा तस्यामप्येद्धातुभिरुक्तस्वरूपैः (करतल-निष्कोटितादिभिः) उपलक्षितं प्रयोज्यम्। कथम्। भाण्डवाद्ये गत्यर्थे यानि गुरुणि 'घृत् द्दङ्' इत्यादिकानि लघूनि 'मट कट' इत्यादिकानि। तत्रान्वितं कृत्वा। अनेन भाण्डवाद्योपरंजकत्वमुक्तम्"।[2]

इन 'धातुओं' का निर्माण नाना विध 'करणों' से किया जाता रहा, जो कि आधुनिक परिभाषा में 'बोल' संज्ञा से व्यवहृत होते हैं। धातु इन्हीं बोलों की लड़ियाँ हैं, जो तन्त्री-स्पर्श की प्रक्रिया तथा अक्षरों का क्रम दोनों को मिलाकर निर्मित होती हैं। इसी आधार पर भरताचार्य ने धातुओं के निम्न चार प्रकार निर्दिष्ट किए हैं—विस्तार, करण, आविद्ध तथा व्यंजन (२९,८१)। 'विस्तार' से तात्पर्य उस विधि से है जिससे तन्त्री पर प्रहार-संख्या के अनुसार नानाविध बोल निर्माण किए जाते हैं। आधुनिक वीणा तथा सितार आदि वाद्यों की तन्त्रियों पर इसी प्रणाली से 'दा', दिड', 'दारा' आदि बोलों का निर्माण किया जाता है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार विस्तार नामक धातु के चार प्रकार हैं—संघातज, समवायज, विस्तारज तथा अनुबन्ध।

संघातश्च समवायजश्च विस्तारजोऽनुबन्धश्च।
ज्ञेयश्चतुःप्रकारो धातुर्विस्तारसंज्ञस्तु ॥ २९,८२ ॥
विधिर्यस्तु स्मृतस्तस्य पूर्वं विस्तार एव तु।
संघातसमवायौ तौ विज्ञेयौ द्विकत्रिकौ ॥ २९,८३ ॥

तन्त्री को एक बार स्पर्श कर जो 'करण' बजाया जाता है, वह 'विस्तारज' है। तन्त्री को द्विवार छेड़ने से 'संघात' क्रिया होती है तथा त्रिवार छेड़ने से 'समवाय' क्रिया होती है और ऐसे 'धातु' क्रमशः 'संघातज' एवं 'समवायज' कहलाते हैं। इन्हीं क्रियाओं का यथायोग्य मिश्रण 'अनुबन्ध' कहलाता है।

'संघातज' तथा 'समवायज' धातुओं के क्रमशः चार तथा आठ प्रकार हैं। विस्तारज तथा अनुबन्ध को मिलाकर समस्त 'विस्तार' नामक धातु के कुल चौदह प्रकार हैं, जो विविध धातुओं के विभिन्न समूहों से निर्मित होते हैं—

---

१. वहीं, पृ० २२१
२. वहीं, पृ० २२३

पूर्वश्चतुर्विधस्तत्र पश्चिमोऽष्टविधः स्मृतः ।
करणानां विशेषेण विधिश्चैव पृथक् पृथक् ॥ २९,८४ ॥
× × ×
एवं चतुर्दशविधौ नित्यं विस्तारधातुः स्यात् ॥ २९,६०, का० मा० ॥

संघात नामक द्विवार वादन की प्रणाली वीणा के अधर तथा उत्तर दोनों भागों में चरितार्थ किए जाने से जो चार प्रकार बनते हैं, वे निम्नानुसार हैं—(१) द्वावुत्तर, जिसमें तन्त्री का द्विवार वादन वीणा के उत्तर भाग में किया जाता है, (२) द्विरध, जिसमें तन्त्री का द्विवार वादन वीणा के अधर भाग में किया जाता है, (३) अधरादि और उत्तरावसान, जिसमें आरम्भ में वीणा के अधर भाग में स्पर्श किया जाता है और पश्चात् उत्तर भाग में द्विवार छेड़ा जाता है, (४) उत्तरादि और अधरावसान, अर्थात् तृतीय प्रकार के विपरीत आरम्भ में तन्त्री का द्विवार वादन उत्तर भाग में होता है और पश्चात् अधर भाग में किया जाता है (२९,८६) ।

समवायज प्रकार के अष्ट भेद हैं—(१) त्रिरुत्तर अर्थात् वीणा के उत्तर भाग में तन्त्री के त्रिवार वादन से बोल-निर्माण करना, (२) त्रिरध अर्थात् प्रथम के विपरीत वीणा के अधोभाग में त्रिवार छेड़कर बोल बजाना, (३) द्व्यधरोत्तरावसान अर्थात् 'त्रिकवादन' की प्रक्रिया प्रथम दो बार अधःस्थान में और तीसरी बार उत्तर भाग में करना, (४) द्विरुत्तर–अधरान्त, जिसमें त्रिकवादन उत्तर भाग में द्विवार और अधर भाग में अन्तिम बार किया जाता है, (५) प्रागुत्तर–द्विरधर, जिसमें त्रिकवादन पहिली बार उत्तर भाग में और दूसरी दो बार अधर भाग में होता है, (६) द्विरुत्तरावसान अर्थात् पहली दो बार उत्तर भाग में 'त्रिक' बजाकर अन्तिम बार अधर भाग में बजाना, (७) उत्तरमध्य अर्थात् प्रथम बार अधर में, द्वितीय बार मध्य में तथा तृतीय बार अधर में 'त्रिक' वादन करना, (८) अधरमध्य अर्थात् प्रथम तथा तृतीय बार उत्तर में तथा दोनों के बीच अधर में तन्त्री का त्रिकवादन करना ।

धातु-वादन की इस प्रक्रिया में अधर तथा उत्तर का तात्पर्य क्रमशः एक सप्तक के अन्तर्गत तार तथा मन्द्र स्वर से लेना आवश्यक है । दत्तिल के निम्न वचन से स्पष्ट है कि तत्कालीन वीणा में स्वरों की स्थापना मन्द्र से तार तक 'अधरोत्तर' रीति से की जाती थी अर्थात् वीणा में मन्द्र स्वरों से आरम्भ कर निम्न की ओर तार स्वर बजाए जाते हैं—"उत्तरोत्तरतारस्तु वीणायामधरोत्तरः" । तार तथा मन्द्र से अभिप्राय यहाँ सम्पूर्ण स्वरसप्तक से न होकर एक ही सप्तक के अन्तर्गत मन्द्र तथा तार स्वर से है, यह तथ्य मननीय है । जैसा ऊपर देखा जा चुका है, धातु-वादन की चर्चा 'चित्रा' नामक सप्ततन्त्री वीणा के

सम्बन्ध में मुख्यतः हुई है। ऐसी सात तन्त्रीयों में तन्त्री-स्पर्श तथा मूर्च्छना-तान के मध्यम से अधिकाधिक डेढ़ सप्तक का वादन सम्भाव्य है और इस अवस्था में 'अधर' तथा 'उत्तर' से अभिप्राय सप्तकान्तर्गत उच्च तथा निम्न स्वर से लिया जाना चाहिए।

करण और आविद्ध धातु आघातों के काल-मान पर आधारित है। करण के निम्न पाँच प्रकार हैं—रिभित, उच्चय, नी रटित, ल्हाद तथा अनुबन्ध[1]। तन्त्री पर 'प्रहारों' की संख्या और उसके काल-प्रमाण के अनुसार इनका निर्माण होता है—

त्रिकपंचकसप्तकनवकैर्घातैर्युक्तो यथाक्रमं विहितः।
सर्वैरनुबंधकृतैर्गुर्वन्तः स्यात् करणधातुः ॥ २९,९७ ॥

'करण' की विशेषता अन्तिम गुरु अक्षर में विहित है। इसके अन्तर्गत रिभित में 'त्रिक घात' होता है, जिसमें दो लघु के बाद अन्तिम गुरु रहता है। 'उच्चय' नामक करण के 'पंचक घात' में प्रथम चार लघु और अन्तिम एक गुरु होता है। 'नीरटित' नामक करण में सात आघात किए जाते हैं, जिसमें प्रथम छः लघु तथा अन्तिम एक गुरु रहता है। 'ल्हाद' नामक करण के नव आघात होते हैं, जिनमें से आठ लघु के पश्चात् एक गुरु आता है। 'अनुबन्ध' नामक करण उपर्युक्त सभी प्रकारों के मिश्रण से बनता है।

आविद्ध नामक धातु के निम्न पंच भेद हैं—क्षेप, प्लुत, अतिपात, अतिकीर्ण तथा अनुबन्ध। इन सभी का निर्माण क्रमशः दो, तीन, चार, नव तथा इनके संयोग से उत्पन्न प्रहारों से होता है—

क्षेपप्लुतातिपातातिकीर्णाबन्धसंज्ञिताश्चेति।
आविद्धो विज्ञेयो धातुर्वाद्यप्रयोगे तु ॥ २९,९८ ॥
द्वित्रिचतुष्कैर्नवकैः प्रकारैः क्रमशः कृतैः।
आविद्धधातुर्विज्ञेयस्त्वनुबन्धविभूषितः ॥ २९,९९ ॥

आविद्ध धातु के इन प्रकारों का सविस्तर विवरण नाट्यशास्त्र में उपलब्ध नहीं, तथापि संगीतरत्नाकर के आधार पर इनका स्वरूप प्रत्येकशः निम्नानुसार प्रतीत होता है—

१—क्षेप	एक लघु के बाद दो गुरु
२—प्लुत	एक लघु, एक गुरु और एक लघु
३—अतिपात	लघु, गुरु, लघु तथा गुरु

१. २९, ६१ ना० शा० का० मा० तथा द्र० सं० र०

४—अतिकीर्ण	लघु—गुरु, लघु—गुरु, लघु—गुरु, लघु—गुरु अथवा लघु—लघु, लघु—लघु, गुरु—गुरु गुरु—गुरु
५—आकन्ध	इन चारों उपर्युक्त प्रकारों का मिश्रण ।

मतान्तर के अनुसार आविद्ध के प्रथम चार प्रकारों में क्रमशः दो, तीन, चार और नव लघु होते हैं[1]।

जैसा ऊपर विवेचित किया जा चुका है, विस्तार, करण तथा आविद्ध धातु का सम्बन्ध विभिन्न बोलों की रचना से है। इन बोलों को बजाते समय अंगुलि-प्रयोग में भी वैचित्र्य का सम्पादन किया जाता रहा है। यही अंगुलि-कौशल्य 'व्यंजन' नामक धातु का उत्पादक है। अन्य तीनों धातुओं में प्रयोग किए जाने के कारण यह 'सार्वधातुक' कहलाता है (२९,९५)। व्यंजन धातु के सभी भेद तन्त्रियों के वैचित्र्यपूर्ण स्पर्श से निष्पन्न होते हैं। इस धातु के दस भेद निम्नानुसार हैं—कल, तल, निष्कोटित, उन्मृष्ट, रेफ, अवमृष्ट, पुष्प, अनुस्वरित, बिन्दु तथा अनुबन्ध (२९,८९)। 'कल' में दोनों अंगुष्ठों से तन्त्रियों को छेड़ा जाता है, 'तल' में वाम अंगुष्ठ से तन्त्री को छेड़ने की क्रिया होती है तथा दक्षिण अंगुष्ठ से बोल निकालने के लिए आघात-क्रिया होती है (२९,९०)। 'निष्कोटित' में दक्षिण अंगुष्ठ से तन्त्री को छेड़ने की क्रिया होती है और 'उन्मृष्ट' विधि में तन्त्री को दक्षिण तर्जनी से स्पर्श किया जाता है (२९,९१)। तन्त्रियों को जब सभी अँगुलियों से छेड़ा जाता है, तब यह क्रिया 'रेफ' कहलाती है। दाहिने हाथ की कनिष्ठिका तथा अंगुष्ठ से तीन तन्त्रियों को जब छेड़ा जाता है तब यह 'त्रिप्रकार' क्रिया 'अवमृष्ट' कहलाती है। कनिष्ठिका तथा अंगुष्ठ की संयुक्त क्रिया के लिए 'पुष्प' संख्या है (२९,९२–९३)। हस्ततल से छेड़ने की क्रिया अनुध्वनित अथवा अनुस्तनित कहलाती है तथा तन्त्री पर केवल गुरु अक्षरों के बजाये जाने पर वह 'बिन्दु' कहलाती है (२९,१४)। इन सभी प्रकारों का मिश्रण 'अनुबन्ध' कहलाता है (२९,९५)।

नाट्यशास्त्र के अनुसार वाद्य-वादन की चित्रा, दक्षिण तथा वार्तिक नामक विविध शैली में उपर्युक्त सभी धातुओं का यथायोग्य प्रयोग किया जाता रहा है (२९, १००)। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हुआ है कि भरतकालीन 'चित्रा' का वादन प्रसंगवशात् दोनों हाथों से किया जाता था तथा अँगुलियों के द्वारा उसमें लालित्य तथा वैचित्र्य का सम्पादन किया जाता था।

इन धातुओं के यथायोग्य विनियोग के आधार पर वाद्य-वादन की निम्न

---

१. सं० र०

चार जातियाँ बताई गई हैं—उदात्त, ललित, रिभित तथा घन[1]। 'विस्तार' धातु वाली जाति 'उदात्त' कहलाती थी, 'व्यंजन' धातु वाली जाति 'ललित' कहलाती थी, 'आविद्ध' धातु से युक्त जाति 'रिभित' कहलाती थी और इसमें प्रहारों का प्राधान्य था, 'करण' धातु वाली जाति में लघु-गुरु वर्णों का विशेष प्राधान्य था और यह 'घन' कहलाती थी[2]। इन्हीं चारों धातुओं से समन्वित होने पर वीणा-वादन विशेष प्रभावशाली होता था—

> सर्वासामेव वृत्तीनां ललिताद्या हि जातयः ।
> धातुभिः सह संयुक्ता भवन्ति गुणवत्तराः ॥ २९,१०१ ॥

गीत की संगति में वीणावादन त्रिविध बतलाया गया है—तत्व, अनुगत तथा ओघ[3]। 'तत्व' नामक संगति-प्रकार विलम्बित लय में, 'अनुगत' मध्य लय में तथा 'क्रोध' नामक प्रकार द्रुत लय में प्रवृत्त होता है—

> स्थिते तत्वं प्रयोक्तव्यं मध्ये चानुगतं भवेत् ।
> द्रुते चौघं प्रयुंजीयादेष वाद्यगतो विधिः ॥ २९,१०५ ॥

'तत्व' के अन्तर्गत गीत की लय, ताल, वर्ण, पद, यति इनका समुचित ध्यान रख कर अर्थानुकूल वादन किया जाता है। 'अनुगत' में गीति का केवल अनुसरण होता है, गीत के अर्थ की उद्भावना नहीं होती। 'ओघ' में गीत के अर्थ की कथमपि अपेक्षा नहीं होती है तथा 'आविद्ध' करणों के साथ केवल हस्तकौशल्य का निर्वाह करते हुए द्रुत लय में वादन किया जाता है[4]। आधुनिक वाद्यवादन में द्रुत लय में 'झाला' आदि बजाने की जो क्रिया पाई जाती है, वह इसी के अन्तर्गत आती है।

भरतकालीन गीत-गान विलम्बित लय से आरम्भ किया जाता था तथा मध्य लय में बढ़ाकर द्रुत लय में इसका अवसान किया जाता था। गीत के लय पर आधारित इन तीन खण्डों के साथ वीणा की संगति क्रमशः 'तत्व', 'अनुगत' तथा 'ओघ' प्रणाली से की जाती थी (२९०,१०६)। गीत की संगति करने की यह प्रणाली भरतकालीन 'चित्रा' वीणा की थी, ऐसा स्पष्ट संकेत नाट्यशास्त्र के निम्न वचन से उपलब्ध है—

> एवं तज्ज्ञैर्ज्ञेया वीणावाद्ये तु धाततः प्रोक्ताः ।
> वक्ष्येऽधुना विपंचीवाद्यविधाने तु करणार्थम् ॥ २९,१०७ ॥

---

१. २९, ७५ का० मा०
२. २९, ७५–७७ का० मा०
३. वहीं, १०२, काशी
४. वहीं, १०३–१०४

भरत का अभिप्राय स्पष्ट है कि उपर्युक्त धातुओं तथा वादन-शैली का संबंध मुख्यतः 'वीणा' वाद्य से है, जो तत्कालीन संगति-वाद्यों में प्रमुखतम वाद्य है। इससे आगे 'विपंची' का करण-विधान बताने का उनका संकल्प है, जिससे यह निष्कर्ष स्पष्ट है कि वीणा से तात्पर्य यहाँ मुख्यतः 'चित्रा' वीणा से है, जो भरत के अनुसार सप्त तन्त्रियों से समन्वित थी और जिसका वादन अँगुलियों से किया जाता था। इसी का उल्लेख भरत ने 'वीणा' के नाम से अनेक बार किया है। इस वीणा का स्वरूप समुद्रगुप्त की 'वीणावादिनी' मुद्रा पर अंकित सरोदाकार वीणा के सदृश रहा हो, ऐसा दृढ़ अनुमान किया जा सकता है।

भरतकालीन वीणा के सम्बन्ध में आधुनिक संगीतज्ञों की मान्यता है कि यह वीणा 'मत्तकोकिला' नामक वीणा रही है। इस मान्यता का आधार भरतकोषकार प्रो० रामकृष्ण कवि का निम्न अनुमानात्मक कथन है—

"भरतो...मत्तकोकिलाम्...अवादयदिति प्राहुः"[1] ।

वीणागत धातुओं का विवरण इसी वीणा को लेकर भरत ने किया है ऐसी उनकी मान्यता है—

"एतत्करणं मत्तकोकिलाख्यवीणायां भरतेन निदर्शितम्"[2] ।

संगीतरत्नाकरकार के अनुसार मत्तकोकिला नामक वीणा में इक्कीस तन्त्रियाँ होती हैं तथा मन्द्र, मध्य तथा तार तीनों सप्तक इसमें उपलब्ध होते हैं। ई० १३ के इस ग्रन्थकार के अनुसार यही वीणा सभी वीणाओं में प्रमुखतम है तथा अन्य सभी इसकी अंगभूत हैं[3] ।

भरतकालीन सङ्गीत का आलोडन करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भरत ने 'मत्तकोकिला' नामक वीणा का एक बार भी नामनिर्देश नहीं किया है, न किसी अन्य नाम से इक्कीस तन्त्री वाली वीणा का संकेत ही किया है। दारवी वीणाओं के अन्तर्गत 'चित्रा' तथा 'विपंची' के प्रमुख होने के सम्बन्ध में भरत की निःसंदिग्ध मान्यता का निर्देश हम ऊपर कर चुके हैं। विशेष मननीय तथ्य यह है कि भरत-पूर्व काल में भी 'मत्तकोकिला' नामक वीणा का अस्तित्व कथमपि दृष्टिगोचर नहीं होता। इस स्थिति में भरतोक्त लक्ष्य के विपरीत होने के कारण प्रो० कवि की उपर्युक्त मान्यता पूर्णांशेन निराधार ही मानी जा सकती है।

---

१. भरतकोष, पृ० ५१९

२. वहीं, पृ० ५५६

३. वाद्याध्याय, पृ० २४८

भरतकालीन युगल-वादन

विपंची की वादन-विधि का निरूपण करते समय भरत ने तत्कालीन युगल-वादन का परिचय दिया है। विपंची नामक नवतन्त्री वीणा के करण वीणाद्वय के आधार से प्रवृत्त होने वाले बतलाये गये हैं। ये करण छः प्रकार के हैं—रूप, प्रतिकृत, प्रतिभेद, रूपशेष, ओघ तथा प्रतिशुष्क अथवा प्रतिशुक्ल। नाट्यशास्त्र के शब्दों में—

रूपकृतं प्रतिकृतं प्रतिभेदो रूपशेष ओघश्च।
षष्ठी च प्रतिशुष्का ह्येवं ज्ञेयं करणजातम् ॥ २९,१०८ ॥
वीणावाद्यद्विगुणं गुरुलाघववादनं भवेद्रूपम्।
रूपं रूपं प्रति भेदकृतं प्रतिकृतमित्युच्यते वाद्यम् ॥ २९,१०९ ॥
युगपत्कृतेऽन्यकरणं प्रतिभेदो दीर्घलाघवकृतः स्यात्।
वीणावाद्यविरामेऽप्यविरतकरणं तु रूपशेषः स्यात् ॥ २९,११०॥
आविद्धकरणयुक्तो ह्युपर्युपरि पाणिकस्त्वोघः।
प्रतिशुष्का विज्ञेया वाद्ये सहैकतन्त्रिकृता ॥ २९,१११ ॥

'रूप' के अन्तर्गत प्रमुख वीणा के द्विगुण लय में बोलों का वादन किया जाता है; अर्थात् जहाँ मुख्य वीणा में गुरु-लघु आदि का प्रयोग किया जाता है, तब विपंची में गुरु के स्थान पर दो लघु तथा लघु के स्थान पर दो द्रुत का वादन होता है। 'प्रतिकृत' में वीणा के बोलों का यथार्थ अनुकरण विपंची वीणा पर किया जाता है। 'प्रतिभेद' में वीणा के करणों के साथ ही तद्भिन्न करणों का प्रयोग विपंची वीणा पर किया जाता है, जैसे मुख्य अर्थात् चित्रा वीणा पर यदि गुरु अक्षरों का स्वरसमूह बजाया जाता हो, तब विपंची जैसे अंगभूत वाद्य पर तद्विपरीत लघु बोलों का स्वरगुच्छ बजाया जाता है। 'रूपशेष' के अन्तर्गत मुख्य वीणा के विराम पर अन्य अङ्गभूत वीणा के द्वारा अनवरत रूप से करण बजाए जाते हैं। प्रमुख वीणा के अन्तराल की पूर्ति विपंची के वादन से करना इसका उद्देश्य है। 'ओघ' नामक प्रकार में प्रमुख वीणा के विलम्बित वादन के साथ विपंची पर आविद्ध अर्थात् प्रहारयुक्त करणों का वादन द्रुत लय में किया जाता है। 'प्रतिशुष्का' की भरतलिखित व्याख्या संदिग्ध होने के कारण इसके आधार पर तत्सम्बद्ध करण को हृदयंगम करना सम्भव नहीं।

नाटक के पूर्व होने वाले पूर्वरंगविधि में आश्रावणा, आरम्भ, वक्त्रपाणि, परिघट्टना, संघोटना आदि 'बहिर्गीतों' के गायन तथा वादन का विधान है, जिसमें ताल, वृत्ति, आलाप तथा वाद्य आदि का सम्यक् प्रयोग नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट है[1]।

१. द्र० ना० शा० २९, ११५–१२०; २९, १२७; २९,१३१, १३७–१३९ १४२–१४३, १४६ तथा ३२,४२८–४२९।

वीणा तथा विपंची के उपर्युक्त सभी वादन-प्रकार इन गीतों के साथ बजाए जाते थे, ऐसा भरत के विवरण से नितान्त स्पष्ट है।

भरतकालीन वंशीवादन

वंशीवादन की परम्परा भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित रही है। सिन्धु-सभ्यता के संगीत का विवेचन करते समय हमने निर्दिष्ट किया है कि अस्थिनिर्मित सीटि तथा वंशियों का प्रयोग उस समय हुआ करता था। ऋग्वेद काल में मरुद्गणों का वाण-वादन भूरिशः उल्लिखित है। यमराज के निवास पर नाडी नामक सुषिर वाद्य के वादन का उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है। यजुर्वेद में शंख तथा वंशीवादन का व्यवसाय करने वाले लोगों का स्पष्ट उल्लेख है। ब्राह्मणकाल में वीणाओं के साथ वेणु-वादन प्रचलित रहा है। नारदी शिक्षा में वेणु के अवरोही स्वरसप्तक का उल्लेख हुआ है। उसके अनुसार वेणु का 'मध्यम' संज्ञकस्वर सामगों के 'प्रथम' नामक स्वर का पर्याय है।

वंशीवादन के शिल्पनिर्माता के रूप में भगवान् श्रीकृष्ण का प्रमुख स्थान प्राचीन भारतीय वाङ्मय में पाया जाता है। श्रीकृष्ण की वंशी से चेतन तथा अचेतन सभी मुग्ध हो जाते थे ऐसी मान्यता भारतीय साहित्य में प्राचीन काल से लेकर अद्यतन काल तक बराबर प्रचलित है। अजन्ता तथा अन्य स्थानों के प्राचीन प्रस्तर तथा चित्र-शिल्पों में तिर्यक् वंशी के चित्र स्पष्टतः अंकित हैं[1]। सामूहिक सङ्गीतायोजनों में गीत तथा नृत्य के साथ बजाए जाने वाले वाद्यों में वंशी का प्रमुख स्थान रहा है। प्राचीन तामिल ग्रन्थों में भी 'वेणु' का उल्लेख भूरिशः पाया जाता है। 'पेरिया पुराणम्' नामक ग्रन्थ में 'आनाय नायनार' नामक शैव संत के अलौकिक वेणु-वादन की कथा ग्रथित है। 'सिलप्पदिकारन्' में कुलाल अर्थात् वंशी की रचना एवं वादनविधि का सविस्तर वर्णन आया है। 'सिलप्पदिकारम्' का नायक 'कोवलन' कुशल कुलालवादक बतलाया गया है। मायवन् अर्थात् श्रीकृष्ण के कुलाल वादन से समस्त सृष्टि मोहित हो उठती है ऐसा वर्णन तामिल ग्रन्थों में पाया जाता है[2]।

तत, वितत, घन तथा सुषिर नामक चतुर्विध वर्गीकरण में 'वंश' का समावेश सुषिर अर्थात् फुत्कारनिर्मित वाद्य में किया गया है[3]। भरतकालीन विशाल 'कुतपों' में वंशी-वादकों का प्रमुख स्थान रहा करता था[4]। ऐसे वाद्य-

१. इसी प्रबन्ध के अन्त में आकृति १६

२. द्र० पी० साम्बमर्ति कृत 'पलूट', संस्करण २, पृ० १८।

३. २८, २; द्र० अमरकोश नाट्यवर्ग में—'वंशादिकं तु सुषिरम्'।

४. २८,४

वृन्द में वंश को अंगभूत माना जाता था तथा शंख और डक्किनी आदि वाद्यों को प्रत्यंग माना जाता था—

अङ्गलक्षणसंयुक्तो विज्ञेयो वंश एव हि ।
शंखस्तु डक्किनी चैव प्रत्यंगे परिकीर्तिते ॥ ३३,१७ ॥

वंशवादक के लिए आवश्यक था कि वह गीत, लय, माधुर्य तथा स्निग्धता इत्यादि संगीतसम्बन्धी गुणों से युक्त होते हुए बलसम्पन्न एवं 'दृढानिल' हो (३२, ४६४)। वंशीवादन के अन्याय प्रकार एवं अलंकार फूत्कार की न्यूनाधिक मात्रा पर निर्भर होने के कारण वादक के लिए बल एवं प्राणशक्ति की नितान्त आवश्यकता रही हो, तो कोई आश्चर्य नहीं।

सुषिर वाद्यों की वादन-विधि नाट्यशास्त्र के अध्याय ३० में निरूपित है। वंशीवादन का शास्त्र वीणा-तन्त्र का अनुगामी बताया गया है। स्वर, ग्राम आदि का वादन जैसे वीणा पर किया जाता था वैसे ही वंशवाद्य पर भी—

वेण एव विधिस्तत्र स्वरग्रामसमाश्रयः ॥ ३०,१ ॥

वंश के अन्तर्गत त्रिविध स्वर वादित होते हैं—द्विक, त्रिक तथा चतुष्क। द्विक से तात्पर्य द्विश्रुतिक स्वरों से है, त्रिक का त्रिश्रुतिक से तथा चतुष्क का तात्पर्य चतुःश्रुतिक स्वरों से है। उनका वादन त्रिविध रूप से किया जाता था। भरत के शब्दों में—

द्विकत्रिकचतुष्कास्तु ज्ञेया वंशगताः स्वराः ।
कम्पिता ह्यर्धमुक्ताश्च व्यक्तमुक्तास्तथैव च ॥ ३०,२ ॥

वंशवादन जिन तीन प्रकारों से किया जाता था, वे क्रमशः—'कम्पित', 'अर्धमुक्त' तथा 'व्यक्तमुक्त' कहलाते थे। इनके वादन के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र में निम्न विधि निर्दिष्ट की है—

स्वराणां च श्रुतिकृतं तच्च मे सन्निबोधत ।
व्यक्तमुक्तांगुलिस्तत्र स्वरो ज्ञेयश्चतुः श्रुतिः ॥ ३०,५ ॥
कम्पमानांगुलिश्चैव त्रिश्रुतिश्च स्वरो भवेत् ।
द्विकोऽर्धांगुलिमुक्तस्तु एवं श्रुत्याश्रिताः स्वराः ॥ ३०,६ ॥

अर्थात् वंशी के रन्ध्र से अँगुलियों को पूर्णतः मुक्त करने से 'चतुःश्रुतिक' स्वर उत्पन्न होता है, अंशतः मुक्त एवं अंशतः मुद्रित रखने से 'द्विश्रुतिक' स्वर उद्भूत होते हैं तथा रन्ध्र को बार-बार खुला एवं बन्द करने से 'त्रिश्रुतिक' स्वर उत्पन्न होते हैं। त्रिश्रुतिक स्वर को बजाने की यह क्रिया 'कम्पित' कहलाती है। इसके अतिरिक्त अन्यान्य स्वरों की उत्पत्ति के लिए फूत्कार की गति को न्यूनाधिक किया जाता है—

द्विकत्रिकचतुष्को वा स्वरः स्यात् श्रुतिसंख्यया ।
अनीरणात्तु शेषाणां स्वराणां श्रुतिसम्भवः ॥ ३०,४ ॥

विशेषतः काकलि नि तथा अन्तर ग जैसे साधारण संज्ञक स्वरों के वादन के लिए इसी प्रक्रिया का अवलम्ब किया जाता है। सा तथा काकलि नि और मध्यम तथा अन्तर ग इन स्वरयुग्मों का परस्पर सन्निकर्ष स्वतःसिद्ध है। अतएव फूत्कार की गति एवं बल में परिवर्तन करने से एक ही स्वरस्थान से इन दोनों स्वरों का उद्भव सम्भाव्य है। भरत के शब्दों में—

निषादगान्धारयोश्च षड्जमध्यमयोरपि ।
विपर्ययः सन्निकर्षे श्रुतिलक्षणसिद्धतः ॥ ३०,६ ॥

वंशीवादन की यही विधि षड्ज तथा मध्यम उभय ग्रामों के लिए समान रूप से प्रयुक्त की जाती रही है—

एते तु मध्यमग्रामे भूयः षड्जाश्रिताः पुनः ।
व्यक्तमुक्तांगुलिकृता षड्जमध्यमपंचमाः ॥ ३०,७ ॥

भरतकाल में वेणुवाद्य का प्रयोग गायन की संगति के लिए किया जाता रहा। संगति का सिद्धान्त यह था कि गायक जिस स्वर का गायन करता था, उसी का अनुसरण वंशवाद्य पर किया जाता था। गायक, वीणा तथा वंश तीनों के स्वरों में सम्पूर्ण सामन्जस्य संगति की सफलता का निकष माना गया है—

वेणुदण्डप्रवेशेन सिद्धा वंशाश्रिताः स्वराः ।
यं यं गाता स्वरं गच्छेत् तं तं वंशेन वादयेत ॥ ३०,१० ॥
शारीरवंशवैणानामेकीभावः प्रशस्यते ।

नारदी शिक्षा के अनुसार यही संगीत का 'रक्त' गुण है। आवश्यक यह है कि वंशवादन यथास्थान, अविच्छिन्न तथा वर्ण एवं अलंकारों से सम्पन्न हो। 'यथास्थान' से तात्पर्य है स्वर के सम्यक् स्थान को स्पर्श करना, जो फूत्कार के यथोचित प्रमाण पर निर्भर रहता है। फूत्कार की न्यूनाधिकता के होने पर सही स्वर-स्थान की प्राप्ति असम्भव होती है। 'अविच्छिन्नता' से तात्पर्य है न्यूनाधिकता के बिना एक-सा फूत्कार करने से। इन गुणों के होने पर वंशवादन लालित्य एवं माधुर्य से सुशोभित होता है (३०,११–१२)।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भरतकालीन 'वंशी' वेणु-दण्ड से बनाई जाती थी[1]। पीतल, ताम्र अथवा रजत आदि धातुओं से निर्मित वंशी का

---

१. द्र० ना० शा० ३०,१० में वेणुदण्ड का स्पष्ट उल्लेख है।

प्रचलन नहीं हुआ था[1]। वंशी का वादन-तन्त्र गायन तथा वीणा पर आधारित था तथा विभिन्न श्रुतियों, वर्ण एवं अलंकारों का वादन इस पर किया जाता था। कालिदास ने स्पष्ट निर्देश किया है कि गायन की तान–मूर्च्छनाओं का प्रयोग वेणु-वाद्य पर किया जाता था[2]। शूद्रक के मृच्छकटिक में 'सप्तच्छिद्रा वंशी' का उल्लेख है, जो ईसवी प्रारम्भिक शताब्दियों में वर्तमान वेणु पर प्रकाश डालता है, सम्भव है कि भरत के समय पर अथवा नाट्यशास्त्र के रचना-काल पर ऐसे ही सप्तरन्ध्रयुक्त वंशी का प्रचलन रहा हो।

भरतकालीन अवनद्ध वाद्य

चतुर्विध आतोद्यों में अवनद्ध अर्थात् चर्मावृत वाद्यों का प्रमुख स्थान है। गीत तथा वाद्य के साथ ताल एवं लय के प्रदर्शनार्थ इन्हीं वाद्यों का प्रयोग आरम्भ से किया जाता रहा है। मृदंग, पणव तथा दर्दुर जैसे इन वाद्यों के लिए सामान्य संज्ञा 'पौष्कर' है (२८,२)। इन वाद्यों का जो स्वतन्त्र वाद्य-वृन्द बनाया जाता है, उसमें प्रमुख स्थान मृदंग-वादक, पणव-वादक तथा दर्दुर-वादकों का है (२८, ५)। नाट्यगृह के मण्डपविन्यास के प्रसंग पर रंगदेवता के प्रीत्यर्थ जो संगीतायोजन किया जाता था, उसमें शंख, दुन्दुभि, मृदंग, पणव आदि वाद्यों की ध्वनि एक साथ की जाती थी[3]। महेश्वर के तांडव नृत्य के साथ ताल एवं लय के निर्वाह के लिए निम्न अवनद्ध वाद्यों के प्रयोग का उल्लेख है, जैसे मृदंग, भेरी, पटह, भाण्ड, डिण्डिम, गोमुख, पणव तथा दर्दुर[4]। मानवोचित कोमल भावनाओं के उद्दीपन में जैसा इनका सहयोग था, वैसा ही वीरोचित उत्साह को उद्दीपित कर युद्ध के लिए प्रेरित करने का कार्य भी इन वाद्यों के द्वारा सम्पादित किया जाता था। श्रीमद्भगवद्गीता में युद्ध के प्रसंग पर भेरी, पणव तथा गोमुख जैसे रणवाद्यों की तुमुल ध्वनि का उल्लेख प्राप्त है (अ० १,१३)।

अवनद्ध वाद्यों के लिए अपर संज्ञा 'भाण्ड' अथवा 'भाण्डवाद्य' है। तण्डु के द्वारा प्रयुक्त ताण्डव का प्रयोग गान तथा भाण्डवादन दोनों से समन्वित बताया गया है[5]। रंगभूमि पर नर्तकी के प्रवेश पर तन्त्री तथा भाण्डवाद्य दोनों का

---

१. अभिनवगुप्त के अनुसार धातुनिर्मित वंशी के आविष्कर्ता तथा परिष्कर्ता मतंग मुनि हैं (द्र० काणे कृत 'हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स')। मतंग के नाम से उपलब्ध बृहद्देशी में वाद्यविषयक विवरण अनुपलब्ध है।

२. द्र० कुमारसम्भव में सर्ग १, श्लो० ८।

३. ना० शा० २, ३७–३८; ३, ९४

४. वहीं, ४, २४७–४९

५. ४, २५७–२५८

समुचित प्रयोग किया जाता था[२]। भाण्डवाद्य का वादन अंगहारों के अनुकूल सम, रक्त, विभक्त, स्फुट तथा शुद्ध वादन-शैली से समन्वित हुआ करता था (४,२७४)। गीत तथा नृत्य में किस स्थान पर भाण्डवाद्य का वादन आरम्भ किया जाय, इस सम्बन्ध में स्पष्ट नियम-विधान नाट्यशास्त्र के अ० ५ में पाया जाता है[३]। नृत्य तथा गीत के प्रसंग में इन वाद्यों का प्रथम आघात 'ग्रह' कहलाता था। नाट्य के गीतों के अनुसार यह भाण्डग्रह विभिन्न स्थानों पर हुआ करते थे। उदाहरणार्थ, चतुष्पदा ध्रुवा की रचना जब खंज एवं नर्कुट नामक वृत्तों में विरचित होती थी, तब एक पाद की समाप्ति पर सन्निपात नामक ग्रह के साथ भाण्डवाद्य का वादन आरम्भ किया जाता था[४]।

भरतकालीन नाट्यकला में मृदंगादि वाद्यों का विधान महत्वपूर्ण है। 'नाटकीया' अर्थात नटी के लिए यह आवश्यक था कि वह ताल तथा लय का सम्यक् ज्ञान रखती हो तथा भाण्डवाद्यों के विधिविधान से परिचित हो (३५, ७९)। नट के लिए आवश्यक था कि वह वाद्यवादन की कला में निष्णात हो (३५,८४)। भरतप्रणीत नाट्य गेय-प्रधान होने के कारण नट तथा नटी के लिए संगीतज्ञ होना आवश्यक माना गया हो, तो आश्चर्य की बात नहीं। नाट्यशास्त्र के अनुसार वाद्य नाट्य की 'शय्या' है तथा उसका विधान सम्यक् रूप से किया जाना चाहिए—

वाद्येषु यत्नः प्रथमं तु कार्यः शय्या हि नाट्यस्य वदन्ति वाद्यम्।
वाद्येऽपि गीतेऽपि च सम्प्रयुक्ते नाट्यस्य योगो न विनाशमेति ॥ ३३,२७०॥

भाण्डवाद्य के आचार्य के रूप में 'स्वाति' का नामोल्लेख नाट्यशास्त्र में पाया जाता है। इन्द्रध्वज उत्सव के अवसर पर नाट्यसामग्री की सज्जता किए जाने पर नारद को गान्धर्व के लिए तथा स्वाति को भाण्डवाद्यों के वादन के लिए नियुक्त किया गया था, ऐसी कथा नाट्यशास्त्र के अ० १ में उपलब्ध है। ये दोनों अपने-अपने विषयों के मान्य आचार्य हैं तथा गान्धर्व एवं वाद्य के सम्बन्ध में इनकी सशास्त्र परम्परा है। भरताचार्य का कथन है कि नाट्यशास्त्र में किया गया अवनद्ध वाद्यों का विवरण स्वाति की परम्परा के अनुकूल है—

गान्धर्वं चैव वाद्यं च स्वातिना नारदेन च।
विस्तारगुणसम्पन्नमुक्तं लक्षणकर्मतः ॥ ३३,३ ॥
अनुवृत्त्या तथा स्वातेरातोद्यानां समासतः।
पौष्कराणां प्रवक्ष्यामि निर्वृत्तिं सम्भवं तथा ॥ ३३,४ ॥

---

२. ४, २६९-२७४; ४,२८३
३. ५,३१५-३१९
४. ३२,३०४; ५,३१६

साम्प्रत में स्वाति का वाद्यविषयक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं, परन्तु उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि पुष्कर-वाद्यों के सम्बन्ध में इनका लक्षण-ग्रन्थ नाट्यशास्त्रकार के सम्मुख था। पुष्कर-वाद्यों की उद्‌भावना स्वाति के द्वारा कैसे की गई इस सम्बन्ध में निम्न आख्यायिका नाट्यशास्त्र में पाई जाती है—

किसी अनध्याय के दिन स्वाति जल लाने के लिए जलाशय को गए थे, जहाँ महती वृष्टि के कारण पत्रों पर गिरते हुए जलबिन्दुओं के कलरव को उन्होंने सुना। इस धीर, गम्भीर तथा मधुर स्वर-लहरियों के श्रवण से मृदंग आदि भाण्डवाद्यों की कल्पना उन्हें उत्स्फूर्त हुई और मृत्तिका से पुष्कर, पणव तथा दर्दुर जैसे वाद्यों का निर्माण उन्होंने विश्वकर्मा से करवाया। देवताओं की दुन्दुभि को सामने रखकर मुरज, आलिंग्य, ऊर्ध्वक तथा अंकिक नामक चर्मवाद्यों की रचना हुई[1]।

भरताचार्य के अनुसार अवनद्ध वाद्यों में मृदंग तथा दर्दुर अंगभूत अर्थात् प्रमुख वाद्य हैं और झल्लरी तथा पटह आदि वाद्य प्रत्यंगभूत अर्थात् गौण हैं[2]। इन सभी वाद्यों का वादन उत्सव, मान, विवाह आदि प्रसंगों पर तथा नाट्य की विभिन्न अवस्थाओं में विहित हैं। नाट्य के अन्तर्गत विभिन्न अङ्गों में सामन्जस्य उत्पन्न करने के लिए, किसी न्यूनता की पूर्ति के लिए तथा नाट्य की शोभा-वृद्धि के लिए इन वाद्यों का प्रयोग किया जाता रहा[3]।

भरत के अनुसार अवनद्ध वाद्यों का प्रौढ़तम स्वरुप पुष्कर-वाद्य है। इसी पौष्कर वर्ग के भेरी, पटह, झंझा, दुन्दुभि तथा डिण्डिम जैसे वाद्यों में करणों अथवा बोलों के उत्पादन की वह क्षमता नहीं, जो स्वयं पुष्कर वाद्य में है—

> शेषाणां वर्णबाहुल्यं यस्यादस्मिन्न दृश्यते।
> न स्वरास्तत्र हाराश्च नाचराणि न मार्जना ॥ ३३,२६ ॥
> भेरीपटहझंझाभिस्तथा दुन्दुभिडिण्डिमैः।
> शैथिल्यादायतत्वाच्च स्वरे गाम्भीर्यमिष्यते ॥ ३३,२७ ॥

स्वरवान् तथा अभिधानवान् नामक द्विविध छन्द में पुष्कर का वादन स्वरवान् छन्द से युक्त माना गया है, जिसमें गीत में शब्दों का स्वरमय रूप मात्र अभिव्यक्त होता है। नाट्यशास्त्र का कथन है कि शारीर वीणा अर्थात् कंठ से उद्भूत होने वाले स्वर पुष्कर वाद्य में संक्रान्त हो उठते हैं (३३,२९–३२)। पुष्करवाद्य की संगति का सिद्धान्त यह है कि गाता जिस-जिस स्वर का गान

१. ३३, ५-११
२. ३३, १५-१७
३. ३३,२२

करता हो, उसी का अनुसरण इस वाद्य के द्वारा किया जाय तथा उनकी करण-रचना वही हो जो कि गीत के अक्षरों की होती है। गीताक्षरों के लघु-गुरु तथा यति, पाणि आदि अङ्गों का सम्यक् अनुसरण पुष्कर वाद्य में किया जाना उचित है—

यं यं गाता स्वरं गच्छेतमातोद्यैः प्रयोजयेत ।
यतिपाणिसमायुक्तं गुरुलध्वक्षरान्वितम् ॥ ३३,३५ ॥

पुष्कर के साथ ही 'त्रिपुष्कर' नामक वाद्य का निर्देश नाट्यशास्त्र में हुआ है[1]। 'मार्जना' का विवरण करते हुए भरताचार्य ने त्रिपुष्कर के निम्न तीन अंगों का उल्लेख किया है—वामक, सव्यक तथा ऊर्ध्वक। भरतकाल में इन तीनों अंगों को विलग रूप से स्थापित किया जाता था अथवा एक ही वाद्य के अंगभूत रूप में निर्मित किया जाता था, इसका स्पष्ट प्रतिपादन नाट्यशास्त्र में उपलब्ध नहीं। भारत की प्राचीन शिल्पकला में त्रिपुष्कर के दो प्रकार उपलब्ध हैं। ई० पू० २ शताब्दि के भारहुत शिल्प में एक वादक के पास ढोलक के आकार के दो वाद्य स्पष्ट दिखाई देते हैं, जिनमें से एक तिर्यक् अवस्था में अंक पर स्थापित है तथा दूसरा ऊर्ध्वाकृति स्थापित है। इसी ऊर्ध्वाकृति वाद्य पर वादक वादनदण्ड से वादन कर रहा है[2]। अमरावती के एक शिल्प में वादक के सम्मुख तीन मृदंगाकार वाद्य हैं, जिनमें से दो ऊर्ध्वाकृति हैं तथा एक उनके पीछे तिर्यक् अवस्था में स्थापित है[3]। दक्षिण भारत में त्रिपुष्कर का एक अन्य रूप पाया जाता है, जिसमें एक ही वाद्य में तीन मुख स्पष्टतः लक्षित होते हैं। चिदम्बरम् के नटराज मन्दिर में नटराज के 'ऊर्ध्व-ताण्डव' नृत्य के साथ इस प्रकार के त्रिमुख मृदंग का चित्र अंकित है। इसके दोनों पार्श्व में दो मुख हैं तथा मध्य में ऊपर की ओर तीसरा मुख है[4]। मैसूर के अरलगुप्पे नामक स्थान में कल्लेश्वर मन्दिर के भीतर पुष्कर का एक अन्य प्रकार अंकित है, जिसके तीनों मुख ऊर्ध्व की ओर उन्मुख है[5]।

पौष्कर वाद्यों की रचना तथा उनके लिए उपयुक्त चर्म के सम्बन्ध में विवरण नाट्यशास्त्र के अ० ३३, श्लो० २२५–२३२ में पाया जाता है। मृदंगों का

---

१. संगीतरत्नाकर के अनुसार यही त्रिपुष्कर मृदंग नाम से अभिहित किया जाता रहा—"प्रोक्तं मृदंगशब्देन मुनिना पुष्करत्रयम्"। (६,१०२५)

२. द्र० इस प्रबंध के अन्त में आ० १३

३. वहीं, अ० १४

४. द्र० 'जर्नल आफ म्यूजिक एकेडेमी', मद्रास, खण्ड, २४, पृ०—१३५—डॉ० राघवन का लेख।

५. प्रबंध के अन्त में आ० १६

आकार त्रिविध बताया गया है, हरीतकी अर्थात् हल्दी के आकार का, यवाकृति अर्थात् यव के आकार का तथा गोपुच्छाकार अर्थात् गोपुच्छ के आकार का[1]। आलिंग नामक वाद्य का आकर गोपुच्छ के समान बतलाया गया है। अंकिक नामक मृदंग विस्तार में तीन ताल का बताया गया है तथा उसका मुख १३ अथवा १४ अंगुल चौड़ा बताया गया है। ऊर्ध्वक चार ताल लम्बा होता है तथा उसका मुख आठ अंगुल चौड़ा होता है[2]। पणव नामक वाद्य १६ अंगुल दीर्घ होता है तथा उसके मुख का व्यास ५ अंगुल होता है। बीच में चौड़ाई केवल ८ अंगुल होने के कारण वह कृशाकार दिखाई देता है। इसी कृशाकार मध्य भाग पर चार अंगुल का छिद्र बनाकर इस पर तीन तन्त्रियों को स्थापित किया जाता है (३३,२४६)। पणव की इसी विशिष्टता का उल्लेख नाट्यशास्त्र की निम्न पंक्ति में हुआ है—

तन्त्रीभिः पणवं चैवमूहापोहविशारदः ॥ ३३,१२ ॥

दर्दर वाद्य का आकार घट के सदृश होता है तथा इस कलशाकार वाद्य का मुख १२ अंगुल चौड़ा होकर चर्म से ढँका हुआ होता है। नाट्यशास्त्र के अनुसार मृदंगादि वाद्यों के लिए प्रयुक्त किया जाने वाला यह चर्म षट् दोषों से मुक्त होना चाहिए—

न जीर्णोपहतं चर्म न च काकमुखावहम् ।
न मेदोपगतं किंचित् न च धूमादिदूषितम् ॥ ३३,२३४ ॥
षड्भिर्दोषैर्विनिर्मुक्तं चर्म निर्वर्त्तितं गवा ।

अर्थात् यह चर्म भेद, धूम तथा जीर्णता आदि दोषों से सर्वथा मुक्त होना चाहिए।

इन वाद्यों के वादन में निम्न विषयों का अन्तर्भाव होता है—षोडश अक्षर, चार मार्ग, विलेपन, षट् करण, त्रियति, त्रिलय, त्रिगत, त्रिप्रचार, त्रियोग, त्रिपाणिक, पंचपाणिप्रहत, त्रिप्रहार, त्रिमार्जन, बीस अलंकार तथा अष्टादश जाति (३३, ३७–३९)। इनमें से प्रत्येक का विवेचन निम्नानुसार है—

१—षोडश अक्षर :—पुष्कर वाद्य पर बजाए जाने वाले सोलह अक्षर इस प्रकार हैं, जैसे, क, ख, ग, घ, ट, ठ, ड, ढ, त, थ, द, ध, य, र, ल, ह। नाट्यशास्त्र के अनुसार इन अक्षरों के वादन की विशिष्ट विधि है। अ आ इ ई इत्यादि बारह अक्षरों के साथ क, ख, ग, घ आदि सोलह अक्षरों का संयोग करने से सरल तथा संयुक्त दोनों प्रकार के बोल निर्माण किए जाते हैं। सरल बोलों का वादन एक ही हस्त से किया जाता है परन्तु 'ध्रु क् ब्रेक्न, क्न, ब्रध्न' जैसे संयुक्त अक्षरों को मृदंग

१. प्रबंध के अन्त में आ० १७, १८, १९

२. वहीं, आ० ७५, ७८, ७९

के मुख पर बजाने के लिए एक साथ ही दोनों हस्तों का प्रयोग आवश्यक बतलाया गया है[1]। उदाहरण के लिए 'द्ध' अक्षर को निकालने के लिए ऊर्ध्वक तथा वामक नामक पुष्करों पर 'समहस्तनिपात' किया जाना चाहिए, ऐसी विधि नाट्यशास्त्र में स्पष्टतः निर्दिष्ट है। नाट्यशास्त्र के शब्दों में—

"ऊर्ध्वकवामकयोः समहस्तनिपाताद्धंकारः प्रदेशिन्या वा लिंग्ये वलैकारः"।[2]

२—चार मार्ग :—पुष्कर वाद्यों के चार मार्ग निम्न हैं—आलिप्त, अड्डित, गोमुख तथा वितस्त। ये चारों पुष्कर-वादन की चार विभिन्न शैलियां हैं, जिनको संगीत की आधुनिक परिभाषा में 'बाज' नाम से अभिहित किया जा सकता है। करणों अर्थात् बोलों की विभिन्नता तथा प्रहार की भिन्न-भिन्न शैली से इनका निर्माण होता है (३३,४४)। आलिप्त नामक मार्ग में प्रहारों की बहुलता होती है। अड्डित नामक मार्ग प्रायः आलिंग्य तथा मृदंग से सम्बद्ध रहता है, अन्य वाद्यों पर बजाने के समय पर इसमें वही अङ्गहार अर्थात् हस्तक्रिया होती है जो कि मृदंग वाद्य के वादन में। गोमुख मार्ग में आलिंग्य के विशिष्ट करणों का बाहुल्य होने के साथ आघात की क्रिया विशेष रूप से की जाती है। वितस्त में हस्त को ऊपर की ओर फेंक करण निकालने की क्रिया होती है, तथा ल, म, र आदि अक्षरों का प्रयोग सर्वथा वर्ज्य होता है। नाट्यशास्त्र के अनुसार इन चारों मार्गों के विभिन्न 'बोल' निम्नानुसार हैं—

अ—अड्डित :—"मट्टंकधितधट्टंघटाधट्टंग त्थित्युंगत्थिमगघरुंधित्थ इत्यड्डितो मार्गः"।[3]

आ—आलिप्त :—"द्रध्रोभाभाद्रोंभंगुदुर्पेंगुड्डुरनन्दुं घेप्रेंद्रघेंद्रोंमां आलिप्त-मार्गवाद्यम्—"।[4]

इ—वितस्त :—"निन्तान्तकितत्सेन्ता किनान्धिसंकेताइद्दुहद्दुकेन्तांतस्ते स्यात"[5]।

ई—गोमुख :—"खटमत्थिमट्टघणठांखेट्टड्खडमाखुंणकितिकित्तिकिटिमांखुखु-णुद्धुंधैंघोधो विधातव्याः"।[6]

३—विलेपन :—विलेपन से तात्पर्य मृत्तिकालेपन से है। यह लेपन पुष्कर-वाद्यों के मुख पर विशिष्ट स्वर के उत्पादनार्थ किया जाता था। इसके लिए

---

१. ३३, पृ० ४३३
२. वहीं, पृ० ४३४
३. वहीं
४. वहीं, पृ० ४३५
५. वहीं
६. वहीं

नदीतट की परिमार्जित मृत्तिका को प्रयोग में लाया जाता था। मार्जना नामक विधि में अंगभूत पुष्करों पर स्वरस्थापन के हेतु यह लेपन आवश्यक माना जाता था। इसके लिए किस प्रकार की मृत्तिका अभीष्ट है, इसका सविस्तर विवरण नाट्यशास्त्र की निम्न पंक्तियों में उपलब्ध है—

निःशर्करा निःसिकता निःस्तृणा निस्तुषा तथा।
न विच्छिन्ना न विशदा न चारकटुका तथा॥ ३३,१०२॥
नावदाता न वा कृष्णा नाम्ला नैव च तिक्तिका।
मृत्तिकालेपने ह्येषां यथाकार्यं तु मार्जनम्॥ ३३,१०३॥
नदीकूलप्रदेशस्था श्यामा सा मृत्तिका भवेत्।
तोयापसरणश्लक्ष्णा तया कार्यं तु मार्जनम्॥ ३३,१०४॥

अर्थात् मृत्तिका नदीतटवर्त्तिनी, निर्दोष तथा श्याम वर्ण की होनी चाहिए, इस पर पर्याप्त ध्यान रखा जाता था। किसी कारण वह अनुपलब्ध होने पर गेहूँ अथवा यव धान्य का चूर्ण लेपन-क्रिया के काम में लाया जाता था। यदा-कदा गेहूँ तथा जौ का सम्मिश्र लेप भी व्यवहार में लाया जाता था[1]।

मृदंगादि चर्म-वाद्यों को अभीष्ट स्वर में मिलाने के लिए कैसी सावधानी बरती जाती थी, इसकी यथार्थ कल्पना उपर्युक्त विवरण से सहज सम्भाव्य है।

४—षट् करण :—मृदंगादि वाद्यों पर बजाए जाने वाले छः करण भरत के अनुसार निम्न हैं—रुप, कृतप्रतिकृत, प्रतिभेद, रूपशेष, ओघ तथा प्रतिशुक्ल। इन करणों का निर्माण 'हारों' अर्थात् बोलों तथा प्रहार के संयोग से होता है। जैसे आगे चल कर बताया जाने वाला है, अंगों के सामूहिक अभिनय की संज्ञा करण है। मृदंगादि अवनद्ध वाद्यों पर भी बोल निकालने के लिए विभिन्न हस्तक्रियाओं का उपयोग किया जाता रहा। इन्हीं के अनुसार करणों के उपर्युक्त छः प्रकार निष्पन्न होते हैं। यद्यपि इनमें से सभी करणों का यथार्थ स्वरूप नाट्यशास्त्र के आधार पर स्पष्ट नहीं हो पाता, तथापि उनके सम्बन्ध में किंचित् कल्पना अवश्यमेव की जा सकती है। 'प्रतिकृत' नामक करण का तीन पुष्करों पर एक ही रूप में किए जाने का विधान है—"प्रतिकृतन्नाम यत्रैकं करणं त्रिपुष्करमुद्भावयति"[2]। प्रतिभेद नामक करण में मृदंग तथा अन्य वाद्यों का एक साथ वादन होता है, परन्तु प्रत्येक वाद्य में सम्भवतः करणों की विभिन्नता होती है—"प्रतिभेदो नाम युगपत् कृते करणे मृदंगानां यदुपरि करणेन गच्छेति"।[3] 'रूपशेष' के अन्तर्गत पुष्कर वाद्यों के एक साथ किए जाने वाले अनवरत वादन

१. ३३, १०५-१०६
२. द्र० पृ० ४३८
३. वहीं

में बीच-बीच में विराम की स्थिति होती है—"रूपशेषं नाम विरामकृतम्"।[1] 'प्रतिशुष्क' अथवा 'प्रतिशुक्ल' का विधान प्रायः मृदंग, पणव तथा दर्दुर वाद्यों पर बतलाया गया है—"प्रतिशुष्कं नामानुस्वारोमार्दंगिके पाणविकदार्दुरिकाणाम्"[2]।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इन करणों का प्रयोग विभिन्न वाद्यों की विशिष्टता रही है तथा वाद्यवृन्द में इनका प्रयोग उन्हीं विशिष्ट वाद्यों पर किया जाता है।

५—त्रियति :—तालवादन में यति का वही स्थान है, जो काव्य के अन्तर्गत छन्दों का। ताल के प्रमुख अङ्गों में यति, पाणि तथा लय का समावेश है (३२,५३०)। 'यति' से अभिप्राय पाद, वर्ण तथा अक्षरों की विभिन्न रचनाओं से है[3]। यति का निर्माण लय की गति के अनुसार होता है—'लययातं यतिः प्रोक्ताः'[4]। यह गति ताल के एक आवर्तन में किए गये लय-भेद से नानाविध हो सकती है, जैसे एक मात्रा के अन्तर्गत एकेक करण अथवा बोल से लेकर अनेक करणों का प्रयोग किया जा सकता है, जिसमें सभी बोलों का 'वजन' अर्थात् लय समान हो सकती है अथवा विभिन्न। यदि एकेक मात्रा में एक ही बोल रखा जाता है, तो सभी बोलों का वजन समान होगा। इसके विपरीत एक मात्रा में दो, किसी अन्य मात्रा में चार तथा किसी अन्य मात्रा में आठ-आठ बोलों का प्रयोग एक ही आवर्तन में किया जाता है, तो लय की गति निश्चित रूप से विषम हो जायेगी। भरत के अनुसार 'यति' त्रिविध है—समा, स्रोतोगता तथा गोपुच्छा। समा यति में लय की गति आद्यन्त अभिन्न एवं समरस होती है (३२,५३५)। स्रोतोगता नामक यति में लय की गति क्वचित् अवरुद्ध होती है और क्वचित् धावमान होती है (३२,५३६)। इसके अन्तर्गत आरम्भ में लय विलम्बित रहती है, क्रम से द्रुत, पुनः विलम्बित तथा बाद में द्रुत हो जाती है। सरित् अपने उद्गम-स्थान से निकलते हुए जिस प्रकार मन्द-मन्थर गति से बहती है, निम्न भूमि पाकर उसका वेग बढ़ जाता है तथा मार्ग में अवरोध पाकर पुनः मन्दगति हो जाती है, उसी प्रकार 'स्रोतोगता' यति प्रचलित होती है। यति का तृतीय प्रकार 'गोपुच्छा' कहलाता है, जिसके अन्तर्गत आदि में लघु तथा पश्चात् गुरु यह क्रम प्रवर्तित रहता है (३२,५३७)।

६—त्रिलय :—'लय' ताल का महत्वपूर्ण अङ्ग मानी गई है। ताल की गति को नियन्त्रित करने का कार्य इसी लय-तत्व के द्वारा सम्पन्न होता है। काल

---

१. वहीं

२. वहीं

३. ३२, ५३३–३४

४. दत्तिल, १५४

के विशिष्ट मापदण्ड को लेकर लय का त्रिविध विभाजन होता है। इसके अनुसार लय त्रिविध है—द्रुत, मध्य तथा विलम्बित[1]।

७—त्रिगत :—यह तत वाद्य तथा अवनद्ध वाद्य दोनों में दृष्टिगत होता है। इसके निम्न तीन प्रकार निर्दिष्ट हैं—तत्व, अनुगत अथवा घन तथा ओघ। 'तत्व' के अन्तर्गत गीत अथवा वाद्य की सम्यक् अनुकृति विलम्बित लय में की जाती है (३३,१०८)। 'अनुगत' में गीत अथवा वाद्य का अनुकरण न होते हुए केवल अनुसरण मात्र होता है अर्थात् गीतगान के अनन्तर गीत के गुरु तथा लघु अक्षरों के अनुकूल वादन अवनद्ध वाद्य पर किया जाता है। इसका प्रयोग मुख्यतः मध्य लय में अभीष्ट रहता है[2]। 'ओघ' के अन्तर्गत गीत के अर्थ तथा रचना की कथमपि अपेक्षा नहीं होती तथा इसका वादन द्रुत लय में किया जाता है (२९,१०५)।

त्रिगत का प्रयोग जैसे गीत तथा वाद्य में किया जाना विहित है, वैसे ही नृत्य में भी। भरत के अनुसार गान में जिस वृत्त का प्रयोग होता है, उसी के अनुकूल वाद्यवादन का होना अभीष्ट है तथा इन्ही दोनों के अनुकूल नृत्य के अङ्गाभिनय का होना आवश्यक है[3]। नाट्यशास्त्र का स्पष्ट संकेत है कि 'नृत्त प्रयोग' में तत्व तथा अनुगत भाण्ड की संगति अभीष्ट है तथा 'अनृत्त प्रयोग' में तत्व तथा ओघ की संगति आवश्यक है। (३३,१८०)

८—त्रिप्रचार :—प्रचार त्रिविध बतलाया गया है—सम, विषम तथा समविषम। 'प्रचार' से अभिप्राय हस्तों के विशिष्ट विनियोग से है। 'सम' नामक प्रचार में दोनों हाथों का एक साथ व्यवहार होता है। इसका विशेष प्रयोग अङ्कित नामक मार्ग में होता है। 'विषम' प्रचार में एक के पश्चात् दूसरा इस विषम रूप से दोनों हाथों का प्रयोग किया जाता है (३३,४९)। इसी के दूसरे प्रकार में हाथों का स्वस्तिक के रूप में उपयोग किया जाता है अर्थात् दाहिने हाथ से वामस्थ पुष्कर पर तथा बाएँ हाथ से सव्यस्थ पुस्कर बजाने की क्रिया की जाती है (३३,५०)। 'समविषम' प्रचार में उपर्युक्त दोनों प्रणालियों का मिश्रण रहता है तथा इसका प्रयोग अङ्डित तथा गोमुख नामक मार्गों में मुख्यतः होता है[4]। (३३,५१)

---

१. ३१, ४; इसके सम्बन्ध में विशेष विवरण इसी अध्याय में 'भरतकालीन ताल-प्रणालि' के अन्तर्गत किया गया है।

२. २९, १०३ तथा १०५; ३३, १५९–६०

३. ३३, १७६; ३३, १८१–८२

४. स्वस्तिक के अतिरिक्त निम्न 'उपहस्तों' का प्रयोग भी भरतकाल में किया जाता रहा—जैसे कर्तरी, समहस्त, दण्डहस्त, हस्तपाणित्रय इत्यादि (३३,

९—त्रियोग :—मृदंग के अन्तर्गत विविध अक्षरों अथवा बोलों का संयोजन 'संयोग' कहलाता है। यह संयोग अथवा संचय त्रिविध होता—गुरुसंयोग, लघुसंयोग तथा गुरुलघुसंयोग। वाद्यवादन के अन्तर्गत लघु तथा गुरु अक्षरों का सम्यक् प्रयोग वैसा ही आवश्यक माना गया है, जैसा गीतगान के अन्तर्गत (३३, १०८–११२)।

१०—त्रिपाणिक :—पाणि अर्थात् हस्तप्रयोग त्रिविध बतलाया गया है। जहां वाद्य का वादन लय की बराबरी में किया जाता है, वह 'समपाणि' है—

'लये नयं समं वाद्यं समपाणिः प्रकीर्त्यते'[1]।

विशिष्ट लय से घटकर लय का प्रयोग वाद्य के द्वारा किए जाने पर वह 'अर्धपाणि' कहलाता है—

'ब्रुवाद्यद्वकृष्टं स्यात् सोऽर्धपाणिः प्रकीर्तितः'[2]।

विशिष्ट लय से बढकर जहाँ वाद्य की लय प्रचलित होती है, वहाँ 'उपरिपाणि' प्रकार निष्पन्न होता है—

'लयस्योपरि यद्वाद्यं पाणिः स उपकीर्त्यते'। (वहीं)

यति तथा पाणि के संयोग से वाद्यवादन के निम्न तीन प्रकार होते हैं—राद्ध, विद्ध, शय्यागत (३३, पृ० ४३९)। जहां लय विलम्बित हो, यति गोपुच्छा हो, गीति का प्राधान्य हो तथा 'अवरपाणि' नामक लयप्रकार का प्रयोग हो, वह 'शय्यागत' वाद्य कहलाता है। जहाँ लय मध्य हो, यति स्रोतोगता हो तथा 'समपाणि' नामक लयप्रकार का प्रयोग हो, वह 'विद्ध' वाद्य कहलाता है। जहां वाद्य की प्रधानता हो, यति समा हो तथा उपरिपाणि नामक हस्तप्रयोग का व्यवहार हो, वहाँ 'राद्ध' नामक वाद्यप्रकार होता है (३२, ८५–८९)।

११—पंचपाणिप्रहत :—अनवद्ध वाद्य पर बोल बजाने के हेतु हाथ के विभिन्न भागों का प्रयोग किया जाता है। इसी को लेकर इसके निम्न पांच प्रकार बतलाए गए हैं—समपाणि, अर्धपाणि, अर्धार्धपाणि, पार्श्वपाणि तथा प्रदेशिनीजन्य।

१२—त्रिप्रहार :—मृदंग के मुख पर प्रहार करते समय हस्त की स्थिति त्रिविध होती है—निगृहीत, अर्धनिगृहीत तथा मुक्त। यही तीन 'त्रिप्रहार'

२५६–२६३)। इन्हीं हस्तों पर आधारित शैलियों का प्रयोग रस, भाव, अभिनय, गति आदि के अनुकूल किए जाने से अभीष्ट रस का उद्बोधक होता है (३३, ५२–५५)।

१. ३१, ३३० का० मा०

२. ३१, ३३१ वहीं

कहलाते हैं। प्रहार करने पर जब हस्त मृदंग के मुख से पृथक् नहीं किया जाता, वह 'निगृहीत' है, जहां अंशतः पृथक् किया जाता है, वह 'अर्धनिगृहीत' है तथा जहां पूर्णतः पृथक् किया जाता है, वह 'मुक्त' है।

१३—त्रिमार्जना :—मार्जना प्राचीन संगीत की महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। मार्जना के तीन प्रकार हैं—मायूरी, अर्धमायूरी तथा कार्मारवी (३३,९२)। मायूरी मार्जना का सम्बन्ध मध्यम ग्राम से है, अर्धमायूरी का षड्ज ग्राम से है तथा कर्मारवी का सम्बन्ध ग्रामसाधारण से है—

> मायूरी मध्यमग्रामेऽप्यर्धा षड्जे तथैव च।
> कार्मारवी चैव कर्तव्या साधारणसमाश्रया ॥ ३३,९७ ॥

मार्जनाओं की प्रक्रिया विशेषतः त्रिपुष्कर वाद्य के सम्बन्ध में निर्दिष्ट है, जहाँ विभिन्न मुखों पर मृत्तिकालेप के द्वारा विभिन्न स्वरों की स्थापना की जाती है[1]। 'मायूरी' में वामस्थ पुष्कर पर गान्धार, दक्षिण पुष्कर पर षड्ज तथा ऊर्ध्वग पुष्कर पर मध्यम स्थापित किया जाता है (३३,९३)। 'अर्धमायूरी' में वाम पुष्कर पर षड्ज, दक्षिण पर ऋषभ तथा ऊर्ध्वग पर धैवत स्थापित किया जाता है (३३,९४)। 'कार्मारवी' में वाम पुष्कर पर ऋषभ, दक्षिण पुष्कर पर षड्ज तथा ऊर्ध्वग पर पंचम स्थापित किया जाता है (३३,९५)।

१४—विंशति अलंकार :—यद्यपि इनके सम्बन्ध में विवेचन नाट्यशास्त्र में नहीं प्राप्त होता तथापि इन से अभिप्राय उन्हीं करणों से लिया जा सकता है, जो कि मृदंग पर बजाए जाने वाले १६ अक्षरों के नानाविध संयोग से बनते हैं।

१५—अष्टादश जाति :—पुष्कर की १८ जातियाँ निम्नानुसार हैं—शुद्धा, एकरूपा, देशानुरूपा, देशादपेतरूपा, पर्याय, विष्कम्भ, पर्यस्ता, संरम्भ, पार्ष्णि-समस्ता, दुष्करकारणा, ऊर्ध्वगोष्टिका, उच्चितिका, वाद्या, मृदंगपणवा, अवकीर्णा, अर्धावकीर्णा, संप्लवा तथा विधूत[2]।

इन जातियों का प्रयोग दश रूपकों के अन्तर्गत विविध प्रसंगों के लिए विहित है[3]। विशिष्ट प्रसंग तथा बोलों की विभिन्नता के अनुसार इन जातियों का निर्माण होता रहा है, जैसे शुद्धा जाति में 'खो खोथंवत्वाम्', एकरुपा नामक

---

१. अंकस्थ पुष्कर तथा आलिग्य नामक पुष्कर को अभीष्ट स्वर में मिलाने के लिए रस्सियों को शिथिल तथा आयत किया जाता था। ३३,९९–१०१।

२. ३३, पृ० ४४१–४४२ नाट्यशास्त्र की काव्यमाला प्रति में इन जातियों के नामान्तर पाए जाते हैं।

३. ३३, १५६ पृ० ४४२–४५

जाति में 'द्रोड् धोड् दोड् धोड् घेघेड्' तथा उपेतरूपा जाति में 'घेद्रड् घेंद्राड् घेघेम्' आदि विशिष्ट करणों का प्रयोग निर्दिष्ट है[1]। इन करणों के लिए 'जात्यक्षर' संज्ञा रही है।

जैसा ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है, नाट्य के अन्तर्गत वाद्यवृन्द की रचना पर समुचित ध्यान दिया जाता रहा। इसके अन्तर्गत अवनद्ध वर्ग के विभिन्न वाद्यों में यथायोग्य सामन्जस्य स्थापित किया जाता था। इसी के अनुकूल निम्न १९ प्रकारों का निर्देश नाट्यशास्त्र में हुआ है—चित्र, सम, विभक्त, छिन्न, छिन्न-विद्ध, अनुविद्ध, स्वरूपानुगत, अनुसृत, विच्युत, दुर्ग, अवकीर्ण, अर्धावकीर्ण, एकरूप, परिक्षिप्त, साचीकृत, समलेख, चित्रलेख, सर्वसमवाय तथा दृढ़[2]। उदाहरण के लिए 'सम' जाति वह है, जिसमें दर्दुर, पणव, तथा मृदंगों के करणों के साथ ही वंश की संगति सम्यक् रूप से की जाती है—

> दर्दरपणवमृदंगैर्नानाकरणैस्तु यः सम्यक्।
> तालांगवंशानुयुक्तः स तु विज्ञेयः समो नाम ॥ ३३,१८५ ॥

भाण्डवाद्य के सम्बन्ध में 'ग्रह' तीन प्रकार का बतलाया गया है—शम्या, ताल तथा आकाश (३३,१६५)। ग्रह गीत तथा वाद्य की उस अवस्था के लिए संज्ञा है, जहां से गीत, वाद्य तथा नृत्य के साथ मृदंगवादन का प्रथम प्रहार किया जाता है—'ग्रहो गानसमः' (३२,४४७)। 'शम्या ग्रह' से तात्पर्य दाहिने हाथ से किए जाने वाले वादनारम्भ से है, जो दक्षिण पुष्कर पर किए जाने का विधान है। 'ताल ग्रह' से तात्पर्य वाम हस्त से किए जाने वाले प्रथम-प्रहार से है, जो कि वाम एवं ऊर्ध्वंग पुष्कर पर किया जाना विहित है[3]। 'आकाश ग्रह' से तात्पर्य सम्भवतः ताल देने की उस विधि से है, जहां मृदंग के मुख पर प्रहार न करते हुए केवल हस्त को ऊपर की ओर फेंक कर तालवादन का आरम्भ किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र के कालखंड में मृदंग-वादन की कला पर्याप्त मात्रा में विकसित हो चुकी थी तथा इसके लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण भी हो चुका था। स्वयं नाट्यशास्त्र तत्कालीन लक्ष्य तथा लक्षण का समन्वय-ग्रन्थ माना जा सकता है। भरताचार्य की साक्ष्य है कि पुष्कर-वाद्यों का उनके द्वारा किया गया विवेचन प्रचलित नाट्य तथा लौकिक परम्परा पर आधारित है (३३,२६८)।

---

२. ३३, ११७–२५

३. वहीं, पृ० ४४७

४. ३३, १६५–१७०

भरतकालीन ताल-प्रणालि

गीत तथा वाद्य के साथ ताल रखने की परम्परा प्राचीन काल से अधुना तक बराबर चली आ रही है। संगीत, चाहे वह उच्च एवं शास्त्रीय हो अथवा सरल लोकसंगीत हो, उसमें ताल किसी न किसी रूप में विद्यमान होता ही है। यद्यपि सामगान के तालयुक्त होने के सम्बन्ध में कोई सबल साक्ष्य उपलब्ध नहीं तथापि यह निर्विवाद है कि तत्कालीन यज्ञयागों में गाए जाने वाले गाथा आदि लौकिक गीतियों के साथ तालवाद्यों का वादन अवश्यमेव किया जाता था। ऋक्, पाणिका, गाथा तथा उल्लोप्यक आदि प्राचीन सप्तगीत ताल में निबद्ध होते थे, ऐसा स्पष्ट संकेत नाट्यशास्त्र में उपलब्ध है[1]। भरतकालीन ध्रुवागीत का विवेचन करते समय हमने निर्दिष्ट किया है कि यह गीत स्वर तथा ताल दोनों की दृष्टि से पूर्णतः निबद्ध हुआ करते थे।

संगीतरत्नाकरकार के अनुसार ताल शब्द की व्युत्पत्ति 'तल्' धातु से हुई है, जो इस बात का संकेत करती है कि गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों का यह अधिष्ठान है[2]। ताल का कार्य असीम कालावधि को सीमाबद्ध करना रहा है। भरत के शब्दों में—

तालस्य तु प्रमाणं वै विज्ञेयं तालयोक्तृभिः ॥ ३१,१ ॥

कला, पात तथा लय ताल के विशिष्ट अङ्ग है (वहीं)। 'कला' का निर्माण मात्राओं की गणना पर निर्भर बतलाया गया है—

"मात्रायोगाद् कला स्मृता" (३१,३)।

स्वयं मात्राओं की गणना ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत अक्षरों से सम्बद्ध है। नाट्यशास्त्र के अनुसार ह्रस्व स्वर 'एकमात्रक' है, दीर्घ स्वर 'द्विमात्रक' है तथा प्लुत अक्षर 'त्रिमात्र' है (१७,११६)। समय की दृष्टि से पांच निमेष का काल 'कला' अथवा 'मात्रा' के तुल्य माना गया है (३१,३)। काल के इसी सूक्ष्मतम परिमाण से सङ्गीत की 'लय' का निर्धारण किया जाता है। अमरकोशकार के अनुसार ताल से तात्पर्य काल तथा क्रियाओं के परिमाण से है—'तालः काल-क्रियामानम्' (अमर० नाट्यवर्ग)। समस्त गीत तथा वाद्यवादन के अन्तर्गत प्रचलित एक-सा कालमान ही 'लय' है—

तालात् साम्यं भवेत्साम्यादिह सिद्धिः परत्र च ॥ दत्तिल, ११०

'लय' कालमान के अनुसार त्रिविध है—द्रुत, मध्य तथा विलम्बित (३१,४)। लय की यह गणना पाठ्य तथा संगीत दोनों में समान रूप से पाई जाती है।

---

१. ३१, ५२८–२९

२. तालाध्याय, श्लो० २

चाहे भाषा हो अथवा संगीत हो, शब्दों की लघुता तथा विश्राम आदि अंगों का निर्वाह उसमें बराबर किया जाता है[1]। भाषण तथा संगीत के अन्तर्गत विशिष्ट भावपरिपोष स्वरों के आवश्यक उतार-चढ़ाव तथा इनके मध्य में वर्तमान विशिष्ट काल के अन्तर दोनों पर निर्भर रहता है। भरत के शब्दों में—

एवमेतत् स्वरयुतं कलातालयान्वितम् ।
दशरूपविधाने तु योज्यं पाठं प्रयोक्तृभिः ॥ १९,७७ ॥

संगीत के अन्तर्गत प्रमाणकला का मापदण्ड 'मध्य लय' मानी गई है—

यस्तत्र तु लयो मध्यस्तत्प्रमाणकला भवेत् ॥
(३१,४ का० मा०[2])

नाट्यशास्त्र के अ० ३३ में भरत ने पात्र तथा रस के आनुकूल्य से लय तथा मृदंगवादन के सम्बन्ध में पर्याप्त विवेचन किया है[3]। भरतानुयायी कोहल ने रसानुकूल ताल तथा लय का विवेचन करते हुए निम्न लय-प्रकारों का निर्देश किया है—यथा, वलित अथवा वलन्तिक, द्विपदी, उत्फुल्ल, उल्लसन, जम्भलिका, खण्डधरा इत्यादि (द्र० अभिनवभारती)। कोहल के अनुसार प्रावेशिकी ध्रुवा का गान वलित नामक मध्यलत में किया जाना चाहिए। उनके अनुसार उल्लसन लय का प्रयोग वीररस के लिए, जम्भलिका का करुण के लिए तथा खण्डधरा का उपयोग रथ की गति को संकेतित करने के लिए है[4]।

इन विविध लय-प्रकारों का प्रयोग सदैव अभीष्ट रस के परिपोष के लिए किया जाता रहा है। ध्वनि-समूहों का गान अथवा वादन विशिष्ट लय में किए जाने पर तदनुकूल भावों को उद्दीप्त करता है, यह तथ्य अनुभवसिद्ध है। द्रुत लय में गान अथवा वादन यदि भावों को तरल बना देता है, तो विलम्बित लय में प्रस्तुत संगीत गम्भीर वातावरण को उपस्थित कर देता है।

मध्यलय की कला का विस्तार निम्न तीन प्रणालियों से किया जाता है—चित्र, वार्तिक तथा दक्षिण। इनके लिए पारिभाषिक संज्ञा 'मार्ग' है। 'चित्र' मार्ग में न्यूनतम परिमाण एक गुरु अर्थात् दो मात्राओं का होता है, जिससे तात्पर्य

---

१. तथा द्र० १९,६९, १९,७४।

२. ना० शा० के काशी संस्करण में 'यस्तत्र मन्दोऽथ लयः' पाठभेद है, जो प्रामादिक प्रतीत होता है।

३. पात्रों की गति विशिष्ट लय में होने के सम्बन्ध में द्र० ना० शा० १३,१०–२३।

४. द्र० 'जनरल आफ म्यूजिक एकेडेमी, मद्रास, भाग २५, पृ० ९० पर डॉ० राघवन का लेख।

यह है कि एक कला में एक साथ दो मात्राओं का गान किया जाता है। 'वार्तिक' में उससे दुगुना अर्थात् चार मात्राओं का परिमाण होता है अर्थात् लय को अक्षुण्ण रखते हुए एक कला में दो गुरु अक्षर अर्थात् चार मात्राओं का समवेत गान होता है। 'दक्षिण' के अन्तर्गत इससे द्विगुण अर्थात् अष्टमात्रा वाला परिमाण होता है अर्थात् एक कला में चार गुरु अर्थात् आठ अक्षरों का समवेत उच्चारण अथवा गान होता है (३१,५–६[१])

गान तथा वाद्य के अन्तर्गत लघु तथा गुरु अक्षरों के क्रमानुसार ताल की जाति द्विविध होती रही है—चतुरस्र तथा त्र्यस्र। 'चतुरस्र' वह ताल-जाति है जिसमें कलाओं का क्रम दो गुरु, एक लघु तथा अन्त्य प्लुत रहता है। 'त्र्यस्र' वह जाति है जिसमें कलाओं का क्रम एक गुरु, दो लघु तथा पश्चात् एक गुरु इस गणना से नियमित रूप से प्रचलित रहता है। भरतकालीन समस्त ताल इन्हीं तीन जातियों के अन्तर्गत आते हैं।

नाट्यशास्त्र के अनुसार प्राचीन काल में कुल कलासंख्या के आधार पर निम्न तालों का प्रचलन रहा है—चञ्चत्पुट, चापपुट, षट्पितापुत्रक अथवा पंचपाणि, सम्पर्कष्टाक तथा उद्घट्ट (३१,९–२४)। चंचत्पुट नामक ताल चतरस्र जाति का होता है, जिसमें अक्षरों की कुल संख्या आठ होती है (३१,१०)। चापपुट ताल की जाति त्र्यस्र है तथा कुल अक्षर संख्या छः होती है। इन्हीं दो तालों के सम्मिश्रण से षट्पितापुत्रक अथवा पंचपाणि नामक मिश्र ताल का उद्भव होता है[२]। इसमें मात्राओं का क्रम प्लुत, लघु, गुरु, गुरु, लघु तथा प्लुत इस प्रकार प्रचलित होता है[३]। इस ताल का का स्वरूप निम्न तालिका से स्पष्टतः हृदयंगम हो सकता है—

१—चंचत्पुट :—मध्यलय, जाति चतुरस्र तथा कला चार

मात्राक्रम—गुरु, गुरु, लघु, प्लुत कुल मात्रा ८

अक्षरक्रम—२, २, १, ३ कुल अक्षर ८

२—चापपुट :—मध्यलय, त्र्यस्र जाति तथा चार कला

मात्राक्रम—गुरु, लघु, लघु, गुरु कुल मात्रा ६

अक्षरक्रम—२, १, १, २ कुल अक्षर ६

३—षट्पितापुत्रक अथवा पंचपाणि :—मध्यलय, मिश्र जाति तथा छः कला

मात्राक्रम—प्लुत, लघु, गुरु, गुरु, लघु, प्लुत कुल मात्रा १२

अक्षरक्रम— ३, १, २, २, १, ३ कुल अक्षर १२

---

१. द्र० दत्तिल, १२७–१२८।

२. ३१, ११–१३

३. ३१, १९–२१

इन चार-चार तथा छः कला वाले उपर्युक्त प्रमुख तालों के अतिरिक्त पांच, सात, नव, दस तथा एकादश कलाओं के संकीर्ण तालों का संकेत नाट्यशास्त्र में हुआ है। इन तालों का प्रयोग प्रायः नहीं के तुल्य था, ऐसा भरताचार्य का कथन है (३१,४५–४६)।

चंचत्पुट तथा चापपुट ताल कलाभेद के अनुसार नानाविध बताए गए हैं, जैसे यथाक्षर, द्विकल, चतुष्कल, अष्टकल तथा षोडशकल[१]। त्र्यस्र ताल कलाप्रस्तार के अनुसार निम्न छः प्रकार का बतलाया गया है—त्रिकल, षट्कल, द्वादशकल, चतुर्विंशतिकल, अष्टचत्वारिंशत्कल तथा षण्णवतिकल (३१,२७-२९)। चंचत्पुट के अन्तर्गत 'यथाक्षर' से तात्पर्य ऐसे तालरूप से प्रतीत होता है, जो ताल-संज्ञा के अक्षरों के अनुरुप है अर्थात् कलाओं की संख्या वा गणना विशिष्ट ताल-संज्ञा के अक्षरों के बराबर होती है। उदाहरणार्थ, 'चंचत्पुट' संज्ञा के अन्तर्गत चार अक्षर क्रमशः गुरु, गुरु, लघु तथा प्लुत है, अतएव गीत के प्रत्येक अक्षर का गान एक 'कला' में किए जाने पर वह 'यथाक्षर' अथवा 'एककल' नाम से सम्बोधित होगा। तालों का यही शुद्ध एवं प्राथमिक स्वरूप आधुनिक परिभाषा में 'ठेका' कहलाता है। भरत के अनुसार यही ताल का विशुद्ध रूप है—

एवमेककलो ज्ञेयः शुद्धश्चंचत्पुटादिकः। ३१,२५।

इसके द्विकल तथा चतुष्कल आदि अन्य भेदों में क्रमशः द्विगुण तथा चतुर्गुण अक्षरों का समावेश एक कला अथवा मात्रा में किया जाता है (३१,२५–२६)। दूसरे शब्दों में गुरु के अन्तर्गत चार तथा लघु के अन्तर्गत दो अक्षरों का गान करने से चंचत्पुट के क्रमशः द्विकल तथा चतुष्कल भेद निष्पन्न होते हैं। संगीतरत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ के अनुसार उपर्युक्त प्रकार गुरु अक्षरों की संख्या पर निर्भर हैं[२]।

तालक्रिया द्विविध बतलाई गई है–सशब्द तथा निःशब्द। 'सशब्द' वह है जिसमें तालखण्डों के निर्देश के लिए आघात की ध्वनि की जाती है। यह सशब्द क्रिया चतुर्विध बतलाई गई है–शम्या, ताल, सन्निपात तथा ध्रुव[३] (३१,३०–३१)। 'शम्या' वह है जिसमें दक्षिण हाथ से बाएँ हाथ पर आघात किया जाता है। 'ताल' वह क्रिया है जिसमें बाएँ हाथ से दाहिनी हाथ पर आघात

---

१. ३१, २५–२७ तथा ४३

२. द्र० तालाध्याय, पृ० ११

३. दत्तिल के अनुसार पातक्रिया केवल शम्या, ताल तथा सन्निपात इन्हीं तीन प्रकारों की है।

किया जाता है। जहां दोनों हाथों से परस्पर आघात किया जाता है, वहाँ 'सन्निपात' नामक क्रिया होती है (वहीं, ३८–३९)। 'ध्रुव' नामक आघात के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र में निम्न वचन पाया जाता है; जो नितान्त संदिग्ध है—

ध्रुवं तु माद्रिकं पातः रागमार्गप्रयोजकः[1] ॥ ३१,३९ ॥

ताल के जिन विभागों का संकेत बिना ध्वनि के किया जाता है, वह विधि 'निःशब्द' कहलाती है। यह निःशब्द क्रिया चतुर्विध है—आवाप, निष्क्राम, विक्षेप तथा प्रवेशक। 'आवाप' क्रिया में हस्त को उत्तान रख कर कर अंगुलियों का निकुञ्चन किया जाता है। 'निष्क्राम' में हस्त को अधोमुख कर अंगुलियों को क्रमशः प्रसारित किया जाता है। उसी हस्त को दाहिनी ओर फेकने से 'विक्षेप' क्रिया होती है तथा हस्त को स्वस्थान में लाकर अंगुलियों के आकुञ्चन करने से 'प्रवेश' क्रिया होती है[2]।

ताल दर्शाने के लिए प्रत्येक अक्षर पर हस्तक्रिया को किस प्रकार किया जाता था, इसका विवरण नाट्यशास्त्र में उपलब्ध है। 'चंचत्पुट' के यथाक्षर नामक प्रकार में यह विधि कैसे की जाती थी, इस तथ्य का संकेत भरत के निम्न कथन से उपलब्ध होता है—

चकारे तु भवेत्शम्या द्वितीयस्ताल एव च ।
पुकारे तु भवेत्शम्या टकारे ताल एव च ॥ ३१,६४ ॥

अर्थात् 'चं' पर शम्या, दूसदे 'च' पर ताल, तीसरे 'पु' पर शम्या तथा चौथे 'ट' पर ताल इस प्रकार का क्रम चंचत्पुट के विशुद्ध प्रकार में रहा है। ध्रुवा, आसारित तथा वर्धमान नामक गीतों के साथ ताल की इन क्रियाओं का संकेत अंगुलियों पर भी किया जाता रहा है। उदाहरणार्थ, अष्टकल ताल में कनिष्ठिका पर निष्काम तथा शम्या, कनिष्ठा एवं अनामिका पर निष्क्राम, ताल तथा शम्या, मध्यमांगुष्ठ पर प्रवेश, तर्जनी पर निष्काम तथा अंगुष्ठ पर सन्निपात क्रियाओं का संकेत किया जाता था[3] (३१,४७–५०)।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर भरतकालीन तालप्रणालि के सम्बन्ध में निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। भरत के अनुसार तालवाद्यों का समावेश

---

१. ना० शा० की काव्यमाला प्रति में यह पंक्ति उपलब्ध नहीं। संगीत-रत्नाकर के अनुसार चुटकी बजाते हुए हाथ को नीचे की ओर फेंकने से 'ध्रुव' पात होता है (द्र० तालाध्याय)।

२. ना० शा० ३१, ३३–३५ तुलनार्थ द्र० दत्तिल, ११८–१२०।

३. इसी प्रकार षट्कम ताल में प्रत्येक कला के साथ की जाने वाली हस्तक्रिया का विवरण ना० शा० ३१, ५१–५३ में उपलब्ध है।

'घन' वाद्य के अन्तर्गत है (२८,२,३१,१)। इन वाद्यों में कांस्य, करताल, झांझ[1], मंजरी आदि धातुनिर्मित वाद्य ही भरत को अभिप्रेत हैं,[2] ऐसा सहज अनुमान किया जा सकता है। नाट्यशास्त्र से स्पष्ट है कि प्राचीन गीतों के साथ हाथ से ताल देने की प्रणाली प्रचलित थी। गीत की प्रत्येक मात्रा के साथ अनुकूल हस्तक्रिया की जाती थी तथा अंगुलियों पर ताल के विविध अंगों की गणना की जाती थी। ताल के अन्तर्गत 'कला' न्यूनतम परिमाण माना जाता था। काल की दृष्टि से यह परिमाण पांच निमेषों के तुल्य माना जाता था तथा अक्षरों की दृष्टि से एक गुरु अर्थात् दो मात्राओं के बराबर माना जाता था। 'कला' का निर्धारण प्रायः मध्य लय के अनुसार किया जाता था। कला के प्रमाण को अक्षुण्ण रखते हुए उसी के अन्तर्गत एकाधिक अक्षरों के गायन से द्विकल चतुष्कल से लेकर षण्णवति अर्थात् छियानवे अक्षरों तक कला का प्रस्तार किया जाता था। तालों के अन्तर्गत निःशब्द तथा सशब्द दोनों क्रियाओं का उपयोग मात्राओं की गणना के लिए किया जाता था। सशब्द क्रिया के लिए 'पात' संज्ञा थी तथा इनको दर्शित करने के लिए हस्तों का आघात अथवा चुटकी जैसी क्रियाएँ की जाती थी। कोहल के द्वारा उल्लिखित लयप्रकारों से नितान्त स्पष्ट है कि उस समय तक समीचीन भावपरिपोष के लिए विविध लय-प्रकारों की परम्परा नाट्य एवं संगीत में स्थापित हो चुकी थी[3]।

गायक तथा वादक के गुणावगुण

गायक तथा वादक के गुणावगुण के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र में विवरण पाया जाता है, जो नितान्त उपादेय है। नाट्यशास्त्रकार के अनुसार यशस्वी गायक के लिए स्निग्ध, मधुर एवं दृढ़ स्वर की परम आवश्यकता है। स्वरवान् होने के अतिरिक्त लय, ताल, कला तथा प्रमाण आदि तालांगों का सम्यक् ज्ञान भी गायक के लिए अनिवार्य है। इन गुणों के अतिरिक्त सफल संगीतप्रदर्शन शरीरस्वास्थ्य एवं मनोधैर्य पर निर्भर बतलाया गया है। भरत के शब्दों में—

---

१. इन वाद्यों के लिए द्र० इसी प्रबन्ध के अन्त में आकृति २० तथा २१।

२. द्र० अमरकोश में 'कांस्यतालादिकं धनम्'। २०४।

महाराष्ट्र में भजन, कीर्तन आदि के साथ कांस से निर्मित 'टाल' नामक वाद्य बजाए जाते हैं, जो सम्भवतः संस्कृत 'ताल' का ही अपभ्रष्ट रूप हो सकता है।

३. कालिदासकालीन संगीत में इन्हीं लयप्रकारों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है, जिससे यह प्रमाणित है कि गुप्तकाल तक यह परम्परा अक्षुण्ण रूप से प्रचलित रही है। द्र० इसी प्रबन्ध का अध्याय १०।

गाता प्रत्यग्रवया स्निग्धस्वरमधुरमांसलोपचितः ।
लयतालकलामानप्रमाणयोगेषु तत्त्वज्ञः ॥ ३२,४५९ ॥

रूपगुणकान्तिसंस्थानधैर्यमाधुर्यसम्पन्नः ।
पेशलमधुरस्निग्धानुनादसमरक्तशुभकण्ठः ॥ ३२,४६०[१] ॥

इसी दृष्टि से कण्ठ के गुण तथा दोषों का विवेचन नाट्यशास्त्र में हुआ है। कण्ठ के गुण छः हैं—श्रावक, घन, स्निग्ध, मधुर, विधानवान् तथा त्रिस्थानशोभी (३२,४७६)। 'श्रावक' कण्ठ वह है जो दूर तक स्पष्ट तथा सुस्वर रूप से सुनाई पड़े। 'घन' वह है जिसमें किसी प्रकार का अवरोध न हो अथवा गाते समय बांस की तरह कण्ठ फटता हुआ न हो—'दच्छिद्रः स घनः स्मृतः'[२]। स्वर अधिक अथवा न्यून होने पर उसको सम्यक् रूप से अवधानपूर्वक लगाने की पात्रता "विधानवान्' अथवा 'अवधानवान्' से व्यक्त होती है[३]। 'स्निग्ध' कण्ठ वह है जो रुक्षता से विरहित हो—'अरुक्षध्वनि-संयुक्तः'[४]। 'मधुर' कण्ठ वह है जो कठिन स्वरसमूहों के होने पर भी कदापि विस्वर न होता हो—'महा-स्थानेऽप्यवैस्वर्यम्' (३२,४७९)। 'त्रिस्थानशोभी' वह है जो तीनों स्थानों में निर्बाध एवं अविस्वर रूप से संचार कर सके (३२,४७७–४७९)।

नाट्यशास्त्र के अनुसार कण्ठदोष पांच है, जैसे कपिल, अव्यवस्थित, काकी, तुम्बी तथा संदष्टक[५]। 'कपिल' से तात्पर्य कफयुक्त कण्ठ से है—

कपिलः स तु विज्ञेयः श्लेष्मकण्ठस्तथैव च[६]।

'अव्यवस्थित' से तात्पर्य ऐसे कण्ठ से है जिसमें स्वरों को न्यूनाधिक लगाने की सहज प्रवृत्ति होती है। यही दोष 'कृशत्वदोष' भी कहलाता है—

ऊनताधिकता वापि स्वराणां यत्र दृश्यते ।
कृशत्वदोषतश्चैव ज्ञेयः स त्वनवस्थितः ॥ (३३,१७ का० मा०)

विस्वर तथा रुक्ष कण्ठ को 'काकी' अर्थात् काक के समान आक्रोशयुक्त कहा गया है। सानुनासिक कण्ठस्वर के लिए 'तुम्बक' संज्ञा है तथा दांतों को पीस कर गाने की क्रिया 'सन्दष्टक' के नाम से सम्बोधित है।

---

१. यशस्वी गायिका के लिए इन्हीं गुणों का सम्पादन आवश्यक माना गया है। (३२,४६१)।

२. ३३, १२ का० भा०

३. ३३, ११–१४ वहीं

४. ३३, १३ वहीं

५. ३२,४८०

६. ३३,१७ का० भा०

यशस्वी वीणावादक के लिए यह आवश्यक है कि पाणि, लय, यति इत्यादि तालांगों में विशेषज्ञ होने के साथ अंगुलियों के चपल एवं मधुर प्रयोग में सिद्धहस्त हो। नानाविध 'करणों' को स्पष्ट रूप से निकालने की क्षमता उसमें होना आवश्यक है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब वह दृढ़ परिश्रम अथवा 'रियाज' के लिए सदैव तत्पर रहे। सर्वाधिक महत्व की बात यह है कि वीणा-वादनकौशल्य के साथ गायनकला का यथोचित ज्ञान उसमें हो। भरत ने इसी दृष्टि से वीणावादक के लिए 'रक्तकण्ठ' होना आवश्यक बतलाया है। भरत के शब्दों में—

> सुनिविष्टपाणिलययतिविशारदोपमितमधुरलघुहस्ताः।
> गात्रगुणैश्चोपेता अवहितमनसो सुसंगीतौ ॥ ३२,४६१ ॥
> स्फुटरचितचित्रकरणौ जितश्रमौ रक्तकण्ठवीणौ च।
> चित्रादिवाद्यकुशलौ वीणाया वादकौ भवतः ॥ ३२,४६२ ॥

यशस्वी वंशवादक के लिए भी गीत तथा तालज्ञान के अतिरिक्त 'अवहितबुद्धि' होना आवश्यक बतलाया गया है। 'दृढानिलता' अर्थात् श्वास-क्रिया पर अधिकार उसके लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण गुण है। सुषिर वाद्य के वादन के लिए श्वास-नियंत्रण ही आधारभूत तत्व है। भरत के शब्दों में—

> बलवानवहितबुद्धिर्गीतलयज्ञस्तथा सुसंगीतः।
> श्रावकमधुरस्निग्धो दृढानिलो वंशवादी स्यात् ॥ ३२,४६४ ॥

मृदंगवादक के लिए आवश्यक गुणों का निर्देश निम्न श्लोक में है—

> स्फुटप्रहारं विशदं विभक्तं रक्तं विघुष्टं करलेपनं च।
> त्रिमार्जनं पूरितरागयोगं मृदंगवादं गुणतो वदन्ति ॥ ३३,२६९ ॥

मृदंगवादक के लिए गीत, वाद्य, कला, ग्रह, मोक्ष आदि सभी अङ्गों में सिद्धहस्त होना आवश्यक है। मृदंगवादन की सफलता इसी में है कि उस पर करणों अर्थात् बोलों का वादन मधुर, स्पष्ट एवं मौलिक हो। सरल तथा संयुक्त दोनों प्रकार के बोलों को स्पष्ट एवं विशद रूप से बजाने के लिए शरीर की दृढता आवश्यक है। बोल मधुर रूप से बजने के लिए यह आवश्यक है कि वादक की हस्त-क्रिया लघु अर्थात् चपल हो तथा हस्तों में जड़ता अथवा भारीपन न हो। सर्वाधिक महत्व की बात यह है कि वाद्य के समस्त शास्त्र को अवगत करने पर अपनी स्वतंत्र प्रज्ञा के द्वारा बोलों की मौलिक रचना प्रस्तुत करने की क्षमता मृदंगवादक में विद्यमान हो। भरताचार्य के शब्दों में—

> अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वादकानां तु लक्षणम्।
> गीतवाद्यकलावातग्रहमोक्षविशारदः ॥ ३३,२६४ ॥

अथ लघुहस्तश्चित्रपाणिर्विधिज्ञः सिद्धिस्थाने ।
ध्रवाकुशलः कलाभिरतः मधुरहस्तः सुनिविष्टो मार्जनी
बलवान् ॥ ३३,२६५ ॥
सुविहितशरीरबुद्धिः संसिद्धो वादकः श्रेष्ठः ।
आलैपनप्रमाणश्च चतुर्मार्गकृताश्रयः ॥ ३३,२६६ ॥
प्रग्रहीता सिद्धानामांगदोषविवर्जितः ।
निश्चलो निपुणः शीघ्रो लघुहस्तो विधानवित् ।
वादनान्तरवेदी च दर्दरी च प्रशस्यते ॥ ३३,२६७ ॥

नाट्यशास्त्रकालीन नृत्यकला

भारत में प्राचीन काल से नाट्य, नृत्य तथा नृत्त तीनों कलाओं का प्रचार रहा है। वैदिक काल से लेकर अप्सराओं को नर्तकियों के रूप में हम पाते हैं। हर्षोल्लास की अभिव्यक्ति में देवगन्धर्वों का गान तथा अप्सरागणों का नृत्य प्राचीन काल से नित्यप्रति की घटनाएं रही हैं। अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग पर नृत्य का विशेष आयोजन किया जाता रहा है। प्राचीन मूर्तिकला में तत्कालीन नृत्यकला के सजीव चित्र उपलब्ध होते हैं। भीट नामक ग्राम में प्राप्त मौर्यपूर्वकालीन मूर्ति में अभिनय का स्पष्ट चित्र अंकित है[1]।

नाट्यशास्त्र में प्राचीन नृत्यकला का सविस्तर विवरण पाया जाता है। नाट्यवेद के उपादानों में 'अभिनय' एक अंग है, जिसका सम्बन्ध नाटक तथा नृत्य दोनों से है। स्वयं नाटक तभी प्रेक्षणीय हो सकता है, जब वह 'नृत्तयोग्य' हो (७,१२३)। इसी के अनुसार भरत-नाट्यशास्त्र में नृत्यकला का विशद एवं विस्तृत वर्णन हुआ है। अध्याय ४ में हस्त-पाद के संयोग से उत्पन्न होने वाले १०८ करणों का तथा ३२ अङ्गहारों का विवरण उपलब्ध है। अध्याय ८-१० में विभिन्न अंगों, उपांगों तथा प्रत्यंगों के अभिनय–प्रकार वर्णित है। अध्याय ११ तथा १२ में 'चारी', 'मण्डल' आदि पाद-संचारों का सविस्तर वर्णन प्राप्त है। अध्याय २४ में नाट्य तथा नृत्य के लिए उपयुक्त सामान्य अभिनय का वर्णन मिलता है। अध्याय २६ में 'चित्राभिनय' के अन्तर्गत प्रभात, गगन, दिन, तथा रात्रि आदि को सूचित करने वाली विशेष मुद्राओं का विवरण उपलब्ध है। इन्हीं के आधार पर नृत्यकला के समग्र अंगों का विवरण निम्न प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

१. इस मूर्ति में भरतोक्त 'ललाटतिलक' नामक अभिनय की भंगिमा स्पष्टतः अंकित है। इस अभिनय में एक पाद पर स्थित होकर दूसरे पादाग्र से ललाट को स्पर्श किया जाता है (द्र० जम्यूअम, १२, पृ० ९७–९८)।

जैसा ऊपर निवेदित किया जा चुका है, नाट्य के अन्तर्गत नृत्त तथा नृत्य दोनों का प्रयोग आरम्भ से लेकर अन्त तक बराबर प्रचलित रहता था। पूर्वरंग में कुतपविन्यास के अनन्तर आसारित तथा उपोहन आदि आरम्भिक संगीत प्रस्तुत किए जाने के पश्चात् भाण्डवाद्यों की ध्वनि के साथ प्रमुख नर्तकी का प्रवेश होता था। नर्तकी 'चारी' नामक पदगति से प्रवेश कर 'वैशाख' नामक स्थान में खड़ी रह जाती थी तथा चतुर्विध रेचकाभिनयों का प्रदर्शन करती थी।

तत्पश्चात् हाथों में स्थित पुष्पांजलि को रंगभूमि पर विकीर्ण कर रंगदेवता को साभिनय अभिवादन किया जाता था। प्रथम नर्तकी के लौट जाने के पश्चात् अन्य नर्तकियां रंगपीठ पर 'पिण्डीबन्ध' आदि नृत्याकृतियों का सामूहिक प्रदर्शन करती थी। उनके निर्गमन पर पुनः प्रमुख नर्तकी गीत तथा वाद्य की संगति में अपने नृत्य का कार्यक्रम प्रस्तुत करती थी।

नृत्य के अन्तर्गत जिन क्रियाओं का सम्पादन सन्तत रूप से किया जाता है, वे निम्नानुसार हैं—स्थान, चारी, करण, अंगहार तथा रेचक। स्थान, चारी तथा नृतहस्त इन तीनों से नृत्य की आरम्भिक भंगिमा का निर्माण होता है। 'स्थान' से तात्पर्य शरीर की सहज स्थिति अर्थात् खड़े रहने की कलात्मक भंगिमा से है, 'चारी' से तात्पर्य पदक्रिया से है तथा 'नृत्तहस्त' से तात्पर्य हस्तसंचालन से है। नृत्य की प्रथम भंगिमा इन्हीं तीनों के संयोग से बनती है। नृत्त की मूलभूत भंगिमा होने के कारण इसके लिए 'मातृका' संज्ञा है।

जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, नृत्त के पूर्व नर्तक अथवा नर्तकी की जो सहज किन्तु कलात्मक देह-भंगि होती है, उसी के लिए 'स्थान' अथवा 'स्थानक' संज्ञा है। यह स्थान छः प्रकार के बतलाए गए हैं, जैसे वैष्णव, समपाद, वैशाख, मण्डल, प्रत्यालीढ तथा आलीढ (११,४९)। उदाहरण के लिए, 'वैशाख' स्थान में नर्तक के पाद साढ़े तीन ताल[1] के अन्तर पर रखे जाते हैं तथा पादों को कुछ वक्र एवं झुकी हुई अवस्था में रखा जाता है (११,६०–६१)।

विशेषतः स्त्रियों के लिए निम्न तीन स्थानों का विधान किया गया है— आयत, अवहित्थ तथा अश्वक्रान्त (१३,१५८)। आयत का प्रयोग रंगभूमि पर आने के समय पर किए जाने का विधान है (१३,१६०–१६२) इस स्थान में दक्षिण पाद 'सम' अवस्था में रहता है, वाम पाद 'त्र्यस्र' अवस्था में रहता है[2] तथा वाम कटि कुछ उन्नत की जाती है (१३,१५९)।

---

१. संगीतरत्नाकर के अनुसार प्रसारित अंगुष्ठ तथा मध्यमांगुलि के बीच का अन्तर 'ताल' कहलाता है (७,१०४६)।

२. 'त्र्यस्र' अवस्था में पैर एक पक्ष की ओर झुके हुए रहते हैं।

'चारी' नृत्य का प्रमुख अंग बतलाई गई है। भरत के अनुसार चारी के बिना नाट्य की कोई क्रिया सम्भाव्य नहीं (११,५–७)। 'चारी' से तात्पर्य पाद से आगे की ओर सरकने की क्रिया से है। पाद से आगे सरकने की क्रिया जब दोनों पादों से पर्यायशः की जाती है, तब पाद के विभिन्न करणों का निर्माण होता है (११,३)। चारी के अन्तर्गत महत्वपूर्ण बात यह है कि पाद के साथ ही शरीर के उस अंग की जंघा, कटि, ऊरु आदि का संचालन किया जाना चाहिए (११,१)।

हस्त तथा पाद का एक साथ सामन्जस्य से किया जाने वाला संचालन 'करण' कहलाता है (४,३०)। करण के अन्तर्गत आरम्भ में वाम हस्त वक्षस् पर रखा जाता है तथा दक्षिण हस्त का संचालन पद-चारी के अनुसार किया जाता है। इसमें दोनों हस्त तथा दोनों पाद की एक साथ क्रिया होती है। नृत्य की मूलभूत क्रिया होने के कारण दो करणों का यह संयोग 'नृत्तमातृका' कहलाता है। तीन करणों के संयोग के लिए 'कलापक' संज्ञा है, चार करणों के लिए 'मण्डक', अथवा 'खण्डक' संज्ञा है, पांच के लिए 'संघातक' तथा पांच से अधिक करणों के समूह के लिए 'अंगहार' संज्ञा है। 'अंगहार' के अन्तर्गत शरीर के विविध अंगों का विविध संचालन एक साथ तथा पर्यायशः किया जाता है (४,२८–२९)। नृत्य के लिए यह परम आवश्यक माना गया है कि हस्त तथा पाद के करणों के साथ उस अंग के कटि, पार्श्व आदि अन्य अवयवों का सम्यक् संचालन हो (४, ५७–५८)। यही क्रिया 'अंगहार' के लिए कारण बनती है।

'रेचक' से तात्पर्य अंगों के विविध संचलन से है। इसके अन्तर्गत अवयवों का वलन, उद्वाहन तथा पृथग्भाव आदि क्रियाओं का समावेश है। शरीर के किसी अंग का एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व की ओर संचालन इसी के अन्तर्गत आता है। 'रेचक' की विशेषता यह है जिस अंग की रेचकक्रिया अभीष्ट हो, उसी अंग का द्रुत संचालन किया जाना चाहिए, उसके आसपास के किसी दूसरे प्रत्यंग का नहीं (४,२४१–२४२[1])।

पूर्वरंग के अन्तर्गत 'पिण्डीबन्ध' नामक चित्राकृति नृत्यों का विवेचन नाट्यशास्त्र में हुआ है। पिण्डीबन्ध उन सामूहिक नृत्यों में से है, जिनका प्रदर्शन

---

१. तुम्बुरु के अनुसार 'रेचक' की व्याख्या निम्नानुसार है—

'अंगहाराभिधानात्तु करणै रेचकान्विदुः' (द्र० अभिनव० पृ० १६३)।

अभिनवगुप्त ने 'रेचक' का वैशिष्ट्य निम्न शब्दों में बतलाया है—

'पादयोरेव चलनं न च पार्ष्णिभूतयोरन्तर्बहिश्च सन्नतं नमनोन्नमनहसितं गमनमंगुष्ठाग्रस्य च। हस्तयोरेव चलनं हंसपक्षयोः पर्यायेण द्रुतभ्रमणम्। ग्रीवायास्तु रेचितत्वं विधुतभ्रान्तता'।

नाट्य के पूर्वरंग में किया जाता था। रेचित तथा अंगहारों के साथ ही पिण्डीबन्धों का निर्माण भगवान् शिव के द्वारा सम्पन्न हुआ तथा तण्डु को इन विविध क्रियाओं में दीक्षित किया गया। महेश्वर ने अंगहारों के द्वारा जो विभिन्न नृत्याकृतियां निर्माण की, उन्हीं की संज्ञा 'पिण्डीबन्ध' है। नाट्यशास्त्र में पिण्डीबन्ध के निम्न प्रकार बताए गए हैं—१. बृषपिण्डी, जो स्वयं महेश्वर से सम्बन्ध रखती है २. पादसी, जो नन्दि से सम्बद्ध है ३. सिंहवाहिनी, जो चण्डिका से सम्बद्ध है ४. विष्णु से सम्बद्ध तार्क्ष्य ५. स्वयंभू की पद्म ६. शक्र की ऐरावती ७. मन्मथ की मत्स्याकृति ८. कार्तिकेय की शिखी ९. श्री की रुपाकृति १०. जाह्नवी की धाराकृति ११. यम की पाशाकृति १२. नदी की वारुणी १३. कुबेर की याक्षी १४. बलराम की हलपिण्डी १५. भुजंगों की सर्पपिण्डी १६. गणेश्वर की महापिण्डी तथा १७. अन्तक की रौद्री[1]।

नृत्य के अन्तर्गत नर्तकियों के द्वारा उपर्युक्त पिण्डीबन्धों की कलात्मक रचना की जाती रही। यह नृत्य-प्रकार नानाविध वाद्यों की संगति में किया जाता रहा[2]। यह आकृतियां चतुर्विध बतलाई गई हैं—पिण्डी, शृङ्खलिता, लताबन्ध तथा भेद्यक[3]। भरत के अनुसार विशुद्ध पिण्डी की विशेषता उसकी दृढ़ समूह-बद्धता में है—'पिण्डीबन्धस्तु पिण्डत्वात्' (वहीं)। शृङ्खलिता की विशेषता लतागुल्मों के समान आकृति-निर्माण में है, लता की विशेषता हस्तों के परस्पर-निबन्धन में है तथा इन्हीं प्रकारों में समूह से बाहर नर्तकियों का व्यक्तिशः नृत्य भेद्यक की विशेषता रही है[4] (४,२८५–२८६)।

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार पिण्डीबन्ध सजातीय तथा विजातीय दो प्रकार का हो सकता है। 'सजातीय' वह है जिसमें दो नर्तकियों के द्वारा एक ही वस्तु का अभिनय किया जाता है। उदाहरणार्थ, एक ही वृन्त से उत्पन्न दो कमलपुष्पों का संयुक्त अभिनय दो नर्तकियों के द्वारा किया जाता है, तब 'सजातीय' प्रकार की निष्पत्ति होती है। 'विजातीय' में दो नर्तकियों के द्वारा

---

१. ४, २५०–२५८

२. वहीं, २७६–२७८

३. वहीं, २८४–२८५

४. भरत के अनुसार इन पिण्डियों की रचना तान्त्रिक यंत्र तथा योगासनों पर आधारित है। (४,२८६–२८८)

भावप्रकाश में इनका विशिष्ट लक्षण निम्न शब्दों में स्पष्ट किया गया है—'गुल्मः सम्भूय यन्नृत्तं शृङ्खला ऽन्योन्यबन्धनी। परस्परांगवेष्टेन यन्नृत्तं सा लता मता। एकैकस्य बहिः संघान्नृतं यत्स च भेद्यकः। पिण्डीबन्धश्च गुल्मश्च पर्यायाविति केचन।'

एक ही समय पर दो विभिन्न वस्तुओं का अभिनय प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरणार्थ, 'हंसारूढ किसी नायिका ने हाथ में कमल धारण किया है'— इस भाव को दर्शाने के लिए नर्तकी हंस का अभिनय करती है तथा दूसरी सवृन्त कमल का अभिनय प्रस्तुत करती है। अभिनवगुप्त के अनुसार शृंखलिता अथवा गुल्मशृङ्खलिता में तीन नर्तकियों का एक साथ अभिनय होता है तथा लताबन्ध में तीन से अधिक नर्तकियों का संयुक्त अभिनय होता है। भेद्यक नामक पिण्डीबन्ध इन्हीं समूह–नृत्यों में से अन्यतम है, भेद केवल यही है कि अन्य प्रकारों की अपेक्षा इसमें नृत्त तथा अभिनय की प्रचुरता रहती है (४,२९४ का० मा०)।

प्राचीन साहित्य तथा शिल्पकला से स्पष्ट है कि इस प्रकार के सामूहिक नृत्यों का बहुल प्रचार प्राचीन भारत में था। अमरावती की शिल्पकला में चार नर्तकियों के ऐसे ही सामूहिक नर्तन का स्पष्ट अंकन हुआ है[१]। भरत के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ऐसे नृत्यों के लिए कलात्मक संकेतों का प्रस्तुतीकरण किया जाता था। उदाहरणार्थ, शिव का अभिनय करने के लिए नन्दी की आकृति का अभिनय किया जाता था, देवी का अभिनय करने के लिए सिंह की आकृति का निर्माण किया जाता था तथा इन्द्र का अभिनय करने के लिए नर्तकों के द्वारा गजराज की आकृति का अभिनय किया जाता था।

आधुनिक लोकनृत्यों में इसी प्रकार की विभिन्न आकृतियाँ बाहुल्य से लक्षित होती हैं। उदाहरण के लिए, नृत्यकार नृत्य करते समय अलग अलग समूह बनाते हुए दिखाई देते हैं, यदाकदा एक दूसरे के हाथों को पकड़ कर पंक्तियां बनाते हैं, कभी-कभी हस्तों तथा भुजाओं को एक दूसरे में गूँथ कर लता के समान आकृतियां बनाते हैं और कभी-कभी एक पंक्ति से दूसरी पंक्ति में नृत्य करते हुए जाते हैं।

प्राचीन रूपकों में अभिनय चतुर्विध बतलाया गया है—आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विक। आंगिक में केवल अङ्गों एवं प्रत्यंगों के संचलन से भावप्रदर्शन होता था, वाचिक में भावप्रदर्शन पाठ्य अथवा गीत के शब्दों से होता था, आहार्य में अनुकूल वेशभूषा के द्वारा विशिष्ट पदार्थ का संकेत किया जाता था तथा सात्विक में केवल मनोजन्य भावों की भंगिमा से विशिष्ट रस का अभिनय किया जाता था (८,९–१०)।

इस चतुर्विध अभिनय में आंगिक अभिनय का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। इसका उद्देश्य अंगों के सार्थक संचलन से एक सांकेतिक भंगिमा का निर्माण

१. द्र० मद्रास म्यूजियम बुलेटिन, प्लेट १३, आकृति १६।

करना है। आंगिक अभिनय के लिए उपयुक्त अंगों तथा प्रत्यंगों का विवेचन नाट्यशास्त्र में हुआ है। उसके अनुसार प्रमुख अंग छः हैं—शिर, हस्त, कटि, वक्ष, पार्श्व तथा पाद। छः उपांग निम्नानुसार हैं—नेत्र, भ्रू, नासा, अधर, कपोल तथा चिबुक (८,१२–१३)। इन्हीं अंगों तथा प्रत्यंगों के समुचित संयोग से अभीष्ट भावभंगिमा का निर्माण सम्भाव्य है। उदाहरणार्थ, शिर के द्वारा विशिष्ट भाव की अभिव्यक्ति करने के लिए नेत्र, भ्रू, नासिका आदि उपांगों का सम्यक् अभिनय अभीष्ट ही नहीं, वरन् आवश्यक है। इसी दृष्टिकोण को सामने रख कर भरत ने इन सभी अंगों की स्वतन्त्र क्रियाओं का सविस्तार विवेचन किया है। उनके अनुसार शिर की क्रियाएं १३, नेत्र की ३६, भ्रुवों की ७, नासिका की ६, अधर की ६, कपोल की ६, तथा चिबुक की ६ हैं।

शिर की १३ क्रियाएं निम्नानुसार हैं—

१—आकम्पित, जिसमें शिर को कम्पित कर ऊपर की ओर से नीचे की ओर हिलाया जाता है।

२—कम्पित, जिसमें उपर्युक्त क्रिया को द्रुत गति से किया जाता है।

३—धूत, जिसमें शिर को एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व तक घुमाया जाता है।

४—विधूत, जिसमें उपर्युक्त क्रिया को द्रुत गति से किया जाता है।

५—परिवाहित, जिसमें शिर को दोनों पार्श्वों में एक दूसरे के पश्चात् संचालित किया जाता है।

६—उद्वाहित, जिसमें शिर को ऊपर की ओर उठ कर उसी स्थिति में रखा जाता है।

७—अवधूत, जिसमें शिर को निम्न की ओर झुका कर उसी स्थिति में रखा जाता है।

८—अंचित, जिसमें शिर को एक ओर ग्रीवा पर झुकाया जाता है।

९—निहंचित, जिसमें शिर को बाहु तथा ग्रीवा के साथ ऊपर की ओर उठाया जाता है।

१०—परावृत्त, जिसमें पीछे देखने की क्रिया प्रदर्शित करने के लिए शिर को पीछे की ओर घुमाया जाता है।

११—उत्क्षिप्त, जिसमें शिर को ऊर्ध्व दिशा में ले जाया जाता है।

१२—अधोगत, जिसमें लज्जा, नम्रता आदि भावों को दर्शाने के लिए शिर को निम्न की ओर झुकाया जाता है।

१३—लोलित, जिसमें निद्रा, मूर्छा आदि को दर्शाने के लिए शिर को मण्डलाकार घुमाया जाता है।

हस्त की क्रियाएँ पांच हैं—१. उत्ताल, जिसमें हस्ततल को ऊपर की ओर किया जाता है, २. अधस्तल, जिसमें हस्ततल को निम्न की ओर किया जाता है, ३. तिर्यक्, जिसमें हस्त को तिरछी दिशा में किया जाता है, ४. ऊर्ध्व, जिसमें हस्तांगुलियों के अग्रों को ऊर्ध्वमुख किया जाता है तथा ५. अधोमुख, जिसमें ऊर्ध्व के विपरीत क्रिया होती है।

हस्ताभिनय में बाहुओं की क्रिया दशविध बतलाई गई है—तिर्यक्, ऊर्ध्वगत, अधोमुख, आविद्ध, अपविद्ध, मण्डल, स्वस्तिक, अंचित, कुञ्चित तथा पृष्ठग[1]। हस्तक्रियाओं से जिन कर्मों का संकेत किया जाता है, वे निम्नानुसार हैं—उत्कर्षण, विकर्षण, अपकर्षण, परिग्रह, निग्रह, आह्वान, नोदन, संश्लेष, वियोग, रक्षण, मोक्षण, विक्षेप, धूनन, विसर्ग, छेदन, भेदन, स्फोटन, मोहन तथा ताडन। इन कर्मों के सम्पादन में हस्तप्रचार तीन प्रकार का होता है—उत्तान अर्थात् ऊर्ध्व की ओर, पार्श्वग अर्थात् पार्श्व की ओर तथा अधोमुख अर्थात् निम्न की ओर[2]।

हस्त की उत्तम अभिनयक्रिया प्रायः ललाट के पास की जाती है, वक्ष के पास की जाने वाली क्रिया मध्यम कहलाती है तथा पार्श्वों में वक्ष से निम्न प्रदेश में की जाने वाली क्रिया अधम कहलाती है[3]। (९,१६३–१६४)

हस्तक्रिया के लिए यह आवश्यक बतलाया गया है कि वह उसी दिशा में की जानी चाहिए, जिस दिशा में दृष्टि का अभिनय किया जाता है (९,१७१)। यही तथ्य नन्दिकेश्वर की निम्न उक्ति में अभिव्यंजित हो उठा है—

यतो हस्तस्ततो दृष्टिर्यतो दृष्टिस्ततो मनः।

यतो मनस्ततो भावो यतो भावस्ततो रसः॥ अ० द०॥

अर्थात् जहां हस्त हो वहीं दृष्टि हो, जहां दृष्टि हो वहीं मन, जहां मन हो वहीं भाव हो तथा जहां भाव हो, वहीं रस की निष्पत्ति सम्भाव्य है[4]।

उरस् की क्रियायें निम्न पांच हैं—१. आभुग्न, जिसमें वक्ष कुछ झुका हुआ रहता है, २. निर्भुग्न, जिसमें वक्ष को आगे की ओर किया जाता है, ३. प्रकम्पित, जिसमें वक्ष का ईषत् कम्पन किया जाता है, ४. उद्वाहित, जिसमें दीर्घोच्छ्वास से वक्ष को फुलाया जाता है, ५. सम, जिसमें सब अंगों को चतुरस्र स्थिति में रख कर उरस् को समतल अवस्था में रखा जाता है (१०,१–९)।

---

१. ९, २०५–२०६

२. ९, १५७–१६०

३. वहीं, १५३-६४

४. संगीतरत्नाकर के अनुसार हस्तमुद्राओं का उद्देश्य नेत्र, भ्रू आदि उपांगों के द्वारा व्यक्त भावों को उपबृंहित करना है—

'नेत्रभ्रूमुखरागाद्यैरुपांगैरुपबृंहिताः। प्रत्यंगैश्च कराः कार्या रसभावप्रदर्शकाः।'

पार्श्व की क्रिया भी पांच प्रकार की है—१. नत अर्थात् एक ओर झुकी हुई, २. समुन्नत अथवा सन्नत, अर्थात् एक ओर उठाई हुई, ३. प्रसारित, अर्थात् दोनों ओर फैलाई हुई, ४. विवर्तित, अर्थात् पृष्ठरज्जु से घुमाई हुई तथा ५. अपसृत, जिसमें 'त्रिक' को विवर्तित से स्वस्थान पर पुनः लाने की क्रिया होती है (१०,१०–१६)।

कटि की क्रिया भी पंचविध बतलाई गई है—छिन्ना, निवृत्ता, रेचिता, कम्पिता तथा उद्वाहिता। कटि के मध्य भाग को वलित करने पर 'छिन्ना' क्रिया होती है; कटि को पीछे की ओर से सामने की ओर घुमाने से 'निवृत्ता' क्रिया होती है, 'रेचिता' में कटि को चारों ओर घुमाया जाता है; 'प्रकम्पित' में कटि को तिर्यक् रूप से चलित किया जाता है, 'उद्वाहिता' में कटि को धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठाया जाता है। प्रकम्पित क्रिया प्रायः कूबड वाले व्यक्ति की कटि में पाई जाती है तथा उद्वाहिता नामक क्रिया स्थूल पुरुष एवं विलासिनी स्त्रियों में सहज रूप में पाई जाती है (१०,२१–२६)।

ऊरु की क्रिया पार्ष्णि अर्थात् पाद का पार्श्वभाग तथा जानु के सम्यक् संचलन पर निर्भर रहती है। यह क्रिया पंचविध है—कम्पन, वलन, स्तम्भन, उद्वर्तन, निवर्तन। 'कम्पन' क्रिया पार्ष्णि के बारम्बार नमन तथा उन्नमन से होती है, जैसे भयभीत व्यक्ति के पैरों के कांपने पर। जानुओं को अभ्यन्तर की ओर ले जाने से 'वलन' क्रिया होती है, जैसे स्त्रियों की स्वच्छन्द गति में। 'स्तम्भन' में संचलन का अभाव होता है, जैसे आकस्मिक भय तथा विषाद में। जानुओं को अन्दर की ओर मुड़ा कर तथा हिलाए जाने पर 'उद्वर्तन' क्रिया होती है, जैसे व्यायाम की क्रिया में। शीघ्र में घूमते अथवा परिभ्रम करते समय पाद का पार्ष्णिभाग कुछ अन्दर की ओर घुमाया जाता है, जिससे ऊरु की 'निवर्तन' क्रिया होती है (१०,२८–३२)।

पाद की क्रिया पंचविध होती है—उद्घट्टित, सम, अग्रतलसंचर, अंचित तथा कुंचित। पाद के अग्र पर स्थित होकर जब पार्ष्णि से भूमि पर ताडन किया जाता है, तब 'उद्घट्टित', नामक क्रिया होती है। समभूमि पर स्वाभाविक रूप से पैर को रखने की क्रिया 'सम' कहलाती है। जब पार्ष्णि को ऊपर की ओर फेंक कर अंगुष्ठ तथा अन्य पादांगुलियों को भूमि पर फैलाया जाता है, तब 'अग्रतलसंचर' नामक क्रिया होती है। जब पार्ष्णि को भूमि पर रख कर उसके अंगुष्ठ वाले अग्रतल को ऊपर उठाया जाता है तथा सभी अंगुलियों को फैलाया जाता है, तब 'अंचित' क्रिया होती है। 'कुञ्चित' पाद वह है जिसमें पार्ष्णि को ऊपर फेंक कर पादाग्र की अंगुलियों को तथा पाद के मध्यभाग को आकुञ्चित किया जाता है।

इनके अतिरिक्त नूपुर-वादन की क्रिया के लिए पाद की एक अन्य क्रिया भी की जाती है, जिसके लिए 'सूचीपाद' संज्ञा है। इसमें वाम पाद को यथास्थान सम स्थिति में रखा जाता है तथा दक्षिण पाद की पार्ष्णि को ऊपर उठा कर केवल पादांगुष्ठ के अग्र पर खड़े रहने की क्रिया होती है। अतिक्रान्त नामक 'चारी' में इस क्रिया का विशेष प्रयोग किया जाता है (१०,४१-५३)।

जंघाओं की क्रिया पांच प्रकार की होती है—आवर्तित, नत, क्षिप्त, उद्वाहित तथा परिवृत्त। वाम पाद को दक्षिण की ओर तथा दक्षिण पाद को वाम की ओर ले जाने से 'आवर्तित' क्रिया होती है। आसनस्थ होने में जानु का जो आकुञ्चन होता है, उसके लिए 'नत' संज्ञा है। 'क्षिप्त' में जंघा को ऊपर फेंकने की क्रिया होती है, जैसे व्यायाम में अथवा ताण्डवनृत्य में। 'उद्वाहित' में जंघा को वैसे ही ऊपर उठाया जाता है, जैसे द्रुत गमन में। जंघा को पीछे की ओर मोड़ने से 'परिवृत' नामक क्रिया होती है (१०,३४-४०)।

नाट्यशास्त्र के अनुसार दृष्टि का अभिनय तीन विभागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—१. आठ रसों की अभिव्यक्ति के लिए, २. स्थायीभावों की अभिव्यक्ति के लिए तथा ३. संचारी भावों की अभिव्यक्ति के लिए (८,३८-४२)। दृष्टि का अभिनय निम्न आठ प्रकार का है—सम, साची, अनुवृत्त, आलोकित, विलोकित, प्रलोकित, उल्लोकित तथा अवलोकित। 'सम' दृष्टि में तारकाओं अथवा नेत्र की पुतलियों को यथास्थान रख कर सौम्य भाव से दृष्टिक्षेप किया जाता है। 'साची' में कटाक्ष-निक्षेप की क्रिया होती है। 'अनुवृत' में वस्तु के दर्शन मानो एकबारगी करने के लिए बड़े वेग से ऊपर से लेकर नीचे तक देखा जाता है। 'आलोकित' में पुतलियों को शीघ्रातिशीघ्र घुमाकर आँखें विस्फारित की जाती हैं। 'विलोकित' में पुतलियों से पीछे देखने का अभिनय किया जाता है। 'प्रलोकित' में पुतलियों को दोनों पार्श्वों में चलाया जाता है। 'उल्लोकित' तथा 'अवलोकित' में क्रमशः ऊपर तथा नीचे की ओर पुतलियों को ले जाया जाता है (८,१०१-१०२)।

यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि दृष्टि के उपर्युक्त अभिनयों में पुतलियों की भ्रमण, वलन, पात आदि नव क्रियाएँ तथा पलकों की उन्मेष, निमेष आदि नव क्रियाएँ स्वभावतः होती हैं[1]।

भ्रुवों की क्रियाएँ निम्न सात बतलाई गई हैं—उत्क्षेप, पातन, भ्रुकुटि, चतुर, कुञ्चित, रेचित तथा सहज (८,११४-११५)। नासिका की क्रियाएँ

१. ८, ९३-९४; १०६-१०७

निम्नानुसार हैं—नत, मन्द, विकृष्ट, सोच्छ्वास, विघूर्णित तथा स्वाभाविक (८,१४–१२५)। कपोल की क्रियाएँ छः हैं—क्षाम, फुल्ल, पूर्ण, कम्पित, कुञ्चित तथा सम (८,१३०–१३१)। अधरोष्ठ की छः क्रियाएँ निम्नानुसार हैं—विवर्तन, कम्पन, विसर्ग, विनिगूहन, सन्दष्टक तथा समुद्ग (८,१३५–१३६)। चिबुक की सात क्रियाएँ निम्नानुसार हैं—कुट्टन, खण्डन, छिन्न, चुक्षित, लेहन, सम तथा दष्ट (८,१४१–१४२)। आस्य की छः क्रियाएँ हैं—विधुत, विनिवृत्त, निर्भग्न, भुग्न, निवृत्त तथा उद्वाही (८,१४७–१४८)। ग्रीवा अर्थात् गर्दन की क्रियाएं नव हैं—सम, नत, उन्नत, त्र्यस्र, रेचित, कुञ्चित, अंचित, वलित तथा निवृत्त[1]।

नृत्य के अन्तर्गत स्थान, चारी तथा हस्तक्रियाओं का विशेष विवरण नाट्यशास्त्र में हुआ है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है, स्थान से तात्पर्य नृत्यकार के खड़े रहने की स्वाभाविक भंगिमा से है। यह स्थान षड्विध है—वैष्णव, समपाद, वैशाख, मण्डल, प्रत्यालीढ तथा आलीढ (११,४९)। वैष्णव' स्थान के अन्तर्गत दो पादों में ढाई ताल का अन्तर रहता है तथा एक पाद सम स्थिति में तथा दूसरा त्र्यस्र स्थिति में रहता है, जिसमें सम स्थिति वाले पाद को दूसरे पाद के तल से मध्य में स्पर्श किया जाता है (११,५०–५१)। 'समपाद' में दोनों पाद केवल एक तालके अन्तर पर सम स्थिति में होवे हैं (११,५६-५७)। 'वैशाख' नामक स्थान में दो पादों को साढ़े तीन ताल की दूरी पर स्थापित किया जाता है तथा पादों को त्र्यस्र स्थिति में रखा जाता है (११,५९–६१)। 'मण्डल' में पादों को चार ताल की दूरी पर रख कर त्र्यस्र अवस्था में लाया जाता है तथा कटि एवं जानु को सम अवस्था में स्थापित किया जाता है (११, ६३–६४)। 'आलीढ' स्थान उपर्युक्त मण्डल नामक स्थान में किंचित् परिवर्तन करने से बनता है। मण्डल के अन्तर्गत दक्षिण पाद को पांच ताल की दूरी पर प्रसारित करने से इस स्थान की निष्पत्ति होती है (११,६५–६६)। आलीढ स्थान में दक्षिण पाद को कुञ्चित कर वाम पाद को जब आगे की ओर प्रसारित किया जाता है, तब वही 'प्रत्यालीढ' स्थान बन जाता है (११,६८-६९)।

जैसा ऊपर निवेदित किया जा चुका है, 'चारी' से तात्पर्य पाद-प्रचार की विविध भंगिमाओं से है। चारी द्विविध है—भौमी अर्थात् भूमिसम्बन्धी तथा आकाश की अर्थात् आकाशसम्बन्धी। भौमी के अन्तर्गत निम्न की परिगणना की गई है—समपादा, स्थितावर्ता, शकटास्य, अध्यर्धिका, चाषगति, विच्यवा, एडकाक्रीडिता, बद्धा, ऊरुद्वृत्ता, अड्डिता, उत्स्यन्दिता, जनिता, स्यन्दिता, अपस्यन्दिता, समोत्सारितमत्तल्ली तथा मत्तल्लि (११,८–१०)। आकाशकी के अन्तर्गत

१. वहीं, १६४–१६५

निम्न सोलह का समावेश है—अतिक्रान्ता, अपक्रान्ता, पार्श्वक्रान्ता, ऊर्ध्वजानु, सूची, नूपुरपादिका, दोलापादा, आक्षिप्ता, व्याविद्धा, उद्वृत्ता, विद्युद्भ्रान्ता, अलाता, भुजंगत्रासिता, मृगप्लुता, दण्डा तथा भ्रमरी (११,११–१३)।

भौमी चारियों में से कुछ महत्वपूर्ण चारियों का विवरण निम्न प्रस्तुत किया जा रहा है—

१—समपादा—यह केवल एक ही स्थान तक सीमित होती है तथा इसमें पाद परस्पर मिले होते हैं (११,१४)।

२—स्थितावर्ता–भूमि का घर्षण करते हुए जब एक पैर दूसरे पैर से आगे स्वस्तिक क्रिया में बढ़ाया जाता है, तब यह चारी निष्पन्न होती है (११,१५)।

३—चाषगति–इसमें दक्षिण पाद को आगे बढ़ा कर पीछे किया जाता है तथा वाम पाद को पीछे कर बाद में आगे प्रसारित किया जाता है (११,२८)।

४—विच्यवा–समपाद चारी से पादों को हटा कर उनके अंगों से जब धरती पर निकुट्टन किया जाता है, तब 'विच्यवा' चारी बनती है (११,१९)।

५ —बद्धा–जंघाओं को एक दूसरे से लांघने पर ऊरुओं का वलन जिसमें होता है, वह चारी 'बद्धा' कहलाती है (११,२१)।

६—ऊरुद्वृत्ता–तलसंचर पाद का पार्ष्णि भाग जब बाहर की ओर उन्मुख रहता है तथा जंघा फैलाकर ऊपर उठाई जाती है, वह ऊरुद्वृत्ता चारी है (११,२२)।

७—अड्डिता–इसमें एक पाद की तलसंचर क्रिया आगे अथवा पीछे की ओर की जाती है तथा दूसरा पाद उससे घर्षण करता रहता है (११,२३)।

८ —जनिता–इसमें पाद से तलसंचार की क्रिया की जाती है, एक हाथ मुष्टि मुद्रा में रखा जाता है तथा दूसरा हाथ अन्यान्य मुद्राओं में प्रवृत्त होता है (११,२५)।

आकाशकी चारियों में से कुछ महत्वपूर्ण चारियों का विवरण निम्न प्रस्तुत है—

१—अतिक्रान्ता, जिसमें पाद को आकुंचित कर उत्क्षिप्त किया जाता है और तत्पश्चात् भूमि पर स्थापित किया जाता है (११,३०)।

२—अपक्रान्ता–जिसमें ऊरुओं की वलनक्रिया के अदन्तर आकुञ्चित पाद को ऊपर उठाया जाता है तथा पार्श्व की ओर फेंक दिया जाता है (११,१३)।

३—ऊर्ध्वजानु–इसमें कुञ्चित पाद को उत्क्षिप्त कर जानु को वक्ष के पास ले जाया जाता है तथा दूसरा पाद पूर्णतः निश्चल रखा जाता है। क्रिया दोनों पादों के साथ क्रमशः प्रचलित होती है (११,३३)।

४—उत्क्षिप्ता अथवा आक्षिप्ता—इसमें कुंचित पाद को उत्क्षिप्त कर दूसरे अंचित पाद के ऊपर स्वस्तिक स्थिति में रखा जाता है (११,३५)।

५—आविद्धा—स्वस्तिक स्थिति में जो पाद आगे स्थापित है, उसको कुंचित कर प्रसारित किया जाता है तथा लक्ष्य-वेध की भांति भूमि पर ऐसा पातित किया जाता है जिसमें उसकी अंचित स्थिति हो। यह पादक्रिया 'आविद्धा' कहलाती है (११,३६)।

६—उद्वृत्ता—इसमें आविद्ध पाद को ऊपर उठाया जाता है तथा दूसरे पाद के पास वर्तुलाकार घुमाकर भूमि पर गिराया जाता है (११,३७)।

७—अलाता—इसमें पृष्ठ की ओर प्रसारित पाद को वलित रूप में अभ्यन्तर लाया जाता है तथा पार्ष्णि के आधार पर गिराया जाता है (११,३९)

८—भुजंगत्रासिता—इसमें कुंचित पाद को ऊपर उठाकर ऊरु को त्रिक की ओर वेग से लाया जाता है तथा इस क्रिया के साथ ही कटि तथा जानु को विवर्तित किया जाता है (११,४०)।

९—हरिणप्लुता—इसमें अतिक्रान्त चारी से आगे बढ़ कर उत्प्लुति के साथ पाद को भूमि पर स्थापित किया जाता है तथा दूसरे पाद की जंघा को फैलाकर ऊपर की ओर फेंक दिया जाता है (११,४१)।

१०—दण्डपादा—इसमें पाद को नूपुरचारी में लाकर आगे की ओर प्रसारित किया जाता है तथा शीघ्र ही भूमि पर आविद्ध स्थिति में स्थापित किया जाता है (११,४२)।

११—भ्रमरी—इसमें अतिक्रान्त चारी को करने के पश्चात् त्रिक अर्थात् कटि के सूत्रभाग को परिवर्तित किया जाता है और तत्पश्चात् दूसरे पाद को तल से घुमाया जाता है (११,४३)।

१२—सूची—इसमें कुञ्चित पाद को ऊपर उठाकर दूसरे पाद के जानु के ऊपर लाया जाता है तथा उसी के अग्र भाग पर उसको गिराया जाता है[1]।

१३—नुपूरपादिका—इसमें एक अंचित पाद को ऊपर उठा कर दूसरे पाद के पीछे लाया जाता है तथा भूमि पर शीघ्र गिराया जाता है[2]।

हस्तक्रियाओं का वर्गीकरण तीन विधाओं में किया गया है—

१. असंयुत हस्त २, संयुत हस्त तथा ३, नृत्तहस्त। 'असंयुत हस्तक्रिया' वह है जिसमें अभिनय एक ही हाथ से किया जाता है। ऐसी क्रियाएं २४ मानी गई हैं। 'संयुत हस्त' वह है जहां अभिनय एक साथ दो हाथों से किया जाता

---

१. द्र० नाट्यशास्त्र, सं० मनमोहन घोष, पृ० २००।

२. द्र० वहीं।

है तथा ऐसी क्रियाएं १३ हैं। 'नृत्तहस्त' वह है जो प्रायः नृत्य के अन्तर्गत सौन्दर्यप्रदान के हेतु किए जाते हैं। ऐसी क्रियाएं २७ मानी गई हैं। नाट्यशास्त्र के अनुसार नृत्तहस्त संयुत तथा असंयुत दोनों हस्तों से विभिन्न हैं तथा मुख्यतः विभिन्न दिशाओं में किए जाने वाले हस्तविक्षेपों से बनते हैं।

असंयुत हस्त निम्नानुसार है—पताक, त्रिपताक, कर्तरीमुख, अर्धचन्द्र, अराल, शुकतुण्ड, मुष्टि, शिखर, कपित्थ, कटकामुख, सूचीमुख, पद्मकोश, सर्पशीर्षक, मृगशीर्ष, लांगूल अथवा कांगूल, उत्पलपद्म अथवा अलपद्म, चतुर, भ्रामर, हंसास्य, हंसपक्ष, सन्दंश, मुकुल, ऊर्णनाम तथा ताम्रचूड (९,४-७)।

संयुत हस्तों के १३ प्रकार निम्नानुसार हैं—अंजलि, कपोत, कर्कट, स्वस्तिक, कटकावर्धमानक, उत्संग, निषाध, दोला, पुष्पपुट, मकर, गजदन्त, अवहित्थ, वर्धमान (९,८–१०)।

नृतहस्तों के २७ प्रकार निम्नानुसार हैं—चतुरस्र, उद्वृत्त, तलमुख, स्वस्तिक, अरालकटकामुख, आविद्धवक्रक, सूचीमुख, रेचित, अर्धरेचित, उत्तान-वंचित, पल्लव, नितम्ब, केशबन्ध, लता, करिहस्त, पक्षवंचितक, पक्षप्रद्योतक, दण्डपक्ष, ऊर्ध्वमण्डली, पार्श्वमण्डली, उरोमण्डली, उरःपार्श्वार्धमण्डल, मुष्टिकस्व-स्तिक, नलिनीपद्मकोश, अलपल्लव, उल्बण, ललित, वलित।

मननार्ह है कि संयुत तथा असंयुत का वर्गीकरण पूर्णरूपेण ऐकान्तिक नहीं कहा जा सकता। असंयुत हस्तक्रियाएं प्रायः एक ही हाथ से की जाती है किन्तु यदा कदा एक ही क्रिया एक साथ दोनों हस्तों से की जाती है। भेद केवल यही है कि असंयुत क्रिया के समान संयुत क्रिया कदापि एक हस्त से नहीं की जाती तथा उसका सम्पादन सदैव दो हस्तों से होता है। इन दोनों में सम्भवतः एक और भेदक तत्व निहित है—वह यह कि असंयुत क्रिया यद्यपि क्वचित रूप से दोनों हाथों से की जाती है तथापि इसमें दोनों हाथों का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से किया जाता है, हाथों को जोड़ कर नहीं। इसके विपरीत संयुत हस्तों में उभय हस्तों का संयोग महत्वपूर्ण है, चाहे दोनों एक ही क्रिया को दर्शाते हों अथवा विभिन्न क्रियाओं को।

नृत्य के अन्तर्गत नित्यशः प्रयुक्त किए जाने के कारण तथा समस्त करण एवं अंगहारों के आधारभूत होने के कारण इनका प्रत्येकशः विवरण निम्न प्रस्तुत किया जा रहा है।

असंयुत हस्तों का विवरण निम्नानुसार है—

१—पताक—इसमें हाथ की अंगुलियाँ ऊर्ध्व की ओर प्रसारित कर परस्पर संश्लिष्ट रूप में रखी जाती है तथा अंगुष्ठ को कुंचित कर तर्जनी से मिलाया जाता है। यह क्रिया प्रायः ललाट के पास की जाती है (९,१९)।

२—त्रिपताक–पताक के अन्तर्गत जब अनामिका को वक्र किया जाता है, तब इस क्रिया की सृष्टि होती है।

३—कर्तरीमुख–त्रिपताक मुद्रा में जब तर्जनी मध्यमा के पीछे फैलाई जाती है, तब यह क्रिया होती है।

४—अर्धचन्द्र–इसमें अंगुलियों को अंगुष्ठ के साथ विनत कर दिया जाता है।

५—अराल–इसमें तर्जनी को धनुषाकार झुका कर अंगुष्ठ को अन्दर की ओर मोड़ लिया जाता है तथा अन्य अंगुलियों को ऊर्ध्व की ओर फैलाकर किंचित् वलित अर्थात् वक्र किया जाता है।

६—शुकतुण्ड–अराल के अन्तर्गत अनामिका को वक्र कर देने से यह मुद्रा बनती है।

७—मुष्टि–इसमें अंगुलियों को मोड़ कर हस्ततल पर रखा जाता है तथा उनके ऊपर अंगुष्ठ को स्थापित किया जाता है।

८—शिखर–मुष्टिहस्त मुद्रा में जब अंगुष्ठ को ऊपर की ओर उठाया जाता है, तब यह मुद्रा बनती है।

९—कपित्थ–शिखर हस्त में तर्जनी को वक्र कर देने से तथा उस पर अंगुष्ठ को दबाने से यह मुद्रा बन जाती है।

१०—कटकामुख–कपित्थ में जब अनामिका तथा कनिष्ठिका को ऊपर उठाकर वक्र किया जाता है, तब यह मुद्रा बनती है। इसमें मध्यमा को मुष्टि अवस्था में रख कर अन्य तीनों को ऊपर उठा कर अन्दर की ओर मोड़ देना होता है।

११—सूचीमुख—कटकामुख में तर्जनी को ऊपर की ओर प्रसारित किया जाता है, तब यह मुद्रा बनती है। इसमें तर्जनी ऊपर की ओर उठी हुई होती है तथा अन्य अंगुलियां प्रायः मुष्टिरूप में रहती हैं।

१२—पद्मकोश–इसमें हस्तांगुलियों को ऊपर उठा कर अंगुष्ठ के साथ उनका आकुञ्चन किया जाता है, अंगुलियाँ तथा उनके अग्र परस्पर विलग रखे जाते हैं।

१३—सर्पशीर्षक–अंगुष्ठ के समेत सभी अंगुलियों को मिला कर निम्न की ओर कर देने से सर्प की फणाकृति बन जाती है। इसमें हथेली को निम्नतल किया जाता है।

१४—मृगशीर्ष–अंगुष्ठ तथा कनिष्ठिका को छोड़ कर अन्य तीन अंगुलियों को एक साथ अधोमुख कर देने से तथा कनिष्ठा एवं अंगुष्ठ को ऊर्ध्व कर देने से यह मुद्रा बन जाती है।

१५—लांगुल अथवा कांगुल–मध्यमा, तर्जनी तथा अंगुष्ठ को परस्पर विलग

कर अनामिका को वक्र कर देने से तथा कनीयसी को ऊपर करने से यह हस्तमुद्रा निष्पन्न होती है।

१६—उत्पलपद्म अथवा अलपद्म—जब अंगुलियां करतल की ओर आवृत्त की जाती हैं तथा परस्पर निकट रखी जाती है, तब अलपद्म नामक अभिनय निष्पन्न होता है। दो अलपद्म हस्तों को परस्पर संयुक्त कर विकसित कमल की अभिव्यंजना की जाती है।

१७—चतुर—इसमें तीन अंगुलियों को फैलाकर कनीयसी को ऊर्ध्व किया जाता है तथा अंगुष्ठ मध्यमा को स्पर्श करता है।

१८—भ्रमर—इसमें मध्यमा को अंगुष्ठ से स्पर्श कर तर्जनी को वक्र किया जाता है तथा अन्य दो अंगुलियों को विलग रूप में ऊपर की ओर फैलाया जाता है।

१९—हंसास्य—इसमें तर्जनी तथा मध्यमा को अंगुष्ठ पर संलग्न रख कर शेष दो को प्रसारित किया जाता है।

२०—हंसपक्ष—इसमें कनीयसी को ऊपर की ओर फैलाकर शेष तीनों को समानान्तर रूप से प्रसारित किया जाता है तथा अंगुष्ठ जो कुंचित किया जाता है।

२१—सन्दंश—इसकी क्रिया प्रायः अराल के सदृश होती है, किन्तु इसके अतिरिक्त इस क्रिया में तर्जनी को अंगुष्ठ से स्पर्श किया जाता है तथा हस्ततल को कुछ आभुग्न किया जाता है।

२२—मुकुल—इसमें अंगुलियों की स्थिति 'हंसास्य' के सदृश होती हुई समानान्तर रूप से खड़ी तथा नत अग्र वाली होतो है।

२३—ऊर्णनाभ—'पद्मकोश' हस्त की अंगुलियों को अधिक आभुग्न तथा वक्र करने पर यह मुद्रा होती है।

२४—ताम्रचूड—इसमें प्रदेशिनी अंगुलि को वक्र किया जाता है, मध्यमा एवं अंगुष्ठ का परस्पर स्पर्श किया जाता है तथा शेष दो अंगुलियों को हस्ततल पर रखा जाता है।

संयुत हस्तों का विवरण निम्नानुसार है—

१—अंजलि—दो पताका हस्तों को परस्पर संश्लिष्ट करने से यह मुद्रा बनती है।

२—कपोत—जब दो अंजलि हस्त केवल पार्श्व में एक दूसरे को स्पर्श करते हैं, तब 'कपोत' हस्त की निष्पत्ति होती है।

३—कर्कट—इसमें दोनों हाथों की अंगुलियों को परस्पर ग्रथित किया जाता है।

४—स्वस्तिक–दो अराल हस्तों को उत्तान कर मणिवन्ध पर रखा जाता है, तब स्वस्तिक क्रिया होती है।

५—कटकावर्धमानक–जब एक कटकमुख हाथ को वही क्रिया करने वाले दूसरे हाथ पर रखा जाता है, तब यह मुद्रा बनती है।

५—उत्संग–जब दो अराल हस्तों को उत्तान तथा विपर्यस्त रूप में परस्पर निकट रखा जाता है, तब यह क्रिया निष्पन्न होती है।

७—निषाध—वाम हस्त से दक्षिण भुजा कूर्पर के ऊपर पकड़ी जाती है तथा वाम भुजा को दक्षिण हस्त के द्वारा मुष्टि में पकड़ा जाता है, तब 'निषाध' नामक संयुत हस्त की निष्पत्ति होती है।

८—बोल–इसमें दोनों पताका हस्त शिथिल रूप से दोनों ओर लम्बायमान रहते हैं।

९—पुष्पपुट–जब दो सर्पशीर्ष हस्तों की अंगुलियों को सटाकर एक दूसरे से इस प्रकार मिला दिया जाता है कि दोनों केवल एक ही पार्श्व में संश्लिष्ट हों, तब यह क्रिया बनती है।

१०—मकर–दो पताका हस्तों को एक दूसरे पर रखने से यह हस्त बनता है। इसमें हाथों के अंगूठे फैले हुए होते हैं।

११—गजदन्त–इसमें दो सर्पशीर्ष हस्त विपरीत हस्त के कूर्पर को स्पर्श करते हैं।

१२—अवहित्थ–इसमें दो शुकतुण्ड हस्तों को वक्ष पर परस्पर सम्मुख रखा जाता है तथा शनैः शनैः नीचे की ओर ले जाया जाता है।

नृत्तहस्त की २७ विधियों का विवरण निम्नानुसार है—

१—चतुरस्र–इसमें दो कटकामुख हस्तों को परस्पर आठ अंगुलि की दूरी पर प्राङ्मुख स्थिति में वक्ष पर रखा जाता है तथा दोनों कोहनियों को समतल अवस्था में रखा जाता है (९,१७३–१७४)।

२—उद्वृत्त–हंसपक्ष हस्तों को तालवृन्त के सदृश हिलाने पर यह नृत्तहस्त बनता है।

३—तलमुख–चतुरस्र अथवा हंसपक्ष हस्तों को परस्पराभिमुख तथा तिर्यक् स्थिति में रखने से यह नृत्तहस्त बनता है।

४—स्वस्तिक–इसमें तलमुख हस्तों को परस्पर-सम्मुख न रखते हुए मणिबन्ध पर रखा जाता है, तब यह क्रिया बनती है।

५—अरालकटकामुख–इसमें दो अलपल्लव हस्तों को ऊर्ध्वमुख करने के पश्चात् शनैः शनैः पद्मकोश की स्थिति में परिवर्तित किया जाता है।

६—आविद्धवक्रक—इसमें दो हाथों से शरीर के तद्विपरीत अंस, कूर्पर तथा हस्त को स्पर्श कर पृष्ठ के पीछे जाने की क्रिया होती है[1]।

७—सूचीमुख—इसमें हाथ सर्पशीर्ष मुद्रा में रख कर अंगुष्ठ से मध्यमा को स्पर्श किया जाता है तथा उसी के पश्चात् अंगुलियों का प्रसारण तिर्यक् रूप से किया जाता है।

८—रेचित—इसमें दो हंसपक्ष हाथों को उत्तान कर तथा अंगुलियों को प्रसारित कर ऊर्ध्व की ओर हिलाया जाता है।

९—अर्धरेचित—इसमें वाम हस्त चतुरस्र क्रिया में तथा सव्य हस्त रेचित क्रिया में रहता है।

१०—उत्तानवंचित—इसके अन्तर्गत दो हाथों से त्रिपताका की क्रिया की जाती है, हाथ किंचित् तिर्यक् स्थिति में रहते हैं तथा अंस एवं कूर्पर को वक्र किया जाता है।

११—पल्लव—इसमें दो पताका हस्तों को मणिबन्ध पर जोड़ दिया जाता है।

१२—नितम्ब—इसमें दो पताका हस्तों को बाहु तथा शीर्ष के पीछे की ओर ले जाया जाता है।

१३—केशबन्ध—इसमें हाथों को केशप्रदेश के पीछे ले जाया जाता है।

१४—लता—इसमें दो हाथों को तिर्यक् रूप से प्रसारित कर पार्श्व की ओर रखा जाता है।

१५—करिहस्त—एक लताहस्त को समुन्नत कर एक ओर से दूसरी ओर विलोलित किया जाता है तथा दूसरे लताहस्त को त्रिपताका मुद्रा में उसी तरफ के कान पर रखा जाता है, तब यह क्रिया 'करिहस्त' कहलाती है।

१६—पक्षवंचितक—इसके अन्तर्गत त्रिपताका हस्तों में से एक के अग्र से कटि को और दूसरे के अग्र से शीर्ष को स्पर्श किया जाता है।

१७—पक्षप्रद्योतक—उपर्युक्त क्रिया में स्पर्श स्थान से लौट जाने पर यह नृत्तहस्त बनता है।

१८—दण्डपक्ष—इसके अन्तर्गत हंसपक्ष हस्तों की भुजाओं को प्रसारित कर रखा जाता है (९,१८९–१९०)।

१९—ऊर्ध्वमण्डली—इसमें हस्तों को ऊर्ध्वदेश में मण्डलाकार घुमाया जाता है।

२०—पार्श्वमण्डली—इसमें हस्तों को पार्श्व की ओर मण्डलाकार घुमाया जाता है।

---

१. द्र० नाट्यशास्त्र, सं मनमोहन घोष, पृ० १८७।

२१—उरोमण्डली–इसमें हाथ घुमाने की क्रिया उरस् के पास होती है।

२२—उरःपार्श्वार्धमण्डल–इसमें अराल तथा अलपल्लव हाथों को क्रमशः पार्श्व में विवर्तित किया जाता है।

२३—मुष्टिकस्वस्तिक–इसमें दो कटकामुख हस्तों को मणिबन्ध में झुका कर घुमाया जाता है।

२४—नलिनीपद्मकोश–इसके अन्तर्गत पद्मकोश हस्तों को क्रमशः व्यावर्तित तथा परिवर्तित करणों में हिलाया जाता है। 'व्यावर्तित' करण वह है जिसमें कनिष्ठा आदि अंगुलियों को शनैः शनैः हस्ततल के अभ्यन्तर की ओर लाया जाता है। इसके विपरीत अंगुलियों को बाहर ले जाने से 'परिवर्तित' क्रिया निष्पन्न होती है (९,२०२–२०४)।

२५—अलपल्लव–इसका अन्तर्भाव असंयुत हस्त तथा नृत्तहस्त दोनों में है। जब अलपल्लव हस्तों के अग्रों को क्रमशः उद्वेष्टित किया जाता है, वहाँ इसी नाम के नृत्तहस्त की निष्पत्ति होती है। 'उद्वेष्टित' से ऐसे करण से अभिप्राय है जिसमें हाथ की अंगुलियाँ तर्जनी से आरम्भ कर क्रमशः बाहर की ओर ले जाई जाती हैं (९,२०१–२०२)।

२६—उल्बण–इसमें दोनो हाथों को ऊपर फेंक कर हिलाया जाता है।

२७—ललित–इसमें दो अलपद्म हस्तों को शिरोदेश पर ले जाया जाता है[१]।

जैसा ऊपर निवेदित है, अंग तथा प्रत्यंग की विविध क्रियाओं के एक साथ किए जाने पर 'करण' तथा 'अंगहारों' की निष्पत्ति होती है। करण के लिए सामान्य नियम यह है कि वाम हस्त को वक्षस्थ किया जाता है तथा दक्षिण हस्त के द्वारा करण की योजना की जाती है। यह योजना प्रायः दक्षिण पाद के द्वारा की जाने वाली चारियों के सर्वथा अनुकूल होती है। नाट्यशास्त्र में इस प्रकार के १०८ करणों तथा ३२ अंगहारों का विस्तृत विवरण उपलब्ध है। इन करणों के नाम निम्नानुसार हैं—

१. तलपुष्पपुट, २. वर्त्तित, ३. वलितोरुक, ४. अपविद्ध, ५. समनख, ६. लीन, ७. स्वस्तिकरेचित, ८. मण्डल स्वस्तिक, ९. निकुट्ट, १०. अर्धनिकुट्ट, ११. कटिच्छिन्न, १२. अर्धरेचित, १३, वक्ष स्वस्तिक, १४. उन्मत्त, १५. स्वस्तिक, १६. पृष्ठस्वस्तिक, १७. दिक्स्वस्तिक, १८. अलात, १९. कटिसम, २०. आक्षिप्तरेचित, २१. विक्षिप्ताक्षिप्त, २२. अर्ध स्वस्तिक, २३. अंचित, २४. भुजंगत्रासित, २५. ऊर्ध्व जानु, २६. निकुंचित, २७. मत्तल्लि, २८. अर्धमत्तल्लि, २९. रेचकनिकुट्ट, ३०. पादापविद्ध, ३१. वलित, ३२. घूर्णित,

१. इन हस्तों के लिए द्र० प्रबन्ध के अन्त में आ० २२–५० तक।

३३. ललित, ३४. दण्डपक्ष, ३५. भुजंगत्रस्तरेचित, ३६. नूपुर, ३७. वैशाखरेचित, ३८. भ्रमर, ३९. चतुर, ४०. भुजंगांचित, ४१. दण्डरेचित, ४२. वृश्चिककुट्टन, ४३. कटिभ्रान्त, ४४. लतावृश्चिक, ४५. छिन्न, ४६. वृश्चिकरेचित, ४७. वृश्चिक, ४८. व्यंसित, ४९. पार्श्वनिकुट्टन, ५०. ललाटतिलक, ५१. क्रान्त, ५२. कुंचित, ५३. चक्रमण्डल, ५४. उरोमण्डल, ५५. आक्षिप्त, ५६. तलविलासित, ५७. अर्गल, ५८. विक्षिप्त, ५९. आवृत्त, ६०. दोलपाद, ६१. विवृत्त, ६२. विनिवृत्त, ६३. पार्श्वक्रान्त, ६४ निशुम्भित, ६५. विद्युद्भ्रान्त, ६६. अतिक्रान्त, ६७. विवर्तित, ६८. गजक्रीडित, ६९. तलसंस्फोटित, ७०. गरुडप्लुत, ७१. गण्डसूचि, ७२, परिवृत्त, ७३. पार्श्वजानु, ७४. गृध्रावलित, ७५. सन्नत, ७६. सूचि, ७७. अर्धसूचि, ७८. सूचिविद्ध, ७९. अपक्रान्त, ८०. मयूरललित, ८१. सर्पित, ८२. दण्डपाद, ८३. हरिणप्लुत, ८४. प्रखोलित, ८५. नितम्ब, ८६. स्खलित, ८७. करिहस्त, ८८. प्रसर्पित, ८९. सिंहाविक्रीडित, ९०. सिंहाकर्षित, ९१. उद्वृत्त, ९२. उपसृत, ९३. तलसंघट्टित, ९४. जनित, ९५. अवहित्य, ९६. निवेश, ९७. एलकाक्रीडित, ९८, ऊरुद्वृत्त, ९९, मदस्खलित, १००. विष्णुक्रान्त, १०१. संभ्रान्त, १०२. विष्कम्भ, १०३. उद्घट्टित, १०४. वृषभक्रीडित, १०५. लोलित, १०६. नागापसर्पित, १०७. शकटस्य, १०८. गंगावतरण।

उपर्युक्त १०८ करणों की अभिनय-भंगिमा का निरूपण नाट्यशास्त्र के अनुसार[1] निम्न प्रस्तुत किया जा रहा है—

१—तलपुष्पपुट—इसमें वाम हस्त में पुष्पपुट करण का अभिनय बाईं तरफ एक पार्श्व में झुक कर किया जाता है, पाद अग्रतलसंचर की स्थिति में विन्यस्त रहता है तथा पार्श्व सन्नत अवस्था में रहता है।

---

१. उपर्युक्त करणों का चित्रमय अंकन दक्षिण के चिदम्बरम् मन्दिर के गोपुरों पर उत्कीर्ण है, जो कि भरतोक्त करणों का पूर्णांशेन प्रातिनिधिक नहीं माना जा सकता। 'करण' अंगाभिनय के सामूहिक संघटन का परिणाम है, जिसमें दिभिन्न अंगों तथा उपांगों की एक दूसरे के बाद द्रुत गति से होने वाली सूक्ष्म भंगिमाएँ सम्मिलित हैं। इन समस्त भंगिमाओं की द्रुत परम्परा का सम्यक् अंकन चित्रों में करना असम्भ है, करणों की आन्तरिक भावमय व्यंजना की बात तो दूर ही है। चित्र श्रेष्ठतम चित्रकारों के द्वारा अंकित किए जाने पर भी करण की किसी एक तथा स्थाई अवस्था को अंकित कर सकते हैं, द्रुत रूप से परिवर्तित होकर समस्त अभिनयभंगिमा को प्रस्तुत करने वाले अंगभूत अंशों को नहीं। इस स्थिति में उपर्युक्त चित्रों को भरतोक्त करणों का केवल अंशतः प्रातिनिधिक माना जा सकता है।

२—वर्तित–इसमें दोनों हस्त मणिबन्ध पर कुंचित अर्थात् झुके हुए होते हैं तथा अंगुलियों की व्यावर्त तथा परिवर्त क्रिया की जाती है। इसी के पश्चात् हस्तों को उत्तान अवस्था में ऊरुओं पर स्थापित किया जाता है। पाद की स्थिति के सम्बन्ध में प्राचीन मनीषियों में मतभेद पाया जाता है। कुछ आचार्यों के अनुसार इसमें पाद अग्रतलसंचर स्थिति में रहता है, कुछ अन्य आचार्यों का मत है कि इसमें पादसंचार हस्ताभिनय के अनुकूल होना चाहिए[1]।

३—वलितोरुक–इसमें दोनों हस्तों को शुकतुण्ड नामक संयुक्त क्रिया में रखा जाता है तथा हस्तांगुलियों में व्यावर्तन तथा परिवर्तन की क्रिया की जाती है। इस करण में ऊरुओं को दलित किया जाता है।

४—अपविद्ध–इसमें शुकतुण्ड नामक संयुत हस्त क्रिया की आवृत्ति करने के पश्चात् दक्षिण हस्त को ऊरु पर पातित किया जाता है तथा वाम हस्त को वक्ष पर रखा जाता है।

५—समनख–इसमें पाद के नखों को संश्लिष्ट तथा समतल रखा जाता है तथा दोनों हस्तों को लताहस्त की क्रिया में लम्बायमान रखा जाता है। नृत्य के प्रथम प्रवेश में प्रायः इसी करण का प्रयोग विहित है[2]।

६—लीन–इसमें पताकांजलि वक्ष पर स्थापित होती है तथा अंस को निकुंचित किया जाता है।

७—स्वस्तिकरेचित–इसमें हस्तों को प्रथम रेचित अर्थात् प्रसारित कर आविद्ध अर्थात् वक्र किया जाता है और तत्पश्चात् स्वस्तिक अवस्था में रखा जाता है। तदनन्तर उनको विश्लिष्ट कर कटि पर स्थापित किया जाता है।

८—मण्डलस्वस्तिक–इसमें मण्डल स्थान के अन्तर्गत दो स्वस्तिक हस्तों को ऊर्ध्वतल कर वक्ष पर स्थापित किया जाता है तथा कटि का संचलन जानु के अनुरूप होता है।

९—निकुट्टक–इसमें हस्त तथा पाद दोनों का निकुट्टन किया जाता है। हस्तों का निकुट्टन अर्थात् पातनोत्पादन स्कन्ध के ऊपर किया जाता है। पाद के उद्घट्टन में पाद के तलाग्र पर स्थिर होकर पार्ष्णि को भूमि पर निपातित किया जाता है[3]।

१—अर्धनिकुट्ट–इसमें प्रथम अर्ध में निकुट्टन तथा दूसरे अर्ध में निकुंचन होता है।

---

१. द्र० अभिनवभारती, पृ० ९७

२. वहीं, पृ० ९८

३. वहीं, पृ० १०१

११—कटिच्छिन्न—इसमें कटि का बारम्बार वलन किया जाता है तथा बाहुओं के ऊपर दो पल्लव हस्तों को आवृत्तिपूर्वक रखा जाता है। पल्लव हस्त का प्रयोग होने के कारण दोनों हाथ स्वभावतः मणिबन्ध से शिथिल रूप में मुक्त होते हैं।

१२—अर्धरेचित—इसमें सूचीमुख हस्त अपविद्ध स्थिति में रहता है तथा पार्श्व को झुका कर पाद का निकुट्टन होता है। 'अपविद्ध' से तात्पर्य उस क्रिया से है जिसमें दक्षिण हस्त को ऊरु पर रख कर बायें हाथ को वक्ष पर रखा जाता है।

१३—वक्षःस्वस्तिक—इसमें हस्त तथा पाद दोनों की स्वस्तिक स्थिति रहती है। जंघाओं को परस्पर वलित किए हुए रखा जाता है, स्वस्तिक हस्तों को वक्ष से कुछ दूरी पर रेचित स्थिति में रखा जाता है तथा वक्ष को निकुंचित किया जाता है।

१४—उन्मत्त—इसमें पाद की अंचित अवस्था होती है तथा हस्तों को ऊपर की ओर रेचित किया जाता है। 'अंचित' में पार्ष्णि भूमि पर स्थित होती है तथा अग्र ऊर्ध्वतल होकर अंगुलियाँ फैली हुई होती हैं।

१५—स्वस्तिक—इसमें हाथों तथा पैरों को परस्पर वलित कर स्वस्तिक क्रिया की जाती है।

१६—पृष्ठस्वस्तिक—इसमें बाहु विक्षिप्त तथा आक्षिप्त स्थिति में होते हैं तथा पादों से स्वस्तिक की क्रिया की जाती है। यह करने में अपक्रान्ता तथा अर्धसूची नामक चारियों का प्रयोग किया जाता है। प्रेक्षकों की ओर से विमुख हो कर किए जाने के कारण इसके लिए 'पृष्ठस्वस्तिक' संज्ञा है।

१७—दिक्स्वस्तिक—इसमें हस्त तथा पाद की स्वस्तिक क्रिया चारों ओर की जाती है।

१८—अलातक—अलात नामक चारी को करने के पश्चात् दक्षिण हस्त को अंस से दूर फेंका जाता है तथा तत्पश्चात् ऊर्ध्वजानु नामक चारी को किया जाता है। इस करण में प्रमुख क्रिया वलन अर्थात् वर्तुलाकार भ्रमण की है[1]।

१९—कटिसम—इसमें पाद को स्वस्तिक स्थान से दूर कर एक हस्त को नाभि तक तथा दूसरे को कटि पर रखा जाता है तथा पार्श्व को ऊर्ध्वगत किया जाता है। अभिनवगुप्त के अनुसार नाभिस्थ हस्त 'खटक' क्रिया में रखा जाता है तथा कटिस्थ हस्त 'अर्धचन्द्र' में रहता है[2]।

---

१. द्र० वहीं, १०,४१ क० शा० पर टीका

२. वहीं० पृ० १०६

२०—आक्षिप्तरेचित–इसमें वाम हस्त वक्ष पर स्थापित होता है तथा सव्य हस्त प्रथम आक्षिप्त और बाद में रेचित होता है। हाथ की अन्तिम स्थिति अपविद्ध की होती है, जिसमें ऊरु पर हस्त का विन्यास किया जाता है। अभिनवगुप्त के अनुसार इसमें हाथ को ऊर्ध्व की ओर दोनों पार्श्वों में घुमाकर फैलाया जाता है[1]।

२१—विक्षिप्ताक्षिप्त–इसमें हस्त तथा पादों को प्रथम विक्षिप्त किया जाता है तथा बाद में आक्षिप्त किया जाता है। 'आक्षेप' से तात्पर्य हस्त को वक्ष के पास अधोमुख रखने से है। प्रस्तुत नृत्तहस्त की प्रथम क्रिया में एक हाथ तथा पाद को विक्षिप्त किया जाता है, दूसरी क्रिया में उनका आक्षेप किया जाता है तथा तीसरी क्रिया में दूसरा हस्त तथा पाद क्रमशः विक्षिप्त-आक्षिप्त होता है[2]।

२२—अर्धस्वस्तिक–इसमें केवल पादों को स्वस्तिक में रखा जाता है, दक्षिण हस्त को करिहस्त में रखा जाता है तथा वाम हस्त को वक्ष-स्थान पर रखा जाता है। अभिनवगुप्त के अनुसार इस करण में हाथ को अर्धचन्द्र स्थिति में कटि पर स्थापित किया जाता है।

२३—अंचित–उपर्युक्त करण में करिहस्त को व्यावृत्त तथा परिवृत्त कर नासिका के पास अंचित करने से यह करण बनता है।

२४—भुजंगत्रासित–इसमें कुञ्चित पाद को ऊपर फेंक कर ऊरु को विवृत्त किया जाता है तथा साथ ही कटि तथा जानु को भी विवृत्त किया जाता है। एक हाथ दोला क्रिया में तथा अन्य खटकास्य क्रिया में होता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 'खटकास्य' से तात्पर्य यह है कि हस्त की मध्यमांगुलि को मुष्टि अवस्था में मोड़ कर रखा जाता है तथा अन्य तीन अंगुलियों को अन्दर की ओर मोड़ कर तर्जनी पर अंगुष्ठ को स्थापित किया जाता है। सर्प को पैर के नीचे देख कर यह क्रिया स्वाभाविक रूप से निष्पन्न होती है। अभिनवगुप्त के अनुसार यह हस्त-क्रिया अनादि सिद्ध है[3]।

२५—ऊर्ध्वजानु–इसमें कुञ्चित पाद को ऊपर उठाकर जानु तथा स्तन के पास विन्यक्स्त किया जाता है तथा दोनों हस्त अभीष्ट प्रयोग के लिए प्रस्तुत रहते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार एक हस्त ऊर्ध्वमुख कर अलपल्लव अथवा अराल नामक क्रिया में रखा जाता है तथा अन्य वक्षस्थ खटकामुख क्रिया में रहता है (अ० भा० पृ० १०९)।

---

१. वहीं, पृ० १०७

२. वहीं

३. वहीं, पृ० १०९; द्र० प्रबन्ध के अन्त में आ० ५१

२६—निकुञ्चित—इसमें पाद को वृश्चिक अवस्था में रख कर वाम हस्त को पार्श्व की ओर निकुञ्चित किया जाता है तथा दक्षिण हस्त को कुंचित कर नासाग्र पर स्थापित किया जाता है। 'वृश्चिक' से तात्पर्य ऐसे पाद से है जिसमें उसको पृष्ठ की ओर प्रसारित किया जाता है। इसके सम्बन्ध में अभिनवगुप्त ने दो मतों का निर्देश किया है—एक के अनुसार दोनों हाथों से अराल की क्रिया की जाती है तथा दूसरे के अनुसार नासाग्र पर स्थापित होने वाला हस्त पताक में तथा दूसरा हस्त सूचीमुख में रखा जाता है (अ० भा० पृ० १०९)।

२७—मत्तल्लि—इसमें वाम तथा दक्षिण दोनों पादों को घूर्णित रूप में एक दूसरे के पास लाया जाता है तथा हस्तों की उद्वेष्टित तथा अपवेष्टित क्रिया की जाती है।

२८—अर्धमत्तल्लि—इसमें दोनों पाद फिसलाने की क्रिया से एक दूसरे से हटाये जाते हैं, वाम हस्त हंसपक्ष क्रिया में घुमाया जाता है तथा सव्य हस्त कटि पर स्थापित किया जाता है।

२९—रेचितनिकुट्ट—इसमें दक्षिण हस्त की रेचित क्रिया होती है, वाम हस्त की दोला क्रिया होती है तथा सव्य पाद का निकुट्टन किया जाता है।

३८—पादापविद्धक—इसमें दो हस्तों को खटकामुख क्रिया में नाभि के पास प्राङ्मुख रखा जाता है तथा दो पादों को क्रमशः सूची एवं अपक्रान्त चारी में स्थापित किया जाता है। जैसा 'चारी' का विवरण करते समय यथास्थान बतलाया जा चुका है, 'सूची' में अंगुष्ठाग्र पर स्थित होकर पार्ष्णि को ऊपर फेंका जाता है तथा 'अपक्रान्ता' में ऊरुओं के वलन की क्रिया होती है।

३१—वलित—इसमें हस्त को अपविद्ध अर्थात् देह से दूर किया जाता है, साथ ही सूचीपाद को भी अवसृत किया जाता है तथा त्रिक को विवृत्त अर्थात् वलित किया जाता है। इसमें दोनों हाथ सूचीमुख में होते हैं (अ० भा० पृ० १११)।

२३—घूर्णित—इसमें सव्य हस्त वर्तित तथा घूर्णित होता है, वाम हस्त दोला में रखा जाता पाद आरम्भ में स्वस्तिक क्रिया को कर उससे क्रमशः निवृत्त होता है।

३३—ललित—इसमें वाम हस्त करिहस्त क्रिया में तथा दक्षिण हस्त विवर्तित स्थिति में रहता है। इसमें हस्त के अनुसार पाद का कुट्टन किया जाता है।

३४—दण्डपक्ष—इसमें प्रथम ऊर्ध्वजानु चारी को सम्पन्न किया जाता है, तत्पश्चात् उत्क्षिप्त जानु के ऊपर लताहस्त का न्यास किया जाता है।

३५—भुजंगत्रस्तरेचित–इसमें सर्वप्रथम भुजंगत्रासित करण को सम्पन्न कर उभय हस्तों को वामपार्श्व की ओर प्रसारित किया जाता है[1]।

३३—नुपूर–इसमें त्रिक[2] को वलित कर हस्तों की लता तथा रेचित क्रिया की जाती है तथा पाद से नूपुरपादिका नामक चारी की जाती है।

३७—वैशाखरेचित–इसमें सर्वप्रथम वैशाख नामक स्थान में स्थित होकर दोनों हस्त-पाद, कटि तथा ग्रीवा की रेचित क्रिया चारों प्रकारों से की जाती है।

३८—भ्रमरक–इसमें पाद को आक्षिप्त कर स्वस्तिक स्थिति में लाया जाता है, दोनों हस्तों की उद्वेष्टन क्रिया होती है तथा त्रिक को वलित किया जाता है।

३९—चतुर–इसमें वाम हस्त अंचित किया जाता है, सव्य हस्त 'चतुर' स्थिति में रहता है तथा दक्षिण पाद से कुट्टन किया जाता है।

४०—भुवंगान्चित–इसमें पाद भुजंगत्रासित करण के अनुसार होता है, दक्षिण कर रेचित होता है तथा वाम कर से लताहस्त की क्रिया होती है[3]।

४१—दण्डकरेचित–इसमें दण्डपक्ष नामक क्रिया तथा दण्डपादा नामक चारी दोनों का प्रयोग होता है। हस्त तथा पाद को चारों ओर फेंक कर शरीर को दण्डाकार किया जाता है।

४२—वृश्चिककुट्टित–इसमें पाद को वृश्चिक में रखकर दोनों हाथों को निकुट्टित किया जाता है।

४३—कटिभ्रान्त–इसमें दक्षिण पाद से सूची तथा अपविद्ध क्रिया की जाती है तथा कटि की रेचित क्रिया होती है।

४४—लतावृश्चिक–पाद की अंगुलियों को कुंचित तथा ऊर्ध्वतल कर पृष्ठ की ओर ऊर्ध्व में प्रसारित किया जाता है तथा वाम हस्त लताभिनय करता है।

४५—छिन्न–इसमें वैशाख स्थान का अवलम्ब कर कटि को छिन्न किया जाता है तथा अलपद्म हस्त को कटि पर रखा जाता है। यह क्रिया पर्यायशः दोनों हाथों से की जाती है।

४३—वृश्चिकरेचित–सर्वप्रथम पाद को वृश्चिक स्थिति में रख कर हाथों की स्वस्तिक क्रिया की जाती है, अनन्तर उस अवस्था से हाथों को मुक्त कर रेचित किया जाता है।

---

१. द्र० प्रबंध के अन्त में आ० ५२ त्रिक के स्पष्टीकरण के लिए द्र० ना० शा० १०, ४५।

२. त्रिक के स्पष्टीकरण के लिए द्र० ना० शा० १४,४५

३. द्र० प्रबन्ध के अन्त में आ० ५३

४७—वृश्चिक–इसमें हस्तों को शीर्ष की ओर प्रसारित किया जाता है तथा पाद को पृष्ठ के पीछे प्रसारित किया जाता है। इस करण में पृष्ठ पीछे की ओर अत्यधिक सन्नत हो जाती है।

४८—व्यंसित–आलीड नामक स्थान में दोनों हाथों को वक्ष पर रेचित करने से तथा ऊपर और नीचे विप्रकीर्ण कर देने से प्रस्तुत करण बनता है।

४९—पार्श्वनिकुट्टक–इसमें हस्तों की स्वस्तिक क्रिया पार्श्व से लगाकर की जाती है तथा पाद का निकुट्टन किया जाता है।

५०—ललाटतिलक–इसमें पाद को वृश्चिक अवस्था में लाकर पादांगुष्ठ से ललाट पर तिलक लगाने की क्रिया होती है। यही क्रिया 'ऊर्ध्वताण्डव' के नाम से विख्यात है[1]। अभिनवगुप्त के अनुसार इसी के साथ दूसरे हस्त को ऊपर उठाकर वृश्चिक पाद से जोड़ दिया जाता है[2]।

५१—क्रान्तक–इसमें करों को आक्षिप्त किया जाता है तथा पृष्ठ की ओर से अतिक्रान्त चारी की जाती है।

५२—कुंचित–इसमें जानु के नीचे वाले भाग को नत किया जाता है तथा सव्य हस्त को कुंचित कर वाम पार्श्व में रखा जाता है। पाद को नत करने के कारण इसमें स्वभावत: जानु के बल पर भूमि पर खिसकने की क्रिया होती है।

५३—चक्रमण्डल–इसमें दोनों बाहुओं को पूर्णत: प्रलम्बित किया जाता है तथा शरीर को अपविद्ध क्रिया में अन्दर की ओर नत किया जाता है।

५४—उरोमण्डल–इसमें दोनों पादों को स्वस्तिक अवस्था में रख कर बाद अपसृत किया जाता है, पश्चात् अपविद्ध किया जाता है तथा हस्त के द्वारा उरोमण्डल की क्रिया होती है। 'उरोमण्डल' से तात्पर्य उस क्रिया है जिसमें एक हाथ उद्वेष्टित स्थिति में तथा दूसरा हाथ अपवेष्टित स्थिति में उरस्थान पर भ्रमित किया जाता है।

५५—आक्षिप्त–हस्त तथा पाद की आक्षिप्त क्रिया से यह करण बनता है। इस क्रिया के अन्तर्गत हाथ तथा पैरों को फैलाकर ऊपर की ओर फेंका जाता है। अभिनवगुप्त के अनुसार इस करण में विदूषक की टेढ़ी गति का अनुकरण होता है[3]।

---

१. भीटा नामक स्थान में उपलब्ध मूर्ति में 'ऊर्ध्वताण्डव' का अभिनय स्पष्टत: अंकित है। द्र० 'जरनल आफ म्यूजिक एकेडमी', मद्रास, भाग १२, पृ० ९७–९८, तथा द्र० 'हिन्दू' नामक पत्रिका दि० २३–२–४२ में गांगुलि का लेख।

२. द्र० इस प्रबन्ध के अन्त में आ० ५४

३. अभिनवभारती, पृ० १२०

५६—तालविलसित—इसमें पादांगुलियों का तलभाग ऊपर की तरफ किया जाता है तथा उस पाद को पार्श्व की ओर प्रसारित किया जाता है। पादों के सदृश हस्तों के तल भी इसमें प्रसारित होते हैं।

५७—अर्गल—इसमें पाद को पीछे की ओर ऐसा फैलाया जाता है कि जिससे दो पाद एक दूसरे से ढाई ताल की दूरी पर हो। इसी के अनुसार हस्त की क्रिया आगे की ओर को जाती है।

५८—विक्षिप्त—इसमें हस्त तथा पाद को पृष्ठ तथा पार्श्व की ओर फेंका जाता है। अभिनवगुप्त के अनुसार उद्धत गति को दर्शाने के लिए इस करण का प्रयोग किया जाता है[1]।

५९—आवर्त—इसमें कुंचित पाद को प्रसारित कर द्रुत गति से घुमाया जाता है तथा हस्तों की स्थिति प्रयोग के अनुकूल होती है।

६०—दोलापाद—इसमें कुञ्चित पाद को उत्क्षिप्त कर एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व की ओर दोलायमान किया जाता है।

६१—विवृत्त—इसमें हस्त तथा पाद दोनों को आक्षिप्त कर त्रिक को विवृत किया जाता है तथा बाद में दोनों हस्त रेचित किए जाते हैं।

६२—विनिवृत्त—इसमें पाद को सूचीविद्ध कर त्रिक को विनिवृत्त किया जाता है तथा करों की रेचित क्रिया की जाती है।

६३—पार्श्वक्रान्त—इसमें पार्श्वक्रान्त नामक चारी के साथ पाद को आगे की ओर निपातित किया जाता है तथा तदनुकूल हस्तों का प्रयोग होता है। 'पार्श्वक्रान्त' से तात्पर्य ऐसे पादविन्यास से है, जिसमें कुंचित पाद को उत्क्षिप्त कर पार्श्व की ओर विन्यस्त किया जाता है।

६४—निस्तम्भित—इसमें पाद को पीछे की ओर कुञ्चित किया जाता है, वक्ष समुन्नत होता है तथा हस्त की तिलक-क्रिया की जाती है। अभिनवगुप्त के अनुसार इसकी विशेषता पादाघात की क्रिया में है।

६५—विद्युद्भ्रान्त—इसमें वलित पाद को पृष्ठ की ओर से शीर्ष तक इतना अधिक घुमाया जाता है कि वह शिर से घर्षण करने लगता है। भरत के अनुसार इसमें मण्डलाकार से आविद्ध क्रिया होती है।

६६—अतिक्रान्त—इसमें 'अतिक्रान्त' चारी को सम्पन्न कर आगे की ओर शरीर को प्रसारित किया जाता है। हस्तों का अभिनय 'प्रयोगवश' अर्थात् अभीष्ट प्रयोग के अनुकूल होता है।

---

१. वहीं, पृ० १२१

६७—विवर्तितक—इसमें एक हस्त तथा पाद को आक्षिप्त कर त्रिक में विवर्त किया जाता है तथा दूसरे हस्त को रेचित किया जाता है[1]।

६८—गजक्रीडित—इसमें वाम हस्त को अंचित अर्थात् वक्र कर कर्ण के पास रखा जाता है, दक्षिण हस्त को 'दोला' में रखा जाता है तथा पाद से 'दोलापाद' चारी को सम्पन्न किया जाता है।

६९—तलसंस्फोटित—इसमें पाद को द्रुत गति में उत्क्षिप्त कर सामने निपातित किया जाता है तथा हस्तों को एक दूसरे पर संस्फोटित किया जाता है। अभिनवगुप्त के अनुसार इस करण में पताक-हस्तों का प्रयोग विहित है।

७०—गरुडप्लुत—इसमें दोनों पादों को पृष्ठ के पीछे प्रसारित किया जाता है, एक हस्त 'लता' में रख कर दूसरे को रेचित किया जाता है तथा शिर समुन्नत रहता है।

७१—गण्डसूची—इसमें 'सूचीपाद' चारी के साथ पार्श्व को नत किया जाता है, एक हाथ को वक्षस्थ किया जाता है तथा दूसरे को गण्ड पर अंचित क्रिया से रखा जाता है।

७२—परिवृत्त—इसमें 'सूचीपाद' चारी का विवर्तन होता है, हस्तों को ऊपर की ओर अपवेष्टित किया जाता है तथा त्रिक को भ्रमरी चारी के समान परिवृत्त किया जाता है।

७३—पार्श्वजानु—इसमें एक पाद समस्थित होता है, दूसरा प्रथम पाद की ऊरु के पीछे रहता है तथा मुष्टिहस्त को वक्ष पर स्थापित किया जाता है।

७४—गृध्रावलीनक—इसमें जानु को अंचित कर पाद को पीछे फैलाया जाता है तथा बाहुओं का प्रसारण भी होता है।

७५—सन्नत—इसमें उत्प्लुति के साथ आगे जाकर दोनों पादों को स्वस्तिक स्थिति में रखा जाता है तथा हस्तों को सन्नत किया जाता है। उत्प्लुति की क्रिया 'हरिणप्लुता' नामक चारी से की जाती है।

७६—सूची—इसमें कुञ्चित पाद को ऊपर उत्क्षिप्त कर आगे की ओर भूमि पर रखा जाता है।

७७—अर्धसूची—इसमें शिर पर अलपद्म क्रिया की जाती है तथा दक्षिण पाद को सूची में रखा जाता है।

७८—सूचीविद्ध—पादसूची से जब दूसरा पाद विद्ध किया जाता है तथा हाथों को कटि एवं वक्ष पर रखा जाता है, तब इस करण की निष्पत्ति होती है।

७९—अपक्रान्त—इसमें ऊरु को वलित कर पाद से 'अपक्रान्त' चारी की जाती है तथा हस्तों की क्रिया तदनुसार होती है।

---

१. अ० भारती, पृ० १२४

८०—मयूरललित–इसमें पाद को वृश्चिक स्थिति में रख कर दोनों हस्तों को रेचित किया जाता है तथा त्रिक को विवृत्त किया जाता है।

८१—सर्पित–इसमें पादों को अंचित कर अपसृत किया जाता है, शिर को परिवाहित किया जाता है तथा हस्तों को रेचित किया जाता है। 'परिवाहित' से अभिप्राय वैसी क्रिया से है जिसमें शिर को पर्यायशः पार्श्वगत किया जाता है।

८२—दण्डपाद–इसमें 'नूपुरचारी' के पश्चात् दण्डपाद चारी से आगे बढ़ने की क्रिया होती है तथा हस्त को अपविद्ध किया जाता है। इस प्रकार हस्त को अपविद्ध करना दण्डपाद चारी की विशेषता है।

८३—हरिणप्लुत–अतिक्रान्त चारी को सम्पन्न कर उत्प्लुति के साथ पाद को आगे निपातित किया जाता है तथा ईषत् वक्र जँघा को ऊपर की ओर क्षिप्त किया जाता है।

८४—स्खलित–इसमें दोलापाद नामक चारी को सम्पन्न करने के पश्चात् हस्तों को रेचित तथा घूर्णित किया जाता है।

८५—नितम्ब–इसमें बद्धा चारी के साथ भुजाओं को ऊर्ध्व किया जाता है किन्तु हाथों की अंगुलियां अधोमुख होती हैं।

८६–प्रखोलित–इसमें दोलापाद चारी को सम्पादित कर उत्प्लुति के साथ पाद को आगे निपातित किया जाता है तथा त्रिक को परिवृत्त किया जात है।

८६—करिहस्त–इसमें एक हाथ को वक्षस्थ किया जाता है, दूसरा कर्ण पर 'प्रोद्वेष्टिततल' से रखा जाता है तथा चरण को अंचित किया जाता है। 'प्रोद्वेष्टित' से तात्पर्य कर्णस्थ त्रिपताक हाथ को निम्न की ओर अभिमुख करना है (द्र० अभिनवभारती)।

८८—प्रसर्पित–इसमें एक हाथ रेचित किया जाता है, दूसरा लता-हस्त की क्रिया करता है तथा दोनों पाद भूमि पर प्रसर्पण करते हुए आगे बढ़ते हैं।

८९—सिंहविक्रीडित–इसमें एक बाद से अलातचारी को किया जाता है, दूसरे पाद से द्रुतक्रम किया जाता है तथा हाथों की क्रिया पादों के अनुसार होती है।

९०—सिंहाकर्षित–इसमें पाद को पीठ के पीछे फैला कर हस्तों को निकुंचित किया जाता है। यही क्रिया पुनः दूसरे पाद के साथ की जाती है।

९१—उद्वृत्त–इसमें उद्वृत्ता नामक आकाशचारी के साथ हस्त, पाद तथा समस्त देह आक्षिप्त किया जाता है। जैसा यथास्थान देखा जा चुका है, इस चारी में आविद्ध पाद को ऊपर उठाकर दूसरे पाद के पास वर्तुलाकार घुमाने की क्रिया होती है।

९२—उपसृतक–इसमें एक पाद आक्षिप्त किया जाता है तथा हस्त उसी

क्रिया के अनुकूल क्रिया करता है। इस करण में समस्त शरीर नत किया जाता है।

९३—तलसंघट्टित–इसमें दोलापाद चारी के साथ हस्तों को तल पर एक दूसरे से संघटित किया जाता है तथा पश्चात् वाम हस्त को रेचित किया जाता हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार इस करण का प्रयोग अनुकम्पा प्रदर्शित करने के लिए होता है। (द्र० अभिनवभारती पृ० १३३)।

९४—जनित–इसमें एक हाथ को वक्षस्थ किया जाता है, दूसरे हाथ को प्रलम्बित किया जाता है तथा पाद को तलाग्र पर स्थिर किया जाता है। अभिनवगुप्त के अनुसार वक्षस्थ हाथ मुष्टिहस्त की क्रिया में होता है (द्र० पृ० १३३, वहीं)।

९५—अवहित्थ—उपर्युक्त 'जनित' करण को करने के पश्चात् हस्तों की अंगुलियों को अभिमुख किया जाता है तथा शनैः शनैः हाथों को नीचे की ओर किया जाता है।

९६—निवेश–मण्डल स्थान को करने के पश्चात् हाथों को वक्षस्थ किया जाता है तथा उरस् को निर्भुग्न अर्थात् आगे की ओर किया जाता है। जैसा यथास्थान कहा जा चुका है, मण्डल नामक स्थान में पादों को चार तालों की दूरी पर त्र्यस्र अवस्था में रखा जाता है तथा कटि एवं जानु को सम स्थिति में रखा जाता है।

९७—एलकाक्रीडित–इसमें दोनों पादों से तलसंचार की क्रिया करने के पश्चात् उत्प्लुति से आगे बढ़ाया जाता है तथा समस्त शरीर सन्नत एवं वलित किया जाता हैं। उत्पतन के समय गात्रों को सन्नत कर बाद में वलन की क्रिया की जाती है।

९८—उरुद्वृत्त–इसमें 'ऊरुद्वृत्ता' चारी के साथ कर को अंचित अवस्था में ऊरु के पीछे रखा जाता है तथा जंघा अंचित एवं उद्वृत्त होती है। जैसा यथास्थान बताया जा चुका है, इस चारी में पाद से तलसंचर की क्रिया की जाती है, पाद-पार्ष्णि बाहर की ओर उन्मुख होती है तथा जंघा अंचित एवं उद्वृत्त की जाती है।

९९—मदस्खलितक–इसमें हस्तों को प्रलम्बित किया जाता है, शिर को परिवाहित किया जाता है तथा पादों को वलित एवं आविद्ध किया जाता है।

१००—विष्णुकान्त–इसमें आगे की ओर प्रसारित पाद गगनोन्मुख अभिनय में कुंचित किया जाता है तथा हस्तों को रेचित किया जाता है।

१०१—सम्भ्रान्त–आविद्ध नामक चारी के साथ हस्त को घुमाकर ऊरु के पीछे निकुंचित किया जाता है तथा ऊरु को आविद्ध किया जाता है। इस चारी

में स्वस्तिक स्थिति में रखे हुए पादों में से एक को कुंचित कर प्रसारित किया जाता है तथा इसी अवस्था में भूमि पर आविद्ध किया जाता है।

१०२—विष्कम्भ–इसमें सर्वप्रथम एक हस्त को दूसरे सूचीमुख हस्त से अपविद्ध किया जाता हैं, पाद को निकुट्टित किया जाता है तथा वाम हस्त को वक्षस्थ किया जाता है।

१०३—उद्घट्टित–इसमें पादों को उद्घट्टित किया जाता है, हस्तों को तलसंघट्टित किया जाता है तथा पार्श्व को नत किया जाता है। हस्तों के तालिका-वादन के साथ पाद-पार्ष्णि से भूमि को दबाने की क्रिया होती है।

१०४—वृषभक्रीडित–अलातचारी को सम्पादित करने के पश्चात् दोनों हस्तों को रेचित किया जाता है तथा बाद में कुञ्चित हस्तों को अंचित अर्थात् वक्र किया जाता है।

१०५—लोलित–इसमें हस्तों को रेचित तथा अंचित किया जाता है, शिर को हिलाया जाता है तथा पार्श्व में पर्यायशः घुमाया जाता है।

१०६—नागापसर्पित–इसमें पादों को स्वस्तिक स्थिति से अपसृत किया जाता है, शिर को पार्श्वों में परिवाहित किया जाता है तथा हस्तों को रेचित किया जाता है। कुटिल अथवा वक्राकार गति के कारण इसके लिए 'नागापसर्पित' संज्ञा है तथा इसका प्रयोग युवा व्यक्ति की मदमत्त अवस्था को सूचित करने के लिए होता है (द० अभिनवभारती पृ० १३७)।

१०७—शकटास्य–इसमें अंग को भूमि पर लिटा कर पाद का प्रसरण तलसंचर रूप से होता है तथा उरस् को ऊपर की ओर उठाया जाता है। बालक्रीड़ा के द्योतित करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है।

१०८—गंगावतरण–इसमें पादों के तल तथा अंगुलियों को ऊर्ध्व किया जाता है, त्रिपताक हस्तों को अधोमुख किया जाता है तथा शिर को सन्नत किया जाता है। अभिनवगुप्त के अनुसार त्रिविक्रमपाद के प्रसार से युक्त होने के कारण इसमें लिए 'गंगावतरण' संज्ञा है (अभिनव पृ० १३८–१३९[१])।

भरतोक्त अंगहार

जैसा यथास्थान निवेदित किया जा चुका है, पांच से अधिक करणों की धारावाहिक क्रिया के लिए 'अंगहार' पारिभाषिक संज्ञा है (४,३२)। नाट्यशास्त्र के अनुसार अंगहारों की परम्परा का प्रवर्तन भगवान शिव के आदेश से तण्डु के द्वारा हुआ है तथा इसी परम्परा का समावेश नाट्यशास्त्र में

---

१. इस करण के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त ने नानाविध मतभेदों को दर्शित किया है (द्र० अभिनवभारती पृ० १३८–१३९)।

है (४,१३,४, १७–१९)। स्वयं महेश्वर का ताण्डव नृत्य लय तथा ताल के अनुकूल किए जाने वाले अंगहारों से उपलक्षित बताया गया है (४,२४६–२४९)। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार 'अंगहार' की व्याख्या निम्नानुसार है—

"अंगानां देशान्तरे प्रापणप्रकारोऽङ्गहारः। हरस्य चायं हारः प्रयोगः। अंगनिर्वर्त्यो हारोऽङ्गहारः। यद्वक्ष्यति—'महेश्वरस्य चरितं य इदम्' इति।" अर्थात् अङ्गहार अङ्गों की विभिन्न अभिनय क्रियाओं से निष्पन्न होते हैं, जिसमें विविध अङ्गों तथा प्रत्यंगों से किए जाने वाले समग्र करणों का समावेश है।

भरत के अनुसार उपर्युक्त १०८ करणों के सामूहिक प्रयोग से अङ्गहारों की निष्पत्ति होती है। इन करणों से बनने वाले ३२ अङ्गहारों[1] के नाम निम्नानुसार हैं—

१. स्थिरहस्त २. पर्यस्तक ३. सूचीविद्ध ४. अपविद्ध ५. आक्षिप्तक ६. उद्घट्टित ७. विष्कम्भ ८. अपराजित ९. विष्कम्भापसृत १०. मत्ताक्रीड ११. स्वस्तिकरेचित १२. पार्श्वस्वस्तिक १३. वृश्चिक १४. भ्रमर १५. मत्तस्खलितक १६. मदविलसित १७. गतिमण्डल १८. परिच्छिन्न १९, परिवृत्तरेचित २०. वैशाखरेचित २१. परावृत्त २२. अलातक २३. पार्श्वच्छेद २४. विद्युद्भ्रान्त २५. उद्धृतक २६. आलीढ २७. रेचित २८. आच्छुरित २९ आक्षिप्तरेचित ३०. संभ्रान्त ३१. उपसर्पित ३२. अर्धनिकुट्टक।

भरत की रस कल्पना[2]

भरत का नाट्यशास्त्र रस-सिद्धान्त का प्रवर्तक ग्रन्थ है। भरत के अनुसार प्रत्येक ललितकला का उद्देश्य रसानुभूति है। प्राचीन दार्शनिकों के 'रसो वै सः' का साक्षात्कार इन कलाओं के माध्यम से सम्भाव्य है। क्या संगीत, क्या काव्य, चित्र अथवा शिल्प, सभी में रसानुभूति की अन्तिम स्थिति एक सी पाई जाती है। इनकी रसावस्था एक अखण्ड अभेदयुक्त अनुभूति है, जहाँ रस का तो क्या, स्वत्व का भी भान लुप्त हो जाता है। यह श्रृङ्गार है, वीर है अथवा रौद्र इत्यादि का भान स्वयं रसिक के लिए अवशिष्ट नहीं रहता। बाह्य जगत् को विस्तृत कर वह ऐसे अलौकिक एवं निर्विकल्प आनन्द का अनुभव करता है, जो ब्रह्मानन्द से कथमपि न्यून नहीं माना जा सकता। सभी

---

१. जिन करणों से यह अङ्गहार निष्पन्न होते हैं, उनका सविस्तर विवेचन ऊपर किये जाने के कारण अङ्गहारों का स्वतन्त्र विवेचन यहां नहीं किया जा रहा है।

२. हाथरस (उ० प्र०) में आयोजित अ० भा० संगीत परिसंवाद के उद्घाटन पर प्रस्तुत अध्यक्षीय भाषण (वर्ष १९६०)।

कलाओं में यही अन्तिम लक्ष्य होने पर भी लक्ष्य-प्राप्ति के साधन विभिन्न हैं, अतएव इनकी रसनिर्माणक्रिया परस्पर भिन्न हो, तो आश्चर्य नहीं। काव्य, चित्र, मूर्ति, संगीत सभी जनमानस को रसानुभूति कराते हैं, सभी के द्वारा सहृदय व्यक्ति को असीम आनन्द का अनुभव होता है, इसमें सन्देहलेश नहीं, परन्तु प्रत्येक कला की रसप्रक्रिया क्या समान हो सकती है, यह तथ्य विचारणीय है। नाट्यशास्त्र के आधार पर यहाँ भरत की संगीतविषयक रस-कल्पना को प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

रस सम्बन्धी विवरण नाट्यशास्त्र के अध्याय ६ में प्रमुख रूप से हुआ है। भरत की परिनिष्ठित धारणा है कि रस के बिना कोई कार्य प्रवृत्त नहीं होता—

न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते।[1]

इस धारणा के अनुसार नाट्यविषयक रस की सूत्रमय मीमांसा उन्होंने प्रस्तुत की है। नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत संग्राह्य विषयों में रस को आदि स्थान दिया गया है। भाव, अभिनय, धर्मि, वृत्ति, स्वर, गान, आतोद्य तथा रंग सभी रस-निष्पत्ति के लिये आनुषंगिक हैं—

रसा भावा ह्यभिनया धर्मिवृत्तिप्रवृत्तयः।
सिद्धिस्वरास्तथातोद्यं गानं रंगं च संग्रहः॥[2]

प्राचीन आचार्य द्रुहिण के मतानुसार उन्होंने नाट्य में अष्ट रसों की स्थिति निर्दिष्ट की है (६,१६); ये रस निम्नानुसार हैं—

श्रृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स तथा अद्भुत॥[3]

रस निष्पत्ति का स्वरूप तथा कार्यकारणमीमांसा निम्न शब्दों में प्रस्तुत की गई है—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। को वा दृष्टान्त इति चेत्— उच्यते। यथा, नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः। यथा गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यंजनैरौषधीभिश्च षड् रसा निर्वर्त्यन्ते, एवं नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति।"

अर्थात् विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है। इसके लिये दृष्टान्त यह है कि जिस प्रकार नानाविध व्यंजन तथा ओषधिद्रव्यों के संयोग से रस अथवा रसायन की निष्पत्ति होती है, उसी प्रकार नानाविध भावों के संगम से नाट्यगत रसनिष्पति होती है। अथवा जैसे गुड आदि द्रव्यों,

---

१. अ० ६, पृ० ७१, चौ०

२. वहीं, श्लो० १०

३. ६, १५

व्यंजनों तथा ओषधियों के संयोग से भोजन के षड् रसों का निर्माण होता है, उसी प्रकार नानाविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त करते हैं।

भरत के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि नाट्य से उद्भूत होने वाले रस में वही द्रवणशीलता है, जो भोज्य-रस तथा ओषधि-रसों में पाई जाती है। जिह्वा जिस प्रकार मधुर, आम्ल, कटु आदि द्रवीभूत रसों की चर्वणा में प्रवृत्त होती है, उसी प्रकार रसिक का हृदय शृङ्गार, हास्य, करुण आदि रसों की अनुभूति करता है। रसिक-हृदय में सुप्त रूप से स्थित स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारियों के संयोग से तदनुकूल रस में परिणत हो जाते हैं। रसावस्था हृदय की द्रवणशीलता का परिपाक है, जिसमें विभावादि बाह्य कारणों से प्रभावित होकर हृदय इतना अधिक द्रवीभूत हो जाता है कि उसकी आस्वाद्य वस्तु के साथ नितान्त तन्मयता स्थापित हो जाती है। मन की तटस्थता निराकृत होकर जहाँ नाट्य, गान, नृत्य आदि वस्तुओं से सम्पूर्ण तादात्म्य स्थापित होता है, वही रसावस्था है। वक्ता, श्रोता तथा वस्तु तीनों का साधारणीकरण यही रस का बाह्य एवं प्रत्यक्ष स्वरूप है। रस-निष्पत्ति के लिये हेतुभूत विभिन्न उपादानों का किंचित् परिचय यहाँ आवश्यक है।

रस-निष्पत्ति का प्रथम सोपान स्थायी भाव है। स्थायी भाव ऐसी मनोवैज्ञानिक दशा है जो नाट्य, काव्य तथा संगीत के आस्वादकों में स्वभावतः वर्तमान होती है। जहां तक संगीत का प्रश्न है, गायक और श्रोता की मनःस्थिति संगीत-प्रदर्शन अथवा संगीत-श्रवण से पूर्व पूर्णतः संस्कारशून्य नहीं मानी जा सकती। स्थायी भाव से तात्पर्य इन्हीं संस्कारों से है, जिनका संचय दैनंदिन जीवन के अनुभवों के घात-प्रत्याघात से निरन्तर होता रहता है। महाकवि कालिदास के अनुसार स्थायी भावों में जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों का योगदान अवश्यंभावी है[1]। मन में स्थायी रूप से अंकित होने के कारण यह स्थायी भाव कहलाते है। भरत के अनुसार स्थायी भाव आठ हैं—रति, हास, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शोक। अनुकूल वातावरण को पाकर यही संस्कार उद्बुद्ध हो उठते हैं तथा भावों के क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप विशिष्ट रस-रूप में परिणत हो जाते हैं।

रसोत्पत्ति के लिये द्वितीय आवश्यक उपादान विभाव है, जो रसोद्बोध के लिये सामग्री उपस्थित करता है। इसके दो रूप हैं—१ आलम्बन तथा २ उद्दीपन। रसबोध जिस व्यक्ति अथवा वस्तु के सम्बन्ध में होता है, वह आलम्बन

---

१. शाकुं० अ० ५

कहलाता है। भरत के अनुसार नाट्यरस के लिये नायक तथा नायिका आलम्बन विभाव है। शृङ्गार रस का आलम्बन यौवनसम्पन्न पुरुष अथवा स्त्री हो सकते हैं।

"हृद्योज्ज्वलवेषात्मकः शृङ्गारो रसः। स च स्त्रीपुंसहेतुक उत्तमयुवति-प्रकृतिः।"[1]

केवल आलम्बन के उपस्थित होने पर ही रसनिष्पत्ति सम्भाव्य नहीं। आलम्बन विभाव के केवल एक ही अंग को प्रस्तुत करता है, सम्पूर्ण रूप को नहीं। आलम्बन के सम्बन्ध में विशिष्ट भावों को उद्दीप्त करने के लिये विशिष्ट वातावरण की आवश्यकता होती है। प्राकृतिक सौन्दर्य तथा तत्सम्बद्ध परिस्थिति इस आवश्यक वातावरण को उपस्थित कर आलम्बन-विषयक स्थायी भावों को उत्तेजित करते हैं तथा विभाव नामक उपादान का सम्पूर्ण रूप प्रस्तुत करते हैं। यही बाह्य परिस्थितियाँ उद्दीपन विभाव कहलाती हैं। भरत के अनुसार ऋतु, माल्य, अलंकार आदि ऐसे ही उद्दीपक उपादान हैं[2]।

शृङ्गार-रस की उत्पत्ति के लिये अन्य कारणों के साथ गान्धर्व तथा काव्य भी उद्दीपक सिद्ध हो सकते है, इस सम्बन्ध में प्राचीन मान्यता नाट्यशास्त्रकार ने निम्न शब्दों में स्पष्ट की है—

अपि चात्र सूत्रानुबद्धे आर्ये भवतः।
ऋतुमाल्यालंकारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः।
उपवनगमनविहारैः शृंगाररसः समुद्भवति ॥ (६, ४७, चौ०)।

ऐसे ही उद्दीपन विभावों से पुष्ट होने वाला स्थायी भाव कटाक्ष, ललित, अङ्गहार तथा उद्गार आदि रूपों में प्रस्फुटित होता रहता है। स्थायी भावों की बाह्य अभिव्यक्ति के रूप में अथवा अनुगामी के रूप में व्यक्त चेष्टाएँ तथा भाव-भंगिमाएँ अनुभाव के अन्तर्गत आती हैं। स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, अश्रु आदि ऐसे ही अनुभाव हैं।

इसके अतिरिक्त रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया में ऐसे नानाविध भावों की स्थिति रहती है, जो क्षण-क्षण में परिवर्तित होते रहते हैं तथा स्थायी भावों का स्थायित्व जिन में नहीं होता। भाव-तरंगों के रूप में होने पर भी मूलभूत स्थायी भाव को पुष्ट करने में इनकी सहायता होती है। ऐसे ही भाव–तरंग व्यभिचारी अथवा संचारी भाव कहलाते हैं, उदाहरणार्थ, चिन्ता, असूया, शंका, ग्लानि, हर्ष इत्यादि। इस प्रकार विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों की अवस्थाओं

१. अ० ६, पृ० ७३ चौ०
२ अ० ६० पृ० ७३ चौ०

से होता हुआ स्थायी भाव रस-रूप में परिणत हो जाता है। यह तो हुई रस-निर्माण की प्रक्रिया। अब यह रससिद्धि किस प्रकार के प्रेक्षकों में तथा किस परिस्थिति में सम्भव है, इस सम्बन्ध में भरत कहते हैं—

"रस इति कः पदार्थः। अत्रोच्यते। आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यो रसः? अत्रोच्यते। यथा हि नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाप्यधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यंजितान् वागङ्गसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः। तस्मात् नाट्यरसा इति व्याख्याताः।"

अभिप्राय यह है कि नाट्य के अन्तर्गत स्थायी भावों का परिपोष वाचिक, सात्विक, आंगिक आदि अभिनयों के माध्यम से होता रहता है तथा इसका रसास्वादन सुमनस् प्रेक्षकों के द्वारा सम्भाव्य है।

उपर्युक्त उद्धरण से यह तथ्य स्पष्ट है कि भरत की रस-प्रक्रिया अभिनय-प्रधान नाट्यकला से मुख्यतः सम्बद्ध है। प्रेक्षक, अभिनय आदि शब्दों से भरत का यह अभिप्राय स्पष्ट है कि उनका रसविषयक विवेचन नाट्य नामक दृश्य काव्य के सम्बन्ध में है, न कि गान्धर्व जैसे श्रव्य कला के सम्बन्ध में। इसी अभिप्राय का समर्थन भरत के निम्न उद्धरणों से हो सकता है—

१—आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः ॥ ६,३३ ॥

२—"भावा इति कस्मात्? किं भावयन्तीति भावाः? उच्यते—
वागङ्गसत्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः।"

स्थायी तथा अन्य भावों का सम्बन्ध काव्य-रस के साथ होने के सम्बन्ध में भरत की निम्न साक्ष्य निःसन्दिग्ध है—

३—"तत्राष्टौ भावाः स्थायिनः त्रयस्त्रिंशत् व्यभिचारिणः अष्टौ सात्विका इति भेदाः। एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतव एकोनपंचाशत् भावाः प्रत्यवगन्तव्याः।"

४—एवं रसाश्च भावाश्च व्यवस्था नाट्के स्मृताः ॥ ७,१२४ ॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भरतप्रणीत रस-कल्पना के लिये विभाव, अनुभाव आदि उपादानों की नितान्त आवश्यकता है। इनमें से किसी एक उपादान का अभाव रसोत्पति में व्याघात उत्पन्न कर देता है।

नाट्य में रसोद्बोध की दृष्टि से भरत ने सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है। उनके अनुसार नाट्य का प्रत्येक अंग इसी रसभावना को लेकर अग्रसर होना चाहिए। नाटक के अन्तर्गत पाठ्य तथा गान दोनों का सहयोग नितान्त अपेक्षित है। भरत के अनुसार पाठ्य का रसानुकूल होना आवश्यक है और

इसी उद्देश्य से पाठ्य के विभिन्न गुणों में षड्जादि स्वरों के सम्यक् प्रयोग का विधान उन्होंने निम्न शब्दों में किया है—

तत्र सप्त स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमपंचमधैवतनिषादाः। एते रसेषूपपाद्याः यथा—

> हास्यश्रृंगारयोः कार्यौ स्वरौ मध्यमपंचमौ।
> षड्जर्षभौ तथा चैव वीररौद्राद्भुतेषु तु ॥ १९,३८ ॥
> गान्धारश्च निषादश्च कर्तव्यौ करुणे रसे।
> धैवतश्चैव कर्तव्यो बीभत्से सभयानके ॥ १९,३९ ॥

अर्थात् हास्य तथा शृङ्गार में मध्यम एवं पंचम का प्रयोग कर्तव्य है; वीर, रौद्र तथा अद्भुत में षड्ज एवं ऋषभ स्वर का, करुण रस में गान्धार तथा निषाद का तथा बीभत्स एवं भयानक रस में धैवत स्वर का प्रयोग अभीष्ट है।

यहाँ ध्यान में रखना आवश्यक है कि पाठ्य की सफलता के लिये षड्जादि स्वरों के अतिरिक्त अन्य पाँच अंगों की निर्दोषता भरत ने आवश्यक मानी है। ये पाँच अंग इस प्रकार हैं—स्थान, वर्ण, काकु, अलंकार तथा अङ्ग। नाट्य में उत्पाद्य रस के अनुकूल ही इन समस्त अङ्गों का प्रयोग भरत को सम्मत है। उदाहरणार्थ, वर्ण तथा काकु लीजिये। भरत के अनुसार पाठ्य के चार वर्ण हैं—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा कम्पित (१९,४३)। इन वर्णों का प्रयोग विशिष्ट रस के रस के अनुकूल सिद्ध हो सकता है—"तत्र हास्यशृङ्गारयोः स्वरितोदात्तैः वीररौद्राद्भुतेषूदात्तकम्पितैः करुणवात्सल्यभयानकेषूदात्तस्वरितकम्पितैः वर्णैः पाठ्यमुपपादयेदिति"।[1]

दूसरा उदाहरण काकु का लीजिये। काकु एक ऐसा ध्वनि-विकार अथवा स्वराघात (Stress Accent) है, जो विभिन्न भावों के व्यक्त करने के लिये नित्यशः प्रयुक्त होता है। भरत के अनुसार पाठ्य को रसानुकूल बनाने में काकु का योगदान कम महत्वपूर्ण नहीं। विशिष्ट उच्चता (Pitch) तथा लय (Tempo) में काकु का प्रयोग विभिन्न रसों के उद्बोधन में सहायक हो सकता है, ऐसा भरत का मत है—

> उच्चा दीप्ता च कर्तव्या काकुस्तत्र प्रयोक्तृभिः।
> हास्यश्रृंगारकरुणैष्विष्टा काकुर्विलंबिता ॥ १९,५७ ॥
> वीररौद्राद्भुतैषूच्चा दीप्ता चापि प्रशस्यते।
> भयानके सबीभत्से द्रुता नीचा च कीर्तिता ॥ १९,५८ ॥
> एवं भावरसोपेता काकुर्योज्या प्रयोक्तृभिः।

१. अ० १९

'उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भरतप्रणीत रस-कल्पना एक सामूहिक अथवा सम्मिलित प्रक्रिया है, जिस में पाठ्य, गान, अभिनय आदि सभी अङ्गों का महत्वपूर्ण योगदान रहता है । पाठ्य के अन्तर्गत केवल मात्र षड्जादि स्वरों का प्रयोग रससिद्धि में साहाय्य नहीं पहुँचाता । पाठ्य के अन्यान्य गुणों से युक्त होकर वह अभीष्ट रससिद्धि में सहायक हो सकता है, स्वतंत्र रूप से नहीं ।

जैसा ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है, नाट्यरस की निर्मिति में पाठ्य, गीत तथा अभिनय तीनों के सम्यक् प्रयोग की आवश्यकता है । वस्तुतः नाट्यरस इन्हीं का सम्मिलित प्रभाव मात्र है । भरत के अनुसार नाट्यवेद का निर्माण पाठ्य, गीत, अभिनय तथा रस इन्हीं चार अङ्गों से हुआ है । इसी को दृष्टिगत कर गान्धर्व के निरूपण में रससम्बन्धी किंचित् विवेचन नाट्यशास्त्र में हुआ है ।

ध्रुवा नामक गीतों का विवेचन भरत ने नाट्य की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर किया है । इन गीतों का गान भरतप्रणीत नाट्य के लिये प्राणभूत है—

'प्राणभूतं तावद् ध्रुवागानं प्रयोगस्य' ।[1]

ध्रुवा-गीत तथा षड्जादि ग्रामरागों का प्रयोग नाट्य में अभीष्ट रस का पोषक हो, ऐसा भरत का स्पष्ट संकेत है ।[2] नाट्य में उन्हीं ध्रुवाओं का प्रयोग रुचिर हो सकता है, जो प्रकरणानुकूल हो तथा नाट्य के अभीष्ट रस में सहायक हो ।[3] ध्रुवा से तात्पर्य उन नाट्य-गीतों से है, जो नाट्य के विभिन्न प्रसंगों को शब्द तथा स्वर के सहारे अभिव्यक्त करते हैं । ध्रुवाओं का उद्देश्य अर्थाभिव्यक्ति होने के कारण वर्णालंकारों का प्रयोग उसी के अनुकूल होना चाहिये ऐसा संकेत भरत ने निम्न श्लोक में स्पष्ट रूप से किया है—

यस्मादर्थानुरूपा हि ध्रुवा कार्यार्थदर्शिका ।
वर्णानां तु पुनः कार्यं कृशत्वं पदसंश्रयम् ॥ २९,४० ॥

अध्याय २८ के अन्त में तथा अध्याय २९ के आरम्भ में जातियों का अष्ट रसों के साथ सम्बन्ध भरत के द्वारा स्थापित हुआ है ।[4] इन जातियों का गान विशुद्ध अथवा गीत निरपेक्ष न होते हुए ध्रुवा-गीतों के साथ किया जाना विहित है, यह तथ्य ध्यान देने योग्य है—

ध्रुवा विधाने कर्तव्या जातिगाने प्रयत्नतः ।
रसं कार्यमवस्थां च ज्ञात्वा योज्याः प्रयोक्तृभिः ॥ २९,४ ॥

---

१. अ० भारती, खं० ३, पृ० ३८६
२. ३२, ४५३–५४
३. २९, ४०; ३२, ४४९ तथा ४५५
४. २८, १४१; २९, १–१८

अर्थात् जातिगान में उन्हीं ध्रुवाओं का प्रयोग किया जाना चाहिये, जो रस, कार्य तथा अवस्था के अनुकूल हों। इस स्थिति में ऐसी जातियों का चयन किया जाना चाहिये जिनका अंश स्वर अभीष्ट रस का पोषक हो (२९,१२)। जो बात जातियों की है, वही उनके अनुगामी वाद्यवादन के साथ भी चरितार्थ होती है। भरतोक्त वाद्य-वृन्द नट गायक का यथार्थ अनुसरण है, यह समझ लेने पर वाद्य के द्वारा विशिष्ट रसोत्पत्ति की बात समझना कठिन नहीं (३३,५२-५४)। तथ्य यह है कि वाद्य, चाहे वह वीणा हो अथवा वंशी, उन्हीं ध्रुवाओं एवं जातियों का वादन करते हैं, जो गायक के द्वारा प्रस्तुत हैं। नाट्य के ध्रुवा-गीतों के अनुगामी होने के कारण यह स्वाभाविक है कि उनके द्वारा संस्कारवश उन्हीं भावों की अनुभूति की जाय जोकि मूल गीत से उद्‌बुद्ध किये जाते हैं। यही तथ्य मृदंग जैसे अवनद्ध वाद्यों पर चरितार्थ होता है, जो गीत-शब्दों के अनुकूल करणों से भावावेग की तीव्रता में सहायक होकर सम्मिलित प्रभाव से अभीष्ट रससिद्धि में सहायक होते है (द्र० ३३,५२–५४)। स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र में जाति तथा रस का जो विवेचन है, वह नाट्य-निरपेक्ष न होते हुए सम्पूर्णतः नाट्य-सापेक्ष है। नाट्य के अन्तर्गत उनके स्थान तथा प्रयोग के अनुकूल ही रस चर्चा वहाँ हुई है, तदतिरिक्त संगीत के सम्बन्ध में नहीं। दूसरे शब्दों में केवल नाट्य-संगीत का रसविषयक विवेचन इस में हुआ है न कि तदतिरिक्त संगीत का। अतएव नाट्य में उपलब्ध विभाव, अनुभाव आदि को परिपुष्ट करने का कार्य ही भरतप्रणीत संगीत के लिये नियत है। विभावादि सामग्री जहाँ विद्यमान है, वहाँ रससिद्धि सहजसाध्य है यह तथ्य बुधजनविदित है।

द्रष्टव्य यह है कि विशुद्ध अथवा नाट्यातिरिक्त संगीत के सम्बन्ध में भरत की क्या मान्यता है। इसको समझने के लिये भरत की गान्धर्वविषयक मान्यता को हृदयंगम करना अभीष्ट है। संगीत के लिये 'गान्धर्व' संज्ञा भरत-नाट्यशास्त्र में पाई जाती है। भरत के अनुसार गान्धर्व मुख्यतः गान है और केवल आनुषंगिक रूप से वीणा तथा वंशी-वादन का समावेश उसमें होता है। उनकी दृष्टि में गान्धर्व मूलतः संगीत अर्थात् सम्यक् रूप से गाया जाने वाला गीत है और वह गीत शब्द एवं अर्थ से कथमपि विरहित नहीं। गान्धर्व की व्याख्या करते समय सार्थक पदसमूह को भरत ने आवश्यक माना है। स्वर-वर्णों का उसी अंश तक प्रयोग उन्हें सम्मत है, जो अर्थ-सिद्धि के लिये विघातक न हो। संगीत का गान पदगत भावों के अनुकूल होने पर ही विशिष्ट रस की सिद्धि में सहायक हो सकता है, अन्यथा नहीं। इस दृष्टि से देखे जाने पर यह विदित होगा कि भरतप्रणीत संगीत का क्षेत्र काव्य-क्षेत्र से मिलता-जुलता है। अन्तर केवल यही है कि काव्य में भावाभिव्यक्ति का माध्यम केवल शब्द और अर्थ है

और संगीत में माध्यम स्वर, शब्द तथा अर्थ तीनों है। गायन में अर्थहानि करने वाला स्वर-विलास भरत-सम्मत नहीं कहा जा सकता। भरत की दृष्टि से काव्य तथा संगीत दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

भरत की संगीतविषयक मान्यता को देखने पर यह स्पष्ट होगा कि नाट्य तथा काव्य की भरतप्रणीत रसप्रक्रिया तत्कालीन संगीत पर भी चरितार्थ होती है। काव्य तथा संगीत का क्षेत्र शब्दार्थ-तत्व की दृष्टि से अभिन्न होने के कारण काव्य में जो स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव आदि होते हैं, संगीत के क्षेत्र में भी उनकी स्थिति मानी जा सकती है। शब्द तथा अर्थ के आधार पर समस्त भाव संसार की सृष्टि सम्भाव्य है तथा इस कार्य के लिये संगीत काव्य की अपेक्षा अधिक प्रभावक्षम हो सकता है। काव्य में शृंगार के लिये रति स्थायी भाव है, नायक-नायिका आलम्बन विभाव है, शरच्चन्द्र की चन्द्रिका तथा रमणीय उद्यान आदि उद्दीपन विभाव है। कवि इनका वर्णन करता है और पाठक अथवा श्रोता शब्दों के बल पर काव्यगत वातावरण से तदात्म होकर भावावेग का अनुभव कर सकता है। संगीत काव्य की इसी प्रक्रिया को अपना कर भावावेग की अवस्था को शीघ्रतर ला सकता है। भरत का यह विधान कि गीत नाट्य की शय्या है और उसी को सर्वप्रथम प्रयासपूर्वक व्यवस्थित किया जाना चाहिये, इसी अर्थ में समंजस तथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है।[1]

हमें स्पष्टतः ध्यान में रखना होगा कि भरतकालीन संगीत केवल स्वर तथा ताल का स्वच्छन्द प्रयोग नहीं, वरन् स्वर तथा ताल से समन्वित सार्थक शब्दों का समूह है। अतः रसानुभूति से पूर्व श्रोता के लिये उन्हीं स्थायी भावों की अनुभूति अथवा पुनःप्रत्यय सम्भाव्य है, जो विशुद्ध काव्य से हो सकती है। इस दृष्टि से काव्यगत रस-प्रक्रिया संगीत पर चरितार्थ हो सकती है तथा नाट्य एवं काव्य के अष्ट रस संगीत में पूर्णतः अनुभूत किये जा सकते हैं। जहाँ तक वाद्य-वादन का सम्बन्ध है, इनका कार्य मुख्यतः गीत की संगति रहा है। अतएव स्वाभाविक है कि गीतों के वादन से श्रोताओं के अन्तस् में तदनुकूल स्थायी भाव जागृत होकर रस-सिद्धि सम्भाव्य हो। जहां तक नृत्य की बात है, उसका भरतोक्त गान्धर्व में कथमपि स्थान नहीं। वह एक स्वतन्त्र ललितकला है, जो गीतार्थ के अभिनय से प्रेक्षकों को रसाप्लावित कर देती है। गीत के शब्द और अर्थ के साथ आंगिक, वाचिक आदि चतुर्विध अभिनय का संयोग होने पर नृत्य के द्वारा रसानुभूति काव्य तथा संगीत की अपेक्षा द्रुततर गति से हो, तो क्या आश्चर्य ?

---

१. ३२, ४५७

निष्कर्ष यह कि भरत का रसविषयक विवेचन शब्द-प्रधान संगीत के साथ ही अन्वर्थक हो सकता है, न कि उस संगीत के सम्बन्ध में जो आधुनिक परिभाषा में स्वर-प्रधान कहा जाता है। शब्द-प्राधान्य के कारण रसोत्पत्ति की समस्त विभावादि प्रक्रिया इसमें समाविष्ट हो जाती है। जाति-गायन तथा वाद्य-वादन की रसनिर्माणक्षमता विशिष्ट सन्दर्भ एवं वातावरण पर निर्भर है। मतंग की बृहद्देशी में विशिष्ट रस की निष्पत्ति के लिये रागों का विनियोग नाट्य की विभिन्न सन्धियों में निर्दिष्ट किया गया है। ऐसे ही प्रसंग में संगीत के सप्त स्वर विभिन्न रसों के लिये पोषक सिद्ध हो सकते हैं, स्वतंत्र रूप से नहीं। भरत के द्वारा किया गया जातियों का विवेचन नाट्यानुषंगी है,[1] यह ध्यान में रखने पर उनका विशिष्ट रसों के साथ सम्बन्ध सहज लक्षित हो जाता है।

संगीत का टीकाशास्त्र

भरत का नाट्यशास्त्र संगीतविषयक आलोचना का प्रधान स्रोत रहा है। नाट्य, साहित्य, अलंकार आदि शास्त्रों की भांति गीत तथा नृत्यविषयक शास्त्रीय विवेचन का सूत्रपात इसी ग्रन्थ से माना जा सकता है और इसी रूप में उसका गौरव ईसवीय प्रारम्भिक शताब्दियों से रहा है। नाट्यशास्त्र के सिद्धान्त तो क्या, उसकी रचना तक आलोचना का विषय रही है। आचार्य अभिनवगुप्त ऐसे 'नास्तिकधुर्य' टीकाकारों का उल्लेख करते हैं, जिनके अनुसार नाट्यशास्त्र केवल 'भरत' की कृति न होते हुए सदाशिव, ब्रह्म तथा भरत तीनों की कृतियों का संग्रह मात्र है। संगीतसम्बन्धी मतमतान्तर के कारण एतद्विषयक आलोचना-प्रणालि बहुत पहिले से विद्यमान थी, इसमें सन्देह नहीं तथापि प्रत्यक्ष टीकाशास्त्र को निर्माण करने की परम्परा नाट्यशास्त्र के पश्चात् ही प्रवर्तित हुई, यह कथन आपत्तिजनक नहीं कहा जा सकता। इसीके आधार पर तथा व्याख्या के रूप में परवर्ती काल में अनेकों ग्रन्थों की रचना हुई, जिनमें से कुछ ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध है, कुछ उद्धरण के रूप में तथा कुछ केवल नाममात्र में अवशिष्ट है।

नाट्यशास्त्र के अनन्तर उद्भूत टीका-वाङ्मय के सम्बन्ध में परिचय अभिनवभारती तथा संगीतरत्नाकर से प्राप्त होता है। संगीतरत्नाकर में भरतसंगीत के व्याख्याकार के रूप में लोल्लट, उद्भट, शंकुक, कीर्तिधर तथा अभिनवगुप्त का नामनिर्देश हुआ है (द्र० अ० १, पृ० १९)। इन आचार्यों के अतिरिक्त

१. नाट्यशास्त्र की काव्यमाला प्रति में उपलब्ध निम्न पाठभेद इस सम्बन्ध में दर्शनीय है—'ज्ञातयो (जातयो ?) नाट्यसंश्रयाः' ॥ २९,१६ ॥

निम्न संगीताचार्यों का नामोल्लेख अभिनवभारती में उपलब्ध है—भट्टयन्त्र, भट्टवृद्धि, भट्टगोपाल, भट्टसुमनस, प्रियातिथि, टीकाकार अथवा टीकाकृत्, श्रीहर्ष, राहुल, कीर्तिधर तथा मातृगुप्त। इसी ग्रन्थ के प्रामाण्य पर इन संगीताचार्यों की संगीतविषयक मान्यताओं का परिचय यहाँ देने का प्रयास किया जा रहा है।

भट्टयन्त्र का उल्लेख नाट्य की परिभाषा के प्रसंग में हुआ है। उनके अनुसार नृत्त नाट्य से स्वतन्त्र कला है तथा नाट्य के अङ्गभूत होने के कारण अभ्यास के योग्य है—

'शिक्षार्हस्वेच्छान्यनृत्तकतिपयनाट्यांगकृतं नृत्तमभ्यासफलम्'।[1]

भट्टवृद्धि तथा भट्टगोपाल दोनों ताल के अधिकारी आचार्य रहे हैं। भट्टवृद्धि के द्वारा तालविषयक लक्षणग्रन्थ रचे जाने की बात अभिनव की निम्न उक्ति से प्रमाणित होती है—

'तथा च भट्टवृद्धितदत्तादिपाणितलयभंगलक्षणपुस्तकेषु सर्वत्र शता इति प्रस्तारो दृश्यते'।[2]

भट्टवृद्ध की मान्यता है कि ताल के अन्तर्गत कलाप्रस्तार भरतोक्त एकादशकल से अधिक भी किया जा सकता है[3]।

आचार्य अभिनव के अनुसार भट्टगोपाल तथा लोल्लट भी ताल के प्रामाणिक आचार्य रहे हैं। ध्रुवा ताल तथा त्रिमूढ़ नामक लास्यांग के सम्बन्ध में उनका अभिमत अभिनव ने प्रस्तुत किया है। इनके द्वारा विरचित 'तालदीपिका' नामक ग्रन्थ का उल्लेख अभिनव की निम्न पंक्ति में उपलब्ध है—

'अत एवैतदनुसारेण भट्टलोल्लटगोपालादिभिंगिसर्वभंग······तालदीपिकादौ चिरन्तनमतो ध्रुवतालानां विनियोगः प्रपंचतो दूषितः'।

इससे प्रतीत होता है कि तालदीपिका नामक ग्रन्थ में ध्रुवताल के विनियोग के सम्बन्ध में विवेचन था तथा पुरातन मत का खण्डन कर नवीन मान्यता की स्थापना इस ग्रन्थ में की गई थी।

---

१. अ० भा० भाग १, पृ० २०६

२. द्र० 'अभिनवभारती', भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट प्रति, पृ० ५१४ तथा द्र० काणे कृत हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० ५१ पाद-टिप्पणी।

३. नाट्यशास्त्र के अनुसार ताल के अन्तर्गत कलाप्रस्तार द्विकल से लेकर एकादशकल तक किया जा सकता है (द्र० ३१,४५)।

भट्टसुमनस भी ताल के आचार्य रहे हैं। अभिनव के अनुसार नाट्यशास्त्र के निम्न तीन श्लोकों पर उनकी व्याख्या उपलब्ध रही है—

न ह्येषामुपयोगोऽस्ति सप्तरूपे ध्रुवास्वपि।
प्रवृत्तादिषु कर्तव्या एते गानप्रयोक्तृभिः ॥ ३१,४६ ॥
त्र्यस्रश्च चतरस्रश्च षट्कलोऽष्टकलस्तथा।
ध्रुवाणां तु भवेत्तालं संप्रवक्ष्यामि तत्वतः ॥ ३१,४७ ॥
कनिष्ठांगुलिनिष्क्रामः शम्याश्चैव ततो भवेत्।
कनिष्ठानामिकाभ्यां तु निष्क्रामौ तौ विधीयते ॥ ३१,४८ ॥

आचार्य प्रियातिथि का नामनिर्देश केवल सैन्धवक नामक लास्यांग के सम्बन्ध में हुआ है, परन्तु इनकी मान्यताओं के सबन्ध में विशेष परिचय उपलब्ध नहीं है।[1]

टीकाकार अथवा टीकाकृत नामक भाष्यकार का उल्लेख तथा उद्धरण अभिनवभारती में प्रचुर रूप से पाए जाते हैं[2]। गीतालंकारों के सम्बन्ध में उनका यह मत है कि भरतप्रोक्त ३३ अलंकार सदाशिव–मत पर आधारित हैं। अभिनव ने अपने गुरु श्रीपाद का अनुसरण करते हुए टीकाकार के इस मत का खण्डन किया है—

"टीकाकृद्भिस्तु सदाशिवमतादिग्रन्थान्तरालिखितं त्रयस्त्रिंशदिमे प्रोक्ता अलंकारा इत्यादि तनं लिखितं ग्रन्थान्तरपरिवर्तने अनिष्टप्रसंगात् श्रीपादप्रोक्तादिति स्वगुरुमताद्——"।[3]

सुषिर वाद्य के सम्बन्ध में भी इनकी मान्यताओं का निराकरण अभिनवाचार्य ने किया है।

नृत्त, नाट्य एवं वाद्य के सम्बन्ध में वार्तिककार श्रीहर्ष का उल्लेख अभिनवभारती में अनेक बार हुआ है। श्रीहर्ष के अनुसार नृत्त तथा नाट्य में कोई विभेद नहीं। दोनों में वाचिक तथा तदनुकुल आंगिक अभिनय का प्रयोग समान रूप से लक्षित होता है—

वाच्यानुगतेऽभिनये प्रतिपाद्येऽर्थे च गात्रविक्षेपैः।
उभयोरपि हि समानः को भेदो नृत्तनाट्यगतः ॥
अ० भा० १, पृ० २०६ ॥

१. द्र० काणे कृत 'हिस्टरी आफ संस्कृत पोएटिक्स,' पृ० ५१।

२. वहीं।

३. द्र० भाण्डारकर प्राच्य ग्रन्थालय प्रति, पृ० ३९९ तथा काणे कृत 'हिस्टरी आफ संस्कृत पोएटिक्स' पृ० ५१।

वीणा की दशविध धातु अर्थात् वादन प्रकार के सम्बन्ध में श्रीहर्ष ने विवेचन किया था, यह तथ्य निम्न उद्धरण से स्पष्ट होता है—

'अत एव श्रीहर्षेण अङ्गनासमुचितं वाद्यमित्याशयेन व्यक्तिव्यंजनधातूनां दशविधेत्यत्र लब्धात्मनेत्युक्तम्''।[1]

उनके अनुसार नाट्य के पूर्वरंग की संज्ञा इसलिए सार्थक है कि उसमें संगीत का प्रचुर प्रयोग होता है। श्रीहर्ष 'रंग' को तौर्यत्रिक का पर्यायस्वरूप मानने के पक्ष में है—

"श्रीहर्षस्तु रंगशब्देन तौर्यत्रिकं ब्रुवन् नाट्यांगप्रयोगस्य तस्यैव पूर्वरंगतां मन्यमानः पूर्वश्चासौ रंग इति समासममंस्त"।[2]

शाक्याचार्य राहुल[3] नाट्य तथा नृत्य के आचार्य रहे हैं। स्त्रियों के अलंकार तथा सामान्याभिनय के सम्बन्ध में इनके विचारों का निर्देश अभिनव ने किया है। 'वैशाखरेचित' नामक करण के सम्बन्ध में उनका निम्न मत नाट्यशास्त्र से मिलता-जुलता है —

ग्रीवायां करयोः कट्यां पादयोश्च पृथक् पृथक्।
भ्रमणं रेचितं विद्यात्...................... ॥

(अ० भा० १, पृ० ११३)

महिलाओं के अलंकार के सम्बन्ध में उनका भरताचार्य से स्पष्टतः मतभेद है, जिसका खण्डन अभिनव तथा हेमचन्द्र ने किया है[4]।

आचार्य कीर्तिधर के नाट्यविषयक मतों का संग्रह अभिववभारती में निम्न रूप में हुआ है—

अ—**"चित्राभिनयेन वाक्ये (वान्ये ?) न करणप्रयोग एव। अभिनेय-पदादीनां च नाट्येऽपि सक्तेति नाट्यमेवेदमिति कीर्तिधराचार्यः" (अ० भा० १, पृ० २०६)।**

आ—**'प्राह्ममेककलं साम द्विकलं वन्हिजं तथा।**
चन्द्रन्तु विकलं शुष्कं पूर्वयोः सार्थकं—॥ इति कीर्तिधराचार्यः[5]

---

१. वहीं, पृ० ४०४।

२. वहीं, पृ० २०९।

३. प्रो० कृष्णमाचार्य के अनुसार राहुलक का उल्लेख ई० ४ के तामिल महाकाव्य 'मणिमेकलह' में हुआ है। द्र० हिस्टरी आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ८१६।

४. द्र० 'अभिनवभारती', भाण्डारकर प्राच्य ग्रन्थालय प्रति, पृ० ३४४ तथा 'काव्यानुशासन', पृ० ३१६।

५. कृष्णमाचार्य कृत 'हिस्टरी आफ संस्कृत लिटरेचर', पृ० ८१९।

इ—'ननु चत्वारि यथा कीर्तिधरोऽभ्यधात् इति'।[1]
अभिनव के अनुसार कीर्तिधर की कतिपय मान्यताएँ नन्दिकेश्वर[2] के ग्रन्थ पर आधारित हैं।

"यत्तत् कीर्तिधरेण नन्दिकेश्वरतन्मात्रगामित्वेन दर्शितं तदन्याभिः न दृष्टम् तत्प्रत्ययात्तु लिख्यते संक्षेपतः——एवं नन्दिकेश्वरमतानुसारेणायं चित्रपूर्वरंग-विधिरिति निबद्धः" । (अ० भा० २, भूमिका पृ० १०)।
आचार्य मातृगुप्त का वीणावादनविषयक मत अभिनव की निम्न उक्ति से स्पष्ट होता है—

"यथोक्तं भट्टमातृगुप्तेन। पुष्पं च जनयत्येको भूयोनुस्पर्शनान्वितः। इति।"[3]
उद्भट, लोल्लट तथा शंकुक भरत के प्रसिद्ध टीकाकार हैं, जिनकी रसविषयक आलोचना विद्वज्जनविदित है। संगीत के सम्बन्ध में इनकी मान्यताएँ अभिनव के उद्धरणों से उपलब्ध होती हैं। अभिनव ने हस्त की पंचविध प्रसार-क्रिया के सम्बन्ध में आचार्य उद्भट के मत का उल्लेख निम्न शब्दों में किया है—

"उत्तानोधस्तलस्त्र्यस्त्रोग्रमोधोमुख एव च। पंच प्रचारा हस्तस्येति भट्टो-द्भटः पठति" (अ० भा० २, पृ० ७०)।

नाट्य तथा नृत्त के सम्बन्ध में लोल्लट[4] का मत निम्न पंक्ति में उद्धृत है—
"समयमात्रनित्यादिमंगलवद्विवाहादौ" इति भट्टलोल्लटः (अ० भा० १, पृ० २०६)। अभिनव के अनुसार लोल्लट नृत्त को नाट्य से विभिन्न मानने से पक्ष में नहीं है। अभिनव की व्याख्या से स्पष्ट है[5] कि आचार्य शंकुक ने भरत के ताल तथा अभिनय के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए हैं। नाट्यशास्त्र के अ० २९, श्लो० १२३–१२४ का निम्न पाठभेद शंकुक ने प्रस्तुत किया है[6]—

---

१ वहीं।

२. द्र० वहीं।

३. द्र० 'अभिनवभारती,' भाण्डारकर प्राच्य ग्रन्थालय प्रति, पृ० ४०२ तथा काणे कृत 'हिस्टरी आफ संस्कृत पोएटिक्स', पृ० ५२, पाद टिप्पणी ४।

४. लोल्लट के तालाचार्य होने की बात भट्टगोपाल के प्रसंग में उल्लिखित कर चुके हैं।

५. नाट्यशास्त्र के अ० ५,२०–२१ पर टीका करते हुए अभिनव ने अ० २९ के श्लोकों का उद्धरण प्रस्तुत किया है तथा उनके सम्बन्ध में शंकुक के पाठभेदों का खण्डन किया है।

६. द्र० अ० भा० १, पृ० २१४ तथा काणे कृत 'हिस्टरी आफ संस्कृत पोएटिक्स', द्र० ५१। इस श्लोक का यही पाठ नाट्यशास्त्र की चौखम्बा प्रति में पाया जाता है।

त्रिःशम्योपरिपाणौ तालोपि ह्येष निर्दिष्टः ।

× × ×

भूयः शम्यातालाववपाणादुत्तरस्तथा द्विकलश्च ॥

शंकुक के अनुसार अभिनय के भेद ४० हजार होते हैं—

"ननु यथा श्रीशंकुकेनोक्तं चत्वारिंशत्सहस्राणीत्यादि"

(अ० भा० पृ० ३५१ पूना प्रति)

उपर्युक्त टीकाकारों के अतिरिक्त याष्टिक, कोहल, शार्दूल अदि कतिपय संगीताचार्यों का उल्लेख मतंग की बृहद्देशी में उपलब्ध है। इन आचार्यों की संगीतविषयक कृतियों का सृजन भरताचार्य के चरण-चिह्नों पर हुआ है, यह कथन आपत्तिजनक नहीं कहा जा सकता।

ग—संगीत के प्रवर्तक आचार्य

१—नारद

नारद का ऐतिहासिक व्यक्तित्व संगीत के इतिहास की एक प्रहेलिका है। वैदिक काल से लेकर पुराण काल तक नारद नामक व्यक्तियों की अनेकता[1] के कारण इस समस्या की जटिलता बढ़ गई है। यहाँ हमें केवल उसी नारद के व्यक्तित्व का अनुसन्धान अभिप्रेत है, जो संगीतविद्या के आद्य प्रवर्तक तथा संगीत-कला के कुशल कलाकार रहे हैं।

गान्धर्वशास्त्र के आद्य प्रचारकों में नारद का स्थान मूर्धन्य है। नाट्यशास्त्र में नारद का गौरवपूर्ण उल्लेख बारम्बार किया गया है। स्वयंभू ब्रह्मा के समक्ष उपस्थापित प्रथम नाट्यप्रयोग में स्वाति के साथ नारद संगीत-दिग्दर्शन के लिए प्रयुक्त हैं (ना० शा० १,५१)। दत्तिल जैसे प्राचीन संगीतज्ञ के अनुसार गान्धर्व का भूमण्डल पर प्रचार करने का श्रेय नारद को है (द० २)। नाट्य-शास्त्र के रचनाकाल तक नारद का स्थान विश्वावसु जैसे दिव्य गन्धर्वों में स्थिर

---

१. नारद जैसे संगीतज्ञ हैं, वैसे ही आयुर्वेदविशारद, तन्त्रशास्त्रविद्, वास्तु-विद्याकुशल, शिक्षाशास्त्रज्ञ, स्मृतिकार तथा श्रेष्ठ भगवद्भक्त हैं। नारद के नाम से वास्तु, शिल्प, स्मृति, शिक्षा, आयुर्वेद आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इस सम्बन्ध में द्र० 'भारतवर्षीय प्राचीन ऐतिहासिक कोश', गोडबोले कृत, पृ० ३१८–३१९, तथा द्र० 'अड्यार इन्डेक्स', भाग २, पृ० ४७., पी० के आचार्य कृत 'भारतीय वास्तु विद्याकोश', पृ० ७६३, तथा द्र० हरिदास मित्र कृत 'काण्ट्रिब्यूशन टु ए विब्लीयाग्राफी आफ इन्डियन आर्ट एन्ड ईस्थैटिक्स'।

हो चुका था तथा नाट्यगृह के निर्माण पर उनको विशिष्ट पूजा का अधिकारी माना जाता था (३,६२)।

गान्धर्व का विवेचन नाट्यशास्त्र में नारदमत के अनुसार हुआ है, ऐसा स्पष्ट उल्लेख नाट्यशास्त्र के निम्न वचन में पाया जाता है—

गान्धर्वमेतत्कथितं मया हि पूर्वं यदुक्तं त्विह नारदेन ।[1]

गान्धर्व के वाद्यांग का विवरण भी स्वाति तथा नारद के लक्ष्यग्रन्थ के आधार पर प्रस्तुत किए जाने की बात नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट है (३३,३)। नाटयशास्त्र की स्पष्ट साक्ष्य है कि उसमें उपलब्ध ध्रुवागीतों का विवरण नारदोक्त गान्धर्व पर आधारित है (३२,१)। ऋचा, पाणिका, गाथा आदि प्राचीन गीतों का तथा तथा गायक के गुणावगुण आदि का विवरण नारदोक्त गान्धर्व में अन्तर्भूत था, इसका संकेत भरत ने किया है (ना० शा० ३२,२ तथा ४८४)।

संगीत के अन्तर्गत अग्निष्टोम आदि तानों का प्रयोग नारदादि संगीतज्ञों के द्वारा परिकल्पित था ऐसा निम्न दत्तिलोक्ति से स्पष्ट है—

अग्निष्टोमादिनामानस्त उक्ता नारदादिभिः ।
देवाराधनयोगेन तत्पुण्योत्पादका यतः ॥ द० ३१ ॥

नारदीय शिक्षा के अन्तःसाक्ष्य से स्पष्ट है कि वहां उपलब्ध गान्धर्वविषयक सम्पूर्ण विवेचन नारद के मतानुसार हुआ है (१,२,३; २,२–३)। गान्धर्व के सप्त स्वरों में 'पंचम' स्वर पर प्रभुत्व नारद का वैशिष्ट्य बतलाया गया है (१,५))।

ईसवीय आरम्भिक शताब्दियों के साहित्य तथा शिलालेखों से स्पष्ट है कि उस समय तक नारद की प्रतिष्ठा संगीत प्रवर्तक के रूप में प्रतिष्ठापित हो चुकी थी[2]। ई० ४ के शिलालेख[3] की निम्न पंक्ति इस सम्बन्ध में मननार्ह है—

'निशितविदग्धमतिगान्धर्वललितैर्व्रीडितत्रिदशपतिगुरुतुम्बरुनारदादेर्'

जैसा हम यथास्थान देख चुके हैं, रामायण, महाभारत, हरिवंश आदि ग्रन्थों में नारद का उल्लेख गान्धर्व-विशारद के रूप में बहुशः हुआ है। नारद की वीणा का उल्लेख प्राचीन संस्कृत तथा तामिल उभय ग्रन्थों में पाया जाता है[4]।

---

१. ३२,४८४

२. द्र० मृच्छकटिक में 'को मे गाने तुम्बुरुर्नारदो वा,' तथा द्र० रुद्रदामन् एवं खारवेल के शिलालेख।

३. द्र० हरिषेण कृत समुद्रगुप्तप्रशस्ति।

४. द्र० जरनल आफ म्यूजिक एकेडमी, मद्रास में डा० राघवन् का 'वीणा' शीर्षक लेख।

जहां तक प्राचीन वैदिक वाङ्मय का प्रश्न है, समस्त वेद-साहित्य में नारद का गन्धर्व के रूप में उल्लेख कथमपि नहीं पाया जाता। समग्र ऋग्वेद की केवल तीन ही ऋचाओं के निर्माता के रूप में नारद का उल्लेख उपलब्ध है।[१] यजुर्वेद की मैत्रायणीय संहिता में नारद नामक व्यक्ति का केवल एक बार उल्लेख हुआ है, जो उनके गान्धर्व से सम्बद्ध होने पर कथमपि प्रकाश नहीं डालता। अथर्ववेद संहिता में नारद नामक व्यक्ति का उल्लेख अवश्य है परन्तु यह नारद 'गन्धर्व नारद' नहीं, यह तथ्य निर्विवाद हैं[२]। सामवेद से सम्बद्ध छान्दोग्य में नारद का उल्लेख एक आत्मजिज्ञासु व्यक्ति के रूप में हुआ है, गान्धर्ववेत्ता के रूप में नहीं (द्र० ७,१,२,४)।

गन्धर्व नारद तथा शिक्षाकार नारद

जैसा हम यथास्थान निरूपित कर चुके हैं, नारदी शिक्षा में गन्धर्व नारद के मन्तव्यों का अल्पाधिक संकलन उपलब्ध है। शिक्षावाङ्मय भारत की वैदिक परम्परा से सम्बद्ध वाङ्मय है, जिसमें केवल विशिष्ट वेदों की वर्णव्यवस्था तथा उच्चारणप्रकार का विवेचन अपेक्षित है। नारदी शिक्षा वस्तुतः सामवेद की शिक्षा है, जिसमें इसके अतिरिक्त गान्धर्व जैसे सामातिरिक्त विषय का सविस्तर विवेचन हुआ है[३]। सामगान के सीमित स्वरूप को देखते हुए यह कदापि सम्भव प्रतीत नहीं होता कि यह गान्धर्वविषयक अंश मूल शिक्षा का अभिन्न भाग रहा हो। प्राचीन सामगान में स्वरसंयोजन केवल प्राथमिक अवस्था में था तथा 'राग' अथवा 'ग्रामराग' की दिशा में उसका विकास न हुआ था। इस स्थिति में यह प्रबल कल्पना की जा सकती है कि शिक्षाकार नारद ने गन्धर्व नारद की संगीतविषयक प्राचीन मान्यताओं का संग्रह[४] प्रस्तुत शिक्षा में किया हो। स्वयं शिक्षा में उपलब्ध अन्तःसाक्ष्य से गान्धर्व नारद तथा शिक्षाकार नारद की विभिन्नता प्रमाणित होती है।

---

१. इनमें से एक ऋचा ८,१३ का दर्शन कण्व नारद के द्वारा हुआ है तथा ९,१०४ एवं ९,१०५ की रचना कण्व नारद तथा पर्वतमुनि दोनों के संयुक्त कृतित्व के लिए विख्यात है।

२. द्र० अथर्व० ५,१९,९,१२,४, १२,१६, १२,२४, १२,४१–४५।

३. सामवेद से सम्बद्ध 'लोमशी' शिक्षा में केवल स्वरोच्चारणविषयक विवेचन हुआ है, संगीत के सम्बन्ध में अल्पमात्र विवेचन इसमें उपलब्ध नहीं।

४. शिक्षा में उपलब्ध गान्धर्वविषयक अंश की अस्तव्यस्तता तथा अयथा-स्थानता को देखकर प्रतीत होता कि गान्धर्व का समग्र अंश मूल शिक्षा में बाद में जोड़ा गया है।

नारदी शिक्षा में गन्धर्व नारद का उल्लेख स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में हुआ है, यह तथ्य निम्न प्रमाणों से परिपुष्ट होता है—

१—प्रथम कण्डिका का प्रथम प्रकरण तथा द्वितीय प्रकरण दोनों में विषय की दृष्टि से विशृंखलता स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। जहां प्रथम प्रकरण में वेदों में प्रयोज्यमान स्वरों का विवेचन है, वहां दूसरे में गान्धर्व के स्वरों का विवरण है। इस प्रकरण का आरम्भ गन्धर्व नारद के नामनिर्देश से हुआ है—'पवित्रं पावनं पुण्यं नारदेन प्रकीर्तितम्'[1]।'

२—गान्धार ग्राम के सम्बन्ध में गन्धर्व नारद के निम्न मत का उल्लेख हुआ है—'स्वर्गान्नान्यत्र गान्धारो नारदस्य मतं यथा'[2]।'

३—शिक्षा के निम्न वचन से स्पष्ट है कि ग्रन्थकार की दृष्टि में शिक्षाकार नारद तथा गन्धर्व नारद परस्पर भिन्न हैं—

तुम्बुरुनारदवसिष्ठविश्वावस्वादयश्च गन्धर्वाः।
सामसु निभृतं करणं स्वरसौक्ष्म्यात्तेऽपि हि न कुर्युः॥ २,७,१२॥

अभिप्राय यह है कि नारद जैसे श्रेष्ठ गन्धर्व सामस्वरों के सूक्ष्म भेद-प्रभेदों के उच्चारण में असमर्थ है।

४—शिक्षाकार के अनुसार गान्धर्वविषयक समस्त विवेचन केवल 'अनुपूर्वशः' अर्थात् परम्परानुगत रूप से किया गया है (१,२,३), जो इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि गान्धर्वविषयक यह परम्परा शिक्षा के निर्माणकाल से पूर्वकालीन है।

५—इसी शिक्षा में अन्यत्र नारद के नाम से जो सिद्धान्तप्रकटन हुआ है, वह भी अन्य शिक्षाओं में अन्य विद्वानों के नाम से उपलब्ध हैं, उदाहरणार्थ, 'रंग' नामक व्याकरण की प्रक्रिया के सम्बन्ध में जो श्लोक इस शिक्षा में है ठीक वैसा ही माण्डूकी शिक्षा में उपलब्ध है[3]।

६—व्याकरण की 'विवृत्ति' नामक दूसरी प्रक्रिया के सम्बन्ध में 'मे मतम्' इन शब्दों में शिक्षाकार ने जो मतप्रदर्शन किया है, वही माण्डूकी शिक्षा में केवल 'आनूपूर्वशः' अर्थात् परम्पराप्राप्त के रूप में उल्लिखित है। यदि यह नारद की मौलिक मान्यता होती, तो अन्य शिक्षाओं में इसका उल्लेख अवश्यमेव होता[4]।

७—शिक्षा में 'कुष्टो मूर्धनि विज्ञेयः' तथा 'कुष्टेन देवा जीवन्ति' से आरम्भ होने वाले श्लोक[5] ठीक इसी रूप में शौनक की बृहद्देवता के अ० ८ में उपलब्ध

---

१. १, २, २
२. १, २, ५
३. द्र० ना० शि० २,४,९ तथा मा० शि० १०,७।
४. द्र० ना० शि० २,४,१ तथा मा० शि० ९,१,२।
५. द्र० ना० शि० १,७, १–८।

हैं। बृहद्देवता में जहां कहीं अन्य मनीषियों के मत का निर्देश हुआ है, वहां उनका नाम निर्देश अवश्यमेव हुआ है[1]। महत्व की बात यह है कि इन श्लोकों का उद्धरण नारद के नाम से नहीं हुआ है, न तो नारद का नाम ही इसमें कहीं उपलब्ध है। अतएव यह सम्भावना प्रबल रूप से की जा सकती है कि इन श्लोकों का अवतरण नारदी शिक्षा में केवल परम्परा प्राप्त के रूप में किया गया है[2]।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वैदिक काल के नारद, जो केवल मन्त्रद्रष्टा के रूप में प्रसिद्ध रहे, गान्धर्व नारद से विभिन्न हैं। नारद का सम्बन्ध आरम्भ से केवल 'गान्धर्व' से रहा है, न कि 'सामगान' से। सामगान के रचयिताओं में नारद का उल्लेख कथमपि नहीं पाया जाता, यह बात ध्यान देने योग्य है[3]। गन्धर्व नारद की परम्परा रामायण तथा महाभारतकाल तक स्थिर हो चुकी थी, इसका निरूपण इसी प्रबन्ध में यथास्थान किया जा चुका है। यही परम्परा भरत, दत्तिल तथा मतंग आदि ग्रन्थकारों के होते हुए अधुना तक अक्षुण्ण पाई जाती है,[4] इसमें सन्देहावकाश नहीं। भरतादि प्राचीन ग्रन्थकारों के प्रामाण्य

---

१. द्र० 'बृहद्देवता', सं० मैकडोनेल, भूमिका।

२. नारदी शिक्षा के संग्राहक स्वरूप के लिए ई० १२ के भरतभाष्य की साक्ष्य महत्वपूर्ण है। भरतभाष्य में नारदी शिक्षा तथा उसी की विवरण नामक टीका दोनों का स्पष्ट नामोल्लेख है तथा शिक्षा के कुछ श्लोकों का उद्धरण भी उपलब्ध है (द्र० ८,१६ व, १९९ अ, १५ अ)। ना० शि० में 'आद्यस्य दैवतं ब्रह्मा' से लेकर जो स्वर-सम्बन्धी देवताओं का निरूपण हुआ है, उसका उल्लेख भरतभाष्य में केवल परम्पराप्राप्त के रूप में हुआ है, शिक्षागत श्लोकों के रूप में नहीं। मतंग की बृहद्देशी में यही श्लोक अधिक शुद्ध रूप में पाए जाते हैं तथा इनका स्रोत आगम-परम्परा बतलाया गया है (द्र० पृ० २०,८८)। पा० शि० की शिक्षाप्रकाश नामक व्याख्या में (ई० १०००-१३००) इन्हीं श्लोकों का गद्य रूपान्तर पाया जाता है (द्र० मनमोहन घोष द्वारा सं० पा० शि०)। इससे यह निष्कर्ष स्पष्ट निकलता है कि ई० ७-८ के मतंग के पश्चात् इस परम्परा का समावेश ना० शि० में हुआ है।

३. सामगों की तालिका में इनका समावेश नहीं, इसका निरूपण हम सामवेदविषयक संगीत में कर चुके हैं।

४. इसी नारद का सम्बन्ध संगीतमकरन्द, रागनिरूपण, पंचमसारसंहिता तथा दत्तिल-नारदसंवाद आदि परवर्ती संगीतग्रन्थों के साथ आगे चलकर स्थापित किया गया, इसमें सन्देह नहीं।

पर यह प्रबल अनुमान किया जा सकता है कि उनके समक्ष नारद का गान्धर्व-विषयक लक्षण-ग्रन्थ अवश्य उपलब्ध रहा है।

२—**तुम्बरु**

संगीतकारों की मालिका में आचार्य नारद के साथ तुम्बरु का नाम अनिवार्य रूप से पाया जाता है। नारद तथा विश्वावसु आदि गन्धर्वों के साथ तुम्बरु की गणना दिव्य गन्धर्वों में की जाती रही है। संगीतरत्नाकर के वाद्याध्याय में तुम्बरु का उल्लेख अवनद्ध वाद्य के आचार्य के रूप में हुआ है (६,१९ तथा ११८०)। रघुनाथ भूपाल की 'संगीतसुधा' में तानों के विवरण में तुम्बरु का उल्लेख है। संगीतसारामृत में तुम्बरू के नाम से निम्न श्लोक पाए जाते हैं, जिनमें संगीत की ध्वनि का वर्गीकरण आयुर्वेद के त्रिदोषों के अनुसार किया गया है। यह श्लोक[1] इस प्रकार हैं—

उच्चैस्तरो ध्वनी रुक्षो विज्ञेयो वातजो बुधैः।
गम्भीरो घनशीलश्च ज्ञातव्यः पित्तजो ध्वनिः॥
स्निग्धश्च सुकुमारश्च मधुरः कफजो ध्वनि।
त्रयाणां गुणसंयुक्तो विज्ञेयः सन्निपातजः॥

आचार्य अभिनवगुप्त के निम्न वचन से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि उनके समक्ष तुम्बरू का नाट्यविषयक कोई ग्रन्थ था अथवा कम से कम तुम्वरू के नाम से कोई मत प्रचलित था। अभिनव के शब्दों में—

'तुम्बुरुणैदमुक्तम्—अंगहाराभिधानात्तु करणै रेचकान्विदुः। इहाप्येतन्मुनेर्मतमिति लक्ष्यते' (अ० भा० पृ० १६५)।

अभिनव के पूर्ववर्ती भरतभाष्यकार ने तीन ग्रामों की विभिन्न तानों के लिए तुम्बरू को प्रमाणभूत माना है (द्र० भ० भा० पृ० १५ अ०)। ई० १७ के लोचन की रागतरंगिणी में रागसमय का विवेचन करनेवाले 'तुम्बुरुनाटक' नामक ग्रन्थ का उल्लेख हुआ है।[2]

यद्यपि तुम्बरू के नाम से किसी ग्रन्थ का उल्लेख ई० ८ के पूर्व कहीं नहीं पाया जाता, तथापि उनके श्रेष्ठ गानकलाकोविद होने के सम्बन्ध में परम्परा ईसवीय शतकों के बहुत पहले से प्रचलित पाई जाती है। बौद्ध वाङ्मय में 'तुम्बरु' अथवा 'तिम्बरु' को गन्धर्वराज के नाम से सम्बोधित किया गया है।

---

१. यही श्लोक मतंग की बृहद्देशी में 'चतुर' के नाम से पाए जाते हैं (द्र० पृ० ४)।

२. 'तुम्बरुनाटक' नामक ग्रन्थ का उल्लेख शुभंकर के संगीतदामोदर में भी हुआ है।

'महासमयसुत्तन्त' में पंचशिख नामक गन्धर्व के साथ तुम्बरु-कन्या सुरियवच्चसा का उल्लेख है[1]। हेमचन्द्र के 'अभिधानचिन्तामणि' में तुम्बुरु की कलावती नामक वीणा का उल्लेख हुआ है तथा उनकी गणना जिनोपासक यक्ष के रूप में की गई है[2] (१,४१)। कम्बोज में उपलब्ध ताम्रलेख में तुम्बरू का सम्बन्ध निम्न चार शास्त्रों[3] से निर्दिष्ट है—शिवच्छेद, विनाशिक, सम्मोहन तथा नयोत्तर[4]।

तुम्बरू की वीणा के सम्बन्ध में कुछ विवेचन यहां अभीष्ट है। प्रचलित संगीत में उपलब्ध 'तम्बूरा' नामक वाद्य के साथ नामसादृश्य के कारण तुम्बरु के साथ प्रायः इसका सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। इस समस्या के निर्णय के लिए निम्न विवेचन उपादेय होगा—

तुम्बरु की वीणा का नाम 'कलावती' रहा है, जैसे नारद की वीणा के लिए 'बृहती' तथा सरस्वती की वीणा के लिए 'कच्छपी' नामाभिधान रहे हैं[5]। प्राचीन साहित्य में तुम्बरु की वीणा का उल्लेख 'तुम्बरु-वीणा' के नाम से कथमपि उपलब्ध नहीं, जिससे भाषाशास्त्रीय नियमों के आधार पर आधुनिक 'तम्बूरा' इस शब्द की निष्पत्ति सम्भाव्य हो सके। पुराणों में वाद्यों के अन्तर्गत 'तुम्बी वीणा' का उल्लेख मिलता है, जिससे 'तम्बूरा' शब्द की निष्पत्ति की कल्पना सहज की जा सकती है[6]। भारत में उपलब्ध होने वाले प्राचीन शिल्प चित्रों में

---

१. तुलनार्थ द्र० 'शक्कपंहसुत्तन्त', पृ० ३०२–३०३।

२. जैनग्रन्थों में तुम्बरु की गणना ऐसे यक्षों में की गई है, जो आदि तीर्थंकर की सेवा में तत्पर रहते हैं। कुछ प्राचीन मूर्त्तियों में इन यक्षों का अंकन अश्वमुख के रूप में पाया जाता है। मध्ययुगीन चित्रों में 'तुम्बरु' का अंकन अश्वमुख तथा वीणावादक के रूप में पाया जाता है।

३. यह चार शास्त्र तुम्बरू के चार मुख माने गए हैं। द्र० 'संगीत ओ संस्कृति', पृ० ३७१, प्रज्ञानानन्द कृत)।

४. द्र० 'संगीत ओ संस्कृति', प्रज्ञानानन्द, पृ० ३७१।

५. द्र० 'अभिधानचिन्तामणि', देवकाण्ड, २८९।

६. संभव यह है कि अन्न वीणाओं से विभेद दिखाने के लिए इसके 'तुम्बी' नामक घटक के अनुसार इसका नाम 'तुम्बी वीणा' रखा गया है। निकट शब्द तथा अर्थसादृश्य के आधार पर यही आधुनिक तम्बूरे का प्राचीन रूप माना जा सकता है। अरबी विद्वान अब्बुल रजाक के अनुसार भारतीय 'तुम्ब' का रुपान्तर ईरान में 'तुम्बुर' तथा अरब में 'तन-बुर हुआ (द्र० अल-बरानिक, पृ० २८९, निजामी प्रेस, १९१४)।श्री एलां ड्रेनैल्यू के अनुसार तम्बर का आधुनिक रूप प्राचीन वाबिलोनिया में उपलब्ध 'तम्बुर' नामक वाद्य के चित्र से मिलता-जुलता है।

तम्बूरे का वर्तमान रूप कहीं उपलब्ध नहीं होता, यह तथ्य नितान्त विचारार्ह है। जो कुछ वीणा-चित्र उपलब्ध हैं, तुम्बा से विरहित दिखाई देते हैं तथा आकार-प्रकार में प्रचलित सरोद तथा पाश्चात्य हार्प नामक वाद्यों से साहश्य रखते हैं। प्राचीन तामिल साहित्य[1] के अनुसार तुम्बरु की वीणा भरतोक्त 'विपंची' के सदृश नवतन्त्रीयुक्त रही है, जो कि वर्तमान 'तम्बूरे' से सर्वथा विसदृश है।

जो हो, यह स्पष्ट है कि नारद के सदृश तुम्बरु का ऐतिहासिक व्यक्तित्व रहा है। प्राचीन काल से लेकर इनका सम्मान दिव्य गन्धर्वों में किया जाता रहा है। अभिनवगुप्त जैसे आचार्यों के प्रामाण्य पर यह कहा जा सकता है कि गान्धर्व एवं नाट्य के सम्बन्ध में तुम्बरु का मत प्रमाणभूत माना जाता रहा। लिंगपुराण, अध्यात्मरामायण आदि ग्रन्थों में तुम्बरु को नारद से श्रेष्ठ माना गया है, जो उनके स्वतन्त्र गानसम्प्रदाय का सूचक माना जा सकता है।

३—तण्डु

तण्डु का ऐतिहासिक व्यक्तित्व एक जटिल समस्या है। नाट्य-शास्त्र में तण्डु का उल्लेख द्विवार हुआ है। प्रथम बार भरत के शत पुत्रों में उनकी गणना है तथा दूसरी बार अंगहारों के व्याख्याता के रूप में उनका उल्लेख है। (४, १७–१८)। इस परम्परा के अनुसार तण्डु नाट्याचार्य हैं तथा करण, अंगहार, रेचक आदि नृत्याभिनयों के प्रथम प्रवक्ता हैं। नाट्यशास्त्र के अनुसार भगवान महेश्वर ने ताण्डव के नृत्य-विधियों की शिक्षा 'तण्डु' को प्रदान की और तण्डु से वह परम्परा भरत को प्राप्त हुई (४,२७५–२७६[2])। कोहल के नाम से प्रसिद्ध 'संगीतमेरु' में तण्डु अथवा भट्टतण्डु के नाम से नृत्य तथा अभिनयविषयक उद्धरण उपलब्ध हैं[3]।

तण्डु के व्यक्तित्वनिर्णय के लिए अभिनवभारती की निम्न पंक्ति का आश्रय किया जाता है, जिसके आधार पर तण्डु तथा नन्दि को एक ही व्यक्ति माना जाता है। यह पंक्ति इस प्रकार हैं—

'तण्डुमुनिशब्दौ। नन्दिभरतयोरपरनामनी' (द्र० बडौ० सं०)।

अभिनवभारती के मद्रास संस्करण में इसका पाठान्तर निम्नानुसार पाया जाता है—

---

१. द्र० 'जम्यूजम' डा० राघवन का 'वीणा' शीर्षक लेख।

२. तुलनार्थ द्र० अभिनवभारती, भाग १, पृ० १८२ बडौदा प्रति।

३. द्र० संगीतरत्नाकर, नृत्याध्याय, कल्लिनाथ भाष्य, पृ० ६७५-६८९, पूना प्रति।

'तण्डुमुनिशब्दौ तस्योरैव (?) नामनि (नी)। (भाग १, पृ० ६८)
स्पष्ट है कि उपर्युक्त दोनों पाठ सन्दिग्धता से विरहित नहीं। प्रथम में कोष्ठगत भाग की रचना सम्पादक महोदय की कल्पनाप्रसूत होने के कारण अन्य प्रमाणों के अभाव में अभिनवगुप्त के लिए कहां तक अभिप्रेत है, यह तथ्य सन्देहास्पद है। हरविजय के कर्ता रत्नाकर के अनुसार तण्डु तथा नन्दीश दोनों शिवगणों में अन्तर्भूत होने पर परस्पर विभिन्न व्यक्ति हैं[1]। प्रत्यक्ष नाट्यशास्त्र में इन दोनों के एक ही व्यक्ति होने का समर्थन कथमपि नहीं प्राप्त होता। नन्दिन् का स्वतन्त्र उल्लेख नाट्यशास्त्र में गणेश्वर के रूप में तथा पिण्डीबन्धों के सम्बन्ध में हुआ है, ताण्डव के प्रवक्ता के रूप में नहीं। ताण्डव का प्रवर्तन करने वाले 'तण्डु' का 'नन्दिन्' से पृथक् व्यक्तित्व नाट्यशास्त्र में स्पष्टतः निर्दिष्ट है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि तण्डु का स्थान प्राचीन नृत्याचार्यों में अन्यतम रहा है। नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत तण्डु का भरत-पुत्रों में उल्लेख इसी परम्परा का समर्थक प्रमाण है।

४—भरताचार्य

नाट्यशास्त्रप्रणेताओं में भरत का स्थान महती महिमा से मण्डित है। भारत में नाट्य की परम्परा प्राचीन काल से प्रचलित रही है। पाणिनि के द्वारा उल्लिखित नटसूत्र इस परम्परा की प्राचीनता के प्रमाणस्वरूप हैं। महत्व की बात यह है कि उपलब्ध नाट्यपरम्परा के प्रवर्तन का श्रेय नाट्यशास्त्रकार 'भरत' को है[2]।

नाट्याचार्य भरत का ऐतिहासिक व्यक्तित्व संगीत के इतिहास के लिए एक पहेली रहा है।[3] प्राचीन तामिल साहित्य में उल्लिखित 'पंचभारतीय' नामक नाट्यग्रन्थ के आधार पर निम्न पांच भरतों की कल्पना की गई है—१, वृद्ध भरत २, भरत ३, कोहल भरत ४, दत्तिल भरत तथा ५, मतंग भरत[4]। इन एकाधिक भरत नामक व्यक्तियों में से केवल उन्हीं भरताचार्य से यहां तात्पर्य है, जो नाट्यप्रयोग के आदिम प्रयोक्ता हैं।

---

१. द्र० हरविजय, अ० २,२० निर्णयसागर प्रति।

२. ई० ९ के राजशेखर के अनुसार रूपक का प्रवचन सर्वप्रथम करने का श्रेय भरत को है—

रूपकनिरूपणीयं भरतः। (काव्यमीमांसा)

३. संस्कृत साहित्य में भरत के नाम से प्रायः निम्न व्यक्तियों का उल्लेख पाया जाता है—१, मान्धाता का प्रपौत्र भरत २, दाशरथि भरत ३, दौष्यन्ति भरत ४, जडभरत तथा ५, नाट्याचार्य भरत।

४. द्र० 'भरतकोश', सं० रामकृष्ण कवि, भूमिका, पृ० १६।

मत्स्यपुराण में भरतमुनि का नामोल्लेख अनेक वार हुआ है तथा उनके द्वारा देवलोक में दिग्दर्शित नाट्य का उल्लेख भी किया गया है[१]। स्वयं नाट्यशास्त्र के अनुसार नाट्यवेद के आदिम प्रयोक्ता भरतमुनि रहे हैं।[२] ई० ८ के 'कुट्टिनीमत' में नृत्याचार्य के रूप में भरत का उल्लेख है[३]। ई० ७ के बाणभट्ट की कृतियों में भरतप्रणीत गीतप्रणालि तथा नृत्तशास्त्र का उल्लेख हुआ है[४]।

भरत का उल्लेख भवभूति में 'तौर्यत्रिकसूत्रकार' के नाम से किया है[५]। ई० १० के पश्चाद्वर्ती बहुरूप मिश्र ने दशरूपक की टीका में भरत के 'सूत्रकार' होने का संकेत किया है[६]। ई० १०–११ के भरत भाष्य नामक ग्रन्थ में भरत को 'सूत्रकृत्' बतलाया गया है—"कलानामानि सूत्रकृदुक्तानि यथा"।

ई० १२–१३ के भावप्रकाशन में भरत का नामनिर्देश 'भरत' तथा 'वृद्धभरत' दो रूपों में हुआ है—

एवं हि नाट्यवेदेऽस्मिन् भरतेनोच्यते रसः।
तथा भरतवृद्धेन कथितं गद्यमीदृशम् ॥

उनके अनुसार नाट्यवेद के बृहत् तथा लघु दो संस्करण हैं। बृहत् संस्करण १२००० श्लोकों की रचना है तथा लघु संस्करण ६००० श्लोकसम्मित रचना है (भा० प्र० २८७)। शारदातनय का अभिप्राय है कि गद्ययुक्त सूत्र 'भरतवृद्ध' अथवा 'आदिभरत'[७] की रचना है तथा श्लोकमय संस्करण 'भरत' की रचना

---

१. द्र० अ० २४,२७–३२। (तुलनार्थ द्र० कालिदासकृत विक्रमो० २,१८)

२. १।२,६,२४।

३. आर्या० ८१ तथा १२३

४. हर्ष० ३,५; कादं० परि० ७१, सं० काणे

५. उत्तर अं० ४

६. १,६१

७. अभिज्ञानशाकुन्तल के टीकाकार राघवभट्ट ने भरत तथा आदिभरत दोनों के उद्धरणों को पृथक् रूप से अवतरित किया है। आफ्रेट की ग्रन्थसूचियों में 'आदिभरतप्रस्तार' नामक ग्रन्थ का उल्लेख है जिसका विवेच्य विषय 'भरतशास्त्र' है। पूना के प्राच्यविद्यामन्दिर में संग्रहीत 'नाट्यसर्वस्वदीपिका' में 'आदिभरत' की श्लोकसंस्था ६००० बताई गई है (द्र० पत्रांक २०)।

डा० गोडे के अनुसार 'आदिभरत' नाट्यशास्त्र से विभिन्न कृति नहीं है। डा० डे के अनुसार परवर्ती 'भरतों' से पृथक् करने के लिए नाट्यशास्त्र का अभिधान 'आदिभरत' किया गया है। प्रो० रामकृष्ण कवि का मत है कि 'आदिभरत' से तात्पर्य 'सदाशिव भरत' से है (द्र० भाण्डारकर प्राच्यविद्यापत्रिका,

है। यही छन्दोबद्ध रचना है द्वादशसहस्री तथा षट्सहस्री दो संस्करणों में विभाजित है[1]।

शारदातनय के अनुसार 'भरतों' अर्थात् नटों ने नाट्यवेद से सार निकाल कर जिस ग्रन्थ का निर्माण किया, उसी के लिए 'भरत' नामाभिधान है। ब्रह्मोक्त नाट्यवेद के भरण अथवा विस्तार करने के कारण ब्रह्मा के छः प्रमुख शिष्य 'भरत' नाम से सम्बोधित हुए[2]।

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार नाट्यशास्त्र की यथार्थ संज्ञा 'भारतीय नाट्यशास्त्र' है। उनका अभिप्राय है कि 'भारतीय' संज्ञा की सार्थकता उसके 'भरतों के हितार्थ' निर्मित किए जाने में है। अभिनव के अनुसार इसका मूल रूप सूत्रमय रहा है तथा इसमें भरत के अतिरिक्त सदाशिव तथा ब्रह्मा के नाट्यविषयक मतों का संग्रह रहा है[3]।

नानाविध भूमिकाओं से मण्डित होने के कारण नाट्य 'भरत' कहलाता है, ऐसा नाट्यशास्त्र का स्पष्ट अभिप्राय है—

धुर्यवदेको यस्मादुद्धारो नेकभूमिकायुक्तः।
भाण्डग्रहोपकरणैर्नाट्यं भरतो भवेत्तस्मात् ॥

३६,२३ का० मा० प्रति ॥

नाट्यकार्य के लिए सहायक जन 'भरत' कहलाते थे, ऐसा निम्न वचन से स्पष्ट होता है—

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भरतानां विकल्पनम् ॥ ३५,६६ ॥
शिल्पकारोपकारी च दूषकः स्तौतिको नटः।
सूत्रधारो नाट्यकारः तथा कुटककारकः ॥ ३५,६७ ॥

भरत के वंशजों के लिए 'नट' संज्ञा है तथा इनका कार्य नटन एवं नर्तन है—

कथं तवायं वंशश्च नटसंज्ञः प्रकीर्तितः ॥ ३६,१४ ॥
येऽत्रापि वंशजातास्तेऽपि भविष्यन्त्यथ नर्तकाः ॥ ३६,३७ ॥

नाट्यशास्त्र में 'भरत' संज्ञा नटकार्य करने वाले वर्ग के लिए है, यह तथ्य निम्न उद्धरणों से नितान्त स्पष्ट होगी—

१३, पृ० ९२–९३)। आंन्ध्र लिपि में उपलब्ध 'आदिभरत' नामक हस्तलिखित ग्रन्थ उपलब्ध नाटयशास्त्र का ही प्रतिरूप है (द्र० भाण्डारकर प्राच्य-विद्यापत्रिका, १२, पृ० १३७–१७९ पर श्री मंकड का लेख)।

१. भा० प्र० १, ३४–३५

२. वहीं, पृ० २८६–२८८

३. अ० भारती, भाग १

१—रंगे विकृष्टे भरतेन कार्यो गतागतैः पादगतिप्रचारः ॥ १३,२० ॥ ,

२—पृष्ठे कृत्वाऽस्य कुतपं नाट्यं युंक्ते यतो मुखं भरतः ॥ १४,६५ ॥

३—चेक्रीडितप्रकृतिभिर्विकृतैस्तु शब्दैर्युक्ता न भान्ति ललिता भरतप्रयोगाः ॥ १७,१२२ ॥

४—स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥ २२,२५ ॥

५—प्रथमं समकर्णगुणाः स्युस्तस्मिन् भरतप्रयोगेषु ॥ २७,७८ ॥

६—कुमारराजभूमीषु प्रयोज्या भरतोत्तमाः ॥ ३५,११ का० मा० ॥

७—राजवत् भरतस्तस्मात् राजापि नटवत् भवेत् ॥ ३५,४२ ॥

८—ऊचुस्ते भरतान् सर्वान् निर्दहन्त इवाग्नयः ॥ ३६,३२ ॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि नाट्यशास्त्र के निर्माणकाल तक 'भरत' शब्द का प्रयोग नटकार्य करने वाले वर्ग के लिए किया जाता रहा तथा इसी कला के आदिम प्रयोक्ता 'भरत मुनि' के नाम से सम्बोधित हुए। इसी परम्परा के नाट्य तथा संगीतविषयक मन्तव्यों का संग्रह प्रस्तुत नाट्यशास्त्र में हुआ है, यह कथन निराधार नहीं माना जा सकता[1]।

भरताचार्य का स्थितिकाल

जैसा ऊपर निवेदित किया जा चुका है, आचार्य भरत नाट्यकला के प्रथम प्रयोक्ता हैं तथा उन्हीं के सम्प्रदाय का अनुयायी होने के कारण नाट्यशास्त्र तथा तदुपजीव्य अन्य कृतियों का नामकरण 'भरत' के नाम से हुआ है। भवभूति के अनुसार भरताचार्य वाल्मीकि के समकालीन हैं (द्र० उत्तर० अं० ४)। नाट्यशास्त्र के अ० ३६ में उपलब्ध अनुश्रुति भरत को वाल्मीकि, नारद, पर्वत आदि प्राचीन मुनियों के समकालीन मानने के पक्ष में है। इसी अध्याय में अन्यत्र भरत को राजा नहुष का समकालीन बताया गया है। इस अनुश्रुति के अनुसार राजा नहुष ने नाट्य की दुर्दशा देख कर भरतमुनि से अनुरोध किया था कि वे उर्वीतल पर इस कला की पुनः प्रतिष्ठा करें[2]। नाट्यशास्त्र के आरम्भ में नाट्यवेद के उद्गम के सम्बन्ध में जो अनुश्रुति पाई जाती है, वह भी भरताचार्य की प्राचीनता पर प्रकाश डालने वाली है। इसके अनुसार नाट्यवेद का निर्माण त्रेतायुग में हुआ तथा इसी युग में भरत ने अपने शत पुत्रों को इसकी शिक्षा दी (१,८-४०)।

---

१. द्र० ना० शा० सं० मनमोहन घोष, भूमिका, 'टाइप्स आफ संस्कृत ड्रामा', डी० आर० मंकड; 'ड्रामा इन संस्कृत लिटरेचर', जहागिरदार, 'हिस्टरी ऑफ संस्कृत पोएटिक्स', काणे।

२. द्र० ना० शा० ३६,१-६ तथा ४८-६१।

विद्वानों के अनुसार इन शत पुत्रों में से केवल कुछ ही व्यक्तियों का ऐतिहासिक व्यक्तित्व स्थापित किया जा सकता है तथा इनका काल ई० के पश्चात् ही स्थिर किया जा सकता है[1]। इस दृष्टि से इन शिष्यों के आचार्य 'भरत' का काल ईसवी की आरम्भिक शताब्दियों में रहा हो, ऐसी दृढ़ कल्पना की जा सकती है।

भरत को वाल्मीकिकालीन मानने की अनुश्रुति भरत का काल निश्चित करने के लिए प्रायः सहायक सिद्ध नहीं होती। नाट्यशास्त्र से स्पष्ट है कि नाट्यवेद के श्रोताओं में वाल्मीकि के साथ आत्रेय, वसिष्ठ, काश्यप, ध्रुव, दुर्वासा, नारद, पर्वत आदि वैदिक तथा पौराणिक व्यक्तियों का समावेश है, जिनमें से कुछ वैदिक काल से तथा कुछ महाकाव्य काल से सम्बन्ध रखते हैं। इन सभी मुनियों का एकत्र उल्लेख केवल अर्थवाद का ही स्वरूप माना जा सकता है। भरतमुनि का वैदिक तथा महाकाव्य वाङ्मय में अनुल्लेख इस बात को स्पष्टतः प्रमाणित करता है कि इस नाम के कोई नाट्यशास्त्रकार उस काल में नहीं रहे हैं। जहां तक रामायण के अन्तःसाक्ष्य की बात है, भरत के सम्बन्ध में उपलब्ध होने वाले समस्त उल्लेख दाशरथि भरत के सम्बन्ध में हैं, न कि नाट्याचार्य भरत के सम्बन्ध में[2]। रामायण में पाई जाने वाली संगीतविषयक सामग्री नाट्यशास्त्र से प्रभावित है, इस कथन के लिए कोई प्रबल प्रमाण नहीं। वस्तुतः रामायण में उल्लिखित ७ जातियों तथा नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट १८ जातियों के बीच विकाससिद्धान्त के अनुकूल पर्याप्त कालान्तर की कल्पना की जा सकती है। जहां तक संगीत के वाद्य आदि उपादानों की बात है, सम्भाव्य यही है कि वाल्मीकि ने उनका संग्रह समकालीन संगीत से ठीक उसी प्रकार किया है, जिस प्रकार भरत ने अपनी जातियों का संग्रह लौकिक परम्परा से किया है। यदि

---

१. इनमें से केवल कोहल, दत्तिल, शाण्डिल्य, अश्मकुट्ट, नखकुट्ट तथा बादरि अर्थात् बादरायण की कृतियों के उद्धरण मतंग, अभिनवगुप्त, सागरनन्दिन् तथा विश्वनाथ की कृतियों में उपलब्ध होते हैं (द्र० ना० शा० सं० मनमोहन घोष, भूमिका)।

इनमें से कोहल, दत्तिल तथा शाण्डिल्य का नामोल्लेख ना० शा० के अ० ३६ में पुनः हुआ है, जो इस बात को प्रमाणित करता है कि इन आचार्यों की कृतियां भरतपरम्परा की यथार्थ अनुगामिनी रही हैं।

२. इस सम्बन्ध में सविस्तर विवेचन हम 'रामायणकालीन संगीत' में कर चुके हैं। रामायण के राम नामक टीकाकार ने रामायण के 'पूर्वाचार्य' का अर्थ 'भरताचार्य' किया है, जिसकी निरर्थकता हम उसी प्रकरण में निर्दिष्ट कर चुके हैं।

नाट्याचार्य भरत का नाम अथवा परम्परा रामायण के समय प्रतिष्ठित होती तो कुशलव के संगीत तथा कुशीलवकर्म के प्रसंग में उनका गौरवपूर्ण उल्लेख कोई आश्चर्य की बात न होती।

पाणिनि (ई० पू० ७–४) ने 'नटसूत्रों' के निर्माता के रूप में 'कृशाश्व' तथा 'शिलालि' का नामोल्लेख किया है। उनकी कृति में 'भरत' का अनुल्लेख इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि उस समय तक भरत का न तो आविर्भाव हुआ था, न उनके नाम से किसी नाट्यसूत्र अथवा नाट्यग्रन्थ की ख्याति थी।

नाट्यशास्त्र के अ० ३६ में नाट्यविषयक हीनाभिरुचि तथा अपकर्ष का दिग्दर्शन हुआ है, जिससे भरताचार्य के सम्भाव्य काल पर यत्किंचित् प्रकाश पड़ सकता है। इस अनुश्रुति से स्पष्ट होता है कि नाट्यकला का आचरण वंशानुगत रूप से शूद्रजाति के द्वारा किया जाता रहा है। नाट्यशास्त्र का स्पष्ट संकेत है कि भरत के शूद्र वंशजों का कार्य नृत्य तथा नाट्य रहा है—

शूद्रास्ते केवलं भूत्वा तत्कर्म समवाप्स्यथ।
यश्च वो भवतां वंशः स च शूद्रो भविष्यति ॥ ३६,३६ ॥
येऽत्रापि वंशजातास्तेपि भविष्यन्त्यथ नर्तकाः।
तथोपस्थानवन्तश्च सस्त्रीबालकुमारकाः ॥ ३६,३७ ॥

ई० ५ के अमरकोश में 'भरत' शब्द का प्रयोग 'जायाजीव', 'कुशाश्वी' तथा 'नट' के पर्यायस्वरूप बताया गया है[1]।

प्रतीत होता है कि वैदिक काल से लेकर स्मृतिकाल तक नटवर्ग तथा नटकर्म के सम्बन्ध में जो गर्हा की भावना रही, उसी का प्रतिफलन नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय में हुआ है तथा इसी की प्रतिक्रिया में नाट्य को प्रतिष्ठा तथा गौरव प्रदान करने का प्रयास यहां किया गया है। स्मृतिग्रन्थों के कालखण्ड[2] को देखते हुए यह कल्पना की जा सकती है कि नाट्यशास्त्र की रचना ई० प्रथम शताब्दि के पश्चात् हुई तथा इस कला के गौरववर्द्धन के हेतु नटवर्ग के आदिम पुरुष की परिकल्पना भरत मुनि के नाम से की गई। कालिदास, दत्तिल तथा मतंग के प्रामाण्य पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ई० शताब्दि के आरम्भ में 'भरत' की गणना दिव्य नाट्यकार के रूप में की जाने लगी थी[3]।

---

१. द्र० अमरकोश में—"शैलालिनस्तु शैलूषा जायाजीवा कुशाश्विनः। भरता इत्यपि नटाः.........॥

२. विद्वानों का मत है कि मनुस्मृति जैसी प्राचीनतम स्मृति का काल ई० २ तक माना जा सकता है (द्र० काणे कृत 'धर्मशास्त्र का इतिहास')।

३. कालिदास का काल ई० ५ मानने पर भी इस निष्कर्ष में क्षति पहुंचने की संभावना नहीं, कारण यह कि भरत को प्राचीनता का गौरव प्राप्त करने

५—कोहल

नाट्य तथा संगीत की भरतोक्त परम्परा के वाहकों में कोहल का स्थान सर्वप्रथम है। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में भरताचार्य के शत पुत्रों में इनका मूर्द्धन्य स्थान है। भरत के परम्परावाहक होने के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र का निम्न वचन उपादेय है—

शेषमुत्तरतन्त्रेण कोहलः कथयिष्यति ।
प्रयोगः कारिकाश्चैव निरुक्तानि तथैव च ॥ ३६,६५ का० मा० ॥

इस दृष्टि से कोहल के संगीतविषयक कृतित्व तथा काल का विवेचन प्रस्तुत संगीत के इतिहास में अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगा।

ई० १२ के रसार्णवसुधाकर में कोहल का उल्लेख भरत तथा दत्तिल के साथ नाट्यशास्त्रकार के रूप में पाया जाता है। प्रायः समकालीन रसरत्नप्रदीपिका में उनका निर्देश संगीतशास्त्रकार के रूप में हुआ है। ई० १३ के संगीतरत्नाकर में कोहल का नामोल्लेख प्राचीन संगीताचार्यों में हुआ है। प्रायः ई० ११ के अभिनवभारती में कोहल के गौरवपूर्ण उल्लेख के साथ उनकी नृत्यविषयक मान्यताओं का निर्देश बहुवार हुआ। ई० ८ के कुट्टिनीमत में नृत्यक्रियाओं के सम्बन्ध में कोहलाचार्य का गौरवपूर्ण उल्लेख है। ई० ७–९ के मतंग में कोहल के संगीतविषयक उद्धरण अवतरित हैं। अभिनवभारती में उद्भट के परम्परानुयायियों का यह मत उल्लिखित है कि नाट्यशास्त्र में नाट्य के एकादश अंगों के सम्बन्ध में उपलब्ध श्लोक भरतप्रणीत न होते हुए कोहलप्रणीत हैं[1]। राजतरंगिणीकार कल्हण के अनुसार उद्भट का काल ई० ८–९ तक है। इस दृष्टि से कोहल का स्थितिकाल ई० ८ के पूर्व होना अवश्यम्भावी है। इनके स्थितिकाल को स्थिर करने के लिए अभिनव का नान्दीविषयक निम्न अंश महत्वपूर्ण है—

"अत एव विचित्रेत्युक्तम् ।
जितमुडुपतिना नमः सुरेभ्यो द्विजवृषभा निरुपद्रवा भवन्तु ।
अवतु च पृथिवीं समृद्धसस्यां प्रतिपच्चन्द्रवपुर्नरेन्द्रचन्द्रः ॥
रत्ना० १ ॥
इत्येषापि भारतीयत्वेन प्रसिद्धा कोहलप्रदर्शिता नान्द्युपपन्ना भवति"।

के हेतु न्यूनात् न्यून ३–४ शताब्दियों का अन्तराल अवश्य बीता हुआ होना चाहिए।

१. 'अनेन तु श्लोकेन कोहलमते एकादशांगत्वमुच्यते, न तु भरते, तत्संगृहीतस्यापि पुनरत्रोद्देशा·········दित्यौद्भटाः। नैतदिति भट्टलोल्लटः।·········। वयं त्वत्र तत्त्वमग्रे वितनिष्याम इत्यास्तां तावत्'। (अ० भा० भाग १, पृ० २६६)।

अभिनवगुप्त का अभिप्राय है कि भरतानुकूलत्व के लिए प्रसिद्ध तथा कोहल द्वारा प्रदर्शित उपर्युक्त नान्दी पूर्णतः नियमानुकूल है।

इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि उपर्युक्त नान्दी ई० ७ की 'रत्नावलि' नाटिका में उपलब्ध है। अतएव इसको प्रदर्शित करने वाले कोहल का काल ई० ७ के पूर्व कथमपि नहीं रखा जा सकता। उपर्युक्त समग्र विवेचन यही मानने के लिए बाध्य करता है कि कोहल का स्थितिकाल ई० ७–८ तक रहा है[1]।

कोहल का संगीतविषयक कृतित्व

जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, कोहल का सम्मान भरत के साक्षात् परम्परा-वाहक के रूप में रहा है। ई० १५ के कल्लिनाथ ने संगीतरत्नाकर के भाष्य[2] में कोहल के नाम से 'संगीतमेरु' से दीर्घ उद्धरण प्रस्तुत किए हैं, जिसमें कोहलप्रणीत नवीन हस्तक्रियाओं का उल्लेख है। कोहल के मतों का उल्लेख तथा उद्धरण अभिनवभारती में अनेक बार हुआ है[3]। ताण्डव नृत्य के सम्बन्ध में उनके नाम से निम्न श्लोक उपलब्ध हैं—

"तदुक्तं कोहलेन—

सन्ध्यायां नृत्यतः शंभोर्भक्त्याद्रौ नारदः पुरा।
गीतवांस्त्रिपुरोन्माथं तच्चित्तस्त्वथ गीतके॥
चकाराभिनयं प्रीतस्ततस्तण्डुं च सोब्रवीत्।
नाट्योक्त्याभिनयेनेदं वत्स योजय ताण्डवम्॥" अ० भा० १,१८२॥

रागकाव्य के सम्बन्ध में उनका निम्न मत उपलब्ध है—

"यथोक्तं कोहलेन—लयान्तरप्रयोगेण रागैश्चापि विवेचितम्।
नानारसं सुनिर्वाह्यं कथं काव्यमिति स्मृतम्" ॥

नहीं पृ० १८४॥

---

१. नाट्यशास्त्र के आरम्भ में कोहल आदि का उल्लेख भरत के शत पुत्रों में है। सम्भवतः इसी आधार पर अभिनव कोहल को भरतकालीन मानते हैं (द्र० अ० २)। अभिनव की यह कल्पना परम्परापालन मात्र मानी जा सकती है। भरत के ऐतिहासिक व्यक्तित्व की संदिग्धता तथा नाट्यशास्त्र के स्वरूप को देखते हुए भरत तथा उनके तथाकथित शत पुत्रों की समकालिकता संदेहास्पद कही जा सकती है।

कोहल के काल के लिए द्र० डा० पाण्डेय कृत 'अभिनवगुप्त, हिस्टारिकल ऐन्ड फिलासफिकल स्टडी'।

२. द्र० 'संगीतरत्नाकर', नृत्याध्याय, पृ० ६७५–६८९।

३. द्र० अ० भा० भाग १, पृ० २५, १७३, १८२, १८४ तथा २६६।

अभिनवाचार्य के अनुसार 'रागकाव्य' उपरूपक का वह प्रकार है जिसका प्रदर्शन गीत तथा नृत्याभिनय के माध्यम से किया जाता था (वहीं)। दशरूपक के विविध प्रकार तथा चित्राभिनय के सम्बन्ध में कोहल की परम्परा प्रमाणिक मानी जाती रही, इस सम्बन्ध में अभिनव का निम्न संकेत स्पष्ट है—

१—"तेन दशरूपकस्य यद् भाषाकृतं वैचित्र्यं कोहलादिभिरुक्तं तदिह मुनिना सैन्धवांगनिरूपणे स्वीकृतमेव"। (द्र० वहीं भाग २, पृ० ७२)

२—"तान् सम्यक् विज्ञायेति वदन् कोहलादिशास्त्रलक्ष्यप्रवाहसिद्धमपि चित्राभिनयं सूचयति"। (वहीं, भाग ३, पृ० २८७)।

शून्य, भास्वर, विद्युत् आदि की नवीन हस्तक्रियाओं का आविष्कार कोहल के द्वारा हुआ था, यह तथ्य अभिनव के निम्न कथन से नितरां स्पष्ट है—

"शून्यभास्वरविद्युदाद्यभिनयविषये नृत्ताचार्यप्रवाहसिद्धः कोहललिखितोपि हस्तः संगतः भवति[1] ॥"

अभिनव के अनुसार भरतप्रणीत असंयुत हस्तों के अतिरिक्त अन्य प्रकार भी कोहल के द्वारा निर्दिष्ट हैं—"नाप्येते एव कोहलादिभिरन्येषां दर्शनात्"[2]। कोहल के अनुसार ध्रुवागीत के साथ 'सुभद्रा' नामक ताल का प्रयोग सम्मत है—"सुभद्रामिधानं ध्रुवातालमाहुः कोहलाद्याः"[3]। उनके अनुसार 'उल्लासना' नामक लय का प्रयोग टक्कराग के साथ तथा 'जम्भटी' का प्रयोग ककुभराग के साथ किया जाना चाहिए। इन रागों के अतिरिक्त मालवकैशिक तथा मालववेसरिका नामक रागों का नामनिर्देश कोहल ने किया है तथा उनके साथ प्रयुक्त होने वाली विशिष्ट लय का निर्देश किया है (वहीं, पृ० १५६)।

मतंग की बृहद्देशी में श्रुति, जाति, मूर्च्छना, अलंकार आदि के सम्बन्ध में कोहल के मत स्थान-स्थान पर अवतरित हैं[4]। श्रुति-संख्या के सम्बन्ध में उस समय प्रचलित विवाद का उल्लेख कोहल के निम्न श्लोक में हुआ है—

द्वाविंशतिं केचिदुदाहरन्ति श्रुतिः श्रुतिज्ञानविचारदक्षाः।
षट्षष्टिभिन्नाः खलु केचिदासामानन्त्यमेव प्रतिपादयन्ति[5] ॥

अर्थात् कुछ मनीषियों के अनुसार श्रुतियां बाईस हैं, कुछ अन्य के अनुसार श्रुतियां छियासठ हैं तथा कुछ अन्य विचारकों के अनुसार वे अनन्त हैं।

---

१. उद्धृत काणे कृत 'हिस्टरी आफ संस्कृत पोएटिक्स', पृ० ५० पर।
२. अ० भा० भाग २, पृ० ५५।
३. वहीं, पृ० १४२।
४. द्र० बृहद्देशी, पृ० ५,१२,२२,२९ तथा ९५।
५. द्र० वहीं, पृ० ५ तथा द्र० संगीतरत्नाकर, पृ० ३५।

कोहल का मत है कि जाति, भाषा आदि के संयोग से स्वर अनन्त बन जाता है—

> जातिभाषादिसंयोगादनन्तः कीर्तितः स्वरः ।
> नादैर्युक्तस्तालमिति कृतौ योज्यो रसेष्वपि ॥ द्र० बृह० पृ० १२ ॥

जाति, राग, भाषा आदि की सिद्धि के लिए मूर्च्छना का क्रम लक्ष्यानुसारी होना चाहिए, इस सम्बन्ध में कोहल का निम्न मत उल्लेखनीय है—

> योजनीयो बुधैर्नित्यं क्रमो लक्ष्यानुसारतः ।
> संस्थाप्य मूर्च्छना जातिरागभाषादिसिद्धये ॥ वहीं, पृ० २२ ॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कोहल का स्थान न केवल नाट्यक्षेत्र में अपि तु संगीत-क्षेत्र में आधिकारिक ग्रन्थकार के रूप में रहा है। भरत में अनुपलब्ध रागप्रकरण कोहल के द्वारा विवेचित हुआ हो, यह तथ्य विवादास्पद नहीं हो सकता[1] ।

६—नन्दिकेश्वर

नन्दिकेश्वर का उल्लेख संगीत के ग्रन्थों में नन्दिन्, नन्दीश तथा नन्दिभरत के नाम से पाया जाता है[2] । भावप्रकाशन में नाट्यवेद के निर्माण में नन्दिकेश्वर-

---

१. शारदातनय के भावप्रकाशन में कोहल के नाट्यविषयक विचारों का निर्देश अनेक बार हुआ है (द्र० पृ० २०४,२१०,२३६,२४५,२५१ तथा २५७)। 'कोहलरहस्य' नामक हस्तलिखित ग्रन्थ में कोहल के रागविषयक मतों का प्रतिपादन उपलब्ध है (द्र० अ० भा० प्राच्यविद्यापरिषद्, अधिवेशन ६ में काणे द्वारा लिखित 'फ्रेगमेन्ट्स् आफ कोहल' शीर्षक लेख)। कोहल के नाम पर 'अभिनयशास्त्रम्' तथा 'काललक्षण' नामक कृतियां दक्षिण की ग्रन्थसूचियों में प्राप्त होती हैं। कोहल का तालसम्बन्धी ग्रन्थ हस्तलिखित के रूप में लन्दन स्थित इन्डिया आफिस के ग्रन्थालय में उपलब्ध है।

२. संगीतसुधाकार रघुनाथ ने 'नन्दीश्वरसंहिता' नामक ग्रंथ का उल्लेख किया है। उनके अनुसार अधुना उपलब्ध 'औमापतम्' नामक ग्रन्थ इसी संहिता का संक्षिप्त रूपान्तर है। नन्दि के नाम से 'रुद्रडमरुद्भवसूत्रविवरण' नामक ग्रन्थ पाया जाता है जिसमें शिव के डमरू से उत्पन्न होने वाले नादों की संगीतानुकूल व्याख्या उपलब्ध हैं (द्र० जम्मूअम में एलां डानिल्यू का लेख)। नागेश भट्ट के अनुसार नन्दिकेश्वर माहेश्वरसूत्रों के व्याख्याता रहे हैं। (द्र० शब्देन्दुशेखर)

नन्दि के नाम से 'नन्दिभरत नामक कृति मैसूर तथा कुर्ग की हस्तलिखित सूची में है। मद्रास स्थित ग्रन्थसूची में नन्दिभरत के नाम से 'भरतार्थचन्द्रिका

ब्रह्मा-भरत इस परम्परा का उल्लेख हुआ है (अ० १०, पृ० २८५-२८७)। संगीतरत्नाकर के वाद्याध्याय में नन्दिकेश्वर द्वारा प्रोक्त ४ हस्तपाटों का विवरण उपलब्ध है। नान्यदेव ने अपने 'भरतभाष्य' नामक ग्रन्थ में नन्दि का उल्लेख संगीत-शास्त्रकार के रूप में किया है (पृ० २०२ ब)। उनके अनुसार पुष्कर वाद्यों में 'नन्दिमत' भरतमत के समान प्रमाणभूत है—

एवं स्याद् वाद्यभाण्डानां सिद्धिः शास्त्रनिदर्शनात्।
नन्द्यादीनां मते तु तदाह भरतो यथा ॥ वहीं, पृ० २०४ ब ॥

अभिनवभारती में अभिनय, पुष्करवाद्य तथा चित्रपूर्वरंग के सम्बन्ध में 'नन्दिमत' का उल्लेख हुआ है। 'रेचित' नामक अभिनय द्विविध होने के सम्बन्ध में उनका मत निम्नानुसार निर्दिष्ट है—

"तथा च नन्दिमते उक्तं—
रेचिताख्योऽगहारो यो द्विधा तेन ह्यशेषतः।
तुष्यन्ति देवतास्तेन ताण्डवे तं नियोजयेत् ॥"

अ० भा० १, पृ० १७१ ॥

पुष्करादि वाद्यों के वर्णों के सम्बन्ध में नन्दीश्वर का निम्न मत[1] उद्धृत है—

"यथोक्तं नन्दीश्वरमते—
षोडशस्वपि वर्णेषु भेदाः पंचदशोदिताः।
ताडने ग्रहसन्धानमोक्षे सुखचतुष्टयम् ॥"

अभिनव का कथन है कि नन्दिमत का ग्रहण उन्होंने आचार्य कीर्तिधर के अनुसरण पर किया है—"यत्कीर्तिधरेण नन्दिकेश्वरमतमात्रागमित्वेन दर्शितं तदस्माभिः साक्षान्न दृष्टं तत्प्रत्ययात्त लिख्यते संक्षेपतः"।[2]

मतंग की बृहद्देशी[3] में नन्दिकेश्वर के नाम से मूर्च्छनाविषयक निम्न उद्धरण पाया जाता है—

द्वादशस्वरसम्पन्ना ज्ञातव्या मूर्च्छना बुधैः।
जातिभाषादिसिध्यर्थं तारभाषादिसिद्धये ॥

नामक ग्रन्थ उपलब्ध है। 'विद्वानों के अनुसार नन्दि का उपलब्ध ग्रन्थ 'अभिनय-दर्पण' भरतार्णव नामक बृहत् ग्रन्थ का संक्षिप्त रूपान्तर है। नाट्यशास्त्र के का० मा० संस्करण के अनुसार 'नाट्यशास्त्र' नन्दि तथा भरत की संयुक्त रचना है (द्र० पुष्पिका अ० ३६ के अन्त में)।

१. द्र० कृष्णमाचार्य कृत 'हिस्टरी आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर'।

२. द्र० ना० शा० अ० २९ पर अभिनव की टीका।

३. द्र० बृहद्देशी, पृ० ३२।

नन्दिकेश्वर का अभिप्राय है कि मूर्च्छना के अन्तर्गत भरतप्रोक्त सप्तस्वरों के अतिरिक्त द्वादशस्वरों का क्रम भी माना जा सकता है। तार स्थान की उपलब्धि तथा जाति एवं भाषारागों के सम्यक् निर्वाह के लिए मूर्च्छना का यह स्वरूप नितान्त अभीष्ट है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्पष्ट है कि संगीत तथा नाट्य के सम्बन्ध में नन्दिकेश्वर की कृति ई० ६ तक संगीत-संसार में प्रतिष्ठा पा चुकी थी[1]।

७—काश्यप

मध्यकालीन संगीतरत्नाकर तथा संगीतसमयसार में काश्यप का नामोल्लेख प्राचीन संगीताचार्य के रूप में उपलब्ध है। नान्यदेव के भरतभाष्य में कश्यप तथा बृहत्कश्यप दोनों का उल्लेख एवं उद्धरण ग्रामरागों के सम्बन्ध में उपलब्ध है[2]। अभिनवभारती में कश्यपाचार्य के उद्धरण पाए जाते हैं, जो कश्यप की संगीतसम्बन्धी मान्यताओं को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

अभिनवभारती के मद्रास हस्तलिखित में कश्यप के नाम से निम्न उद्धरण पाया जाता है, जो मालवकैशिक नामक राग के सम्बन्ध में इनकी मान्यता को स्पष्ट करने वाला है—

संभोगे चैव श्रृङ्गारे प्रोज्झिका·········।
·········स्तेषु सर्वेषु कुर्यान्मातु (ल) वैकशिक ॥ पृ० ५।

इस ग्रन्थ में अन्यत्र कश्यप के आधार पर राग तथा रस में सामञ्जस्य की स्थापना की गई है। अभिनव के शब्दों में—

"तत्र लक्ष्यप्रबन्धगाने प्रायोगिककश्चपाद्दुद्दिष्टं (कश्यपाद्युद्दिष्टं?) विनियोग-जातं कथ्यते"।[3]

१. ई० ९ की काव्यमीमांसा में नन्दिकेश्वर का उल्लेख 'रसाधिकारिक' के रूप में हुआ (द्र० का० मा० बडौदा सं० १)। ई० ७ के काव्यादर्श की श्रुतानुपालिनी नामक टीका में नन्दिन् तथा कश्यप को दण्डिन् से पूर्ववर्ती माना गया है। ई० ६–७ के कीर्तिधर का पूर्ववर्तित्व कश्यप को निश्चित रूप से ई० ६ के पूर्ववर्ती सिद्ध करता है (द्र० ना० शा० मनमोहन घोष भूमिका)।

२. भरतभाष्य का ग्रामरागविषयक विवेचन पूर्णतः कश्यप तथा मतंग पर आधारित है। बृहत्कश्यप का उल्लेख गन्धर्वामोदन नामक राग के सन्बन्ध में हुआ है।

३. इस सन्दर्भ में अभिनव ने कश्यप के नाम से ७५ श्लोकों को अवतरित, किया है, जिसकी अन्तिम पंक्ति निम्नानुसार है—'इत्येष कश्यपाद्युक्तो विनियोगो निरुपितः। (द्र० अ० २९ पर भाष्य)

अभिनवभारती में अन्यत्र भरत तथा कश्यप का रागविषयक मतैक्य स्थापित किया गया है। इस सम्बन्ध में अभिनव का निम्न भाष्य मननार्ह है—

"गदतो मे इत्यनादरे षष्ठी, येन मद्वचनमेवात्र न केवलं प्रमाणम्, यावत्कश्यपमुनिप्रभृतिभिरपि यन्निरूपितं तदपीति शिवम्"।[1]

अभिनव का मत है कि नाट्यशास्त्र का रागविनियोग विषयक मत कश्यप के सिद्धान्त पर आधारित है—"एतदुपजीवनेनोक्तं कश्यपाचार्येण—पूर्वरंगे तु षाडव इति"।[2]

ई० ७–८ के मतंग[3] की बृहद्देशी में कश्यप का मतोल्लेख कैशिक, मालवकैशिक तथा नर्त आदि रागों के सम्बन्ध में हुआ है। कश्यप के अनुसार ग्रामराग अंश, न्यास, अल्पत्व, बहुत्व आदि दश लक्षणों[4] से लक्षित हैं। कश्यप के शब्दों में—

> क्वचिदंशः क्वचिन्न्यासः षाडवौडविते क्वचित्।
> अल्पत्वं च बहुत्वं च ग्रहापन्न्यासंयुतम्॥
> मन्द्रतारौ तथा ज्ञात्वा योजनीयं मनीषिभिः।
> ग्रामरागाः प्रयोक्तव्या विधिवद् दशरूपके॥
>
> द्र० बृह० पृ० १०३–१०४॥

उनके अनुसार ग्रामरागों की मूर्च्छनाओं का निर्माण विशिष्ट जाति के अंशस्वर पर अवलम्बित होना चाहिए। इस सम्बन्ध में अभिनव ने भरत तथा कश्यप के बीच आपाततः प्रतीयमान वैषम्य को निम्न शब्दों में निरस्त किया है—

"अत्र टीकाकारः शंकते योऽयं जात्यंशकानां विनियोग उक्तः स कश्यपमुनिमतादिभिर्विरुध्यते।.........अत्राहुः। काश्यपाद्यैस्तावन्मालवकैशिकानां

---

१. द्र० ना० शा० अ० २८ पर भाष्य।

२. द्र० अ० भा० भाग १, पृ० २३९।

षट् ग्रामरागों के सम्बन्ध में भरत के 'मुखे तु मध्यमग्रामः' से आरम्भ होने वाले श्लोकों का विवेचन 'भरतकालीन संगीत' में किया गया है।

३. मतंग का गौरवपूर्ण उल्लेख ई० ८ के 'कुट्टिनीमत' में सुषिर वाद्य के आचार्य के रूप में हुआ है।

४. तुलनार्थ द्र० भरतोक्त जातिलक्षण, ना० शा० अ० २८।

विचारणीय है कि कश्यप ग्रामरागों के वही दश लक्षण मानते हैं, जो भरत के अनुसार जाति के विशिष्ट लक्षण हैं।

तत्तच्चित्तवृत्या जीवनौचित्यं दृष्ट्वा विनियोग उक्तः" (अ० भा० अ० २९ पर भाष्य)।[3]

इसी प्रबन्ध में अन्यत्र कश्यप के 'कैशिक' राग के उद्भावक होने का उल्लेख हम कर चुके हैं। कैशिक राग का उल्लेख नाट्यशास्त्र, नारदीशिक्षा तथा कालिदासकृत कुमारसंभव में हुआ है, जो इस निष्कर्ष को पुष्ट करता है कि ई० ५ तक इस राग का सार्वत्रिक प्रचार था।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कश्यप का काल ईसवी की आरम्भिक शताब्दियों में मानने के लिए कोई प्रत्यवाय नहीं दिखाई देता।

८—विशाखिल

संगीतरत्नाकर में विशाखिल की गणना कोहल, कश्यप आदि संगीतज्ञों में की गई है। ई० १४ की 'रसरत्नप्रदीपिका' में विशाखिल का स्थान प्रामाणिक शास्त्रकारों में निर्दिष्ट है। याज्ञवल्क्य स्मृति की 'दीपकलिका' नामक टीका (ई० १४–१५) में प्राचीन सप्तगीतियों के सम्बन्ध में विशाखिल का नामनिर्देश हुआ है[4]। नान्यदेव के भरतभाष्य में तीनों ग्रामों की तानों के सम्बन्ध में विशाखिल का आधार लिया गया है। नान्यदेव के अनुसार विशाखिल के ग्रन्थ में तीनों ग्रामों की तानों का ऐसा विवरण उपलब्ध है, जो भरत में नहीं। ताल तथा सुषिर वाद्यों के अंगुलिस्थापन के सम्बन्ध में विशाखिल का मत उनके द्वारा उद्धृत है। उनके अनुसार विशाखिल का मत है कि वंश पर आरोहावरोह शारीर वीणा अर्थात् कण्ठसंगीत के अनुसार किया जाना चाहिए।

अभिनवभारती में विशाखिलप्रणीत संगीतविषयक सिद्धान्तों का अवतरण हुआ है। विशाखिल की मान्यता है कि गान्धर्व वस्तुतः स्वर, पद तथा ताल का समन्वय है—

"तथा च विशाखिलाचार्याः स्वरपदतालसमवाये गान्धर्वमिति"।[5]

---

१. द्र० काणे कृत 'हिस्टरी आफ संस्कृत पोएटिक्स', पृ० २, पादटिप्पणी २।

२. ई० ७ के 'कुडिमियमलाई' शिलालेख में जिन छः रागों का स्वरागम अवतरित है, उनमें 'कैशिक' अन्यतम है।

३. इस सम्बन्ध में सविस्तर विवरण इसी प्रबन्ध में यथास्थान किया जा चुका है। ना० शि० तथा ना० शा० के संकलक स्वरूप के कारण यद्यपि वह 'कैशिक' के कालनिर्णय के सम्बन्ध में सहायक नहीं, तथापि कालिदास के प्रामाण्य पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस राग का प्रचार ई० ५ के बहुत पूर्व हो चुका था।

४. तुलनार्थ द्र० दत्तिल, पृ० १७।

५. द्र० अभिनवभारती, पूना प्रति, अ० २८ पर भाष्य, पृ० ३८३।

अभिनव के अनुसार विशाखिल की विशेषता 'लास्यगान' के विवरण में है तथा इसके अन्तर्गत चतुष्प्रहरण, त्रिप्रहरण, अंगुलिविभाग आदि लास्यांगों का निरूपण उन्होंने किया है।

ई० ८ के कुट्टिनीमत में कला के आचार्यों में भरत तथा दत्तिल के साथ विशाखिल की गणना की गई है (द्र० आर्या १२३)। प्रायः समकालीन अलंकार-ग्रन्थ में[1] कलाशास्त्र के रचयिता के रूप में विशाखिल का स्पष्ट उल्लेख है। जैनियों के 'ठाणांग सुत्त' में विशाखिल का उल्लेख प्राचीन संगीतज्ञ के रूप में हुआ है[2]। इस सुत्त का रचना-काल अधिकाधिक ई० ६ मानने पर[3] विशाखिल का काल ई० ५ से पूर्व मानना अपरिहार्य है।

९—दत्तिल

गान्धर्व के प्राचीन आचार्यों में दत्तिल का स्थान अन्यतम है। नाट्यशास्त्र के अनुसार इनका अन्तर्भाव भरत के शत पुत्रों है (द्र० अ० १ तथा ३६)। ई० १७ की 'संगीतसुधा' में दत्तिल का संगीतशास्त्रकार के रूप में उल्लेख है। ई० १४ के 'रसार्णवसुधाकर' में भरत तथा कोहल के साथ उनका निर्देश नाट्यशास्त्रकार के रूप में उपलब्ध है[4]। प्रायः समकालीन 'रसरत्नप्रदीपिका' में संगीतशास्त्र के प्रमाणभूत आचार्यों में उनकी गणना है[5]। ई० १३ के 'संगीतसमयसार' में दत्तिल का उल्लेख तालशास्त्र के प्रवक्ता के रूप में हुआ है (द्र० अधि० ९,२)। प्रायः समकालीन 'संगीतरत्नाकर' में कोहल, कश्यप तथा विशाखिल के साथ दत्तिल का नामनिर्देश प्राचीन आचार्यों में किया गया है (द्र० अ० १)।

ई० १० के अभिनवगुप्त ने ध्रुवागीति के सम्बन्ध में दत्तिलाचार्य का उल्लेख किया है तथा ताल के सम्बन्ध में दत्तिल की उक्तियों को अनेक स्थानों पर उद्धृत

---

१. द्र० वामन कृत 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति', १–३–७।

२. इस सम्बन्ध में सविस्तर विवेचन इसी प्रबन्ध में 'जैन ग्रन्थों में संगीत' शीर्षक से किया गया है।

३. जैन साहित्य के आचार्यों का मत है कि यह सुत्त प्राचीनतम कृतियों में से है। समय-समय पर किए गए संस्करणों को ध्यान में रखने पर इनका समय ई० ६ के अनन्तर कदापि नहीं माना जा सकता।

४. द्र० स्वराध्याय, पदार्थसंग्रहप्रकरण।

५. द्र० १,५०–५४ तथा भावप्रकाशन, बड़ौदा सं० भूमिका, पृ० ७५ द्रष्टव्य।

६. द्र० श्लो० ५–६, भारतीय विद्याभवन सं० तथा 'भावप्रकाशन', बड़ौदा सं० भूमिका पृ० ७५।

किया है[1]। प्रायः इसी समय के 'भरतभाष्य' में कश्यप, विशाखिल आदि आचार्यों के साथ दत्तिल का उल्लेख है तथा उनके अनेक उद्धरण[2] अवतरित हैं। ई० ८ के 'कुट्टिनीमत' में दत्तिल का उल्लेख नाट्यशास्त्रकार के रूप में हुआ है (द्र० आर्या १२३)। ई० ७–८ के मतंग ने मूर्च्छना तथा कूटतान के सम्बन्ध में दत्तिल के वचनों का आधार लिया है (द्र० बृह० पृ० २९–३०)। स्वयं दत्तिल की कृति में पूर्ववर्ती आचार्यों के रूप में नारद के साथ कोहल तथा विशाखिल के मतों का उद्धरण है[3]। इस स्थिति में उनका काल ई० ७ के लगभग मानना निरापद सिद्ध हो सकता है[4]।

दत्तिल का संगीतविषयक कृतित्व :—

दत्तिल के नाम से 'दत्तिलम्' नामक कृति[5] अधुना उपलब्ध है। उनके कथनानुसार इसमें गान्धर्व का संक्षिप्त दिग्दर्शन पूर्वाचार्यों के अनुसरण पर किया गया है (द्र० श्लो० २४२)। जैसा ऊपर विवेचित है, इन पूर्वसूरियों में नारद, कोहल तथा विशाखिल की मान्यताओं को नामपूर्वक उदाहृत किया गया है। इनके अतिरिक्त समकालीन मनीषियों का संकेत 'केचित्', 'मनीषिणः' आदि शब्दों से किया गया है[6]। इनके अतिरिक्त संगीतसम्बन्धी परिनिष्ठित मान्यताओं का निर्देश 'आचार्याः', 'पूर्वाचार्याः' तथ 'गुरवः' इन गौरवपूर्ण शब्दों से उन्होंने किया है[7]। सिद्धान्त-स्थापना के लिए पूर्वाचार्यों का गौरवपूर्ण उल्लेख इसी

१– द्र० अ० भा० भाग १ पृ० २०५।

२–द्र० काणे कृत 'हिस्टरी आफ संस्कृत पोएटिक्स' पृ० ३ तथा ६०।

३–द्र० 'दत्तिलम्' पृ० १, ४, १२ तथा १७।

४. प्रो० रामकृष्ण कवि के अनुसार दत्तिल का नामोल्लेख ई० १०० के किसी शिलालेख पर पाया जाता है (द्र० भरतकोश)। उनके अनुसार यह संगीताचार्य दत्तिल हो सकते हैं। प्रस्तुत शिलालेख के स्थान तथा काल के सम्बन्ध में उनके द्वारा कोई विवरण प्रस्तुत नहीं। दत्तिल के व्यक्तित्व की संदिग्धता उन्हीं के निम्न कथन से स्पष्ट है–क्रै० प० १०० वर्षे एकस्मिन् शिलाशासने अस्य नाम दृश्यते। तस्मिन् महानुभावोऽयमिति वक्तुमवकाशोऽस्ति। (म० को० भूमिका)। इस स्थिति में दत्तिल को ई० १ में रखना नितान्त सन्देहास्पद है।

५. डा० राघवन् के अनुसार दत्तिल की उपलब्ध कृति उनकी प्राचीन बृहत् रचना का संक्षिप्त एवं परवर्ती संस्करण है तथा ना० शा० का उपलब्ध संस्करण कोहल तथा दत्तिल से परवर्ती है। (द्र० जम्यूअम, खंड ३, संख्या १ तथा २, पृ० १२)

६. द्र० दत्तिलम्, पृ० २, ४, ९, १३, १५ तथा २०।

७. द्र० वहीं, पृ० ५, ७, ८, १६, १९ तथा २३।

बात का संकेत माना जा सकता है कि दत्तिल उन्हीं के द्वारा निर्दिष्ट पथ के पथिक रहे हैं।

उल्लेख योग्य है कि नाटचशास्त्र में दत्तिल का नामोल्लेख है परन्तु 'दत्तिलम्' में भरत का नामनिर्देश तक नहीं। जैसा हम भरताचार्य के प्रसंग में निवेदन कर चुके हैं, नाटचशास्त्र में दत्तिल का उल्लेख द्विवार हुआ है—पहला भूमिका रूप प्रथम अध्याय में, जहां उनका अन्तर्भाव भरत के शत पुत्रों में किया गया है तथा दूसरा उपसंहाररूप अन्तिम अध्याय में जहां भरतपरम्परा को प्रवर्तित करने वाले नाटचचार्यों में उनका स्थान है[1]। निम्न विवेचन में भरत तथा दत्तिल के बीच वर्तमान सम्बन्धसूत्र को प्रस्तुत किया जा रहा है, जो दत्तिल को भरतानुयायी सिद्ध करने के लिए पर्याप्त होगा।

१—गान्धर्व के अन्तर्गत त्रिविध वृत्तियों का उल्लेख करने के पश्चात् उसके वीणादि वाद्यों पर किए जाने वाले प्रयोग के सम्बन्ध में वह मौन है। इसका समर्थन उनकी दृष्टि में यह है कि इसका लक्षण आचार्यों के द्वारा सविस्तर निरूपित है। दत्तिल के शब्दों में—

> यद् वृत्तिषूक्तमाचार्यैर्वीणावाद्यादिलक्षणम्।
> तद् ग्रन्थविस्तरभयादिह नोदाहृतं मया॥ द० ४४॥

उपर्युक्त आचार्यवचन से अभिप्राय भरतोक्ति से है, यह तथ्य नाटचशास्त्र के उस प्रवचन से स्पष्ट होगा,[2] जहां वृत्तिविवरण के स्पष्टीकरणार्थ वीणावाद्य की तन्त्री-व्यवस्था तथा वादनविधि का सविस्तर विवेचन किया गया है (द्र० ना० शा० २९,१००–११०)।

२—षड्जकैशिकी जाति के विवेचन में दत्तिल पुनः आचार्य की साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं—

> ऋषभोऽल्पप्रयोगः स्यान्न्यासो गान्धार इष्यते।
> नित्यं पूर्णस्वरा चैयमाचार्यैः परिकीर्तिता॥ द० ६९॥

इस जाति के नित्य पूर्ण होने के सम्बन्ध में भरत का निम्न वचन उल्लेखार्ह है—

---

१. द्र० ना० शा० अ० १ तथा ३६।

२. वृत्ति तथा वीणावादन के सम्बन्ध में विवरण नाट्यशास्त्र को छोड़ कर अन्यत्र नहीं पाया जाता, यह तथ्य नितान्त मननार्ह है। ना० शा० का यह विवरण किसी अन्य स्रोत से गृहीत किए जाने की सम्भावना दिखाई नहीं देती, कारण यह कि जहां कहीं ऐसे स्रोत का उपयोग हुआ है, उसका स्पष्ट निर्देश 'भवत्यपि' 'अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ' 'सूत्रानुविद्धे आर्ये भवतः' 'अत्र श्लोकाः' इत्यादि स्पष्ट उक्तियों से हुआ है।

षड्जग्रामे तु विज्ञेया सम्पूर्णा षड्जकैशिकी । २८,६१[1]

३—मद्रक गीत के विभिन्न उपादानों के प्रसंग में आचार्यों की साक्ष्य निम्न शब्दों में उपलब्ध है—

मन्द्रांशं प्रथमं वस्तु द्वितीयं तु यथाग्रहम् ॥ १६८
तृतीयमाहुराचार्याः परिवर्तसमाप्तिकम् ॥ १६९

अर्थात् आचार्यों की सम्पति से मद्रक का तृतीय खण्ड परिवर्त नामक तालविधि से समाप्त किया जाना चाहिए।

नाट्यशास्त्र में उपर्युक्त गीत के सबन्ध में निम्न विधान प्राप्त होता है—

परिवर्तसमाप्तिस्तु चतुर्थे सा विधीयते ।
मन्द्रांशोपहतं वस्तु प्रथमं च द्वितीयकम् ॥ ३१,२३०

भरत के अनुसार परिवर्त विधि का विधान मद्रक गीत के चतुर्थ खण्ड में विहित है। आपाततः देखने पर दो विधानों में विरोध प्रतीत होता है और दत्तिल का कथन भरत के अतिरिक्त किसी अन्य आचार्य के सम्बन्ध में होगा, ऐसी आशंका उत्पन्न होती है। किन्तु सूक्ष्म पर्यालोचन करने पर यह केवल मात्र विरोधाभास सिद्ध होता है। भरत के अनुसार मद्रक के दो प्रकार हैं—१, चतुर्वस्तु तथा २, त्रिवस्तु (ना० शा० ३१,२८८)। 'चतुर्थ वस्तु में परिवर्त का प्रयोग करना चाहिए', इससे भरत का अभिप्राय यही है कि वह सर्वदा मद्रक के अन्तिम वस्तु में किया जाना चाहिये। दत्तिलोक्त मद्रक 'त्रिवस्तु'[2] है, यह ध्यान में रखने पर उपर्युक्त विरोधाभास का सहज निरास हो जाता है।

४—धैवती तथा पंचमी जाति के प्रयुक्त स्वरों के लिए दत्तिल ने गुरुप्रोक्त प्रमाण का आश्रय किया है। धैवती के सम्बन्ध में दत्तिल का निम्न वचन है—

धैवत्यां गुरुभिः प्रोक्तावंशावृषभधैवतौ ।[3]

यह अंश नाट्यशास्त्र की निम्न उक्ति का अनुवाद मात्र है—

धैवत्याश्च तथैवांशो विज्ञेयौ धैवतर्षभौ । (२८,७७)

पंचमी जाति के अंशस्वर, अपन्यास तथा स्वरसंचार के सम्बन्ध में गुरुजनों की साक्ष्य दत्तिल निम्न शब्दों में प्रस्तुत करते हैं—

पञ्चम्यां गुरुभिः प्रोक्तावंशावृषभपंचमौ ।
सनिषादावपन्यासौ मध्यमर्षभसंगतिः ॥[4]

---

१. तुलनार्थ द्र० ना० शा० २८, ५५।
२. द्र० दत्तिल, श्लो० १६०–१६१।
३. वहीं, ६६।
४. वहीं, ८०।

नाटचशास्त्र के निम्न श्लोकों से स्पष्ट है कि यह भरत-वचन का अविकल अनुवाद है—

पंचम्यास्तु ग्रहावंशौ भवतः पंचमर्षभौ । २८,७७ ।

कुर्याच्चाप्यत्र संचारं मध्यमस्यर्षभस्य च । २८,१२५ ।

५—काकलि निषाद तथा अन्तर गान्धार की विवेचना में दत्तिल आप्तवचन निम्न शब्दों में प्रस्तुत करते हैं—

अनंशत्वात्तु भेदेन स्वरता नोच्यते तयोः ।

अतो निषादगान्धारावेतावाप्तैरुदाहृतौ ॥ द० १७ ॥

यह निम्नोक्त भरत-वचन का अनुवाद[1] प्रतीत होता है—

"काकलीसंज्ञो निषादो, न षड्जः । द्वाभ्यामन्तरस्वरत्वात साधारणत्वं प्रतिपद्यते । एवं गान्धारोऽप्यन्तरस्वरसंज्ञः गान्धारो न मध्यमः । तयोरन्तरस्वरत्वात्" (ना० शा० २८) ।

६—मूर्च्छना एवं तानों के विवेचन में दत्तिल पुनः आप्तवचन का उल्लेख करते हैं—

पंचस्वराः षट्स्वराश्च मूर्च्छना याः प्रकीर्तिताः ।

तानाश्चतुरशीतिस्तु ता एवाप्तैरुदाहृताः ॥ द० ३० ॥

इस प्रक्रिया का उल्लेख नाटचशास्त्र के निम्न गद्यांश में सविस्तर हुआ है—

"तत्र मूर्च्छनातानाश्चतुरशीतिः ।———। लक्षणं तु षाडवानां सप्तविधम् ।———। पंचस्वराणां तु पंचविधमेव लक्षणं यथा ।———। एवमेते एकत्र गम्यमानाश्चतुरशीतिर्भवन्ति' (ना० शा० २८) ।

नाटचशास्त्र के अतिरिक्त किसी अन्य प्राचीन ग्रन्थ में ८४ तानों की प्रक्रिया का विवरण नहीं पाया जाता । अतएव यह निःसन्देह है कि तानों के सोदाहरण व्याख्या करने वाले 'आप्त' से दत्तिल का अभिप्राय भरताचार्य से है ।

उपर्युक्त तुलनात्मक विवरण से स्पष्ट होगा कि 'गुरु' तथा 'आचार्य' के नाम से जिन सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण दत्तिल में है, वह भरत के वचनों तथा मान्यताओं का प्रायः अविकल अनुवाद है । भरत के अतिरिक्त नारद, कोहल तथा विशाखिल के मतों का नामपूर्वक उल्लेख दत्तिल ने किया है, अतएव 'गुरु' के नाम से गौरवपूर्ण उल्लेख इन आचार्यों का द्योतक कथमपि नहीं माना जा सकता । भरत का स्पष्ट नामनिर्देश न करने का कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि भरत-परम्परा तत्कालीन संगीतज्ञों के समक्ष ज्वलन्त रूप में विद्यमान थी ।

---

१. स्वरसाधारण का सुस्पष्ट विवेचन प्राचीन ग्रन्थों में नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त कहीं नहीं पाया जाता ।

दत्तिल के सम्बन्ध में जो कोई उल्लेख नाटचशास्त्र में है, वह भरतपुत्र के रूप में है यह तथ्य मननार्ह है। इसके अतिरिक्त नाटच अथवा गान्धर्व के सम्पूर्ण विवरण में दत्तिल का कहीं निर्देश उपलब्ध नहीं[1]। नाटचशास्त्र में उपलब्ध उल्लेख से स्पष्ट है कि नाटचशास्त्र के संग्रहकार के समक्ष दत्तिल के भरतानुयायी होने की परम्परा स्पष्टतः विद्यमान थी। नाटचाचार्य भरत के सम्बन्ध में इसी मान्यता का अनुसरण पारम्परिक रूप में अधुना तक पाया जाता है। यद्यपि 'दत्तिलम्' में भरत का नामोल्लेख उपलब्ध नहीं, तथापि आचार्य के रूप में किए गए उल्लेख भरताचार्य के सम्बन्ध में हैं, यह तथ्य उपर्युक्त विवेचन से सुतराम् स्पष्ट होने वाला है। अतएव केवल भरत के नामोल्लेख का अभाव दत्तिल के पूर्ववर्तित्व[2] की स्थापना कथमपि नहीं कर सकता।

१. नाट्यशास्त्र में नाट्य अथवा गान्धर्व के सम्बन्ध में केवल नारद तथा स्वाति के मत का निर्देश हुआ है। ना० शा० का प्रथम तथा अन्तिम अध्याय विद्वानों के अनुसार मूल नाट्यशास्त्र के अंश नहीं हैं तथा इन्हीं अध्यायों में दत्तिल का नाम निर्देश हुआ है, यह तथ्य विचारणीय है।

२. द्र० 'जम्यूअम' आक्टो० १९३०, पृ० २५९ पर नरसिंहाचार्य का लेख तथा द्र० वहीं, खण्ड ३, संख्या १–२, पृ० १२ पर डा० राघवन का लेख।

अध्याय दशम

ईसवीय आरम्भिक शताब्दियों में संगीत-धारा

प्राक् गुप्तकालीन संगीत

प्राक् गुप्तयुग से तात्पर्य यहाँ उस कालखंड से है, जो पतंजलि के बाद गुप्त-युग तक प्रसृत है। पतंजलिकालीन संगीत में ईसवी प्रथम शताब्दी तक की संगीतविषयक परिस्थितिका विवेचन पूर्व ही किया गया है। इस अध्याय में ईसवीय प्रथम तीन शताब्दियों में संगीतविषयक सामग्री का अनुशीलन अभीष्ट है। इस समय के लिये संस्कृत में निबद्ध छोटे मोटे शिलालेखों के अतिरिक्त विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं, तथापि प्लिनी और पेरिप्लस आदि के ग्रन्थों से तथा बृहत्तर भारत एवं इस देश के पुरातत्व संबंधी अन्वेषणों के आश्रय से इस युग की संगीत संबंधी स्थिति का अल्पाधिक परिचय प्राप्त हो सकता है। उपर्युक्त सामग्री में उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत की गंधार मूर्तियाँ, मथुरा की कुषाण मूर्तियां तथा अमरावती, नागार्जुनकोन्ड, गोल्ली (जि० गुंटुर, आंध्र) के चित्र संगीत के संबंध में "चक्षुर्वै सत्यम्" साक्ष्य देने में नितान्त सहायक सिद्ध होते हैं। जहां तक दक्षिण भारत का प्रश्न है, संगीत के तत्कालीन साहित्य के लिये दक्षिण का संगम साहित्य तथा विशेष रूप से प्रसिद्ध तामिल काव्य "सिलप्पदिकारम्" नितान्त उपादेय हैं।

भारतीय इतिहास की दृष्टि से यह कालखंड विशेष महत्वपूर्ण जान पड़ता है। समस्त सांस्कृतिक वातावरण आदान-प्रदान तथा समन्वय के स्वर से अनुप्राणित है। इस युग की संगीतविषयक दशा के सम्यक् ज्ञान के लिये ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का विवरण अत्यधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होगा।

इस युग की प्रमुख घटनाओं में ईसवी प्रथम शताब्दि में भारत में कुषाणों का आगमन है। इनका आदिम स्थान चीन का उत्तर-पश्चिमी भाग रहा। कुषाणवंश के सबसे प्रसिद्ध राजा कनिष्क ने पुरुषपुर (आधुनिक पेशावर) को अपनी राजधानी बनाया था। कनिष्क विद्वानों का आदर करते थे और इनकी सभा में संस्कृत के प्रसिद्ध महाकाव्यकार एवं संगीतज्ञ अश्वघोष का गौरवपूर्ण स्थान था। अश्वघोष के संबंध में जनश्रुति है कि यह गायकों का समूह बनाकर जन-जन में संगीत के द्वारा बौद्धतत्वों का प्रसार करते थे। राजा कनिष्क ने धर्म-प्रसार के लिये तिब्बत, मंगोलिया एवं खोतान जैसे सुदूर प्रदेशों में बौद्ध

भिक्षुओं को भेजा था। ईसा की आरंभिक सदियों में तामिल जैसे भारत के दक्षिण प्रदेश पर चेर, चोल तथा पांड्य राजाओं का अधिराज्य हुआ। इसी समय के प्रतापी राजा चेर सेंगुट्टुवन (लगभग ई० १४०–१९२) की यशगाथा समकालीन तामिल काव्य सिलप्पदिकारम् में मिलती है, जो न केवल ऐतिहासिक ही महत्व रखती है वरन् संगीत शास्त्र के विकास की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। इसी युग में दक्षिण भारत में नागजाति कलाओं में पारंगत मानी जाती थी। इस समय के प्राचीन तामिल साहित्य में ऐसे उल्लेख उपलब्ध हैं, जिनके द्वारा इस युग में वर्तमान दक्षिण भारत के संगीत का सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है।

इस युग में भारत का सांस्कृतिक अधिराज्य न केवल भारत की चतुःसीमाओं तक ही सीमित रहा, वरन सुदूर देशों तक फैल गया। भारत और रोम के साथ गहरा व्यापारिक संबंध इस युग तक स्थापित हो चुका था तथा मध्य एशिया से लेकर हिंद-चीन जैसे सुदूरपूर्व प्रदेश तक भारत के सांस्कृतिक आधिपत्य की स्थापना हो चुकी थी। ईसवी सन् की प्रथम शताब्दि में हिंद-चीन, कम्बोज, यवद्वीप आदि प्रदेशों में भारत के राजनीतिक अधिराज्य के स्पष्ट चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसी अवस्था में अन्य सांस्कृतिक उपादानों के साथ दोनों देशों के बीच संगीत-विषयक आदान-प्रदान प्रचलित रहा हो, तो आश्चर्य नहीं[1]।

इस युग की गान्धार कला के अंतर्गत पाई जाने वाली मूर्तियों तथा वाद्यों पर यूनानी प्रभाव के होने की बात बुधजनसम्मत है[2]। मथुरा की मूर्तिकला में नर्तिकाओं की जो मूर्तियां उपलब्ध हैं, उन पर भी बाह्य प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित है।[3]

---

१. भारतीय नाट्यकला का प्रभाव बृहत्तर भारत के नाट्य प्रयोग पर वस्तु तथा शैली दोनों दृष्टियों से स्पष्टतः दिखाई देता है। कम्बोज (आधुनिक हिंद-चीन) की रंगशाला "राम राम" के नाम से संबोधित थी तथा इस पर रामायण के अंश स्त्री तथा पुरुष नटों से अभिनीत किये जाते थे (द्र० संस्कृत साहित्य का इतिहास, पंचम संस्करण, पृ० ४७९–४८० बलदेव उपाध्याय)।

२. इस संबंध में द्र० प्राचीन भारतीय वेशभूषा, डा० मोतीचन्द्र, पृ० ११२–११३, आकृति १६०, १६२, १६३, १६४ तथा १६५, तथा द्र० फूशे कृत "ल आर्त ग्रेकोबुधिक दु गंधार", खंड २, आ० ३१८, ३१९, ३३५ तथा ३७८ खंड १, आ० १०६।

३. द्र० प्राचीन भारतीय वेशभूषा, डा० मोतीचन्द्र, पृ० १२४, आ० २०७, २०८, २१०, तथा द्र० फोगेल कृत "ला स्कल्पत्यूर द मथुरा", प्लेट १७ ए तथा १८।

जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, इस युग की मूर्तिकला तथा चित्रकला में संगीतायोजन के स्पष्ट चित्र उपलब्ध होते हैं। गान्धार की मूर्तिकला में तत्कालीन वाद्य एवं नृत्याभिनय के सजीव चित्र उपलब्ध हैं[१]। अजन्ता, अमरावती, नागार्जुनकुंड आदि स्थानों में सरोदाकार वीणा के दर्शन होते हैं जिससे स्पष्ट है कि इस प्रकार की वीणा का प्रचलन समस्त भारत में विद्यमान था (द्र० प्रबंध के अन्त में आ० ५५, ५६, ५७ तथा ५८)। सातवाहन युग की अमरावती कला में भित्तियों पर संगीतायोजन के दृश्य अंकित हैं, जिनके माध्यम से तत्कालीन वाद्यों का स्वरूप साक्षात् हो जाता है, उदाहरणार्थ, एक चित्र में नायक नायिका का अनुनय करते हुए अंकित है तथा इसी के साथ गीत एवं नृत्य का आयोजन किया जा रहा है; नृत्य के साथ वंशी की संगति अंकित है[२]। एक अन्य चित्र में 'मूग पक्ख' जातक की कथा अंकित है, जिसमें राजपुत्र की सन्निधि में गीत तथा नृत्य के साथ वृन्दवाद्य का आयोजन दर्शाया गया है। वाद्यों के अन्तर्गत कोण से बजाई जाने वाली दो वीणाएं, तुरही तथा मृदंग आदि स्पष्टतः लक्षित होते हैं[३]। अमरावती के भित्ति-चित्रों में ढोलक, मृदंग तथा पुष्कर के नानाविध प्रकार स्पष्टतः अंकित हैं[४]। अमरावती शिल्प में अंकित एक संगीतायोजन में नृत्य के साथ वंशी तथा सरोदाकार वीणा का अंकन हुआ है[५]। प्रतीत होता है कि वीणा का वादन कोण नामक वादन-दंड के द्वारा किया जा रहा है। इसी स्थान पर अन्यत्र बुद्ध की आराधना के समय पर वंशी, शंख तथा तुरई जैसे वाद्यों का वादन अंकित है[६]। अमरावती के एक अन्य भित्ति-चित्र में "अवरोधसंगीत" का दृश्य अंकित है, जिसके अन्तर्गत तीन महिलाएं सरोदाकार वीणा बजा रही हैं, तीन या चार स्त्रियां ढोलक बजा रही हैं तथा अन्य तीन स्त्रियां वंशी बजा रही हैं। एक अन्य स्तम्भ पर सिद्धार्थ के नगरनिर्गमन के अवसर पर गीत, वाद्य तथा नृत्य का सामूहिक आयोजन अंकित है[७]।

---

१. द्र० संगीत ओ संस्कृति, भाग १, प्रज्ञानानन्द, चित्रावलि, पृ० १३ तथा ३४।

२. द्र० स्कल्पचर इन्स्पायर्ड बाय् कालिदास, सी० शिवराम मूर्ति, प्लेट ४४।

३. द्र० स्टेला क्रेमरिश कृत "आर्ट आफ इंडिया थ्रू दि एजेस", आ० ३३।

४. द्र० स्कल्पचर इन्सपायर्ड बाय् कालिदास, सी० शिवराम मूर्ति, पृ० ७८, तथा द्र० संगीत ओ संस्कृति, भाग १, प्रज्ञानानन्द, पृ० २४, २८ तथा ३१।

५. द्र० प्रबंध के अन्त में आ० ५९।

६. वहीं आ० ६० तथा ६१।

७. द्र० 'क्लासिकल इंडियन स्कल्प्चर' कार कृत, आकृति ७८ व ७९।

गुप्तयुग संगीत का समुन्नतिकाल

गुप्त युग[1] भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग है, जिसमें साहित्य, संगीत तथा अन्य ललित कलाओं की चतुर्मुखी उन्नति का स्पष्ट चित्र दृष्टिगत होता है। स्वयम् नरेशों की संगीताभिरुचि के कारण संगीत विद्या का चरम उत्कर्ष इस युग में पाया जाता है। गान्धर्ववेद के अध्ययन तथा अध्यापन के लिये राज्याश्रय इस युग में स्पष्टतः परिलक्षित होता है। ई० पू० २ के हाथीगुंफा शिलालेख से कलिंग राज्य का खारवेल के "गन्धर्ववेदबुध" होने की बात प्रमाणित है। स्वयं संगीतज्ञ होने के कारण उनके राज्य में भी गीत, वादित्र तथा नाट्य आदि कलाओं को पर्याप्त प्रोत्साहन मिलता रहा हो, तो क्या आश्चर्य? संगीत के शास्त्रीय तथा लौकिक दोनों पक्षों का समानान्तर विकास इस काल खंड में होता रहा[2]। ईसवी प्रथम शताब्दि के जुनागढ़ शिलालेख से स्पष्ट है कि महाक्षत्रप रुद्रदामन गान्धर्व विद्या का विशेषज्ञ था तथा संगीत की विधिवत् शिक्षा ग्रहण कर उसके प्रयोगात्मक पक्ष में उसने पारंगतता प्राप्त की थी।

"गान्धर्वन्यायाद्यानां विद्यानां महतीनां पारणधारणविज्ञानप्रयोगावाप्त-विपुलकीर्तिना........नरेन्द्रकन्यास्वयंवरानेकमाल्यप्राप्तदाम्ना महाचत्रपेण रुद्र-दाम्ना"[3]।

जैसा कि ऊपर निवेदित किया जा चुका है, इस युग तक भारत के सांस्कृतिक संबंध सुदूर तक विस्तृत हो चुके थे। कुची, चीन, जापान, बर्मा तथा अन्य दक्षिण-एशियाई प्रदेशों के साथ सम्बन्ध-स्थापना के प्रचुर ऐतिहासिक प्रमाण इस कालखंड में उपस्थित होते हैं। ईसवी २ री शताब्दि से लेकर भारत की नाट्यकला का अनुकरण चीन में किया जाने लगा था। भारतीय नृत्यों के संबंध में प्रशंसापूर्ण उल्लेख प्राचीन चीनी साहित्य में उपलब्ध हैं। भारत तथा चीन के परस्पर आदान-प्रदान में भारतीय वाद्ययंत्रों को चीन में पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई थी[4]।

चीनी यात्री ह्यू-एन-त्संग ने अपने वृत्तान्त में गुप्तकालीन कला का उल्लेख

---

१. ई० ३२०-४७०।

२. द्र० एपिग्राफिया इंडिका, भाग २०, पृ० ७९ पर—"ततिये पुन वसे गंधर्ववेदबुधो दपनटगीतवादितसन्दसनाहि उसवसमाजकारापनाहि कीड़ापयति नगरि" (हाथीगुंफा शिलालेख)।

३. वहीं, भाग ८, पृ० ४४।

४. एले डेन्यूला के अनुसार तुम्बरु वीणा अथवा तानपूरा का चीनी रूपान्तर तानपुला है (प्र० इन्ट्रोडक्शन् टु म्यूजिकल स्केल्स)।

"निशितविदग्धमतिगान्धर्वललितैर्व्रीडितत्रिदशपतिगुरुतुम्बुरुनारदादे विद्वद्-जनोपजीव्यानेककाव्यक्रियाभिः प्रतिष्ठितकविराजशब्दस्य......" (द्र० फ्लीट कृत गुप्त शिलालेख नं० १, पृ० ८)

अर्थात् महाराज समुद्रगुप्त जैसे "कविराज" थे, वैसे ही गान्धर्वकुशल थे। अपनी संगीतकुशलता से संगीत के प्रतिष्ठित आचार्य तुम्बुरु तथा नारद को भी लज्जा-वनत करने के संबन्ध में उनकी ख्याति थी। इसमें अन्तर्हित अल्पाधिक प्रशस्ति की बात छोड़ देने पर यह निष्कर्ष स्पष्ट है कि महाराज समुद्रगुप्त संगीतकला के विशेषज्ञ थे तथा उनके राज्य में संगीतकला को पर्याप्त प्रोत्साहन एवं पुरस्कार दिया जाता था। अपने साम्राज्य-संस्थापन के उपलक्ष्य में उन्होंने जिन नवीन मुद्राओं का प्रवर्तन किया[1] उनमें से एक पर उनका वीणाधारी चित्र अंकित है (द्र० प्रबन्ध के अन्त में आकृति ६२)। इस मुद्रा में महाराज पर्यङ्क पर आसीन बतलाये गये हैं तथा उनकी जानुओं पर नौकाकृति वीणा रखी गई है, जिसे वे दोनों हाथों से बजा रहे हैं। प्रायः इसी के समकालीन अमरावती शिल्प में ठीक ऐसी ही वीणा का चित्र उपलब्ध है (द्र० प्रबन्ध के अंत में आ० ६३)। प्रतीत होता है कि अंगुलि से बजाया जाने वाला यह वीणा-प्रकार उस समय सुसंस्कृत समाज में विशेष प्रचलित रहा है।

समुद्रगुप्त के बाद चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का शासन (ई० ३८५-४१३) भारतीय इतिहास की महनीय घटनाओं में से है। उनके शासन काल में सम्पूर्ण भारतवर्ष एक सुदृढ़ शासनसूत्र में आबद्ध हुआ तथा शान्ति एवं समृद्धि का साम्राज्य सर्वत्र स्थापित हुआ। शांति तथा समृद्धि में ही कलाओं का यथार्थ पल्लवन होता है। इस दृष्टि से काव्य, नाटक, संगीत, चित्र आदि सभी ललित कलाओं की प्रचुर श्रीवृद्धि इस कालखण्ड में सम्पन्न हुई। इन्हीं चन्द्रगुप्त विक्रमा-दित्य की सभा के नवरत्नों में कालिदास, अमरसिंह इत्यादि विद्वानों की गणना है। यद्यपि इनकी सभा में किसी संगीतज्ञ के होने का प्रमाण नहीं मिलता तथापि कलासंवर्धक राजा की सन्निधि में कोई संगीतज्ञ न रहा हो, तो आश्चर्य है। इस युग के साहित्य तथा कलाविषयक सामग्री से प्रमाणित है कि तत्कालीन राज-भवनों में संगीतशाला का प्रबन्ध रहता था, जिसमें अधिकारी आचार्यों को संगीत तथा नाट्य की शिक्षा देने के लिये उच्च वेतन पर नियुक्त किया जाता था। बाण के हर्षचरित में राजभवन के अन्तर्गत 'संगीतगृह' का उल्लेख है, जो राजप्रासादों का आवश्यक अंग रहा है। राजप्रासादों की जिस रचना का उल्लेख

१—द्र० हिस्ट्री एन्ड कल्चरल आफ दि इंडियन "पीपुल—क्लासिकल ऐज", पृ० १४—१५ भारतीय भवन, बम्बई।

बाण में है, उसकी परम्परा ईसवी ७ से पूर्वकालीन साहित्य से लेकर उत्तरवर्ती साहित्य में बराबर पाई जाती है, जिसमें संगीतशाला का अनिवार्य स्थान रहा है। देवालयों में नर्तक तथा नर्तकियों की नियुक्ति संगीतोपासना के लिए सदैव की जाती रही है। देवाराधना के प्रसंग पर गीतों का सुमधुर गान किया जाता था। बाणभट्ट ने शिवलिंग की अष्टपुष्पिका पूजा के प्रसंग में ध्रुवागीतियों के गान का उल्लेख किया है (हर्षचरित, पृ० २०, उ० १)। कुछ राजाजन सुरा, सुन्दरी तथा संगीत में बराबर आमग्न रहते थे, जिससे प्रजाहित में व्याघात पहुँचता था। गीत तथा नृत्य के लिये राजसभा में निपुण वारांगनाओं को नियुक्त किया जाता था। अन्तःपुर में संगीत मनोरंजन का प्रधान साधन था। जलाशय में विलास क्रीड़ा करते समय राज्यपत्नियाँ जल पर ऐसा प्रहार करतीं थीं, जिससे अंबूमृदंग जैसे उदरवाद्य का आभास होता था। नाट्य के लिये 'तौर्यत्रिक' संज्ञा थी, जिसके अन्तर्गत गीत, वाद्य तथा नृत्य का अन्तर्भाव होता था (द्र० अमरकोश, नाट्यवर्ग)। संगीत के प्रबन्धों के लिये 'वस्तु' संज्ञा थी, जिसके अन्तर्गत विभिन्न चरण हुआ करते थे। रासक नामक गीतों को नृत्य तथा अभिनय के साथ गाने की प्रणालि थी (हर्षचरित, ४।१३१)। संगीत के अन्तर्गत जातियों के स्थान पर राग-प्रणालि का विशेष प्रचलन था। सुबन्धु की वासवदत्ता से स्पष्ट है कि साधुजन सामान्य लोगों के हितार्थ काव्य की कथाओं को रागों में निबद्ध कर गाते थे—

"विभासरागमुखरकार्पटिकजनोपगीयमानकाव्यकथासु रथ्यासु" (द्र० वासवदत्ता, जीवानन्द संस्करण, पृ० २२)।

लगभग इसी समय के पंचतन्त्र में सप्त स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्छनाएँ तथा छत्तीस रागों का उल्लेख भरतोक्त रूप में मिलता है—

> **"रागाः षट्त्रिंशतिर्भावाश्चत्वारिंशत्ततः स्मृताः।**
> **पंचाशीत्यधिकं ह्येतद् गीतांगानां शतं स्मृतम् ॥**
> **स्वयमेव पुरा प्रोक्तं भरतेन श्रुतेः परम्।"**
>
> (पृ० २२३-२२४, बम्बई संस्करण)

रागों की यही परम्परा परवर्ती काल में प्रचलित थी, इसका प्रमाण ईसवी ७ के 'कुडिमियमलाई' शिलालेख में प्राप्त होता है, जिस पर प्राचीन सप्त ग्राम रागों का 'स्वरागम' अथवा स्वर-रूप उत्कीर्ण है।

गुप्तकालीन नृत्य के एक विशिष्ट प्रकार के लिये 'छलित' संज्ञा है, जिसकी शिक्षा बुद्धिमती महिलाओं को दी जाती थी। नृत्य का 'तांडव' प्रकार प्रचार में था तथा तांडव करते हुए नटराज शिव की मूर्त कल्पना तत्कालीन समाज में

व्याप्त थी—'नृत्तोदधूतधूर्जटिजटाटवी' (द्र० हर्षचरित, उ० १, पृ० १५)। भरत के अतिरिक्त प्राचीन नाट्याचार्य शिलालि की परम्परा नाट्य तथा नृत्य में प्रचलित थी। संगीत का व्यवसाय करने वाले लोगों में शैलालि, लासक (लास्यनर्तक), नर्तक, गायक, गान्धर्वोपाध्याय, वांशिक, दार्दुरिक, मार्दंगिक आदि लोग थे (द्र० वहीं, उ०१ तथा उ० ३।९९)। नृत्य-शैलियों के अन्तर्गत 'आरभटी' नामक उद्धत तथा मंडलाकार नृत्य लोकप्रिय था। बाण के साक्ष्य से प्रतीत होता है कि इस शैली के नर्तक नट बाल खोलकर सिर को तथा शरीर को प्रचंड अंगविक्षेप के द्वारा हिलाते थे (चटुलशिखानर्तनारंभारभटीनटाः—हर्षचरित, २।५१)। इस नृत्य की चार विशेषताएँ थीं—१ मंडली अथवा मंडलाकार नृत, रेचक (जो तीन प्रकार का था—कटिरेचक, हस्तरेचक और ग्रीवारेचक), ३ रास तथा ४ रभसारब्धनर्तन[1]।

शासन की ओर से समय समय पर संगीत की प्रतियोगिताओं का आयोजन होता था, जिसके निर्णय के लिये स्वयं राजा के साथ अधिकारी संगीतज्ञों की नियुक्ति की जाती थी। विजेता प्रतियोगी को यथोचित पुरस्कार देने की प्रणाली थी।

भरतप्रणीत अभिजात गायनप्रणालि के अतिरिक्त संगीत की लौकिक परम्पराएँ भी विद्यमान थीं। इन प्रणालियों की सुरक्षा पुत्रजन्म, विवाह आदि लौकिक समारोहों के माध्यम से होती थी। बाण के ग्रन्थों में लोकगीत, लोकवाद्य तथा लोकनृत्य के प्रचूर उल्लेख पाये जाते हैं। विवाह के अवसर पर मंगलपटहों का वादन 'कोण' अर्थात् वादन-खंड के द्वारा किया जाता था (हर्षचरित, उ० ४)। स्त्रियां वर और वधू के नाम ले-लेकर कर्णमधुर मंगल-गीत गाया करतीं थीं—

"वधूवरगोत्रग्रहणगर्भाणि श्रुतिसुभगानि मंगलानि गायन्तीभिः"

(वहीं, ४।१४३)।

गीत तथा नृत्य के साथ जिन वाद्यों का वादन होता था, वे निम्नलिखित हैं—आलिंग्य, वेणु, झल्लरी, तंत्री—पटह, अलाबुवीणा तथा काहल (वहीं, ४।१३१)। अमरकोशकार के अनुसार अंक्य, आलिंग्य तथा ऊर्ध्वक तीनों मृदंग के प्रकार हैं (१।७।५)। कालिदास के ग्रन्थों में इन तीनों का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है[2]। इनके भरतकालीन अस्तित्व के संबंध में सविस्तर विवेचन हम ऊपर कर चुके

---

१. बाण के हर्षचरित में इस नृत्य का वर्णन निम्न पंक्ति में पाया जाता है—'रैणवावर्तमंडलीरेचकरासरभसारब्धनर्तनारंभारभटीवटाः' (उ० २।४८)

२. कालिदासकालीन वाद्यों का विवरण इसी अध्याय में यथास्थान किया जाने वाला है।

हैं, जिससे प्रमाणित होता है कि भरताचार्य से लेकर श्रीहर्ष के काल (ई०७) तक इन वाद्यों का प्रयोग बराबर प्रचलित रहा है। इन वाद्यों का स्वरूप-निर्णय प्रबल प्रमाणों के अभाव में समस्यामूलक है। झल्लरी तथा तंत्री-पटह चर्म-वाद्य थे, जिनका स्वरूप अधुना ज्ञात नहीं हो सकता। भरतोक्त विवरण से केवह यही स्पष्ट है कि झल्लरी, झांझ अथवा कांस्यताल जैसा धातुनिर्मित वाद्य नहीं। पटह के अन्तर्गत तन्त्री-पटह तथा लम्बा-पटह नामक वाद्य प्रकारों का उल्लेख है, जिनको गले में लटका कर बजाया जाता था (हर्षचरित, ४।१३१ तथा ७।२०७)। कोटा के अन्तर्गत दरा नामक स्थान पर गुप्तकालीन मन्दिर में इस प्रकार के चर्मवाद्य का चित्रण पाया जाता है (द्र० प्रबन्ध के अन्त में आकृति ६७)[1] ।

गुप्तकालीन संगीत के दृश्य चित्र अजन्ता के भित्तिचित्रों तथा शिल्पों से उपलब्ध होते हैं जिससे तात्कालीन नृत्य तथा वाद्यों के आकार-प्रकार के संबंध में प्रत्यक्ष साक्ष्य उपलब्ध होता है। अजन्ता के चित्र में तीन स्त्रियों को कांस्य के साथ गान करती हुई अंकित किया गया है तथा गायन के साथ संगति वाद्य के रूप में ढोलक अंकित है (द्र० प्रबन्ध के अन्त में आ० ६८)। ग्वालियर संग्रहालय में सोडानी से प्राप्त शिलाखंड उपलब्ध है, जिन पर आकाश में उड़ने वाले गन्धर्व तथा अप्सराओं की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं[2]। सारनाथ से प्राप्त गुप्त-युगीन शिल्प में स्त्री-नर्तकी का चित्र प्राप्त है, जो भावपूर्ण हस्तमुद्रा के साथ नृत्य करती दिखाई देती है। ग्वालियर राज्य के पवैया नामक स्थान से प्राप्त शिल्प (ई० ३) में अन्तःपुर में प्रचलित संगीत का साक्षात चित्र अंकित है (द्र० प्रबन्ध के अन्त में आ० ६९)। नर्तकी ललित नृत्यमुद्रा में संलग्न है, जिसके साथ वाद्यवृंद के द्वारा संगति की जा रही है। वाद्यवृंद में एक वंशी, दो वीणाएँ तथा दो अवनद्ध वाद्य चित्रित हैं। एक वादक धनुषाकार वीणा को गोद पर रखे हुए बाएँ हाथ की अंगुलियों से तन्त्रीयाँ बजा रहा है। दूसरी वीणा सरोद जैसी है, जिसकी तंत्रियों को हाथ की अंगुलियों से बजाया जा रहा है। प्रथम वीणा की अपेक्षा इसमें तन्त्रियाँ कम दिखाई देती हैं। इसमें अंकित अवनद्ध वाद्यों में से एक छोटे नगाड़े जैसा है, जिसको अंकों के बीच रखकर बजाया जा रहा है तथा दूसरा दो ऊर्ध्वाकार मृदंगों का सम्मिलित रूप दिखाई देता है। प्रस्तुत चित्र से स्पष्ट है कि इन दोनों मृदंगों को एक साथ बांधकर तथा सामने रखकर दोनों हाथों से बजाया जा रहा है। इस संगीतायोजन में तालवादक महिला का अंकन हुआ है, जो कि पार्श्व में बैठकर ताल देने का कार्य कर रही है। वाघ

---

१. द्र० हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, चित्र ३७, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल।

२. द्र० स्कल्चर इन्सपायर्ड बाय् कालिदास, सी० शिवराममूर्ति।

गुहा के भित्तिचित्रों में महिलाओं का सामूहिक एवं मंडलाकार नृत्य अंकित है। मुख्य नर्तकी के चारों ओर अन्य नर्तकियाँ गीत-वाद्य-नृत्य में रत हैं। इनमें से कुछ भावाभिनय में निमग्न हैं, कुछ कांस्य बजा रही हैं, कुछ काष्ठ की टिपरियाँ बजा रही हैं, तथा नर्तकियाँ नृत्य के साथ डमरू जैसा छोटा वाद्य बजा रही हैं। यह वाद्य उनके वाम स्कन्ध से लटक रहा है तथा दक्षिण हाथ से बजाया जा रहा है (द्र० प्रबन्ध के अन्त में आ० ७०)[1]। यहीं उपलब्ध एक अन्य भित्तिचित्र में कुछ गायिकाओं का सामूहिक गीत-नृत्य अंकित है[2]।

गुप्तकालीन झूमरा के शिवमन्दिर में संगीत संबंधी कुछ चित्र उपलब्ध हैं। इनमें गीत तथा नृत्य के साथ शृंग, हुडुक्क, शहनाई, ढोल तथा वीणा आदि वाद्यों के चित्र अंकित हैं[3]। अजन्ता की नंबर १७ की लेण पर आकाशचारी गन्धर्व का चित्र अंकित है[4]। नं० १ की लेण के एक भित्तिचित्र पर विदूषक को वीणा बजाते हुए अंकित किया गया है, वीणा सरोद के आकार की है तथा वीणा की संगति कांस्यताल के द्वारा की जा रही है, द्र० प्रबन्ध के अन्त में आ० ६९)। एक अन्य भित्तिचित्र में एक ऐसी वीणा का अंकन हुआ है, जिसकी एक ओर तूम्बा लगा हुआ है तथा जो स्कन्ध पर रखी हुई है (द्र० प्रबन्ध के अन्त में आ० ७१) नं १ की लेण में सिद्धार्थ को प्रव्रज्या के साथ संगीत-प्रदर्शन दिखलाया गया है, जिसमें अर्धविहंगाकार किन्नर सरोद के आकार की वीणा तथा अन्य वाद्यों को बजाकर हर्षोल्लास की अभिव्यक्ति कर रहे हैं[5]। इसी गुफा में अन्यत्र महाजनक जातक की कथा चित्र के रूप में अंकित है, जिसमें अवरोध संगीत का दृश्य स्पष्टतः उपस्थापित किया गया है। नर्तकी आंगिक अभिनय में निमग्न है, नृत्य के साथ वीणा, वंशी, कांस्य, मृदंग तथा ढोलक जैसे वाद्य बजाये जा रहे हैं। मृदंग ऊर्ध्वाकृति है तथा वीणा के अग्र में तुम्बीफल स्पष्टतः दिखाई

---

१. दि बाघ केव्स, प्लेट डी मार्शल

२. वहीं, प्लेट सी; तथा द्र० प्राचीन भारतीय वेशभूषा, पृ० २३० डा० मोतीचन्द्र।

३. द्र० प्राचीन भारतीय वेशभूषा, पृ० २०४ आ० ३४०, ३४१, ३४३, ३४४, ३४६; तथा द्र० बेनर्जी कृत "दि शिव टेम्पल एट झूमरा, कलकत्ता, १९२४, प्लेट १०।

४. द्र० अजन्ता फ्रेस्कोज, केव १७, प्लेट २, २, हेरिंगम।

५. द्र० क्लासिकल इंडियन स्कल्प्चर, आ० ७९, कारकृत; तथा द्र० याजदानी कृत 'हिस्ट्री आफ डेक्कन-फाइन अर्ट्स', खंड १ भाग ८ चित्र ४७।

देता है[1]। गुप्तकालीन उदयगिरि शिल्प में गंगा-यमुना के संगम का चित्र अंकित है जिसमें संगीतायोजन में वंशी, वीणा तथा मृदंग की आकृतियां स्पष्टतः परिलक्षित होती हैं। एक वीणा सरोद के आकार की है तथा दूसरी हार्प के समान धनुषाकार[2]। औरंगाबाद में उपलब्ध गुहा नं० ७ में सात संगीतकारों की संगीत आराधना अंकित है, जिसमें नर्तकी के चारों ओर कांस्य, वंशी, मृदंग तथा ढोलक आदि वाद्य बजाये जा रहे हैं। नर्तकी के पार्श्व में गायक का गान प्रचलित है[3]। चित्रगत वातावरण से प्रतीत होता है कि यह सामूहिक संगीतायोजन बौद्ध मठ की पूजार्चना के साथ किया जा रहा है।

कालिदास के ग्रन्थों में संगीत

महाकवि कालिदास की चतुरस्र प्रतिभा से समस्त विश्व परिचित है। महाकवि की कृतियों में काव्यकला समृद्धि के साथ ही संगीत तथा अन्य ललित कलाओं की समृद्धि के चिह्न प्राप्त होते हैं। कालिदास-युग जैसा साहित्योत्कर्ष का का युग है, वैसा ही संगीतकला की उन्नति का युग है। नाट्यशास्त्र के संगीत तथा अभिनयविषयक सिद्धांतों का स्पष्टीकरण कालिदास में यत्र तत्र प्राप्त होता है। प्राचीन भारतीय संगीत के इतिहास में कालिदास के ग्रन्थों का मूल्यांकन दो दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं—१. ईसवी आरम्भिक शताब्दि की संगीतविषयक स्थिति को जानने के लिये तथा २. भरतप्रणीत सिद्धांतों के प्रायोगिक पक्ष के परिज्ञान के लिये। कालिदास की कृतियों का महत्व इस बात में निहित है कि उनका विवेचन केवल रसिकजनसंसर्ग से उत्पन्न व्यापक अनुभव पर ही आधारित नहीं, अपितु संगीत कला के प्रयोगात्मक ज्ञान तथा क्रियाकुशलता पर आधारित है। आगमन तथा प्रयोग उभय पक्षों में निपुण तथा जीवन के विशाल अनुभव से सम्पन्न महाकवि की कृतियों में समकालीन संगीत का इतिहास प्रतिबिम्बित हो उठा हो, तो क्या आश्चर्य ?

यहां उन्हीं की सप्त विश्वविख्यात कृतियों के आधार पर उनके संगीतकला-कृतितित्व तथा समकालीन 'संगीत' की व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

---

१. द्र० याजदानी कृत 'हिस्ट्री आफ डेक्कन', खंड १ भाग ८, प्लेट १२-१३ तथा प्रचीन भारतीय वेशभूषा, पृ० २२७, आ० ४१८-४१९।

२. द्र० स्कल्पचर इन्सपायर्ड बाय् कालिदास, आ० ३९, सी० शिवराममूर्ति।

३. द्र० याजदानी कृत अन्ता, भाग १, आ०।

(ख) कालिदास की कृतियों में तत्कालीन संगीतोन्नति का दर्शन

कालिदास का युग काव्य के साथ ही संगीत, शिल्प, चित्र आदि अन्य ललित कलाओं के चरमोत्कर्ष का युग है। कालिदास का प्रेक्षक-वर्ग 'अभिरूप-भूयिष्ठ' तो था ही, सामान्य जनता में ही रसिकता एवं मर्मज्ञता पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी। मालविकाग्निमित्र में कालिदास ने तत्कालीन लोकाभिरुचि का परिचय निम्न पंक्ति में दिया है—

नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ।।

उपर्युक्त उक्ति से स्पष्ट है कि कालिदास के काल में भिन्नरुचि जन नाट्य-प्रसंग पर एकत्रित होकर नाट्यकला का रसास्वादन करते थे। तत्कालीन नाटकों में संगीत आदि से अन्त तक बराबर प्रचलित रहता था। किसी कला के पल्लवन के लिये लोकाश्रय के साथ राजाश्रय की भी आवश्यकता होती है—'विनाश्रया न शोभन्ते पण्डिता वनिता लताः'। ये दोनों उपादान कालिदास-युग में बराबर पाये जाते हैं। कालिदास की कृतियों में संगीतविषयक जो उल्लेख पाये जाते हैं, वे तत्कालीन लोकाभिरुचि तथा संगीत सम्बन्धी परिस्थिति के द्योतक हैं, यह कहने में आपत्ति नहीं। अतएव इन्हीं के आधार पर कालिदासकालीन संगीतविषयक परिस्थिति का सम्यक् दिग्दर्शन निम्न किया जा रहा है—

इस युग में संगीत कला को यथेष्ठ राज्यसम्मान प्राप्त था। राजगृहों में संगीतशालाओं का संचालन बड़ी सफलतापूर्वक होता था, जिसके फलस्वरूप मालविका, हंसपदिका, शर्मिष्ठा इरावती तथा इन्दुमती जैसी सुयोग्य एवं प्रतिभा-सम्पन्न कलाकर्त्रियों का निष्पादन होता था। संगीतकला को केवल राज्याश्रय था, यही बात नहीं वरन् कुछ राजाजन संगीताध्ययन में रुचि रखते थे तथा उस कला में पारंगतता प्राप्त करते थे। अज राजा अपनी प्रिय पत्नी इन्दुमती को संगीतादि ललितकलाओं की शिक्षा देते थे। अग्निमित्र के राजगृह में संगीत-शाला थी, जिसमें संगीत के विविध अंगों का अध्ययन तथा अध्यापन अधिकारी आचार्यों की देखरेख में होता था। ऐसे आचार्यों को उनकी योग्यता ने अनुकूल वेतन दिया जाता था[1]। संगीतशाला के अतिरिक्त संगीतशिक्षा के लिये गुरु-परम्परा की प्रणाली प्रचलित थी और इसको विशेष गौरव से देखा जाता था। कुशल एवं विशेषज्ञ कलाकारों का निर्माण इसी पद्धति से होता था। कुछ परिवारों में संगीतकला पारस्परिक व्यवसाय के रूप में चलती थी और उस परिवार के सन्तान को उसी कला में परिनिष्ठित किया जाता था। ऐसे विद्यार्थियों को अपनी परम्परागत अर्थात् खानदानी कला पर गर्व एवं गौरव का अनुभव होता

---

१. द्र० मालविका० पृ० २०

था। सुयोग्य संगीताचार्य के लिये आवश्यक था कि वे स्वयं कला-पारंगत होते हुए सुयोग्य शिष्यों को तैयार करने की क्षमता रखे। कलानिपुणता तथा शिष्यनिष्पादनकुशलता दोनों उनके लिये आवश्यक योग्यताएँ थीं। ऐसे आचार्यों को राज्य की ओर से पुरस्कार दिये जाते थे (पुरस्कारमर्हति द्र० मालविका० अं २) राजभवन के भीतर संचालित संगीत तथा नाट्यशालाओं के आचार्यों को बहुमान से देखा जाता था (वहीं, पृ० १८) राजभवन में संगीत की शिक्षा का प्रबन्ध विशेष रूप से राजस्त्रियों तथा उनकी दासियों के लिये होता था। यहां आयोजित किये जाने वाले आमोद-प्रमोद में गीत, वादित्र तथा नृत्य का प्रमुख स्थान था। कुछ राजा लोग संगीत में इतने अधिक आसक्त रहते थे कि राज्यकार्य की ओर से विमुख होकर सदैव कला, कामिनी तथा कादम्बरी के उपभोग में मग्न दिखाई देते थे[1]। रघुवंश के अन्तिम राजा अग्निवर्ण ऐसे ही विलासलोलुप तथा संगीतासक्त राजाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके भवनों में मृदंग की ध्वनि सदैव सुनाई पड़ती थी[2]। ये राजा लोग कभी-कभी नर्तकियों के नृत्य के साथ मृदंग की कुशल संगति किया करते थे। उनके वादनकौशल का उत्कर्ष स्वयं आचार्यजनों के लिये कुतूहल का कारण बन जाता था[3]।

तत्कालीन नाटकों का आरम्भ वाद्यों के वृन्द-संगीत से हुआ करता था, जिसके द्वारा प्रेक्षकों की मनोवृत्तियों को नाट्य की कथावस्तु पर केन्द्रित किया जाता था। नाट्य तथा संगीत का जब प्रथम सार्वजनिक प्रयोग होता, तब मंगलारम्भ के नाते विद्वान् ब्राह्मणों की पूजा की जाती थी[4]। संगीतशिक्षा आरम्भ करने से पूर्व संगीतकला की अधिष्ठात्री के रूप में सरस्वतीपूजन करने की प्रथा थी[5]। संगीतशाला में स्वर, वर्ण, गीति, मूर्छना, तान, राग, वस्तु तथा अभिनय इत्यादि की विधिवत् शिक्षा दी जाती थी[6]। विद्यार्थियों को प्राचीन वाग्गेयकारों की कृतियों की शिक्षा दी जाती थी तथा उस कृति के अनुकूल रस तथा लय में नृत्याभिनय की कला सिखाई जाती थी[7]।

---

१. द्र० मालविकाग्निमित्र, पृ० २६ पर "यदि राजकार्येष्वपीहस्युपायनिपुणता.........."।

२. रघु० १९, ४–५

३. वहीं

४ मालविका० पृ० ३७ व ३८

५. वहीं, पृ० २२

६. शाकुं० अं० ५

७. माल० अं०२, पृ० ३० व ३२

कलावन्तों की स्पर्धाओं का आयोजन समय-समय पर होता था, जिसके निर्णय के लिये विद्वान् तथा निष्पक्षपात 'प्राश्निकों' की नियुक्ति होती थी। निर्णायक का स्थान सामान्यतः राजा ही सुशोभित करते थे किन्तु उसमें पक्षपात की सम्भावना होने पर उस स्थान पर किसी अन्य विशेषज्ञ प्राश्निक की नियुक्ति की जाती थी[1]। संगीत तथा नाट्य जैसी प्रयोगमूलक कलाओं की प्रतियोगिता में केवल शास्त्रार्थ पर्याप्त नहीं समझा जाता था, अपितु उन स्पर्धालु व्यक्तियों के द्वारा अथवा उनके शिष्यों के द्वारा प्रत्यक्ष प्रयोग तथा प्रदर्शन अनिवार्य माना जाता था[2]। यह प्रदर्शन मजलिसी अथवा मंच-प्रदर्शन के स्वरूप का हुआ करता था, जिसमें विशेषज्ञ व्यक्तियों के साथ सर्वसामान्य रसिक जनता का निर्णय आवश्यक था। यह इस बात का प्रमाण है कि संगीतकला की सफलता केवल अंगुलिपरिमेय विशेषज्ञ व्यक्तियों की सम्मति पर निर्भर नहीं रहती थी अपि तु रसिक श्रोतावर्ग का निर्णय भी उसके लिये आवश्यक होता था। इसी कारण ऐसी प्रतियोगिताओं का आयोजन 'प्रेक्षागृह' जैसे सार्वजनिक स्थान में हुआ करते थे[3]।

शास्त्रीय तथा अभिजात संगीत के अतिरिक्त लौकिक संगीत के सम्बन्ध में उल्लेख कालिदास की कृतियों में प्राप्त होते हैं। संगीत केवल राजविलास की ही सामग्री नहीं, अपि तु मानवजीवन का सदैव अभिन्न अंग रहा है। जनमानस के आनन्दोल्लास की अभिव्यक्ति संगीत में स्वतः ही प्रस्फुटित होती है। कालिदास ने ऐसी ग्रामीण नारियों का वर्णन किया है, जो अपने क्षेत्र की रक्षा करती हुई गीत गाया करती थीं—'शालिगोप्यो जगुर्यशः'[4]। राजमार्गों पर जब राजयात्रा चलती थी, तब नगर-कन्याएँ राजा पर लाजाओं की वृष्टि करती थीं तथा राजा के गुणविषयक गीत उच्च स्वर से गाया करती थीं[5]। प्रतिष्ठित कुल की महिलाएँ जलविहार के समय गीत गातीं और जलताड़न से मानो मृदंग बजाकर गीत की संगति किया करती थीं[6]। वैभवशाली अलका नगरी के उत्तुंग भवनों में संगीत की सामग्री सदैव सज्ज रहती थी। मृदंगों तथा पुष्करों के स्निग्धगम्भीर घोष के बीच आमोद तथा विलास की सरित् सदैव प्रवर्तित रहती थी।

राज्यारोहण, पुत्रजन्म, विवाह आदि मंगल अवसरों पर तूर्यादि मंगल-वाद्यों

---

१. माल० अं० १, पृ० १८ व २०
२. वहीं, पृ० २० व २२
३. वहीं, पृ० २४ व २६
४. रघु० ४।२०
५. वहीं २।१२
६. वहीं, १६।६२–६४

का वादन तथा बन्दीजनों का स्तुतिगान होता था[1]। राजा के प्रबोधन के लिये प्रातःकाल में तूर्य-वादन किया जाता था[2]। युद्ध के प्रसंग पर तूर्य तथा शंख का वादन योद्धागणों को प्रबोधन करने के लिये तथा सैनिकों के संकेत के लिये किया जाता था[3]। प्रभातवेला में भगवान शिव के प्रबोधनार्थ विभिन्न रागों में गायन किये जाने का उल्लेख कालिदास ने किया है[4]।

कालिदास के समय में जो संगीतायोजन होते थे, उनमें गाता, वेणुवादक तथा मुरजवादक इन तीनों का सहयोग आवश्यक था[5]। वस्तु-गान के पूर्व गायक विशिष्ट राग के आलाप करता था, जो कि आधुनिक नोम् तोम् के समान थे। इसी के पश्चात् मुरज अथवा मृदंग तथा वेणु की संगति में प्रत्यक्ष गीतगान का आरम्भ किया जाता था। गीतियां अधिकतर प्राकृतिक भाषा में निवद्ध हुआ करती थीं। गीतिगान में विभिन्न तानों तथा अलंकारों का यथास्थान एवं यथारस प्रयोग किया जाता था।

अवनद्ध वाद्यों में मृदंग, मुरज, मर्दल इत्यादि वाद्यों का प्रयोग गीत तथा नृत्य की संगति के लिये किया जाता था किन्तु नाट्य तथा संगीत के विशेष आयोजनों से पुष्कर नामक वाद्य का विशेष प्रचार था। इस वाद्य के तीन मुख हुआ करते थे तथा तीनों पर विभिन्न स्वर में विभिन्न लय एवं करणों के साथ वादन किया जाता था।

नृत्य प्रकारों के अन्तर्गत शास्त्रीय तथा लौकिक दोनों नृत्य-प्रकार प्रचलित थे। 'चलित' तथा 'प्रेरण' नामक नृत्य का प्रयोग प्रयाससाध्य माना जाता था तथा इसके लिये विशिष्ट अध्ययन की आवश्यकता होती थी। देवालयों में आराधना के अवसर पर वारांगनाओं के द्वारा लास्य-नृत्य किया जाता था। मन्दिरों तथा राजभवनों में मंगलप्रसंगों पर नृत्यों का आयोजन किया जाता था, जिसके लिये कलाकुशल वारांगनाओं को आमंत्रित किया जाता था। कुशल गायिकाओं तथा नर्तिकाओं की नियुक्ति राजसभा में की जाती थी, जिनका कार्य राजपरिवार तथा अतिथियों के मनोरंजनार्थ गायन तथा नृत्य का प्रदर्शन करना था। अभिनय का सर्वांगीण प्रदर्शन भरताचार्य की परम्परा के अनुसार

---

१. रघु० १७।११, १५
२. वहीं, ६।५६
३. वहीं, ७।३८, ७।६३–६४
४. कुमार० ८।८५
५. मेघ० १।५९

किया जाता था[1] और उनका प्रयोग राजाओं के समक्ष विविध ऋतूत्सवों तथा अन्य प्रसंगों पर किया जाता था।

सारांश यह कि कालिदास युग संगीतविषयक उत्कर्ष के लिये अत्यन्त अनुकूल था। संगीत उपयोग आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के लिये होता था। सामगान तथा देवालयों में आयोजित होने वाला संगीत प्रथम लक्ष्य की सिद्धि में सहायक था तथा इसके अतिरिक्त किये जाने वाले अन्य संगीत-प्रयोगों का लक्ष्य भौतिक सुख की उपलब्धि हुआ करती थी। मानवजीवन के विविध पक्षों का स्पर्श करने वाला यह संगीत 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' रहा हो, तो क्या आश्चर्य ?

(रि) कालिदास की कृतियों में संगीतविषयक उपादान :—

कालिदास के साहित्य में साम तथा गान्धर्व दोनों का उल्लेख पाया जाता है। सामगान का उल्लेख ईश्वरस्तवन के संदर्भ में हुआ है। रघुवंश, सर्ग १० में भगवान विष्णु का स्तवन सप्त सामों के द्वारा किये जाने का उल्लेख है। इन सप्त सामों में रथन्तर, बृहत्साम, वामदेव इत्यादि प्रमुख सामों का संकेत है, इसमें सन्देह नहीं। कुमारसम्भव, सर्ग ८ में वालखिल्य मुनियों के द्वारा आदित्य का सायं स्तवन सामों से किये जाने का उल्लेख पाया जाता है[2]।

कालिदास की रचनाओं में 'संगीत' तथा 'संगीतक' दोनों शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। उनकी दृष्टि में संगीत एक त्रयी है, जिसमें संगीत के इन तीनों अंगों की अभिव्यंजना हो उठी है—

> **शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः**
> **संरक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः।**
> **निर्ह्रादी ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्यात्**
> **संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समस्तः॥** (पूर्वमेघ, ५८)

पशुपति के प्रीत्यर्थ आयोजित संगीत का चित्र यहां प्रस्तुत है। पवन से पूरित वेणु-वृक्ष सुषिर वाद्यों का कार्य कर रहें हैं, रक्तकंठी किन्नरियाँ 'त्रिपुरविजय' का गान कर रही हैं तथा कन्दराओं में प्रतिध्वनित होने वाली मेघ की घन-गंभीर ध्वनि मृदंग का कार्य कर रही है। पशुपति के नृत्य के लिये समस्त संगीत सामग्री वहां विद्यमान है, इसमें सन्देह नहीं।

---

१. विक्रमो० अं० २।१८
२. ८।४१

संगीत एक शिल्प :—

कालिदास के अनुसार संगीत का अन्तर्भाव 'शिल्प' में है। राजा अग्निमित्र की अंतःपुर-गायिकाओं को, जो कि वेणुवीणादि वाद्यों में प्रवीण हैं, कालिदास ने 'शिल्पकारि' के नाम से संबोधा है। मालविकाग्निमित्र नामक नाटक के एक प्रसंग में धारिणी देवी के आदेश पर बकुलावलिका आचार्य गणदास से मालविका की नृत्यविषयक प्रगति के संबंध में प्रश्न करती है। उसकी असामान्य प्रगति के संबंध में कुतूहल व्यक्त करते हुए आचार्य पूछते हैं—'कुतो देव्या तत्पात्र-मानीतम्'[1]। बकुलावलिका उत्तर देती है—

'तेन शिल्पाधिकारे योग्येयं दारिकेति भगिन्या उपायनं प्रेषिता।'
अर्थात् शिल्प-प्राप्ति के लिए पात्र जानकर इस लड़की को भगिनी के पास उपायन के रूप में भेजा गया है। सत्पात्र तथा अधिकारी शिष्य की ग्राहिका शक्ति को उद्देश्य कर आचार्य कहते हैं—

पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।
अर्थात् सत्पात्र छात्र को प्रदत्त शिल्प अपूर्व गुण को प्राप्त करता है।

कालिदास के अनुसार संगीत 'ललित विज्ञान' है, जो रूप-सौन्दर्य से संयुक्त होकर विशेष सामर्थ्यशाली बन जाता है। कालिदास के अनुसार राजा अज अपनी प्रिय गृहिणी इन्दुमती के निधन के माध्यम से 'ललित कला' के लिये सत्पात्र शिष्या से वंचित हो गये हैं—

'गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।'
संगीत जैसी ललित कला के लिये मधुर स्वर प्राथमिक आवश्यकता है। मधुमास में प्रमदाएँ कोकिल तथा भृंग के समान मधुर कंठ-स्वर से कामियों के चित्त को आकृष्ट कर लेती हैं, ऐसा वर्णन ऋतुसंहार में आया है[2]। कालिदास की नायि-काएँ असामान्य कंठ-स्वर से सम्पन्न हैं। उमा का स्वर असामान्य रूप से मधुर एवं अमृतवर्षी है। उसके सहज स्वर में कोकिलाओं को परास्त करने की शक्ति है। वितन्त्री[3] अर्थात् विसंवादी स्वरों में बद्ध वीणा जैसी कर्णकटु सुनाई

---

१. माल० अं० १, पृ० ८

१. ६।२०

३. 'वितन्त्री' से तात्पर्य यहां तंत्रीविहीन वीणा से किया जाना उचित नहीं। कालिदास ने वितन्त्री के ताडित अर्थात् वादित किए जाने का उल्लेख किया है। तन्त्रीविहीन वीणा के वादित होने की बात अर्थसंगत न होने के कारण ऐसी तन्त्रीसहित वीणा का अर्थ यहाँ लिया जाना उचित है, जिसकी तन्त्रियाँ सम्यक् रूप से बद्ध न हुई हों।

पड़ती है, वैसा ही उमा के कंठमाधुर्य के सामने कोकिला का स्वर कर्णकटु प्रतीत होता है—

अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा श्रोतुर्वितन्त्रीरिव ताड्यमाना[१] ॥

अज की पत्नी इन्दुमती किन्नर-कंठी बतलाई गई है[२]। पशुपति के संगीतायोजन में 'कंठ-संगीत' का गान रक्तकंठी किन्नरियों के द्वारा किये जाने का उल्लेख है[३]। यक्ष-नगरी में रक्तकंठ किन्नरों के द्वारा यक्षपति कुबेर का यश तार स्वर में गाया जाता है, ऐसा उल्लेख मेघदूत में है[४]।

गान्धर्व की प्राचीन परम्परा के अनुसार देवयोनि व्यक्तियों का संगीत 'गान्धार ग्राम' में प्रवृत्त होता है। दिव्ययोनि व्यक्तियों के संगीत का वर्णन करते समय कालिदास 'उद्गातुम्', 'उद्गीयमान', 'उच्चैःउद्गीयमान', 'उद्गास्यताम्', 'उद्गातुकामा' इत्यादि शब्दों का प्रयोग साक्षेपपूर्वक करते पाये जाते हैं। हिमालय की अधित्यकाओं में देवगायक किन्नरों के 'उद्गान' का उल्लेख है, जो कि गान्धार ग्राम को अभिव्यंजित करता है[५]। रघु जब वसिष्ठ के दर्शनार्थ सपत्नीक जा रहे थे, तब वन में वनदेवताओं के ऐसे ही गायन को उन्होंने सुना था[६]। यक्षपत्नी संगीत कला में निपुण बतलाई गई है जो कि स्व-रचित मूर्छना तथा प्रबंध के 'उद्गान' से अपना मनोविनोद करती रही है[७]।

गान्धार ग्राम की यह परम्परा भरत—पूर्वकालीन है, इसमें सन्देह नहीं। भरत नाट्यशास्त्र में केवल षड्ज तथा मध्यम इन्हीं दो ग्रामों का विवेचन पाया जाता है। आचार्य भरत प्राचीन संगीत के लिये गान्धर्वकार नारद का ऋण स्वीकार करते हैं तथा नारदप्रणीत व्याख्यान से केवल ऐसे ही अंश को ग्रहण करते हैं, जो कि उनके समय में प्रचलित लक्ष्य से संगत है। इससे पूर्व महाभारत काल में गान्धार ग्राम की परम्परा स्पष्टरूपेण विद्यमान थी, इसका संकेत हम महाभारतकालीन संगीत में कर चुके हैं[८]। कालिदास के समय तक गान्धार ग्राम का प्रचार से लोप हो गया था, यह तथ्य उपर्युक्त विवेचन से नितांत स्पष्ट है।

---

१. कुमार० १।४५
२. रघु० ८।६४
३. मेघ० १।५९
४. २।८
५. कुमार० १।८ पर मल्लिनाथ व्याख्या
६. रघु० २।१२ पर मल्लिनाथ
७. मेघ० २।२६
८. नारद गान्धर्व के आदि प्रवक्ता हैं तथा उन्हीं के नाम से गान्धार ग्राम का व्याख्यान उपलब्ध होता है। मतंग के शब्दों में—'गान्धारं नारदो

कालिदास संगीत तथा नाट्य की दृष्टि से भरताचार्य के अनुगामी रहे हैं तथा भरत के एतत् संबंधी ऋण को स्पष्ट शब्दों में स्वीकृत करते हैं। विक्रमोर्वशीय नाटक में निम्नोद्धृत कालिदासोक्ति देखिये—

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो निबद्धः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः[२] ॥

इसमें कालिदास ने स्वर्ग में प्रयोज्यमान 'लक्ष्मीस्वयंवर' नामक नाटक का उल्लेख किया है। नाटक अष्ट रसों से सम्पन्न तथा विभिन्न अभिनयों से समन्वित है, नाटक का दिग्दर्शन भरत मुनि के द्वारा सम्पादित हुआ है। जैसा कि नाट्यशास्त्रकालीन संगीत में हम निवेदन कर चुके हैं, नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में नाट्यवेद के आदि प्रयोक्ता के रूप में भरत मुनि का स्मरण हुआ है तथा स्वर्ग में देव एवं दानवों की मंडली में उनके द्वारा नाटक दिग्दर्शित होने की कथा सन्निविष्ट है। इसी प्रसंग को उपजीव्य कर महाकवि ने उपर्युक्त नाट्य-प्रयोग की घटना अपने नाटक में ग्रथित की है, यह तथ्य निर्विवाद है। कालिदास के द्वारा भरत का दिव्य पुरुष के रूप में उल्लेख उनके प्रति गौरवपूर्ण ऋण की भावना को स्पष्ट है करने वाला है, इसमें सन्देह नहीं।

कालिदास में राग परम्परा

'राग' भारतीय संगीत की मौलिक एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण कल्पना है। जैसा हम नाट्यशास्त्रकालीन संगीत के अन्तर्गत निर्दिष्ट कर चुके हैं, भरत-नाट्यशास्त्र में जाति के साथ 'राग' का भी उल्लेख है, जो कि राग की कालिदास पूर्वकालीन परम्परा का स्पष्ट प्रमाण है। कालिदास के ग्रन्थों में 'जाति' का उल्लेख कथमपि उपलब्ध नहीं। संगीत के संदर्भ में 'राग' शब्द का ही उल्लेख उनकी कृतियों में एकाधिक बार उपलब्ध है। नाट्य की संधियों में राग-गायन का प्रयोग कालिदास के निम्न श्लोक में स्पष्टतः अभिव्यंजित है–

तौ सन्धिषु व्यंजितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम्।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्तं प्रयोगमाद्यं ललितांगहारम् ॥ कुमार० ७।९१ ॥

कालिदास का अभिप्राय यह है कि शिव-पार्वती के विवाह के अनन्तर जो नाट्य प्रयोग अप्सराओं के द्वारा प्रस्तुत किया गया था, वह ललित अंगहारों से संपन्न

ब्रूते स तु मर्त्यैर्न गीयते' (बृहद्देशी, पृ० २०)। भरतानुयायी दत्तिल प्रचलित संगीत के लिये गान्धार ग्राम की अनुपयुक्तता को उद्देश्य कर कहते हैं—

केचिद् गान्धारमप्याहुः स (तु) नेहोपलभ्यते ॥ द० ११ ॥

२. अं० २, १८

था, उसकी सन्धि-स्थानों पर विविध नाट्य–वृत्तियों के साथ ही विभिन्न रसों के अनुकूल 'रागों' का प्रयोग किया जा रहा था[1]।

यहां सन्धि, वृत्ति, रस, राग तथा अंगहार इन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग नाटयशास्त्र के आधार पर किया गया है, यह तथ्य सुतरां स्पष्ट है। 'प्रतिबद्ध-रागम्' इस पद की मल्लिनाथकृत व्याख्या इसी तथ्य की पोषिका है। मल्लिनाथ के शब्दों में––"प्रति नियमेन प्रवर्तितो वसन्तललितादिरागो यस्मिंस्तत्। यस्मिन् रसे यो रागो विहितस्तदनुसारेण प्रयुक्तरागमित्यर्थः। यथाह कोहलः––"रौद्रेऽद्भुते तथा वीरे पुंरागेण प्रगीयते। शृंगारहास्यकरुणाः स्त्रीरागेण प्रकीर्तिताः। भयानके बीभत्से शान्ते गेयो नपुंसके॥" मल्लिनाथ के मन्तव्य के अतिरिक्त एक अन्य युक्ति भी इसी निष्कर्ष की पुष्टि करनेवाली है। इस स्थान पर विविध रसों के अनुकूल रागों के निबद्ध होने का विधान प्राप्त है। 'राग' से केवल 'रंजकता' अभिप्राय लेने पर समीचीन अर्थ की निष्पत्ति संभाव्य नहीं; विविध रसों के सम्बन्ध में रंजकता का निबद्ध किया जाना कोई अर्थ नहीं रखता। 'रस' में 'आस्वाद्यत्व' की कल्पना स्वतः निहित होने के कारण रंजकता उसमें सहजसिद्ध है। ऐसी अवस्था में 'प्रतिबद्धरागम्' यह पद केवल पुनरुक्त मात्र सिद्ध हो सकता है, जो कि कालिदास जैसे महाकवि वे संबंध में कल्पित नहीं किया जा सकता। 'राग' का अभिप्राय यहां साधारण 'अनुराग' से भी नहीं लिया जा सकता, जैसा कि कालिदास की कृतियों में अन्यत्र कुछ स्थलों पर उपलब्ध है। विविध रसों में केवल अनुराग के ही उपस्थित होने की कल्पना असम्भव होने कारण अस्वीकार्य है। अतएप यह स्पष्ट है कि विविध रसों के सम्बन्ध में रागों के निबन्धन का उल्लेख भरतोक्त ग्रामरागों का ही निदर्शक है[2]।

---

१. नाट्यसंधियों के अन्तर्गत रागगायन के प्रयोग के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र का प्रभाव यहां परिलक्षित होता है। नाट्य की विभिन्न सन्धियों में मध्यमग्राम पडजग्राम, साधारित, कैशिकमध्यम आदि षट ग्राम रागों के प्रयोग की परिनिष्ठित परम्परा का उल्लेख हम इसी प्रबन्ध में यथास्थान कर चुके हैं।

२. मल्लिनाथ ने 'कैशिक' को रागविशेष ही माना है––'परिगृहीतकैशिकै स्वीकृतरागविशेषैः'। अन्य दो टीकाकार अरुणगिरि तथा नारायण भी इसे 'रागबोधक' ही स्वीकृत करते हैं। नारायण के अनुसार कैशिक प्रभातकाल-गेय राग है––'कैशिकः प्रभातकालोचितो रागविशेषः' (कुमार० सं० काले, पृ०१६०)। कैशिक का स्वरूप नारदीय शिक्षा में प्राप्त होता है तथा उसके प्रोक्ता अथवा प्रवर्तक के रूप में कश्यप मुनि का उल्लेख वहां है।

'गीतमंगल' इस पद के सन्निकर्ष से उक्त राग दाक्षिणात्य संगीत में प्रच-लित 'मंगलकैशिक' होने के सम्बन्ध में अनुमान डा० राघवन ने व्यक्त किया है (द्र० जरनल आफ म्यूजिक एकैडैमी, मद्रास अंक २३, पृ० ११६)।

कालिदास के समय राग-प्रणालि स्थिर हो चुकी थी, इसके सम्बन्ध में निम्न श्लोक की साक्ष्य असंदिग्ध है, जिसमें भरतोक्त षट् ग्रामरागों में से अन्यतम कैशिक नामक राग का स्पष्ट नामनिर्देश है—

स व्यबुध्यत बुधस्तवोचितः शातकुम्भकमलाकरैः समम् ।

मूर्च्छनापरिगृहीतकैशिकैः किंनरैरुषसि गीतमंगलः ॥ कुमार० ८।८५ ॥

अर्थात् किन्नर-गण प्रतिदिन उषःकाल में मूर्छनायुक्त कैशिक राग[1] के माध्यम से भगवान् शिव के लिए प्रबोधन-गान गाते थे।

'राग' शब्द का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग अभिज्ञानशाकुन्तल में अनेक-वार हुआ है। नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार ग्रीष्म ऋतु के अनुकूल गान करने का आदेश नटी को देते हैं। नाटक का अभिनय ग्रीष्म ऋतु में किया जा रहा है तथा यह उचित ही है कि गीत-गान समयानुकूल हो। संगीत श्रुति-प्रसादन का साधन है और कालानुकूल होने पर श्रोताओं की हृत्तन्त्रियों को सहज ही झंकृत कर सकता है। कालिदास के शब्दों में—

सूत्रधार :—आर्ये साधु गीतम्। अहो रागावबद्धचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंगः। (द्र० शाकुं० १)

इस स्थान पर राग तथा गीत दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग नितान्त मननार्ह है। प्रस्तावना के अन्त में शाकुन्तल का सूत्रधार 'गीतराग' के गान का स्पष्ट उल्लेख करता है—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः ।

एष राजेव दुष्यन्तः सारंगेणातिरंहसा ॥

उपर्युक्त स्थलों पर 'राग' का प्रयोग[2] संगीत के पारिभाषिक शब्द के रूप में हुआ है, यह तथ्य निम्न विवेचन से स्पष्ट है।

---

१. मल्लिनाथ ने 'कैशिक' को रागविशेष ही माना है—'परिगृहीतकैशिकैः स्वीकृतरागविशेषैः'। अन्य दो टीकाकार अरुणगिरि तथा नारायण भी इसे 'रागबोधक' ही स्वीकृत करते हैं। नारायण के अनुसार कैशिक प्रभातकाल-गेय राग है—'कैशिकः प्रभातकालोचितो रागविशेषः' (कुमार० सं० काले, पृ० १६०)। कैशिक का स्वरूप नारदीय शिक्षा में प्राप्त होता है तथा उसके प्रोक्ता अथवा प्रवर्तक के रूप में कश्यप मुनि का उल्लेख वहाँ है।

'गीतमंगल' इस पद के सन्निकर्ष से उक्त राग दाक्षिणात्य संगीत में प्रचलित 'मंगलकैशिक' होने के सम्बन्ध में अनुमान डॉ० राघव ने व्यक्त किया है (द्र० जनरल आफ म्यूजिक एकैडेमी, मद्रास, अं० २३, पृ० ११६)।

२. 'गीतरागेण' इस पद से अभिप्राय टीकाकार राघव भट्ट के अनुसार गीत में निबद्ध राग-रागनियों से है—'गीतौ निबद्धेन श्रीरागाविणा धातुना'।

सम्पूर्ण प्रस्तावना प्रायः नटी के गान का वर्णन है। और वह भी सूत्रधार के द्वारा हुआ है। नाट्यशास्त्र के अनुसार सूत्रधार के लिये 'चतुरातोद्यकुशल', 'स्वरवादित्रतत्वविद्', 'शास्त्रकर्मसुशिक्षित', 'नानागीतप्रचारज्ञ' तथा 'नाट्य-

---

उपर्युक्त श्लोक में उपलब्ध 'सारंग' शब्द के आधार पर यह सिद्धान्त उपस्थापित किया गया है कि शाकुन्तल की प्रस्तावना में नटी का गीत भी 'सारंग' राग में गाया गया है, जिसका आधुनिक रूप 'मध्यमादि सारंग' है (द्र० भारतीय संगीत, वर्ष २, अं० ५, पृ० ३६–३८ तथा 'संगीताचें आत्मचरित्र', (पृ० ४–६, प्रो० रानडे)। संबध में निम्न तीन तर्क प्रस्तुत किए गए हैं—

(१) प्रथम युक्ति का मूलाधार भरत का निम्न श्लोक है—'मुखे तु मध्यमग्रामः षडजः प्रतिमुखे स्मृतः।' तर्क यह है कि सं० रत्नाकर (ई० १३) के अनुसार मध्यमग्राम से उद्भूत होने वाला 'मध्यमादि' राग पूर्णतः 'मध्यमग्रामराग' से मिलता-जुलता है तथा उसके संधिगत प्रयोग, मूर्छना, रस, समय आदि लक्षण नटी के गीत पर पूर्णतः चरितार्थ होते हैं। अतएव जिस 'सारंग' में वह गीत गाया गया है, वह सारंग का मध्यमादि प्रकार है।

(२) 'सारंग' शब्द का प्रयोग कालिदास ने तन्नामविशिष्ट राग को उपलक्ष्य कर ही किया है। इसके अनुसार 'सारंग' पद श्लिष्ट है, जिसका एक अर्थ 'मृगशावक' है और दूसरा 'सारंग राग'। यदि 'सारंग राग' का अर्थ कालिदास को अभिप्रेत न होता तो वे 'मृगशावक' के लिए किसी दूसरे शब्द का प्रयोग करते। 'सारंग' का प्रयोग 'मृग' के अर्थ में शाकुन्तल में अन्यत्र कहीं नहीं हुआ है।

(३) तृतीय तर्क यह कि गीतों में श्लेषयुक्त पदों से 'राग' का मार्मिक संकेत करने की प्रणाली परम्परा-सम्मत है जो कि इस श्लोक के सम्बन्ध में चरितार्थ होती है।

इस सन्बन्ध में हमारा विनम्र निवेदन निम्नलिखित है :—

(१) भरत का 'मुखे तु मध्यमग्रामः' यह श्लोक नाट्य की विभिन्न संधियों में ग्रामरागों के विनियोग का विधान प्रस्तुत करता है। 'मध्यमग्रामराग' षट् मौलिक एवं प्राचीन ग्रामरागों में से अन्यतम है और उसका प्रयोग नाटक की मुखसंधि में विहित है। नटी का ग्रीष्म वर्णन पर गीत आमुख में है, मुख संधि में नहीं। शाकुन्तल की मुखसन्धि का प्रवर्तन 'आमुख' अथवा 'प्रस्तावना' के अनन्तर आरम्भ होता है, उससे पूर्व नहीं। नटी का गीत मुखसन्धि से पूर्व प्रस्तावना में होने के कारण भरत का 'मध्यमग्रामराग' विषयक विधान घटित नहीं होता और इसलिये इस तर्क की मूलभित्ति ही धराशायी हो जाती है। इस

प्रयोगकुशल' होना अनिवार्य है (द्र० नाट्य० ३५।४५-४७)। ऐसी अवस्था में संगीतशास्त्रकुशल सूत्रधार के द्वारा किया गया 'राग' शब्द का प्रयोग पूर्णतः पारिभाषिक है, ऐसी यथार्थ कल्पना की जा सकती है। 'राग' शब्द से केवल रंजकता का अभिप्राय अनभिज्ञ रसिक के लिए शोभन हो सकता है, सूत्रधार जैसे विशेषज्ञ 'सर्वशास्त्रविचक्षण' व्यक्ति के लिए नहीं।

शाकुन्तल (अं० ५) में हंसपदिका के संगीताभ्यास को उपलक्ष्य कर कालिदास कहते हैं—'अहो रागपरिवाहिणी गीतिः।' इस प्रसंग में हंसपदिका के संगीत का वर्णन कालिदास ने एक कुशल संगीतज्ञ की भांति किया है। हंसपदिका संगीतशाला में बैठ कर गीति गाने के लिए उद्युक्त है। उसकी गीति मधुर तथा शुद्ध है और उसके गान के लिए वह गीति के अनुकूल 'स्वरसंयोग' अर्थात् आलाप करने में व्यस्त है। उसके स्वरालाप, जिनको आधुनिक परिभाषा ने नोम् तोम् कहा जाता है, विविध वर्णों से समन्वित है। कालिदास के शब्दों में—

तर्क में यह गृहीत कृत्य के रूप में स्वीकृत किया गया है कि सारंग शब्द से अभिप्राय 'सारंग' राग से है, जिसके लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं। महत्व की बात यह कि संगीतरत्नाकर में 'सारंग' राग का नाम-निर्देश तक नहीं, न उनके पूर्वकालीन कोहल, कश्यप, मतंग आदि में इसका उल्लेख है। 'मध्यपादि' राग का विवेचन भी केवल' अधुनाप्रसिद्ध' रागों के अन्तर्गत किया गया है, प्राचीन रागों में नहीं (इस सम्बन्ध में द्र० जनरल आफ म्यूजिक एकैडैमी, मद्रास, खण्ड १२, पृ० ९० पर श्री ओ० सी० गांगुली का लेख)।

(२) 'सारंग' पद के श्लिष्ट होने के सम्बन्ध में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं। शाकुन्तल के किसी टीकाकार ने इस पद को रागबोधक नहीं माना है। 'सारंग' का अर्थ यहां केवल 'सारंग जाति' का मृग है, जो 'कृष्णसार' के नाम से भी ज्ञात है। सारंग तथा कृष्णसार दोनों का पर्यायरूप में प्रयोग कालिदास ने इसी श्लोक के अनन्तर किया है।

(३) यदि 'सारंग' राग कालिदास को ज्ञात होता, तो संभव है कि वे इस पद का श्लिष्ट तथा मार्मिक, प्रयोग करते। अन्यथा 'राग' का काव्यमय संकेत करने की प्रणाली कालिदास में ही क्या, कहीं भी प्राप्त नहीं होती। सुबन्धु (ई० ५) की 'वासवदत्ता' में संगीत के कुछ पारिभाषिक शब्दों का श्लिष्ट प्रयोग पाया जाता है किन्तु उनका गद्य 'प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबंधविन्यास' से युक्त होने के कारण काव्यमय राग-संकेत की बात को पुष्ट नहीं करता (सुबन्धु में संगीतविषयक उल्लेख के लिए द्र० जनरल आफ म्यूजिक एकैडैमि, मद्रास, खण्ड २३, वर्ष १९५२ में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का लेख)।

विदूषक :—भो वयस्य संगीतशालाऽभ्यन्तरेऽवधानं देहि । कलविशुद्धाया **गीतेः स्वरसंयोगः श्रूयते** । जाने तत्रभवती हंसपदिका वर्णपरिचयं करोतीति । (शाकुं० अं० ५)

अर्थात् हे मित्र, संगीतशाला के भीतर ध्यानपूर्वक सुनो । मधुर एवं विशुद्ध गीति[1] का स्वरालाप सुनाई पड़ रहा है । जान पड़ता है कि हंसपदिका वर्णों का अभ्यास कर रही है ।

इस स्थान पर संगीत के निम्न पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है—स्वर, वर्ण, गीति तथा राग । इन सभी का एक स्थान पर प्रयोग यही मानने के लिए बाध्य करता है कि 'राग' शब्द का प्रयोग भी पारिभाषिक शब्द के रूप में कालिदास को अभिप्रेत है । विक्रमोर्वशीय के चतुर्थांक में भिन्नक, वलंतिका तथा ककुभ रागों का स्पष्ट उल्लेख है ।[2] यदि यह अंश कालिदासकृत मूल ग्रंथ का हो, तो उनके समय में इन रागों की स्थिति सहज कल्पित की जा सकती है ।

'राग' के अतिरिक्त संगीत के अन्य पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी कालिदास में पाया जाता है, यथा संवाद, उपोहन, तान इत्यादि । रघुवंश के प्रथम सर्ग में मयूरों के गान के सम्बन्ध में कालिदास की निम्न उक्ति है, जो उनके संगीत-परम्पराविषयक ज्ञान को व्यक्त करती है—

> **मनोभिरामाः शृण्वन्तौ रथनेमिस्वनोन्मुखैः ।**
> **षड्जसंवादिनीः केका द्विधा भिन्ना शिखंडिभिः ॥**[3]

मयूरों का स्वर षड्ज स्वर से संवाद करता है ऐसी परिनिष्ठित परम्परा संगीत

---

१. मतंग की बृहद्देशी तथा संगीतरत्नाकर के अनुसार गीति पंचविध है—शुद्धा, भिन्ना, गौड़ा, वेसरा तथा साधारिता (द्र० बृह० पृ० ८२।२८८) । इन्हीं गीतियों से शुद्ध, भिन्न, गौड़ आदि रागों का उद्‌भव बतलाया गया है (बृह० पृ० ८४।३१७) ।

२. विक्र. पृ. १२५–१२६, सं. गैधानी ।

३. इस श्लोक पर टीका करते समय मल्लिनाथ 'द्विधा भिन्नाः' से अर्थ शुद्ध तथा विकृत अर्थात् च्युत तथा अच्युत षड्ज से लेते हैं, जो कि सबल प्रमाण के अभाव में स्वीकृत नहीं किया जा सकता । षड्ज स्वर की इस प्रकार की विकृति की चर्चा सर्वप्रथम संगीतरत्नाकर (ई० १३) में पाई जाती है । उससे प्राचीन ग्रंथ मतंगकृत बृहद्देशी में षड्ज की इस विकृति का उल्लेख कथमपि प्राप्त नहीं होता है । मतंग में केवल "भिन्नक" राग का उल्लेख है, जो कि श्रुति, स्वर तथा जाति इन तत्वों में भिन्न होने के कारण शुद्ध रागों से स्वतन्त्र होता है (द्र० बृह० पृ० ८८।३२२) ।

के पुरातन ग्रंथों में पाई जाती है।[1] उपोहन नामक अन्य पारिभाषिक शब्द का प्रयोग कालिदास के मालविकाग्निमित्र में हुआ है। अभिनय से पूर्व मालविका गेय वस्तु का 'उपगान' अर्थात् 'उपोहन' करती है जो गीत के पूर्व गाए जाने वाले विभिन्न स्वरालापों के पर्यायस्वरूप है—'उपगानं कृत्वा चतुष्पदवस्तु गायति।'[2] इस पर काटयवेम का भाष्य इस प्रकार है—

"गानात्पूर्वं कर्तव्यं वसन्तादिरागानुगतं स्वरविशेषपरिशीलनम्। उपगानं रागलपितं कृत्वा। उपवहनमिति पाठे 'उपोह्यते स्वरो यस्मात्तदुपवहनं स्मृतम्' इत्युक्तलक्षणं पूर्वगानम्। चतुष्पदवस्तु चतुष्पदप्रबन्धसंज्ञकं गायति।[2]

जैसा कि हम भरतकालीन संगीत के सम्बन्ध में विवेचन कर चुके हैं, उपोहन भरत-संगीत की पारिभाषिक संज्ञा है। उपोहन एक ही मूल स्वर के आश्रय से होता है तथा अन्य स्वर इसी के आधार से प्रवृत्त होते हैं। ऐसे आलापों के द्वारा रागदर्शन कराने के पश्चात् उस राग का गीत आरम्भ किया जाता है।[3] गीत के आरम्भ में जिस प्रकार स्वरालाप होता है, ठीक वैसे ही गीत के मध्य में गीत शब्दों को लेकर स्वरों के लघु तथा दीर्घ समूह निर्मित किये जाते हैं, जिनके लिए गान्धर्व में 'तान' संज्ञा है। 'तान' का उल्लेख कालिदास के निम्न श्लोक में स्पष्टतः उपलब्ध है—

यः पूरयन्कीचकरन्ध्रभागान्दरीमुखोत्थेन समीरणेन।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम्[4] ॥

भावार्थ यह है कि नगाधिराज हिमालय कन्दराओं से उत्थित पवन के द्वारा कीचक-रन्ध्रों को पूरित करता हुआ गानतत्पर किन्नरों के लिए 'तान' प्रदान करने का कार्य कर रहा है।

प्राचीन संगीत परम्परा के अनुसार वांशिक अथवा वेणुवादक का कार्य यह है कि गायक के स्वरों की संगत वह विविध स्वरालापों से करें। भरत के अनुसार तान का प्रयोजन मन्द्र, मध्य तथा तार तीन स्थानों अर्थात् सप्तकों की प्राप्ति कराना है–'प्रयोजनमपि स्थानप्राप्तिः'।[5] आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार अंशस्वर के आधार से अन्यान्य स्वरसमुदायों का जो प्रस्तार होता है, उसी के लिए 'तान' संज्ञा है–'तानस्त्वंशस्वरो मतः' इत्यभिनवगुप्तः।[6]

---

१. द्र० बृहद्देशी, १२–१३
२. माल. सं. साने–गोडबोले, पृ. ३३
३. ना. शा. ३१।२४१
४. कुमार. १।८
५. ना. शा. अ. २८
६. कुमार. १।८ पर मल्लिनाथ

कालिदास में वाद्य-विषयक उल्लेख

कालिदास के ग्रंथों में वाद्य की चतुर्विध विधाओं में तत, वितत तथा सुषिर इन तीन प्रकार के वाद्यों के प्रचुर उल्लेख प्राप्त होते हैं। तत वाद्य के अन्तर्गत वीणा एवं वल्लकी के उल्लेख यत्र तत्र उपलब्ध है। मेघदूत की नायिका यक्षपत्नी कुशल संगीतज्ञा है और वीणावादन के आसरे से अपने विरह के दिन बिताती है—

> उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणाम्
> मद्गोत्रांकं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
> तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचित्
> भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्छनां विस्मरन्ती ॥[1]

अर्थात् वीणा को अपने उत्संग पर रख कर उसके वादन के द्वारा यक्षपत्नी प्रियविरहसम्बन्धी स्वनिबद्ध गीत उच्चस्वर से गाने के लिए उत्सुक है। नयन से निरन्तर निःसृत होने वाले नीरबिन्दुओं से क्लिन्न होने के कारण वीणा की तन्त्रियाँ क्वणन के लिए अनुपयुक्त हो रही हैं। ऐसी विस्वरता को दूर करने के लिए यक्षपत्नी को तन्त्रियों की वारंवार 'सारणा' करनी पड़ रही है।[2] स्वर में मिलाई हुई ऐसी तन्त्रियों का क्लिन्नता के कारण विस्वर हो जाना स्वाभाविक है। उनको पुनः यथास्वर मिलाने के लिए संगीत की क्रियाकुशलता अपेक्षित है, इसमें सन्देहावकाश नहीं। अनवरत झरने वाले अश्रुओं से वीणा-तन्त्री में कैसी विस्वरता आ जाती है इसका ज्ञान यक्ष-पत्नी को है, जो कि उसके वीणावादनकौशल पर प्रकाश डालने वाला है। वीणा की तन्त्रियां प्रत्यक्ष वादनक्रिया में की गई छेड़ने की क्रिया से न्यूनाधिक मात्रा में विस्वर हो हो जाती हैं, यह बात क्रियाकुशल संगीतज्ञों के लिए अनुभवसिद्ध है। स्वर की इस सूक्ष्म न्यूनाधिकता को जान कर उसको स्वर में मिलाने के लिए स्वर—ज्ञान की आवश्यकता होती है, जो प्रयास तथा अनुभव से ही संभाव्य है।

वीणावादन में निपुण सिद्ध लोग क्लिन्नता से जन्य वीणावैगुण्य से सम्यक् परिचित होने के कारण मेघ-मार्ग से दूर हो जाते हैं, ऐसा वर्णन कालिदास ने किया है। सिद्धयुगलों को यह भय है कि मेघ के जल—बिन्दुओं से उनकी वीणाएं कहीं वादन के लिए अक्षम न हो जायँ—

> सिद्धद्वन्द्वर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्गः। (मेघदूत १, ४५)

---

१. उत्तरमेघ

२. जैसा हमने यथास्थान निर्दिष्ट किया है, 'सारणा', वीणा की वह क्रिया है जिसमें वीणा-तन्त्रियों को सम्यक् रूप से परस्पर मिलाया जाता है।

इन्दुमती के मृत शरीर की अस्तव्यस्तता को व्यक्त करने के लिए महाकवि ने ऐसी विगततन्त्री वीणा का उल्लेख किया है, जिसकी तन्त्रियां अस्तव्यस्त हैं और जिनको पुनश्च मिलाने के लिए वीणावादक अपनी गोद में ले बैठा है। अर्थात् शिथिल एवं विस्वर तन्त्रियों वाली वीणा की सारणा करने के लिए वीणावादक जिस प्रकार उसे अपनी गोद में उठाकर स्वर में मिलाने के लिए उद्योग करता है, उसी प्रकार इन्दुमती के मृत देह को अपनी गोद में लेकर अज राजा इन्दुमती के देह को सहला रहे हैं। कालिदास के शब्दों में—

प्रतियोजयितव्यवल्लकीसमवस्थामथ सत्वविप्लवात्।
स निनाय नितान्तवत्सलः परिगृह्योचितमंकमंगनाम्॥[1]

राजा अग्निवर्ण स्वयं संगीतकुशल हैं और उनके अंक में वीणा सदैव विराजमान रहती है—

अंकमंकपरिवर्तनोचिते तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे।
वल्लकी च हृदयंगमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना॥[2]

राजा अग्निवर्ण की अन्तःपुर—प्रमदाएँ संगीत-शिल्प में निपुण बतलाई गई हैं। श्रृंगार-क्रीड़ा के कारण ओष्ठों तथा अंक के क्षतविक्षत होने पर भी वेणु तथा वीणा का वादन वे अत्यन्त कौशल्य से करती हैं—

वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदांकितोरवः।
शिल्पकार्य उभयेन वेजितास्तं विजिह्मनयना व्यलीभयन्॥[3]

रघुवंश में एक स्थान पर कालिदास ने परिवादिनी वीणा का उल्लेख किया है। नारद भगवद्गुणगान करने के लिए वीणा को लेकर उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान करते दिखलाए गए हैं—

उपवीणयितुं ययौ रवेरूदयावृत्तिपथेन नारदः॥[4]

अवनद्ध अथवा चर्मावृत वाद्यों में से मुरज, मर्दल, मृदंग, वारिमृदंग एवं पुष्कर वाद्य का बहुशः उल्लेख कालिदास ने किया है। रघुवंश के अन्तिम राजा अग्निवर्ण पुष्कर वाद्य बजाने में पारंगत हैं तथा उस वाद्य के द्वारा नर्तकियों की संगत करते हैं। आचार्यों की उपस्थिति में जब नर्तकियां नृत्यप्रयोग करने लगती हैं, तब उनकी संगति में अग्निवर्ण नानाविध करणों और लयों का प्रयोग ऐसे अनुपम ढंग से करता है कि नर्तकियां अपनी लय से भ्रष्ट हो जाती हैं और अभि-

१. रघु. ८, ४१
२. वहीं, १९, १३
३. वहीं. १९, ३५
४. वहीं, ८, ३३

नय में गलतियां करने लगती हैं। आचार्यों के सम्मुख इस प्रकार गलतियां होने के कारण वे नितान्त लज्जा से अवनत हो जाती हैं—

स स्वयं प्रहतपुष्करः कृती लीलमाल्यवलयो हरन्मनः।
नर्तकीरभिनयातिलंघनीः पार्श्ववर्तिषु गुरूष्वलज्जयत् ॥[1]

यक्ष की अलका नगरी अभ्रंकष प्रासादों से युक्त है और इन प्रासादों में संगीत की ध्वनि प्रतिध्वनित हो रही है, संगीत के सम्पादनार्थ मुरज नामक मृदंग-विशेषों की स्निग्ध तथा गम्भीर ध्वनि सर्वत्र व्याप्त है—

संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम् (उत्तरमेघ० १)।

पुष्कर वाद्य की धीरगम्भीर ध्वनि के साथ यक्षगण अपनी प्रमदाओं को लेकर कामोद्दीपक मधु-पान कर रहे हैं—

त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु (वही, ३)।

पुष्कर की मध्यमस्वरोत्थ मार्जना का उल्लेख मालविकाग्निमित्र नामक नाटक में निम्न शब्दों में हुआ है—

परिव्राजिका—हन्त प्रवृत्तम् संगीतम्। तथा ह्येषा
जीमुतस्तनितविशंकिभिर्मयूरैरूद्ग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य।

निर्ह्रादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था मायूरी मदयति मार्जना मनांसि ॥१,२१॥

अर्थात् पुष्कर वादन के गम्भीर घोष से इस बात का संकेत किया गया है कि संगीत का आरम्भ हो चुका है। मध्यम स्वर पर आश्रित मायूरी मार्जना[2] जन-मन को मत्त करने वाली है। मायूरी मार्जना के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि त्रिपुष्कर के मुखों पर विभिन्न स्वर बजाये जाने की प्रणालि कालिदास के काल में विद्यमान थी।

मुनि शातकर्णि के जलभवन में होने वाला संगीत मृदंग का घोष आकाश-गामी बताया गया है।[3] अयोध्या नगरी की विलासिनी स्त्रियां जलक्रीड़ा के समय जब गाती एवं बजाती थीं, तब उनके मृदु हाथों से किया गया जल का मन्द-मन्द आस्फालन मृदंग के प्रहार का स्मरण दिलाता था। प्रतीत होता था मानो गीत का अनुसरण करने वाला यह वारिमृदंग कानों में रस उंडेल रहा हो—

श्रोतेषु संमूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदंगवाद्यम् ॥[4]

---

१. वहीं, १९, १४

२. 'मार्जना' भरत संगीत का पारिभाषिक शब्द है, जिसका विवेचन हम 'भरतकालीन संगीत' में कर चुके हैं।

३. रघु. १३, ४०

४. वहीं, १६, ६४

मुरज वाद्य के करणों अथवा बोलों का उल्लेख कुमारसम्भव में हुआ है। हिमनगर की गगनचुम्बी अट्टालिकाओं पर मेघों की गर्जना चल रही है और प्रासादों के अन्दर मुरजों की ध्वनि गूंज रही है। दोनों के संमिश्र नाद में मुरज की ध्वनि केवल 'करणों' से पहचानी जा सकती है, ऐसा निम्न पंक्ति से स्पष्ट है—

अनुगर्जितसंदिग्धाः करणैर्मुरजस्वनाः ॥[१]

सुषिर अर्थात् फूंक से बजने वाले वाद्यों में शंख तथा वंश अथवा वेणु का उल्लेख कालिदास में यत्र तत्र पाया जाता है। शंख आदि तूर्यों का घोष प्रायः मंगल अवसरों पर किया जाता रहा है।[२] वंश का कार्य मुख्यरूप से गान की संगति करना है तथा गायन के अन्तर्गत स्वरविस्तार तथा आलापों की बढ़त करना है।[३] कालिदासकालीन संगीतायोजनों में संगीत के लिए वेणु का स्थान नितान्त आवश्यक रहा है, इसमें सन्देह नहीं।[४]

कालिदासकालीन नृत्यकला

कालिदास की कृतियों में नृत्यकला के संबंध में प्रचुर सामग्री पाई जाती हैं। संगीत के अन्तर्गत नृत्यकला का समावेश है। नृत्य के संयोग से वास्तविक संगीतार्थ की सिद्धि बतलाई गई है—

संगीतार्थो ननु पशुपतेर्नृत्यतस्तत्र पूर्णः ॥[५]

कालिदास के ग्रन्थों में नृत्य के शास्त्रीय तथा लौकिक दोनों पक्षों के सम्बन्ध में सामग्री विकीर्ण रूप में प्राप्त होती है। इन सूत्रों को एकत्रित करने पर नृत्यकला की शिक्षा-दीक्षा तथा लौकिक मान्यताओं के सम्बन्ध में मानचित्र प्रस्तुत किया जा सकता है।

'मालविकाग्निमित्र' की प्रमुख घटना नृत्य-संघर्ष ही है। नायिका मालविका नृत्यसंगीत की शिक्षा के हेतु महामहिषी धारिणी के पास रहती है। नाट्याचार्य हरदत्त और गणदास नाट्य में पारंगत हैं और क्रमशः इरावती तथा मालविका की शिक्षा के लिए नियुक्त हैं। दोनों अभिनय के आचार्य हैं और दोनों के अभिनय में प्रत्यक्ष भाव साकार हो उठते हैं[६]। परम्परा के माध्यम से उन्होंने

---

१. कुमार. ६, ४०
२. रघु. १७, ८७; कुमार. ७, ४०
३. कुमार. १, ८
४. कुमार. १, ८; रघु. २, १२; मेघ. १, ५९
५. पूर्वमेघ.
६. माल. १, १०

नाट्य में नैपुण्य संपादन किया है।[1] दो आचार्यों में कलानैपुण्य के सम्बन्ध में संघर्ष हो जाता है, जिसके निर्णय का कार्य निष्पक्षपात परिव्राजिका पर सौंप दिया जाता है। नाट्य में शास्त्र तथा प्रयोग दोनों का तुल्य महत्व है तथापि प्राधान्य प्रयोग को ही दिया जा सता है—'देव प्रयोगप्रधानं ही नाट्यशास्त्रम्'[2]। इस दृष्टि-कोण को सामने रखकर परिव्राजिका आदेश देती है कि दोनों अपने अभिनय कला का प्रात्यक्षिक प्रस्तुत करें। आचार्यों के नैपुण्य का निकष केवल उनका अपना प्रयोग ही नहीं माना जा सकता, कारण यह है कि कोई शिक्षक केवल अपनी कला में निपुण हो सकता है, तो दूसरा उस कला की शिक्षा-दीक्षा सफलता से देकर शिष्यनिष्पादन की योग्यता रखता है। कालिदास की दृष्टि में वही शिक्षक धुरन्धर तथा श्रेष्ठ माना जा सकता है, जो स्वयं निपुण होते हुए शिष्यों को निपुण बनाने की पात्रता रखे। व्यक्तिगत नैपुण्य तथा शिक्षादान दोनों श्रेष्ठ आचार्य के लिये आवश्यक है—

यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एवः।[3]

दोनों आचार्यों के संघर्ष में यह निश्चित होता है कि उनके शिष्यों के अभि-नय की परीक्षा की जाय। उसके लिए एक ही अभिनेय वस्तु का चयन आव-श्यक है—

तत्रैकार्थसंश्रयमुभयोः प्रयोगं पश्यामः।
तावता ज्ञायत एवात्रभवतोरुपदेशतारतम्यम्॥[4]

परिव्राजिका का सुझाव है कि चलित नामक अभिनय की परीक्षा ली जाय। 'चलित' एक ऐसा अभिनय है जिसमें किसी प्रसंग के अनुकूल अभिनय का प्रदर्शन करने के साथ ही कलाकार के अपने अभिप्राय का मार्मिक व्यक्ती-करण हो—

तदेव तच्च (च्छ) लितं नाम साक्षाद्यदभिनीयते।
व्यपदिश्य पुरावृत्तं स्वाभिप्रायप्रकाशकम्॥[5]

इस छलित की रचना शर्मिष्ठा के द्वारा हुई है और उसी को लेकर माल-विका को अपना अभिनय प्रस्तुत करना है। वह कृति चतुष्पदा है और शृंगार-प्रधान होने के कारण 'लयमध्या' है—'शृंगारहास्योर्मध्यलयः' (द्र० ना० शा०) शर्मिष्ठा के प्रबंध पर मालविका का नृत्य आधारित है। गान तथा नृत्य दोनों

१. वहीं, पृ० ८
२. वहीं, पृ. २०
३. वहीं, १, १६
४. वहीं, १, पृ. २६
५. द्र. माल. काटयवेम टीका

समानान्तर चलते हैं।[1] अभिनय वस्तु का गान कर पश्चात् उसी का रसानुकूल अभिनय वह प्रस्तुत करती है।[2] उस अभिनय का वर्णन कालीदास के शब्दों में सुनिए—

अंगैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव ॥[3]

मालविका के नृत्ययुक्त अभिनय का इसमें सजीव वर्णन है। उसके अंगविक्षेप स्वयं ऐसे मुखर हैं कि गीत का अर्थ उनसे बिना शब्दों की सहायता से सहज ही सूचित हो रहा है, उसके चरणों का न्यास तथा गति लय के अनुकूल है, नृत्यवस्तु के रस से उसका तादात्म्य हुआ है, उसका 'शाखा' नामक अभिनय सुकोमल है, उस अभिनय की विधाओं के कारण नवनवीन तथा नानाविध संचारी भावों का उन्मेष वह दर्शाती है किन्तु रागात्मिकता आदि से अन्त तक बराबर अक्षुण्ण है। नृत्य के नानाविध संचारी भाव स्थायी भाव की मूल अभिव्यंजना को बाधा नहीं पहुंचाते।

'शाखा' भरत-संगीत का पारिभाषिक शब्द है और आंगिक अभिनय का क्रम द्योतित करता है। आंगिक अभिनय की पूर्णता तीन उपादानों से होती है—शाखा, अंकुर तथा नृत्य।[4] नृत्य के अन्तर्गत अभिनय का क्रम इन्हीं तीन अवस्थाओं से प्रचलित होता है और इन तीनों अवस्थाओं का भिन्न-भिन्न सम्यक् प्रदर्शन नर्तक अथवा नर्तकी के लिए आवश्यक है। नृत्य को भूमिका में जो हस्तों का विविध ललित अभिनय किया जाता है, वह 'शाखा' कहलाता है, इसके अनन्तर पठित अथवा गीत वाक्यार्थ के स्पष्टीकरण के लिए जो कर वर्तना अर्थात् हस्ताभिनय किया जाता है, वह 'अंकुर' के नाम से विख्यात है तथा भावी वाक्यार्थ को संकेत करने के लिए जो हस्ताभिनय किया जाता है, वह 'सूची' कहलाता है। विविध अंगों के करण तथा अंगहारों पर आधारित अभिनय 'नृत्त' के नाम से अभिहित है।[5] मालविका के उपर्युक्त अभिनय के चित्रण में आंगिक, वाचिक तथा सात्विक तीनों का समावेश है।

---

१. तुलनार्थ द्र० 'अभिनयदर्पण' श्लोक ३५ तथा ३६।

२. उपगानं कृत्वा चतुष्पदवस्तु गायति······ततो यथारसमभिनयति (द्र. माल. २, पृ० ३२)

३. माल. २, ८,

४. ना. शा. ८, १४-१५

५. सं. रत्नाकर ७, ३७

नृत्तकार की स्वाभाविक तथा मनोहारिणी भंगिमा का महाकविकृत सजीव वर्णन पढ़िए—

वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामाविटपिसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम् ।
पादांगुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम् ॥[1]

उसका बायां हाथ नितम्ब पर विन्यस्त था, उसका कंकण बाएं हाथ के प्रकोष्ठ पर स्थिर था, दाहिना हाथ श्यामा-लता के सदृश झूल रहा था, झुकी हुई दृष्टि नीचे के कुट्टिम पर केन्द्रित थी, जहां पैर के अंगूठे पुष्पों को शनैः-शनैः दबा रहे थे। वह देहभंगी प्रत्यक्ष नृत्य से कहीं अधिक लोचदार थी।

अभिनय का क्या ही अनूठा चित्र कालिदास ने खींचा है। नृत्यकार का अभिनय, चाहे वह नृत्य में हो, अथवा स्थिति में हो, भावों से मुखर है। मालविका के अभिनय द्वारा कालिदास ने तत्कालीन अभिनय कला की मानों सजीव मूर्ति उपस्थित कर दी है।

संगीत के अन्तर्गत नृत्य तथा अभिनय की शिक्षा कालिदास के समय में संगीतशालाओं में दी जाती थी, जिनका प्रचलन राज्याश्रय से होता था। संगीतशाला में सुयोग्य आचार्यों की नियुक्ति होती थी, जो आगम तथा प्रयोग, लक्ष्य तथा लक्षण दोनों में अधिकारी होते[2]। संगीत विद्यालयों में प्राप्त विद्या की अपेक्षा परम्परा रूप से प्राप्त विद्या का विशेष मान था—'कामं खलु सर्वस्यापि कुलविद्या बहुमता'।[3] विद्यालयों में, जो कि राजभवन में चलाये जाते थे, राजपत्नियां तथा उनकी दासियां दोनों को संगीतशिक्षा प्रदान की जाती थी। कुछ दासियों का काम केवल संगीत सीखकर राजमहिषियों का मनोरंजन करना था। इसी कारण विक्रमोर्वशीय का विदूषक दासी निपुणिका से कहता है—'निपुणिके संगीतव्यापारमुज्झित्वा क्व प्रस्थिताऽसि' अर्थात् हे निपुणिके, संगीत के कार्य को छोड़कर कहां चल पड़ी हो ?

नृत्यकला के विद्यार्थियों के चयन में पात्रापात्रता का भी ध्यान रखा जाता था। कालिदास के अनुसार नृत्य के लिए शारिरिक सौष्ठव प्राथमिक आवश्यकता

---

१. माल. २, ६

२. द्र० माल० १, पृ० १६ पर 'मया तीर्थादभिनयविद्या शिक्षिता'। मालविका तथा इरावती के लिए ऐसे नृत्याचार्यों की नियुक्ति हुई थी, जो अभिनेय भावों की साकार मूर्ति थी—'भावाविव शरीरिणौ' (मा० २, १०)॥

३. अं. १ पृ. ८

है—'ननु स्वांगसौष्ठवाभिनयमुभयोर्द्रष्टुवती भगवती'[1]। नृत्य प्रतियोगिता के निर्णय के हेतु परिव्राजिका का आदेश है कि दोनों नाट्याचार्य अपने शिष्यों के अंगसौष्ठव के सम्बन्ध में निर्णायकों को आश्वस्त करें—'निर्णयाधिकारे········ सर्वांगसौष्ठवाभिव्यक्तये ···प्रवेशोऽस्तु'[2]। मालविका इसी दृष्टि से नृत्यशिल्प पाने को अधिकारिणी है—'शिल्पाधिकारे योग्येयम्'।[3] उसकी वपु न केवल समस्त स्थानों में निर्दोष एवं रमणीय है अपितु अपने लचीलेपन के कारण नृत्याचार्य को अभीष्ट सभी अभिनयों को सुलभता से व्यक्त करती है, मानो उसका शरीर इसी शिल्प के लिये निर्मित हुआ हो—

छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसि श्लिष्टं तथाऽस्या वपुः ॥ (माल० अं० २, ३)

आचार्य गणदास उसकी असाधारण मेधा को लक्ष्य कर कहते हैं, 'जिस किसी अभिनय का प्रयोग मैं उसे सिखाता हूँ, उसको वह इतने असामान्य ढंग से अपनाती है कि प्रतीत होता है कि वही मुझको उस अभिनय की प्रतिशिक्षा दे रही हो। (माल० १, ५)।

कालिदास के काल में नाट्य[4] अथवा नृत्य भिन्नरुचि जनों के लिए समाराधन का एक समान माध्यम था—

नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाऽप्येकं समाराधनम् ॥ माल० १, ४ ॥

नृत्य का आयोजन लौकिक समारोहों तथा देवाराधना के अवसर पर होता था। नृत्य विलासी जनों के दैनिक मनोरंजन का साधन था। नृत्य के अन्तर्गत पंचांग अभिनय[5] प्रयाससाध्य माना जाता था तथा उसकी विशिष्ट शिक्षा दी जाती थी। 'चलित' जैसे दुष्कर नृत्य-प्रकार की शिक्षा केवल प्रौढ़ तथा मेधावी शिष्यों को दी जाती थी। संगीत की शिक्षा का प्रारम्भ सरस्वती की पूजाप्रसाद से हुआ करता था-'संगीतापदेशेन सरस्वत्युपायनमोदकान्खादतः'[6]। नृत्य के विविध अभि-

---

१. वहीं पृ. २२

२. वहीं पृ. २६

३. वहीं पृ. १०

४. द्र० माल० अं० १ में 'चलितं नाट्यमन्तरेण कीदृशी मालविकेति`·····' [द्र० मा० सं० साने, गोडबोले प्रति]। टीकाकार काटयवेम के अनुसार—'चलितं नाम नृत्यविशेषः' (तुलनार्थ द्र० माल० अ० १ में—'न पुनरस्माकं नाट्यं प्रति मिथ्यागौरवम्')।

५. 'इदानीमेव पंचांगाभिनयमुपदिश्य मया विश्रम्यतामित्यभिहिता' (द्र० माल० अं० १, पृ० १०, साने, गोडबोले तथा उर्सेकर द्वारा संपादित)।

६. वहीं, अं. १

नयों की रचना तथा प्रयोग प्राचीन गेय प्रबन्धों पर आधारित रहता और उनके अनुकूल ही सिखाया जाता था। ऐसे वाग्गेयकारों में शर्मिष्ठा जैसी कलाकर्त्रियों को बहुमान से देखा जाता था और उनकी कृतियां विद्यार्थियों को सिखाई जाती थीं। अभिनय की शिक्षा देते समय मेघदूत की यक्षिणी अपने क्रीड़ा–मयूर को प्रतिदिन तालबद्ध नृत्य की शिक्षा देती हुई अपना मनोविनोद करती है।[1] मेघों की मृदंगवत् गर्जना के कारण नृत्य करते हुए मयूरों का चित्रण कालिदास की कृतियों में यत्रतत्र पाया जाता है[2]। अभिनय के दुष्कर अंगों का अभिनय आचार्य जन स्वयं प्रात्यक्षिक के द्वारा सिखाते थे[3]।

नृत्य के अन्तर्गत आंगिक अभिनय का अभ्यास लय-ताल के अनुकूल होता था। ऋतुराज वसंत के आगमन पर मलयमारुत से लहराने वाले सहकारपल्लवों से लययुक्त तथा नियमित कम्पन को देखकर कालिदास के सामने नृत्यशिक्षा का चित्र साकार हो उठता है, जिसमें नर्तकी हस्तों के विविध अभिनयों को आत्मसात् करने के लिए नाना प्रकार के हस्तसंचालन के व्यापारों का नियमित आवृत्तिपूर्वक अध्ययन करती है[4]। कालिदास ने सुन्दर अभिनय का वर्णन पवन से हिलती हुई उपवन-लताओं के रूप में किया है—

> श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः।
> उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः॥[5]

नृत्याभिनय के समय भी 'सुध मुद्रा सुध बानी' का वर्णन कालिदास ने किया है। वर्णमधुर गीत, कोमल तथा सस्मित मुख और लययुक्त हस्ताभिनय तीनों का मधुर संयोग ही नृत्य को मनोहर बनाता है। 'लय' भरत-संगीत का पारिभाषिक शब्द है, जो नृत्य, गीत तथा वाद्य के साथ परिमित अंतराल से की जाने वाली 'हस्तक्रिया' के लिए आता है[6]।

मुनि भरत के अष्टरससमन्वित ललित नाट्य का आदर्श कालिदास के समक्ष है। विक्रमोर्वशीय की नायिका उर्वशी को उन्होंने भरतप्रणीत नाट्य के प्रयोग में कुशल दिखाया है। कालिदास के शब्दों में—

---

१. मेघ. ८१
२. पूर्वमेघ. ३२
३. माल. १, ५
४. रघु. ९, ३३
५. वहीं, ९, ३५
६. 'नृत्यगीतवाद्यैः समं हस्तक्रिया लयः' (अमर)

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः ।

ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः ॥ (विक्र १,१८)

प्रयोग तथा अभिनय दोनों शब्द भरत-नाट्य के पारिभाषिक शब्द हैं और उसी अर्थ में कालिदास ने उन्हें प्रयुक्त भी किया है, यह बात भरत के उल्लेख से सूर्यप्रकाशवत् स्पष्ट है। जैसा हमने यथास्थान निरूपित किया है, भरत के अनुसार अभिनय चतुर्विध है–आंगिक, वाचिक, आहार्य एवं सात्विक तथा प्रयोग के अन्तर्गत वाद्य, गान तथा पाठ्य के सम्यक् संयोजन के अतिरिक्त शास्त्र तथा कला दोनों का समायोग है[1]।

अग्निवर्ण राजा की संगीतरति का वर्णन करते हुए भरतोक्त अभिनयों में से आंगिक, वाचिक तथा सात्विक का उल्लेख कालिदास ने किया है[2]। नृत्य का वास्तविक स्वरूप इन चारों अभिनय-प्रकारों से परिणत हो उठता है। आंगिक, वाचिक तथा आहार्य अभिनय-कला के बाह्यांग हैं, सात्विक का सम्बन्ध अभिनेता के मनोभावों से है, जिसके अन्तर्गत समस्त भाव-संसार मुकुलित हो उठता है। वाचिक के अन्तर्गत प्रायः पाठ्य तथा गान दोनों का समावेश है। कालिदास के समय पर नृत्य के साथ गायन भी किया जाता था, यह बात निम्न पंक्ति से स्पष्ट है—'उपगानं कृत्वा चतुष्पदवस्तु गायति ।.........ततो यथारसमभिनयति'।[3]

कालिदास ने अर्धनारीनटेश्वर का वर्णन करते हुए नृत्य के ताण्डव तथा लास्य दोनों विधाओं का संकेत किया है—

रूद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वांगे विभक्तं द्विधा । माल० १, ४ ।

लास्य के शास्त्रीय पक्ष का विवरण मालविकाग्निमित्र में प्रर्याप्त रूप से हुआ है। उज्जैन के महाकाल मंदिर में किए जाने वाले देशी नृत्य[4] का वर्णन मेघदूत में पाया जाता है—

पादन्यासक्वणितरशनास्तत्र लीलावधूते ।

रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः ॥ (मेघ० पू०)

महाकाल के मन्दिर में संध्याकालीन पूजा के समय पर देवदासियां नृत्य कर रही हैं, उनके हाथ में रत्नखचित चामर हैं, जिनको वे ललित अभिनय के साथ

---

१. ना. शा. २७, ९९

२. रघु. १९, ३६

३. माल. अं २ पृ. ३२ (साने-गोडबोले प्रति)

४. नृत्यसर्वस्व के आधार पर चामरों को हाथ में लेकर किये जाने वाले इस नृत्य को मल्लिनाथ ने दैशिक नृत्य का प्रकार बतलाया है। इस संबंध में और द्र० दक्षिणावर्त की टीका (मेघ० स० करमरकर, पृ० २४)।

हिलाती हैं, उनके सुकोमल पदन्यास के साथ रशना की मंजुमंजुल ध्वनि श्रवण-गोचर हो रही है (वहीं पृ० ३४)

भगवान् पशुपति के उद्धत ताण्डव की कल्पना कालिदास इस प्रकार करते हैं—

> पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः
> सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः ।
> नृत्तारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छाम्
> शान्तोद्वेगास्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या ॥ (मेघ० पू० ३७) ।

गजासुर-मर्दन के अनन्तर भगवान् महादेव अपनी सहस्र भुजाओं से ताण्डव नृत्य कर रहे हैं । उन्होंने रौद्र रस की अवतारणा करते हुए अपनी बाहुओं का उत्क्षेप किया है, गजासुर के रक्तमय चर्म से उन्होंने शरीर को आच्छादित कर लिया है और उनके उद्धत नृत्य के कारण भवानी उद्विग्न हो उठी हैं ।[1]

नृत्य के सार्वजनिक प्रयोग 'प्रेक्षागृह' में किए जाते थे, ऐसा उल्लेख माल-विका० में स्पष्ट है–'प्रेक्षागृहे संगीतरचनां कृत्वाऽत्रभवतो दूतं प्रेषयतम्' (अं० १) । नृत्यप्रयोग से पूर्व संगीत का प्रयोग होता था, जिसमें आगामी प्रसंग के अनुकूल स्वर में मृदंग का वादन किया जाता था । नृत्यप्रयोग करने वाला पात्र नेपथ्य के पार्श्व में वेषभूषादि करता है और नृत्य–निर्देशक प्रेक्षकों के सम्मुख आकर नृत्य की वस्तु तथा उसके रचयिता के विषय में संक्षिप्त निवेदन प्रस्तुत करता है, ऐसा वर्णन कालिदास ने किया है ।[2] कालिदास के नाटकों का आरंभ इसी रीति से हुआ है, जिससे यह स्पष्ट है कि कालिदास के समय संगीत तथा नाट्य के सार्वजनिक प्रयोग के अवसर पर यही प्रणालि प्रचलित थी ।

लौकिक नृत्य के अन्तर्गत दो प्रकारों का उल्लेख कालिदास में पाया जाता है—चलित अथवा छलित तथा पंचांगाभिनेय । छलित के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान मालविका० अथवा अन्य कालिदासीय ग्रंथों से प्राप्त नहीं, न किसी नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ से इस नृत्य के विधिविधान के सम्बन्ध में पर्याप्त परिचय प्राप्त हो सकता है । टीकाकारों ने 'छलित' के व्युत्पत्तिगत अर्थ तथा मालविका के नृत्य-प्रकार को लेकर इस नृत्य का स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया है, जो अन्य समर्थक

---

१. चालुक्यकालीन (ई० ६) बदामी गुफाओं के प्रवेशद्वार पर अनेकों भुजाओं से युक्त पशुपति के ताण्डव नृत्य का अंकन इसी के अनुकरणस्वरूप होने की सम्भावना है (आ० ३६, शिवराममूर्ति, 'स्कल्पचर इन्स्पायर्ड बाय कालि-दास') ।

२. माल. अं. २

प्रमाणों के अभाव से सन्तोषजनक नहीं माना जा सकता। भोज के शृंगारप्रकाश में 'छालिक' नृत्य का समावेश 'नर्तनक' नामक उपरूपक में किया गया है, जिसके अन्तर्गत भरतोक्त 'लास्य' के समान एक ही नर्त्तिका द्वारा नृत्यप्रयोग होता है तथा यह सुकुमार गति, मध्य लय तथा संचारी भावों से उपलक्षित है। भामह तथा दण्डि 'दृश्य' के अन्तर्गत लास्य तथा छलिक का उल्लेख करते हैं, जो कि गीत तथा नृत्य पर आधारित काव्यबंध है[१]। हरिवंश में छालिक्य के अभिनय का विस्तृत विवरण है, जिसका सम्बन्ध छालिक्य नामक गान्धर्व से है[२]। प्रतीत होता है कि यह एक प्राचीन नृत्य-प्रकार रहा है, जिसका नामकरण उसके साथ में गाए गए गीत के आधार पर हुआ हो[3]।

पंचांगाभिनय का केवल नामनिर्देश मालविका० में हुआ है, परन्तु इसके संबंध में न तो कोई विवरण कालिदासीय ग्रन्थों में है, न किसी प्राचीन नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ में। भरतनाट्यशास्त्र में आंगिक अभिनय के अन्तर्गत षडंगों का उल्लेख है[४]। मालविका० के टीकाकार काटयवेम ने इस सम्बन्ध में दो मतों का उल्लेख किया है[५]। एक के अनुसार 'पंचांगाभिनय' में चित्त, अक्षि, भ्रू, हस्त तथा पाद इन अंगों से अभिनय का संकेत है। दूसरा अर्थात् वाचस्पति का मत यह है कि भरतोक्त चतुर्विध अभिनय का अन्तर्भाव इसमें है। काटयवेम इन मतों से सहमत नहीं। वे इस नृत्य को 'प्रेरण' नृत्य के पर्यायस्वरूप मानने के पक्ष में हैं। आचार्य अभिनवगुप्त 'प्रेरण' का उल्लेख उपरूपकों अर्थात् नृत्यप्रबन्धों में करते हैं। संगीतरत्नाकर तथा नृत्तरत्नावलि में 'प्रेरण' (प्राकृत-पेरणी) का सविस्तर

---

१. कामसूत्र के अनुसार ६४ कलाओं के अन्तर्गत 'छलितक' का अन्तर्भाव है, जिसकी शिक्षा कुमारियों तथा वाराङ्गनाओं के लिए आवश्यक मानी गई है। इस सम्बन्ध में द्र० इसी प्रबन्ध का अध्याय ३।

२. इस सम्बन्ध में द्र० इसी प्रबन्ध का अ० ७ में 'हरिवंश में संगीत'।

३. गीत तथा नृत्य दोनों के नामकरण एक दूसरे से प्रभावित दिखाई देते हैं, यथा 'ताण्डव' गीत से 'ताण्डव नृत्य', 'चर्चरीगीत' तथा चर्चरी ताल इत्यादि।

४ विस्तार के लिए द्र० इसी प्रबन्ध का अध्याय ९—'भरतनाट्यशास्त्र में संगीत'। अभिनयदर्पण के अनुसार यह छ अंग 'शिर, हस्त, वक्ष, पार्श्व, कटि तथा पाद' है (श्लो० ४२)

५. मालविका की काटयवेमकृत टीका में निम्न विवेचन पाया जाता है—'चित्ताक्षिभ्रूहस्तपादेरंगैश्चेष्टादिसाम्यतः। पात्राद्यवस्थाकरणं पंचांगोऽभिनयो मतः' इति केचित्। अत्रादिपदेन 'आंगिको……सात्विकस्तथा। इति चतुरंगोऽपि ग्राह्य इति वाचस्पतिः। (द्र० 'मालविका०' सं० साने पृ० १०)।

वर्णन प्राचीन परम्परागत रूप में है। इस नृत्य के पांच अंग हैं—घर्घर, विषम, भावाश्रय, कविचार, तथा गीत। प्रथम अंग में चरणों में पहने गए किंकिणियों का तालानुसार संचलन किया जाता है, दूसरे अंग में नानाविध करण तथा उत्प्लुतियों का संयोग होता है, तृतीय में हास्योत्पादन के लिये विकृत वस्तुओं का अभिनय होता है, चतुर्थ में उत्तम नायक का तथा पंचम अंग में गीत का गायन होता है[1]। पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में कालिदास के 'पंचांगाभिनय' के यथार्थ रूप का निर्णय स्पष्टतः समस्यामूलक माना जा सकता है[2]।

---

१. सं. र. ७, १३१४–१५ तथा पृ. ८०७–८०९

२. अं. भा. कालिदास समारोह उज्जैन, वर्ष ५९ में प्रसारित शोध निबंध।

अध्याय एकादश

उपसंहार

प्रस्तुत प्रबन्ध में प्राचीन भारतीय संगीत का इतिहास वैदिक काल से लेकर गुप्त काल तक उपस्थापित करने का प्रयास किया गया है। भारतीय संगीत का वैशिष्ट्य उसके सनातन स्वरूप में है, जो अनेक युगों के व्यतीत होने पर अपनी मूल अभिव्यंजना को अक्षुण्ण रखे हुए है। भारतीय संगीत विश्व की उन प्राचीन-तम प्रणालियों में से है, जिसका प्रसार भारत से सुदूर प्रदेशों में प्राचीन काल से होता आ रहा है। भारत की विश्वविजेत्री संस्कृति के साथ उसका संगीत भी संसार के विभिन्न प्रदेशों में निनादित होता रहा हो, तो क्या आश्चर्य ?

भारतीय संगीत की तुलना उस भागीरथी से की जा सकती है, जो गंगोत्री से निःसृत होती हुई प्रवाह-स्थलों के अनुसार नानाविध रूप धारण करती है। स्थान-भेद भागीरथी के व्यक्तित्व में परिवर्तन उपस्थित नहीं कर सकता। यही तथ्य भारतीय संगीत पर पूर्णांशेन चरितार्थ होता है। स्थान-भेद के अनुसार भारतीय संगीत की प्रणालियों में उत्तरात्य तथा दाक्षिणात्य जैसा विभेद लक्षित होता है, तथापि ध्यान देने योग्य है कि यह भिन्नता उसकी मौलिक एकात्मता में कथमपि हानि नहीं पहुँचाती।

भारतीय संगीत की जाह्नवी आरम्भ से द्विविध धाराओं में प्रवाहित होती रही—एक वह, जिसका प्रयोग धार्मिक समारोहों पर पारमार्थिक दृष्टि से किया जाता रहा तथा दूसरी वह, जिसका लौकिक समारोहों पर केवल मनोरंजन की दृष्टि से प्रयोग किया जाता रहा। वैदिक काल में इन दोनों धाराओं का प्रचलन समानान्तर रूप से उपलब्ध होता है। मध्यकालीन संगीत-परिभाषा के अनुसार एक 'मार्ग' है तथा दूसरी 'देशी'। दोनों का उद्गम लोक में प्रचलित संगीत से हुआ है, केवल अन्तर यह कि एक में गंगा-धारा की गम्भीरता एवं संयतता रही तथा दूसरी में यमुना-धारा की चंचलता तथा उन्मुक्तता। प्रथम ने 'सामगान' का स्वरूप धारण कर लिया तथा दूसरी 'गान्धर्व' के नाम से प्रथित हुई। इसी गान्धर्व को रामायण तथा महाभारत काल तक शिष्टजनसम्मत 'मार्ग' का स्वरूप प्राप्त हुआ। गान्धर्व के वैज्ञानिक विवेचन के दृष्टिकोण से यह काल महत्वपूर्ण माना जा सकता है। श्रुति, स्वर, जाति, ग्रामराग, मूर्च्छना, करण, लास्य आदि

सांगीतिक विषयों के चिन्तन का सूत्रपात सर्वप्रथम इसी कालखण्ड में उपलब्ध होता है।

जहां तक सामगान का प्रश्न है, इसका सम्बन्ध वैदिक काल में वेदाध्यायी वर्ग से रहा। वैदिक मन्त्रों के पठन से लेकर गान तक विकास इसी काल में लक्षित होता है। उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित जैसे तीन स्थूल स्वरस्थानों से लेकर सप्त स्वरों तक उत्क्रान्ति वैदिक काल में हुई तथा साम एवं गान्धर्व दोनों प्रणालियों में पर्याप्त आदान-प्रदान सम्पन्न हुआ।

साम का सम्बन्ध जब तक विशुद्ध वैदिक क्रियाकलाप से रहा, तब तक आभिजात्य वर्ग की दृष्टि में उसको 'उच्चश्रेणीय' संगीत का स्थान प्राप्त होता रहा। लौकिकता तथा अध्यात्मविरोधी प्रवृत्तियों की वृद्धि के कारण वही आगे चल कर कुत्सा का विषय बन गया, यह तथ्य संगीत के इतिहास में नितान्त महत्वपूर्ण है। संस्कृत साहित्य के सूत्र तथा स्मृति काल में साम तथा गान्धर्व के सम्बन्ध में यही धारणा प्रामुख्य से परिलक्षित होती है।

संगीतकला की पुनः प्रतिष्ठापना करने का श्रेय महर्षि भरत को है, जिन्होंने संगीत के इतिहास में एक नवीन युग का प्रवर्तन किया है। उन्हीं की परम्परा कोहल, कश्यप, विशाखिल तथा दत्तिल आदि संगीतज्ञों के द्वारा भारतीय इतिहास के मध्यकाल तक बराबर प्राणवती रही। भरताचार्य पर आधारित विपुल ग्रन्थ-रचना को दृष्टिगत कर प्राचीन संगीत के इतिहास में ई० पू० ३ शताब्दि से लेकर तत्पश्चाद्वर्ती कालखण्ड को 'भरतयुग' के नाम से सम्बोधित किया जाय, तो कदापि आपत्तिजनक नहीं हो सकता। इसी परम्परा का प्रचलन आज भी भारत की विजय-वैजयन्ती को सर्वत्र फहरा रहा है, इसमें क्या सन्देह?

अनुबन्ध १

संस्कृत तथा अपभ्रंश ग्रंथों में संगीतविषयक दुर्लभ अंश

(सा) वायुपुराण, (रि) बृहत्संहिता, (ग) ठाणांगसुत्तम्

(सा) वायुपुराण—अध्याय ८६, श्लोक ३२-६९।

ऋषय उचः—

मेरुं गतस्य वा तस्य शर्यातेः संततिः कथम्।
स्थिता पृथिव्यामद्यापि श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥
कियन्तो वा सुरगणा गन्धर्वास्तत्र कीदृशाः।
यच्छ्रुत्वा रैवतः कालान्मुहूर्तमिव मन्यते॥

सूत उवाच—

न जरा क्षुत्पिपासा वा न च मृत्युभयं ततः।
न च रोगः प्रभवति ब्रह्मलोकगतस्य हि॥
गान्धर्वं प्रति यच्चापि पृष्टस्तु मुनिसत्तमाः।
ततोऽहं संप्रवक्ष्यामि याथातथ्येन सुव्रताः॥
सप्तस्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्छनास्त्वेकविंशतिः।
तालाश्चैकोनपञ्चाशदित्येतत्स्वरमण्डलम्॥
षड्जर्षभौ च गान्धारो मध्यमः पञ्चमस्तथा।
धैवतश्चापि विज्ञेयस्तथा चापि निषादवान्॥

सौवीरी मध्यमग्रामो हरिणास्या तथैव च। स्यात्कलोपबलोपेता चतुर्थी शुद्धमध्यमा॥

शार्गी च पावनी चैव दृष्टा का च यथाक्रमम्।
मध्यमग्रामिकाः ख्याताः षड्जग्रामं निबोधत॥
उत्तरमन्द्रा जननी तथा वा चोत्तरायता।
शुद्धषड्जा तथा चैव जानीयात्सप्तमीं च ताम्॥
गान्धारग्रामिकांश्चान्यान्कीर्त्यमानान्निबोधत।
आग्निष्टोमिकमाद्यं तु द्वितीयं वाजपेयिकम्॥

तृतीयं पौण्ड्रकं प्रोक्तं चतुर्थं चाश्वमेधिका। पञ्चमं राजसूयं च षष्ठं चक्रसुवर्णकम्॥
सप्तमं गोसवं नाम महावृष्टिकमष्टमम्। ब्रह्मदानं च नवमं प्राजापत्यमनन्तरम्॥
नागपक्षाश्रयं विद्याद् गोतरं च तथैव च। हयक्रान्तं मृगक्रान्तं विष्णुक्रान्तं मनोहरम्॥
सूर्यक्रान्तं वरेण्यं च मत्तकोकिलवादिनम्। सावित्रमर्धसावित्रं सर्वतोभद्रमेव च॥
सुवर्णं च सुतन्द्रं च विष्णुवैष्णवरावुभौ। सागरं विजयं चैव सर्वभूतमनोहरम्॥

हंसं ज्येष्ठं विजानीमस्तुम्बुरूप्रियमेव च । मनोहरमधात्र्यं च गन्धर्वानुगतश्च यः ॥
अलम्बुपेष्टश्च तथा नारदप्रिय एव च । कथितो भीमसेनेन नागराणां यथा प्रियः ॥
विकलोपनीतविनता श्रीराख्यो भार्गवप्रियः ।
अभिरम्यश्च शुक्रश्च पुण्यः पुण्यारकः स्मृतः ॥
विंशतिर्मध्यमग्रामः षड्जग्रामश्चतुर्दश ।
तथा पञ्चदशेच्छन्ति गान्धारग्रामसंस्थितान् ॥
ससौविरा तु गान्धारी ब्रह्मणा ह्युपगीयते ।
उत्तरादिस्वरस्यैव ब्रह्मा वै देवताऽत्र च ॥
हरिदेशसमुत्पन्ना हरिणास्या व्यजायत । मूर्छना हरिणास्यैव अस्या इन्द्रोऽधिदैवतम्॥
करोपनीतवितता मरुद्धिः स्वरमण्डले । सा कलोपनता तस्मान्मारुतश्चाऽत्र दैवतम्॥
मरुदेशसमुत्पन्ना मूर्छना शुद्धमध्यमा । मध्यमोऽत्र स्वरः शुद्धो गन्धर्वश्चात्र देवता ॥
मृगैः सह संचरते सिद्धानां मार्गदर्शने ।
यस्मात्तस्मात्स्मृता मार्गी मृगेन्द्रोऽस्याश्च देवता ॥
सा चाश्रमसमायुक्ता अनेकान्यौरवात्रवान् ।
मूर्छना योजना ह्येषा रजसा रजनी ततः ॥
ताल उत्तरमन्द्रांशः षड्जदैवतकां विदुः । तस्मादुत्तरतालं च प्रथमं स्वायतं विदुः ॥
तस्मादुत्तरत्वाच्च धैवतस्योत्तरायणः । स्यादियं मूर्छना ह्येवं पितरःश्राद्धदेवताः ॥
शुद्धषड्जस्वरं कृत्वा यस्मादग्निं महर्षयः ।
उपतिष्ठन्ति तस्मात्तं जानीयाच्छुद्धषड्जिकम् ॥
यः स तां मूर्छनां कृत्वा पञ्चमस्वरको भवेत् ।
यक्षीणां मूर्छना सा तु याक्षिका मूर्छना स्मृता ॥
नागदृष्टिविषा गीता नोपसर्पन्ति मूर्छनाम् । भवन्तीव ह्यता ह्येते ब्रह्मणा नागदेवताः ॥
अहीनां मूर्छना ह्येषा वरुणश्चात्र देवता ।
जलाधिपेन दृष्टा स्यादप्सु लीला तथैव च ॥
शकुन्तकानां कृत्वा च उपगायन्ति किंनराः ।
उत्तमा मूर्छना तस्मात्पक्षिराजोऽत्र देवता ॥
मनो मन्दयती तेषां मूर्छना मन्दनीत्यपि ।
ऋषीणां स्नातकानां च विश्वेदेवाऽत्र दैवतम् ॥
अश्वाक्रमन्तकतावा रमन्ते वाऽत्र वाजिनः ।
अश्वक्रान्तेति नित्या वै अश्विनी वाऽत्र दैवतम् ॥
गान्धाररागशब्देन गां धारयतेऽर्थतः । तस्माद् विशुद्धगान्धारी गन्धर्वश्चाधिदैवतम् ॥
गान्धारानन्तरं गत्वा सृष्टेयं मूर्छना यतः । तस्मादुत्तरगान्धारी वसवश्चात्र देवताः ॥
सेयं खलु महाभूता पितामहमुपस्थिता । षड्जेयं मूर्छना तस्मात् स्मृता ह्यनलदेवता ॥

दिव्येयं चायता तेन मन्दषष्ठा च मूर्छने । निवृत्तगुणनामानं पंचमं चाऽत्र दैवतम् ॥

पूर्णाः सप्त स्वरा ह्येवं मूर्छनाः संप्रकीर्तिताः ।
नानासाधारणाश्चैव षडेवानुविदस्तथा ॥

अध्याय ८७

पूर्वाचार्यमतं बुद्ध्वा प्रवक्ष्याम्युनुपूर्वशः । त्रिशतं वै अलंकारास्तान्मे निगदतः शृणु ॥

अलङ्कारास्तु वक्तव्याः स्वैः स्वैर्वर्णैः प्रहेतवः ।
संस्थानयोगैश्च तथा पदानां चान्ववेक्षया ॥

वाक्यार्थपदयोगार्थैरलङ्कारस्य पूरणम् । पदानि गीतकस्याहुः परस्तात्पृष्ठतोऽथवा ।

स्थानानि त्रीणि जानीयादुरः कण्ठः शिरस्तथा ।
एतेषु त्रिषु स्थानेषु प्रवृत्तो विधिरुत्तमः ॥
चत्वारः प्रकृतौ वर्णाः प्रविचारश्चतुर्विधः ।
विकल्पमष्टधा चैव देवाः षोडशधा विदुः ॥

स्थायी वर्णः प्रसंचारी तृतीयमवरोहणम् । आरोहणं चतुर्थं तु वर्णं वर्णविदो विदुः॥
तत्रैकसंचरस्थायी सचरास्तु चरीभवन् । अथ रोहणवर्णानामवरोहं विनिर्दिशेत् ॥
आरोहणेन चारोहवर्णं वर्णविदो विदुः । एतेषामेव वर्णानामलङ्कारान्निबोधत ॥

अलङ्कारास्तु चत्वारः स्थापनी क्रमरेजिनः ।
प्रमादश्चाप्रमादश्च तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥
विस्वरोष्ट्रकलाश्चैव स्थानादेकान्तरम् गताः ।
आवर्तस्य क्रमोत्पत्ती द्वे कार्ये परिणामतः ॥

कुमारमपरं विद्याद्विस्तरं वमनं गतम् । एष वै चाप्यपांगस्तु क्रतोरेकः कलाधिकः ॥

श्येनस्त्वेकान्तरे जातः कलामात्रान्तरे स्थितः ।
तस्मिश्चैव स्वरे वृद्धिस्तिष्ठते तद्विलक्षणा ॥

श्येनस्तु अपरोहस्तु उत्तरः परिकीर्तितः । कलाकलप्रमाणाच्च सबिन्दुर्नाम जायते ॥

बिन्दुरेककला कार्या वर्णान्तस्थायिनी भवेत् ।
विपर्ययस्वरोपि स्याद्यस्य दुर्वट्टितोऽपि न ॥
एकान्तरा तु वाद्यं तु षड्जतः परमः स्वरः ।
आक्षेपास्कन्दनं कार्यं काकस्येवोच्चपुष्कलम् ॥

संतारौ तौ तु संचार्यौ कार्यं वा कारणं तथा । आक्षिप्रमवरोह्यापि प्रोक्षमद्यस्तथैव च॥
द्वादशं च कलास्थानमेकान्तरगतं ततः । प्रेंखोलितमलङ्कारमेवं स्वरसमन्वितम् ॥

स्वरसंक्रामकाच्चैव ततः प्रोक्तं तु पुष्कलम् ।
प्रक्षिप्तमेव कलया पादानीतरयो भवेत् ॥
द्विकलं वा यथा भूतं यतद्ध्रसितमुच्यते ।
उच्चाराद्विस्वरारूढा तथा चाष्टस्वरान्तरम् ॥

यस्तु स्यादवरोहो वा तारतो मन्द्रतोऽपि वा ।
एकान्तरहिता ह्येते तमेव स्वरमन्ततः ॥
मक्षिप्रच्छेदनो नाम चतुष्कलगणः स्मृतः । अलङ्कारा भवन्त्येते त्रिशद्ये वै प्रकीर्तिताः॥
वर्णस्थानप्रयोगेण कलामात्राप्रमाणतः ।
संस्थानं च प्रमाणं च विकारो लक्षणं तथा । चतुर्विधमिदं ज्ञेयमलङ्कारप्रयोजनम् ॥
यथात्मनो ह्यलङ्कारो विपर्यस्तोऽतिगर्हितः । वर्णमेवाप्यलङ्कर्तुं विषमं ह्यात्मसंभवात्॥
नानाभरणसंयोगाद्यथा नार्या विभूषणम्।वर्णस्य चैवालङ्कारो विपर्यस्तोऽतिगर्हितः॥
न पादे कुण्डले दृष्टे न कण्ठे रसना तथा । एवमेव ह्यलङ्कारो विपर्यस्तो विगर्हितः॥
क्रियमाणोप्यलङ्कारो रागं यश्चैव दर्शयेत्। यथोद्दिष्टस्य मार्गस्य कर्त्तव्यस्य विधीयते॥
लक्षणं पर्यवस्यापि वर्णकाभिः प्रवर्तनम् । याथातथ्येन वक्ष्यामि मासोद्भवसुखोद्भवे॥
त्रयोविंशत्यशीतिस्तु तेषामेतद्विपर्ययः ।
षड्जपक्षोऽपि तत्वादौ मध्यो हीनस्वरो भवेत् ॥
षड्जमध्यमयोश्चैव ग्रामयोः पर्ययस्तथा । मानो योत्तरमन्द्रस्य षडेवात्राविकस्य च ॥
स्वरालं प्रत्ययश्चैव सर्वेषां प्रत्ययः स्मृतः । अनुगम्य बहिर्गीतं विज्ञातं पञ्चदैवतम्॥
गोरूपाणां पुरस्तात्तु मध्यमांशस्तु पर्ययः ।
तयोर्विभागो गीतानां लावण्यमार्गसंस्थितः ॥
अनुषंगं मयोद्दिष्टं स्वसारं च स्वरान्तरम् । पर्ययः संप्रवर्तेत सप्तस्वरपदक्रमम् ॥
गान्धारांशेन गीयन्ते चत्वारि मद्रकानि च ।
पञ्चमो मध्यमश्चैव धैवते तु निषादजैः ॥
षड्जर्षभैश्च जानीमो मद्रकैश्चैव नान्तरे । द्वे चापरान्तिके विद्याद्धयशुक्लाष्टकस्य तु॥
प्रकृते वैणवैश्चैव गान्धारांशे प्रयुज्यते । पदस्य तु त्रयं रूपं तु कैशिकम् ॥
गान्धारांशेन कार्त्स्न्येन पर्ययस्य विधिः स्मृतः ।
एवं चैव क्रमोद्दिष्टो मध्यमांशस्य मध्यमः ॥
यानि गीतानि प्रोक्तानि रूपेण तु विशेषतः ।
तत्तु सप्तस्वरं कार्यं सप्तरूपं च कैशिकम् ॥
अङ्गदर्शनमित्याहुर्मानि द्वे समके तथा । द्वितीयमावाचरणा मात्रा नाभिप्रतिष्ठिता ॥
उत्तरे च प्रकृत्यैवं मात्रा तल्लीयते तथा । अन्तारः पिण्डको यत्र मात्रायां नातिवर्तते ॥
पादेनैकेन मात्रायां पादोनामतिवीरणा । संख्यायाश्चोपहननं तत्र यानभिति स्मृतम्॥
द्वितीयं पादसंगं च ग्रहेणाभिप्रतिष्ठितम् । पूर्वमष्ट तृतीये तु द्वितीयं चापरान्तिके ॥
अर्धेन पादसाम्यस्य पादभागाच्च पंचके ।
पादभागं सपादं तु प्रकृत्यामपि संस्थितम् ॥
चतुर्थमुत्तरे चैव मद्रवत्यां च मद्रके । मद्रके दक्षिणस्यापि यथोक्ता वर्तते कला ॥
पूर्वमेवानुयोगं तु द्वितीया बुद्धिरिष्यते । पादौ चाहरणं चास्मत्पारं नात्र विधीयते ॥

एकत्वमुपयोगस्य द्वयोर्यद्धि द्विजोत्तम। अनेकसमवायस्तु पताका हरिणं स्मृतम्॥
तिसृणां चैव वृत्तीनां वृतौ वृत्ता च दक्षिणा।
अष्टौ तु समवायास्ते सौवीरी मूर्च्छना तथा॥
कृशत्यनुत्तरः सत्यं सप्तसन्तस्वरं तु यः। चित्रशाखासुतं तस्य धार्मिकस्य महात्मनः॥

(रि) बृहत्संहिता–संगीतसम्बन्धी अंश।

१. सिंहे पुलिन्दगणमेकलसत्वयुक्तान् राजोपमान्तरपतीन् वनगोचरांश्च।
षष्ठे तु सस्यकविलेखकगेयसक्तान् हन्त्यश्मकत्रिपुरशालियुतांश्च देशान्॥५-३९॥
२. तुरगतुरगोपचारककविवैद्यामात्यहार्कजोधिगतः।
याम्ये नर्तकवादकगेयज्ञक्षुद्रनैकृतिकान्॥ १०–३॥
३. मृगशिरसि सुरभिवस्त्राब्जकुसुमफलरत्नवनचरविहंगः।
मृगसोमपीथिगान्धर्वकामुका लेखहाराश्च॥ १५–३॥
४. प्राक्फल्गुनीषु नट्युवतिसुभगगान्धर्वशिल्पपण्यानि।
कर्पासलवणमक्षिकलवणानि कुमारकाश्चापि॥ १५–९॥
५. मायेन्द्रजालकुहका करनागराणां गान्धर्वलेख्यगणितास्त्रविदां च वृद्धिः।
पिपीषया नृपतयोद्भुतदर्शनानि दित्सन्ति तुष्टिजननानि परस्परेभ्यः॥१९-१०॥
६. पेपीयते मधु मधौ सह कामिनीभिर्जेगीयते श्रवणहारि सवेणुवीणम्।
बोभुज्यतेतिथिसुहृत्स्वजनैः सहान्नमब्दे सितस्य मदनस्य जयावघोषः॥१९-१८॥
७. क्ष्वेडास्फोटितवादितगीतोत्क्रुष्टस्वना भवन्ति यदा।
उल्कानिपातसमये भयाय राष्ट्रस्य सनृपस्य॥ ३३–२३॥
८. अभ्यर्चिता न परुषं वक्तव्या नापि ताडनीयास्ते।
पुण्याहशंखतूर्यध्वनिगीतरवैर्विमुक्तभयाः॥ ४४–७॥
९. गीतरवतूर्यशब्दा नभसि यदा वा चरस्थिरान्यत्वम्।
मृत्युस्तदा गदा वा विस्वरतूर्ये पराभिभवः॥ ४६–६१॥
१०. अनभिहततूर्यनादः शब्दो वा ताडितेषु यदि न स्यात्।
व्युत्पत्तौ वा तेषां परागमो नृपतिमरणं वा॥ ४६–६२॥
११. अथ पञ्चमे नृपभयं मारीमृतदर्शनं च वक्तव्यम्।
षष्ठे तु भयं ज्ञेयं गन्धर्वाणां सडोम्बानाम्॥ ८६–३३॥
१२. आग्नेय्यामनलाजीविकयुवतिप्रवरधातुलाभश्च।
याम्ये माषकुलुत्थाभोज्यं गान्धर्विकैर्योगः॥ ९५–२१॥
१३. श्रीमाञ्छ्रवणे श्रुतवानुदारदारो धनान्वितः ख्यातः।
दाता चाढ्यः शूरो गीतप्रियो धनिष्ठासु धनलुब्धः॥ १०१–१२॥
१४. अविरतजनरावं मंगलाशीःप्रणामैः पटुपटहमृदंगैः शंखभेर्यादिभिश्च।
श्रुतिविहितवचोभिः पापठद्भिश्च विप्रैरशुभहितशब्दं केतुमुत्थापयेच्च॥४३-५९॥

(ग) ठाणांगसुत्तम्—

नेगमे संगहे ववहारे उज्झुसुए सद्दे समभिरूढ़े एवंभूते ।—सत सरा पस्मतातं जहा सज्जे रिसभे गन्धारे मज्झिमे पञ्चमे सरे । धेवते चैवणेसादे सरा सत्त वियाहिया ॥ १ ॥

एएसिणं सतराहं सराणं सत्त सरठण्णा पस्मतातं जहा सज्जम् तु अग्गजिआए उरेण रिसभं सरं कण्ठुग्गएण गन्धारं मज्झजिआए मज्झिमं ॥ १ ॥

णासाए पंचमं वूया दन्तोठेणय धेवयं मुद्धाणेणय णेसायं सरठाणा विया-हिया ॥ २ ॥

सत सरा जीवनिस्समा पस्मतातं जहा सज्जम् रवइ मयूरो कुवकुमो रिसभं सरं । हंसो णदइ गन्धारं मज्झिमं तु गवे लगा ॥ १ ॥

अट्ठ कुसुमसंभवे काले कोइला पंचमं सरं । छठं चसारसा कोच णेसायं सत्तमं गन ॥ २ ॥

सत सरा अजीवनिस्सिया पस्मतातं जहा सज्जमं रवइ मुतिंगो गोमुही रिसभं सरं । संखो णदइ गन्धारं मज्झिमं पुणकल्लरी ॥ १ ॥

चउचलण पइठाणा गोहिया पंचमं सरं । आऊंवरोय धेवमयं महाभेरीय सत्तवं ॥ २ ॥

एएसिणं सत्तराहं सराणं सत्त सरलखुणा पस्मतातं जहा सज्जेण लभइ वित्ति रिसभेण उस्सज्झं सेणावच्चं धणाणिय वत्थगन्धमलङ्कारइत्थीनं सयणाणिय ॥ २ ॥

गन्धारे गीयज्तुति स्मा वज्त्रवितिकलाहिया । भवन्ति कविणोपन्ना जे अन्ने सत्थपारगा ॥ ३ ॥

मज्झिमसरसम्पन्ना भवन्ति सुहजीविणो खोयती पीयती देती मज्झिमं सरमस्सिनं ॥ ४ ॥

पंचमसरसम्पन्ना भवन्ति पुढ़वीवई सूरासंगहकतारो अणेगगणणायगा ॥ ५ ॥

धेवयसरसम्पन्ना भवन्ति कलहप्पिया साउणिता वगुरिया सोयरिया मच्छ-बंधाय ॥ ६ ॥

बंकाला मुढ़िया मेया जेगन्ने पावकम्मिणो गोधाय गाये जो चोरा णेसायं सरमस्सिता ॥ ७ ॥

एएसिणं सत्तराहं सराणं तयो गामा परमतातं जहा सज्जगामे मज्झिमगामे गन्धारगामे । सज्जगाम्सणं सत मुण्णीण पस्मतातं जहा मंगी कोरछीया हरीय-रणीयसीर कंताय छठीय सारसीणाम सुद्धसज्झाय सत्तमा ॥१॥

मज्झिमगामस्सण सत मुच्छणान पस्मतातं जहा उत्तरमन्दारयणी उत्तरा उत्तरासमा अस्सौ कंताय सोवीराऊ श्रीरूहवइ सत्तमा ॥ २ ॥

गन्धारगामस्सणं सत्त मुच्छणान पस्मतातं जहा णदीय खुद्दिमापू द्रिमावं उत्थीय सुद्धगन्धारा उत्तरगन्धाराविय पंचमिया हवई मुच्छान ॥ ३ ॥

सुठुत्तरमायामा साबहीणीयम साउना यथा अह उत्तराय कोली मायसा सत्तमी मुच्छा ॥ ४ ॥

सत सरा कन संभवन्ति गेयस्स का भवइ जोणी कइ समया उस्सासा कइ वा गेयस्स आगारा ॥ १ ॥

सत्त सराणाभीन भवन्ति गीतमं चरूत्तजोणीयं पादसमाउस्सासा तिन्निय गीयस्स आगारा ॥ २ ॥

आइमिउ आरभन्ता समुछहंताय मज्झगारंभि अवसाणे तज्झिविंतो तिन्निय गेयस्स आगरा ॥ ३ ॥

बद्दोसे अठगुणे तिन्नियविता डंदोय भणियान जोणाहि इसोगाहिइ सुसिरिकन रङ्गमज्झमि ॥ ४ ॥

भीतम् दुतं रहस्सं गायन्तो मायगाहि उतालं का कस्सरमणुणासं च होति गेयस्स द्दोसा ॥ ५ ॥

पुन्नम् रतं चअलं कियन्ववतं तहाय अविघुठं मधुरं समसुकुमालं अठ गुणा होति गेयस्स ॥ ६ ॥

उरकण्ठसिरपसत्यं च गिज्जएमउ अरिभियपदं बद्धं समतालपदुरकेवं सत्त-सर सीहरं गेयं ॥ ७ ॥

निद्दोसं सारवन्तं च हेतुजुतमलंकियं उवणीयं सोवयारं च मितं मज्झमेवय ।८।

सममहं समं चैव सद्दत्थविसमंचनं तिन्निवितययापाइं चउत्थं नोवलभई ॥९॥

सवकया पागया चैव दुविहा भणि उआवियासरमंडलं मिगिज्जम् ते पसत्थाइ-सिमासिया ॥ १० ॥

केसी गायइ मधुरं केसी गायइ खरं च रूरकं च केसी गायइ चउरं केसी विलम्बं दुतं केसी ॥ ११ ॥

विस्सरं पुण केरिसी ॥ सामा गायइ मधुरं काली गायइ खरं च रूरकं च गोरी गायइ चउरं काण विलम्बं दुतं अन्धा ॥ १२ ॥

विस्सरं पुणपिंगला ॥ तन्तिसमं तालसमं पादसमं लयसमं गहसमं च नीस-सीऊससियसमं संचार समा सरा सत ॥ १३ ॥

सत्त सरा तन गामा मुच्छणा एगविसती ताणा एकूणपस्मामा संमतं सर-मण्डलम् ॥ १४ ॥

अनुबन्ध २

संगीत कोष

अग्रतलसंचर, पाद की एक क्रिया जिसमें पार्ष्णि को ऊपर फेंक कर पादाग्र को भूमि पर फैलाया जाता है।

अच्चु-तामिल, ताल।

अड्डिता, ध्रुवागीत का एक प्रकार: भौमी चारी का विशिष्ट प्रकार ॥ द्र० भौमी ॥

अतिक्रान्ता, आकाश चारी का विशिष्ट प्रकार।

अतिस्वार, अतिस्वार्यं।—साम का परिस्वार नामक अन्त्य स्वर ॥द्र०षष्ठ॥

अध्यर्धिका, भौमी चारी का विशिष्ट प्रकार ॥ द्र० भौमी ॥

अनभ्यास, सकृत् उच्चारण आवृत्ति का अभाव।

अनिबद्ध, छन्दाक्षरों से अनियन्त्रित (पदसमूहं); वाद्यगत करण अथवा बोल।

अनुगत, वाद्यगत संगीत की एक शैली।

अनुदात्त, नीच अथवा निम्न।

अनुवादी, वादी संवादी तथा विवादी के अतिरिक्त स्वर।

अपकर्ष, स्वर को उतारना।

अपकृष्टा, ध्रुवागीत का एक प्रकार।

अपक्रान्ता, आकाशचारी का एक विशिष्ट प्रकार।

अपन्यास, गीत के मध्य खण्ड के अवसान में प्रयुक्त होने वाला स्वर।

अपरान्तक, प्राचीन सप्तगीतों में से एक गीत-प्रकार।

अपविद्ध, करण का एक प्रकार।

अपस्यंदिता, भौमी चारी का विशिष्ट प्रकार।

अर्धचन्द्र, असंयुत हस्त की एक मुद्रा।

अर्धनिकुट्ट, भरतोक्त १०८ करणों में से एक करण-प्रकार।

अर्धमागधी, गीति शैली का विशिष्ट प्रकार।

अर्धमुक्त, वंशीरन्ध्र को अंशतः मुक्त करने की क्रिया।

अर्धरेचित, एक करण प्रकार।

अर्धस्वस्तिक, एक करण प्रकार।

अर्धसूचि, एक करण प्रकार।

अराल, असंयुत हस्ताभिनय का एक प्रकार।

अल्पत्व, अल्प प्रयोग।

अलकू, (तामिल)—श्रुति।

अलपल्लव, नृत्तहस्त की एक क्रिया (द्र० अलपद्म)

अलपद्म, असंयुतहस्त की एक मुद्रा (द्र० उत्पलपद्म)

अलङ्कार, गीत को रञ्जक बनाने वाले स्वर-समूह।

अलातक, एक विशिष्टकरण जिसमें वर्तुलाकार संचरण की प्रधानता होती है।

अलाता, आकाशचारी का एक विशिष्ट प्रकार (द्र० आकाश-चारी)

अवकृष्टा,

अपकृष्टा, ध्रुवागीत का एक प्रकार।

अवतरण, बहिर्गीत का एक प्रकार।

अवनद्ध, चर्मवाद्य।

अवरोह, स्वरों का अवरोहण।

अवरोही, वर्ण अथवा गान-क्रिया का एक प्रकार।

अवहित्थ, संयुत हस्त की एक क्रिया।

अविच्छिन्न, न्यूनाधिकता के बिना एक-सा फूत्कार।

असंयुत, एक हाथ से विहित होने वाली क्रिया।

अङ्गहार, पाँच से अधिक करणों की धारावाहिक क्रिया।

अञ्चित, पाद की एक क्रिया जिसमें पार्ष्णि को भूमि पर रख कर पादाग्र तथा अङ्गुलियों को ऊपर की ओर प्रसारित किया जाता है।

अञ्जलि, संयुक्त हस्त की अभिवादन-सूचक क्रिया।

अन्तरमार्ग, स्वरों का प्राबल्य तथा दौर्बल्य सूचित करने वाला स्वर-समूह।

अन्तरस्वर, अन्तर ग तथा काकलि नि जैसे साधारण-संज्ञक स्वर चतुःश्रुतिक गान्धार।

अंश, जाति का प्रमुख स्वर।

आकाशिकी, चारी नामक पदाभिनय का विशिष्ट प्रकार।

आभुग्न, उरस् को झुकाने की क्रिया।

आयतत्व, स्वर को चढ़ाने की क्रिया; तन्त्री का दृढ़ीकरण।

आर्चिक, ऋक्सम्बन्धी; एक-स्वर-प्रधान; ऋक्संग्रहात्मक।

आरण्यक गान, सामवेद के चतुर्विध गान ग्रन्थों में से एक; आरण्यक पर्व का गान-ग्रन्थ।

आरम्भ, बहिर्गीत का एक प्रकार।

आरोह, स्वरों का आरोहण ।

आरोही, वर्ण अथवा गान-क्रिया का एक प्रकार ।

आलीढ़, षड्विध स्थान का एक विशिष्ट प्रकार ।

आवाप, ताल की निःशब्द क्रियाओं में से एक ।

आविद्धा, आकाशचारी का विशिष्ट प्रकार, जिसमें पाद को लक्ष्य-वेध के सदृश भूमि पर आघात से स्थापित किया जाता है (द्र० व्याविद्धा)

आश्रावणा, पूर्वरङ्ग में नियोजित वाद्यवादन की एक क्रिया; तालदर्शक वाद्यों का सम्मिलित वादन ।

आसारित, एक विशिष्ट गीत-प्रकार; कला, पात आदि अंगों के साथ की जाने वाली गीत-क्रिया; बहिर्गीत का एक अंग ।

आस्ताव, सामगायकों के बैठने का स्थान ।

आहार्य, अभिनय का एक प्रकार जिसमें अनुकूल वेष-भूषा से अर्थाभिव्यक्ति होती है ।

आक्षिप्त, करण का विशिष्ट प्रकार, जिसमें हस्त-पाद को फेंकने की क्रिया होती है ।

आक्षिप्त रेचित, एक विशिष्टकरण; भरतोक्त ३२ अङ्गहारों में से एक ।

आक्षिप्ता, आकाशचारी का एक विशिष्ट प्रकार (द्र० आकाशिकी)

आक्षेपिकी, ध्रुवा गीत का एक प्रकार ।

आंगिक, अभिनय का एक प्रकार जिसमें अङ्ग-प्रत्यंगों के सञ्चालन मात्र से भाव-प्रदर्शन किया जाता है ।

इनइ, (तामिल)—वादी स्वर ।

इलि, (तामिल)—धैवत-संज्ञक स्वर ।

इसइ, (तामिल)—सङ्गीत ।

उग्र, स्वर का गुणविशेष उत्कर्ष स्वर को चढ़ाना ।

उत्तर, प्राचीन सप्तगीतों में से एक विशिष्ट गीत-प्रकार ।

उत्तानवञ्चित, नृत्तहस्त की एक क्रिया ।

उत्थापनी, ध्रुवागीत का एक प्रकार ।

उद्गाता, सामवेद का गायक ।

उद्गीथ, गीत के मूल स्वर का निदर्शक आकार; सामगीति का प्रमुख विभाग ।

उद्घट्टित, पादाग्र पर स्थिर होकर पार्ष्णि भाग से भूमि का ताड़न करना ।

उत्पलपद्म, असंयुत हस्त की एक विशिष्ट क्रिया ।

उत्फुल्ल, लय का एक प्रकार ।

उत्संग, संयुत हस्त की एक क्रिया ।

उत्स्यंदिता, भौमी चारी का विशिष्ट प्रकार।

उद्वर्तन, जानुओं को अन्दर की ओर मोड़ कर उर को हिलाने की क्रिया।

उद्वाहित, जंघा, कटि आदि को ऊपर उठाने की क्रिया।

उद्वेष्टित, हस्तकरण का एक प्रकार जिसमें तर्जनी से लेकर क्रमशः अन्य अङ्गुलियों को प्रसारित किया जाता है।

उद्वृता, आकाशचारी का विशिष्ट प्रकार।

उदात्त, उच्च।

उलइ, (तामिल)—पंचम-संज्ञक स्वर।

उल्बण, नृत्तहस्त की एक क्रिया जिसमें दोनों हाथों को ऊपर उठा कर हिलाया जाता है।

उल्लसन, लय का एक प्रकार।

उल्लोकित, दृष्टि का एक प्रकार।

उल्लोप्यक, प्राचीन सप्तगीतों में से एक विशिष्ट गीत-प्रकार।

उपगान, सङ्गति में किया जाने वाला गान।

उपद्रव, सामगीति का चतुर्थ विभाग।

उपनाह, वीणा का वह स्थान जहाँ तन्त्रियों को बाँधा जाता है।

उपोहन, नाट्य प्रयोग के आरम्भ में गीत-वाद्य से किया जाने वाला वस्तु संकेत; गीत के आरम्भ में किया जाने वाला शुष्क शब्दों का गान।

ऊर्ध्वजानु, आकाशचारी का विशिष्ट प्रकार।

ऊरूद्वृत्ता, भौमी चारी का विशिष्ट प्रकार।

ऊह, सामवेद के चतुर्विध गान ग्रन्थों में से एक।

ऊह्य, सामवेद के चतुर्विध गान ग्रन्थों में से एक।

ऋक्, प्राचीन मन्त्ररूप गीत प्रकार।

एडाक्रीडित, भौमी चारी का विशिष्ट प्रकार।

एलकाक्रीडित, १०८ करणों में से एक।

ओघ, वाद्यगत सङ्गति की विशिष्ट शैली।

औडव, पाँच स्वरों का समूह।

ओवेणक, प्राचीन सप्तगीतों में से एक गीत-प्रकार।

औद्गात्र, उद्गाता नामक ऋत्विज का कार्य।

कच्छपी, एक प्रकार की वीणा।

कटकामुख, असंयुत हस्त की एक क्रिया।

कटकावर्धमानक, संयुत हस्त की विशिष्ट क्रिया।

कण्डिका, गीत-खण्ड।

कथक, कथावाचक, कथा के साथ गीत-नृत्य करने वाला।

कपिल, कण्ठ का विशिष्ट दोष, जिसमें कफ की प्रधानता रहती है।

कपित्थ, असंयुत हस्त की एक क्रिया।

कपोत, संयुत हस्त की विशिष्ट क्रिया।

कम्पित, वंशीरन्ध्र को बार-बार मुक्त एवं बन्द करने की क्रिया।

करण, हस्त तथा पाद का सामंजस्यपूर्ण संचालन; मृदङ्गादि चर्मवाद्यों के बोल; बोलों पर आधारित वादन शैली।

करिहस्त, नृत्त-हस्त का एक प्रकार।

कर्कट, संयुत हस्त की विशिष्ट क्रिया।

कर्करि, एक वाद्यविशेष।

कर्तरीमुख, असंयुत हस्त की एक क्रिया।

कला, पाँच निमेष का काल; गुरु अक्षर।

काकलि, सूक्ष्म स्वरान्तर; चतुःश्रुतिक निषाद।

काकु, अर्थाभिव्यञ्जक स्वरविकार।

किलइ, (तामिल)—संवादी।

कुतप, गायक, वादक तथा नटनटियों का वृन्द।

कुरल, (तामिल)—आरम्भिक स्वर।

कुलाल, (तामिल)—वंशी।

कुंचित, (आकुंचित, निकुंचित)—पाद की एक क्रिया जिसमें पार्ष्णि को ऊपर फेंक कर पादाग्र तथा अङ्गुलियों को आकुंचित किया जाता है।

केशबन्ध, नृत्त हस्त का एक प्रकार।

कैशिक, सूक्ष्म श्रुत्यन्तर; राग विशेष। प्राचीन ग्राम रागों में से एक।

कैशिकमध्यम, प्राचीन ग्राम रागों में से एक।

कोण, वीणादि वाद्यों का वादन-दण्ड।

कोलम्बक, वीणा का कलेवर।

क्रुष्ट, उच्च स्वर; सामगान का उच्चतम स्वर।

क्रिया, ताल देने की प्रणाली।

क्रौंच, स्वर का गुण-विशेष।

खण्डधरा, लय का एक प्रकार।

गातु, गीत।

गातुवित्तम, श्रेष्ठ गायक।

गात्रवीणा, सामस्वरों के संकेत के लिए प्रयुक्त हस्तांगुलि-सन्निवेश।

गाथा, प्राचीन एवं परम्परागत लौकिक गीत।

गाथिक, गाथा सम्बन्धी; द्विस्वरप्रधान ।

गान्धर्व, गीत शास्त्र; पद, स्वर तथा ताल का सामञ्जस्यपूर्ण प्रयोग ।

गीत/गीति, गेय वस्तु ।

गीति, गीत, गीत की शैली ।

गेष्ण, गायक ।

गोपुच्छा, ताल सम्बन्धी यति का एक प्रकार ।

ग्रह, गीत का वह स्थान जहाँ वाद्य की संगति आरम्भ होती है; जाति का आरम्भिक स्वर ।

ग्राम, संवाद-विशिष्ट मूलभूत स्वर रचना ।

ग्रामगेयगान, पूर्वार्चिक विभाग का गानग्रन्थ; सामवेद के चतुर्विध गान-ग्रन्थों में से एक ।

ग्राम राग, ग्राम तथा जाति से उद्भूत स्वररचना ।

घन, कास्यादि धातुओं से निर्मित वाद्य; कण्ठ का वह गुण जिसमें बाँस के समान फटने की क्रिया न हो ।

घोषका, वीणा का एक प्रकार ।

चंचत्पुट, चतरस्र जाति का एक प्राचीन ताल ।

चतुर, असंयुत हस्त की एक विशिष्ट क्रिया ।

चतुरस्र, ताल जाति का एक प्रकार ।

चतुर्थ, साम का चतुर्थ संज्ञक स्वर ।

चापपुट, त्र्यस्र जाति का एक प्राचीन काल ।

चारी, एक-पाद-प्रचार अथवा एक पाद से अग्रेसरण की क्रिया ।

चाषगति, भौमी चारी का विशिष्ट प्रकार ।

चित्र, ताल-मार्ग का एक विशिष्ट प्रकार ।

चित्रा, अंगुलि से बजाई जाने वाली सप्ततंत्री वीणा ।

छालिक्य, एक विशिष्ट गीत-प्रकार ।

जनिता, भौमीचारी का विशिष्ट प्रकार जिसमें पाद तल से अग्रेसरण की क्रिया होती है ।

जम्भलिकी, लय का एक प्रकार ।

जाति, दशलक्षणयुक्त स्वरावलि; मात्रावृत्त ।

जातिराग, जाति तथा राग की मध्यावस्था; जाति-नियमों के उल्लंघन से उद्भूत स्वरावलियाँ ।

डक्किनी, एक प्रकार का सुषिर वाद्य ।

तत, तन्त्रीयुक्त वाद्य ।

तत्त्व, वाद्यगत संगति की विशिष्ट शैली ।

तन्तु, तन्त्री ।

तलमुख, नृत्तहस्त का एक प्रकार ।

ताण्डव, गीतवाद्ययुक्त नृत्यप्रयोग ।

तान, वीणा-तन्त्रियों का व्यवस्थापन; तन्त्रीविकर्षण ।

ताम्रचूड़, असंयुत हस्त की एक क्रिया ।

तार, शिरःस्थान से उद्भूत होने वाला स्वर ।

ताल, घनवाद्य । ताल की सशब्द क्रियाओं में से एक; कालप्रमाण निर्दिष्ट करने का साधन ।

तालवृन्त, नृत्यहस्त का एक प्रकार जिसको उद्वृत्त भी कहा जाता है ।

तुट्टम, (तामिल)—ग-संज्ञक स्वर ।

तूर्य, चतुर्विध वाद्य; तुरई नामक वाद्यविशेष ।

तौर्यत्रिक, चतुर्विध वाद्यों का समूह; गीत वाद्यनृत्य का सामूहिक प्रयोग; नाट्य ।

त्रिपताक, असंयुत हस्त-क्रिया का एक विशिष्ट प्रकार ।

त्रिसाम, प्राचीन मंगलगीत का एक प्रकार ।

त्र्यस्र, तालजाति का एक प्रकार । द्र० चापपुट ।

दण्डा, आकाशचारी का विशिष्ट प्रकार ।

दक्षिण, तालमार्ग का विशिष्ट प्रकार ।

द्वितीय, साम का द्वितीय संज्ञक स्वर ।

द्विपदी, विलम्बित लय का एक प्रकार ।

दीप्त, पृथुता से गाया जाने वाला स्वर ।

दीप्ता, श्रुति का जातिविशेष ।

देशी, जनजन से प्रयुक्त अनिबद्ध संगीत ।

दोला, संयुत हस्त की एक क्रिया ।

धातु, वीणावाद्य के बोल ।

ध्रुव, ताल की सशब्द क्रियाओं में से एक; चुटकी बजाते हुये हाथ को नीचे फेंकने की क्रिया ।

ध्रुवा, स्वरतालबद्ध गीतविशेष ।

नव्य, (तामिल)—अनुवादी स्वर ।

नाट्य, रूपकाभिनय ।

नाड़ी, वाद्यविशेष ।

नान्दि, एक प्रकार का चर्मवाद्य ।

नान्दी, नाटक के पूर्वरंग का एक भाग।

नाराशंसी, मनुष्यस्तुतिपरक लौकिक गीत।

न्यास, गीत की समाप्ति सूचित करने वाला स्वर।

निग्रह, वीणा की विशिष्ट क्रिया; वर्ज्य स्वर का असंस्पर्श।

नितम्ब, नृतहस्त का एक प्रकार।

निधन, सामगीति का अन्तिम अथवा पंचम विभाग।

निबद्ध, नियत छन्दाक्षरों से नियन्त्रित। पदसमूह।

निमेष, गीत-सम्बन्धी कला का न्यूनतम परिमाण। ५ निमेष बराबर एक कला।

निर्गीत, निरर्थक अक्षरों से किया जाने वाला गान; विशुद्ध वाद्यवादन। द्र० बहिर्गीत।

निःशब्द, ताल देने का विशिष्ट प्रकार जिसमें आघात का आभाव होता है।

निष्काम, ताल की निःशब्द क्रियाओं में से एक।

नूपुरपादिका, आकाशचारी का एक प्रकार।

नृत्त, अभिनयविरहित अंगसंचलन।

नृत्तहस्त, नृत्य के सौन्दर्यविधान के लिये विहित हस्तविशेषरूप हस्तक्रिया।

नृत्य, साभिनय अंगसंचलन।

नैष्कामिकी, ध्रुवागीत का एक प्रकार।

पगइ, (तामिल)—विवादी स्वर।

पणव, तंत्रीयुक्त अवनद्ध वाद्य।

पताक, असंयुत तथा संयुत हस्त की एक मुद्रा।

पद, शब्दसमूह; वस्तु का चतुर्थ भाग। द्र० वस्तु।

पद्मकोष, असंयुत हस्त की एक विशिष्ट मुद्रा।

पन, (तामिल)—ग्रामराग।

परिघट्टना, तन्त्री पर विभिन्न स्वरसमूहों का परिशीलन।

परिवर्ता, ध्रुवागीत का एक प्रकार।

परिवर्तित, करण का एक प्रकार जिसमें कनिष्ठादि अंगुलियों को क्रमशः बाहर की ओर प्रसारित किया जाता है।

परिवाहित, शिर की वह क्रिया जिससे शिर को पर्यायशः एक ओर से दूसरी ओर हिलाया जाता है।

पल्लव, नृतहस्त का एक प्रकार।

पंचपाणि, षट्पितापुत्रक नामक एक प्राचीन ताल।

पंचम, साम का मन्द्र अथवा पंचम संज्ञक स्वर; गान्धर्व का स्वरविशेष।

प्रकरी, एक विशिष्ट गीतप्रकार।

प्रचार, पुष्करवाद्य में हस्तों का प्रयोग।

प्रतिहर्ता, साम के प्रतिहार नामक विभाग का गायक। द्र० प्रतिहार।

पिण्डीबंध, सामूहिक नृत्य की आकृतियाँ।

प्रतिहार, सामगीति का तृतीय विभाग।

प्रत्यालीढ़, स्थान के छः प्रकारों में से एक। द्र०—स्थान।

प्रत्याहार, पूर्वरङ्ग में नियोजित बहिर्गीत की एक क्रिया; वाद्यों का सज्जीकरण।

प्रत्युपोहन, उपोहन का द्विगुणित रूप; द्विगुण लय में की जाने वाली आलप्ति-क्रिया।

प्रथम, साम का प्रथम संज्ञक स्वर।

प्रमाण, कालमान; अष्टकल तथा षट्कल काल।

प्रमाणश्रुति, प्रमाणभूत श्रुति।

प्रयोग, गीत, वाद्य तथा पाठ्य का संयुक्त प्रदर्शन।

प्रवाल, वीणादण्ड।

प्रवेश, ताल की निःशब्द क्रियाओं में से एक; वीणा की विशिष्ट क्रिया जिसमें तन्त्री को पश्चाद्वर्ती वा परवर्ती स्वर में मिलाया जाता है।

प्रसन्न, प्रशमनपूर्वक गाया जाने वाला स्वर, कण्ठ्य स्वर।

प्रस्ताव, सामगीति का प्रथम विभाग।

प्रस्तोता, साम के प्रस्ताव-विभाग का गायक। द्र० प्रस्ताव।

प्रसेवक, वीणा दण्ड का वक्र भाग।

प्रहार, पुष्करवाद्यों पर किया जाने वाला आघात।

प्राप्रवेशिकी, ध्रुवागीत का एक प्रकार।

प्रासादिकी, ,, ,, ,,।

पाठ्य, नाट्यान्तर्गत गद्य तथा काव्य।

पाणि, हस्तप्रयोग।

पाणिका, प्राचीन गीतप्रकार।

पाणिध्वनिक, पाणिवादक, पाणिस्वनिन्, हाथ से ताल देने वाला।

पात, ताल की सशब्द क्रिया; सशब्द ताल का एक प्रकार।

पाद, चरण; गीतखण्ड।

पारना, (तामिल)—नृत्याभिनय।

पार्श्वक्रान्ता, आकाशचारी का एक विशिष्ट प्रकार।

पृथुला, गीत शैली का विशिष्ट प्रकार; चतुर्विध गीतियों में से एक।

प्रेक्षा, रूपकादि दृश्य काव्य।

पुष्पपुट, संयुत हस्त की एक क्रिया।

बद्धा, भौमीचारी का विशिष्ट प्रकार। द्र० भौमी।

बहिर्गीत, शुष्क अक्षरों से किया जाने वाला गान; पूर्वरङ्ग के अन्तर्गत आयोजित वाद्यवादन।

बहुत्व, बहुल प्रयोग।

भक्ति, सामगीति के खण्ड अथवा विभाग।

भरत, नट; भरतनामक मुनि।

भ्रमर, (भ्रामर)—असंयुत हस्त की एक क्रिया।

भ्रमरी, आकाशचारी का विशिष्ट प्रकार।

भुजंगोचित, एक करणप्रकार।

भुजंगत्रासिता, आकाशचारी का एक विशिष्ट प्रकार।

भौमी, भूमिसम्बन्धी विशिष्टचारी प्रकार।

मकर, संयुत हस्त की एक क्रिया।

मत्तल्लि, भौमीचारी का एक विशिष्ट प्रकार।

मद्रक, प्राचीन सप्तगीतों में से एक गीत प्रकार।

मध्य, कण्ठ से उद्भूत होने वाला स्वर; लय का एक प्रकार।

मध्यम, मध्यम संज्ञक स्वर; मध्य स्थान। द्र०—मध्य।

मध्यमग्राम, मध्यम संज्ञक ग्राम; विशिष्ट ग्रामराग।

मधुर, गीत का विशिष्ट गुण।

मन्द्र, मन्द्र संज्ञक स्वर; मध्यस्थान से निम्नतर स्थान; उरस्थान से उद्भूत होने वाला स्वर; प्रसन्नतापूर्वक उच्चरित ध्वनि।

मण्डल, स्थान के षट् प्रकारों में से एक।

मार्दव, स्वर को उतारने की क्रिया; तन्त्री का शिथिलीकरण।

मुष्टि, असंयुत हस्त की एक क्रिया।

मूर्च्छना, सप्तस्वरों का क्रमयुक्त संस्थान।

मृगप्लुता, आकाशचारी का विशिष्ट प्रकार। द्र० हरिणप्लुता।

मृगशीर्ष, असंयुत हस्त की एक क्रिया।

मागधी, गीतिशैली का विशिष्ट प्रकार; चतुर्विध गीतियों में से एक।

मायूरी, मार्जनाओं में से एक। द्र० मार्जना।

मार्ग, शिष्टजनसम्मत सङ्गीत प्रणाली; ताल के अन्तर्गत कलाप्रस्तार की प्रणालियाँ; पुष्करवादन की शैली।

मार्गासारित, वीणा तथा पुष्करवाद्यों का सामंजस्यपूर्ण वादन।

मार्जना, मृदङ्गादि वाद्यों पर स्थापित स्वर संयोजन ।

यति, पाद, वर्ण तथा अक्षरों पर आधारित लय-प्रकार ।

यथाक्षर, विशिष्ट तालरूप जिसमें कलाओं की संख्या तालसंज्ञा के अक्षरों के तुल्य होती है ।

यम, स्वर ।

याल, (तामिल)—वीणा; मूर्च्छना ।

रक्त, गीतवाद्य का एकीभाव ।

राग, रक्ति; स्वरों की वर्णविभूषित एवं रंजक रचना ।

रास, सामूहिक नृत्य का एक प्रकार ।

रेचक, पाद, कटि, कर तथा कण्ठ का विविध संचालन ।

रेचित, नृतहस्त का एक प्रकार ।

रोविन्दक, प्राचीन सप्तगीतों में से एक गीतप्रकार ।

लय, कालप्रवाह; कलाओं के नियत प्रमाण से निर्धारित काल अथवा समय ।

ललाटतिलक, एक करणप्रकार; ताण्डव ।

लङ्घन, स्वर का उल्लंघन अथवा परित्याग ।

लास्य, गीतवाद्य-नृत्य से युक्त रूपकप्रकार ।

वक्त्रपाणि, पूर्वरङ्ग में नियोजित वाद्यवादन की क्रिया; गीत की वृत्तियों के अनुकूल पुष्करवाद्य का वादन ।

वर्ण, गान तथा पाठ्य के अन्तर्गत स्वरों का विविध संयोजन ।

वर्धमान, नृत्याभिनय के साथ गाया जाने वाला गीत; संयुत हस्त का एक करण ।

वल्गु, स्वर का गुणविशेष ।

'वलन्तक' वलित, लय का एक प्रकार ।

वस्तु, गीत के खण्ड ।

वाचिक, अभिनय का एक प्रकार जिसमें पाठ्य तथा गीत के आश्रय से भावाभिव्यक्ति होती है ।

वाण, प्राचीन वाद्यविशेष ।

वादी, जाति का अंश स्वर ।

वार्तिक, तालमार्ग का एक प्रकार ।

विकृता जाति, विकारप्राप्त जाति ।

विकृष्ट, उच्चैः उच्चारित ।

विच्यवा, भौमी चारी का निकुट्टनयुक्त प्रकार ।

वितत, चर्मनद्ध वाद्य।

विदारी, न्यासादि स्वरों पर आधारित गीतखण्ड।

विद्युद्भ्रान्त, आकाशचारी का विशिष्ट प्रकार।

विनर्दि, स्वर का गुणविशेष।

विन्यास, गीतखण्ड के शब्द तथा पदों के अन्त में प्रयुक्त होने वाला स्वर।

विपंची, कोण से बजाई जाने वाली नवतन्त्री वीणा।

विभास, एक रागविशेष।

विलरि, (तामिल) नि-संज्ञक स्वर।

विलेपन, अभीष्ट स्वर के उत्पादनार्थ पुष्कर वाद्य पर किया जाने वाला मृतिकालेप।

विवादी, बीस श्रुत्यन्तर पर होने वाले स्वर।

विष्टुति, स्तोम का आवृतिपूर्वक गान। द्र० स्तोम।

विक्षिप्त, एक करण प्रकार जिसमें हस्तपाद को पीछे तथा पार्श्व में फेंकने की क्रिया होती है।

विक्षिप्ता, ध्रुवागीत का एक प्रकार।

विक्षेप, ताल की निःशब्द क्रियाओं में से एक।

वृति, गायनवादन की शैली।

वृश्चिक, १०८ करणों में से एक।

वैणव, वीणा से उद्भूत।

वैशाख, स्थान का एक विशिष्ट प्रकार। द्र० स्थान।

वैष्णव, स्थान का एक विशिष्ट प्रकार।

व्यक्तमुक्त, वंशी के रन्ध्र को पूर्णतः मुक्त करने की क्रिया।

व्यावर्तित, करण का एक प्रकार जिसमें कनिष्ठादि अंगुलियों को क्रमशः अन्दर की ओर मोड़ दिया जाता है।

व्याविद्धा, आकाशचारी का विशिष्ट प्रकार। द्र० आविद्धा।

शकटास्य, भौमीचारी का एक प्रकार।

शम्या, ताल की सशब्द क्रियाओं में से एक।

शारीर, शरीर अथवा कण्ठ से उद्भूत। स्वर।

शिखर, असंयुतहस्त का एक प्रकार।

शुकतुण्ड, असंयुत हस्त की एक क्रिया।

शुद्धाजाति, विकारविरहित जाति।

शुष्क, आलापसूचक निरर्थक अक्षर अथवा बोल।

'शैलालक' शैलालि, नटवर्ग; शिलालि सम्प्रदाय के नट।

श्रावक, कण्ठ का विशिष्ट गुण ।

श्रुति, श्रवणयोग्य ध्वनि ।

षड्जग्राम, षड्जसंज्ञक ग्राम; विशिष्ट ग्रामराग ।

षष्ठ, साम का षष्ठ तथा अन्त्यस्वर; अतिमन्द्रनामक स्वर । द्र० अतिस्वार ।

षाडव, षट् स्वरों का समूह; विशिष्ट ग्रामराग ।

सन्निपात, ताल की सशब्द क्रियाओं में से एक ।

सन्यास, गीत के प्रथम खण्ड के अन्त में प्रयुक्त होने वाला स्वर ।

सप्तरूप, प्राचीन सप्त गीत ।

सम, गीत के विभिन्न अंगों का सामंजस्य ।

समपाद, स्थान का एक विशिष्ट प्रकार जिसमें दोनों पाद कुछ दूरी पर समावस्था में स्थित होते हैं ।

समपादा, भौमीचारी का विशिष्ट प्रकार जिसमें पाद मिले रहते हैं तथा जो एक ही स्थान तक सीमित रहता है ।

समा, तालसम्बन्धी यति का विशिष्ट प्रकार ।

समोत्सारितमतल्ली, भौमीचारी का विशिष्ट प्रकार ।

सर्पशीर्षक, असंयुत हस्त की एक क्रिया ।

सवन, सोमरस निकालने की क्रिया तथा काल; मन्द्रादिस्थान ।

सशब्द, ताल की विशिष्ट क्रिया जिसमें आघात किया जाता है ।

संगीत, सम्यक् रूप से गाया जाने वाला गीत; गीत, वाद्य तथा नृत्य का सामूहिक प्रयोग ।

संघोटना, बहिर्गीत का एक अंग जिसमें मृदंगादि वाद्यों पर विविध हस्त-क्रिया की जाती है ।

सम्भाविता, गीतशैली का विशिष्ट प्रकार; चतुर्विध गीतियों में से एक ।

'संयुत' संयुक्त, दो हस्तों की संयुक्त क्रिया ।

सम्वादी, नव तथा तेरह श्रुत्यन्तरों पर होने वाले स्वर ।

सात्त्विक, भूमिका का भावपूर्ण एवं सत्वोद्रेक से युक्त अभिनयप्रकार ।

साधारण, स्वरों तथा जातियों की मध्यवर्ती स्थिति; अन्तर ग तथा काकलि नि ।

साधारित, प्राचीन ग्रामरागों में से एक ।

साम, गीति; धुन; गीतियुक्त मन्त्र ।

सामयोनि, साम की आधारभूत ऋचाएँ ।

सारणा, तन्त्रियों को अभीष्ट स्वर में मिलाने की क्रिया ।

सुभद्र, एक विशिष्ट ताल ।

सुषिर, फूत्कार से वादित होने वाला वाद्य।

सूची, करण का एक प्रकार जिसमें सम्भवतः पादाग्र को सुई के समान स्थापित किया जाता है।

सूचीपाद, आकाशचारी का एक प्रकार। द्र० आकाशिकी।

सूचीमुख, नृत्तहस्त का एक प्रकार।

सूचीविद्ध, एक विशिष्ट करण जिसमें सूचीपाद से दूसरे पाद को विद्ध किया जाता है।

स्तोभ, हाऊ, हाइ इत्यादि आलापसूचक अक्षर।

स्तोम, तृच अथवा तीन ऋचाओं का समूह।

स्थान, स्वरोच्चारण के केन्द्र।

'स्थान' स्थानक, नृत्यपूर्वकालीन देहभङ्गिमा।

स्थायी, स्वरों के सम एवं स्थिर रूप का निदर्शक वर्ण। द्र० वर्ण।

स्थित, विलम्बित।

स्थितावर्ता, भौमीचारी का एक प्रकार।

स्निग्ध, कण्ठ का विशिष्ट गुण जिसमें रूक्षता नहीं होती है।

स्यंदिता, भौमीचारी का विशिष्ट प्रकार।

स्रोतोगता, ताल सम्बन्धी यति का विशिष्ट प्रकार।

स्वरित, उच्च तथा नीच स्वर का समाहार; मध्यस्वर।

स्वरितक, नृत्तहस्त का एक प्रकार।

हरिणप्लुता, आकाशचारी का विशिष्ट प्रकार।

हरिणप्लुत, १०८ करणों में से एक।

हल्लीसक, सामूहिक नृत्य का एक प्रकार।

हंसपक्ष, असंयुत हस्त की एक क्रिया।

हंसास्य, ,, ,, ,, ।

हिंकार, सामगान के प्रारम्भ में हिम्, हुम् आदि शब्दों से मूल स्वर लगाने की क्रिया।

अनुबन्ध ३

चित्रावली
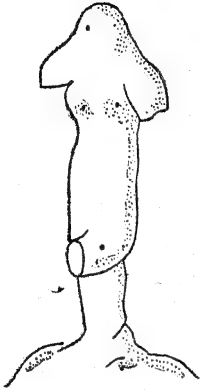
चित्र १ : पृ० १५
(हरप्पा में उपलब्ध नर्तकमूर्ति)
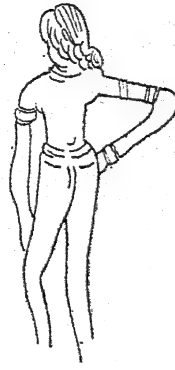
चित्र २ : पृ० १५
(मोहनजोदड़ो की कांस्य-मूर्ति)
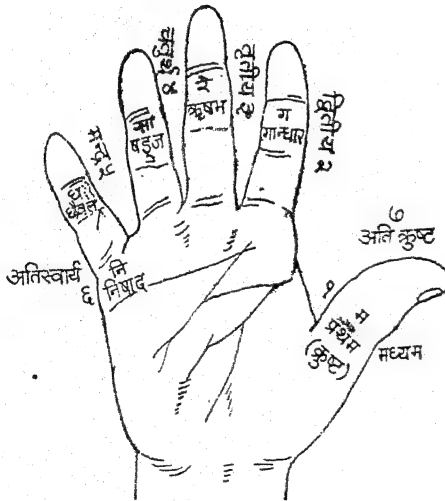
चित्र ३ : पृ० ९१ (सामगायकों की गात्रवीणा)
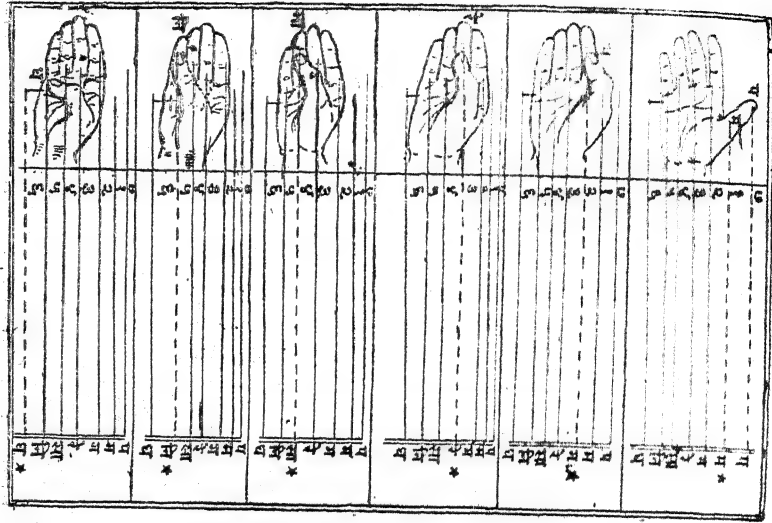
चित्र ४ : पृ० १२३ (सामवेदियों की गात्रवीणा पर स्वरस्थापना)

चित्र ५ अ : पृ० २३२ (एलिफन्टा की ताण्डव मूर्ति)

चित्र ५ आ : पृ० २३४ (चिदम्बरम् मन्दिर में स्थित नटराज की कांस्यमूर्ति)

(ई० १०–११)

चित्र ६ : पृ० २४२ (संगीतरत गन्धर्व परिवार-अजंता)

चित्र ७ : पृ० २५८ (भारहुत का संगीत दृश्य)

चित्र ८ : पृ० २५८ (सांची)

चित्र ८ अ : पृ० २५८ (सांची में उत्कीर्ण वाद्य-वृन्द)

चित्र ९ : पृ० २५८ (सांची)

चित्र १० : पृ० २५८
(भारहुत)

चित्र ११ : पृ० २५८
(भारहुत)

चित्र १२ : पृ० २५८
(भारहुत)

चित्र १३ : पृ० २५८ तथा ३८७ (अमरावती) चित्र १४ : पृ० २५८ (भारहुत)

चित्र १५ : पृ० २५९ (अजंता)

चित्र १६ : पृ० ३८७ (मैसूर)

चित्र १६ अ : पृ० ३८१ (अजंता)
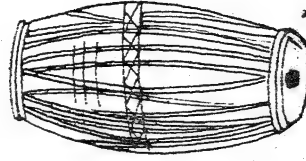
चित्र १७ : पृ० ३८८ यवाकृति (मृदंग)
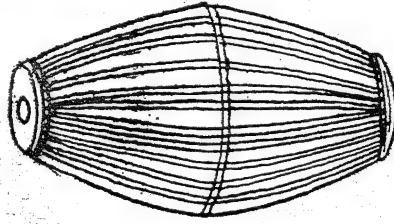
चित्र १८ : पृ० ३८८ (हारीतकी मृदंग)
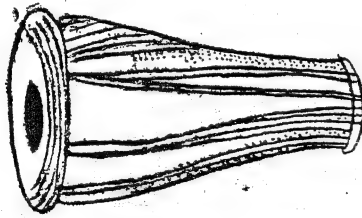
चित्र १९ : पृ० ३८८ (गोपुच्छाकृति-मृदंग)

चित्र २० : पृ० ४०१ झांझ
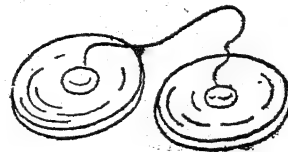
चित्र २१ : पृ० ४०१ (कास्यताल)

चित्र २२ : पृ० ४२१ (पताक)

चित्र २३ : पृ० ४२१ (त्रिपताक)

चित्र २४ : पृ० ४२१ (कर्तरीमुख)
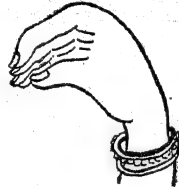
चित्र २५ (अर्धचन्द्र)

चित्र २६ (अराल)

चित्र २७ (शुकतुण्ड)

चित्र २८ (मुष्टि)
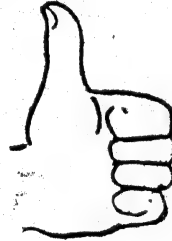
चित्र २९ (शिखर)

चित्र ३० (कपित्थ)

चित्र ३१ (कटकामुख)

चित्र ३२ (सूचीमुख)

चित्र ३३ (पद्मकोश)
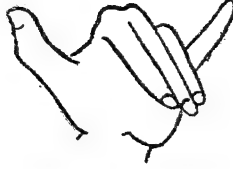
चित्र ३४ (सर्पशीर्षक)
चित्र ३५ (मृगशीर्ष)
चित्र ३६ (लांगुल कांगुल)
चित्र ३७ उत्पलपद्म (अलपद्म)
चित्र ३८ (चतुर)
चित्र ३९ (भ्रामर)
चित्र ४० (हंसास्य)
चित्र ४१ (हंसपक्ष)
चित्र ४२ (सन्दश)
चित्र ४३ (मुकुल)
चित्र ४४ (ऊर्णनाभ)
चित्र ४५ (ताम्रचूड)
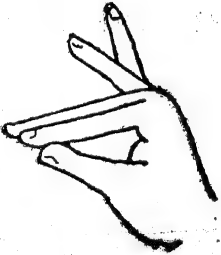
चित्र ४६ (अंजलि)

चित्र ४७ (कपोत)

चित्र ४८ (कर्कट)

चित्र ४९ : पृ० ४२१ (पुष्पपुट)

चित्र ५० : पृ० ४२१ (नलिनी पद्म कोश)

चित्र ५१ : पृ० ४२५ भुजङ्गत्रासितम्
(चिदम्बरम्)

चित्र ५२ : पृ० ४२७ भुजङ्गत्रस्तरेचितम्
(चिदम्बरम्)
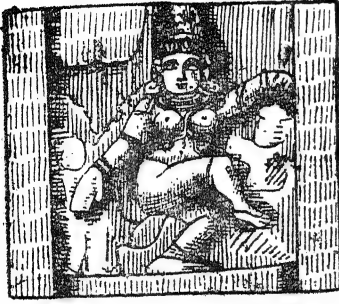
चित्र ५३ : पृ० ४२७ भुजङ्गाञ्चितकम्
(चिदम्बरम्)

चित्र ५४ : पृ० ४२८ ललाटतिलक
(चिदम्बरम्)

चित्र ५५ : पृ० ४७५ (अजंता)
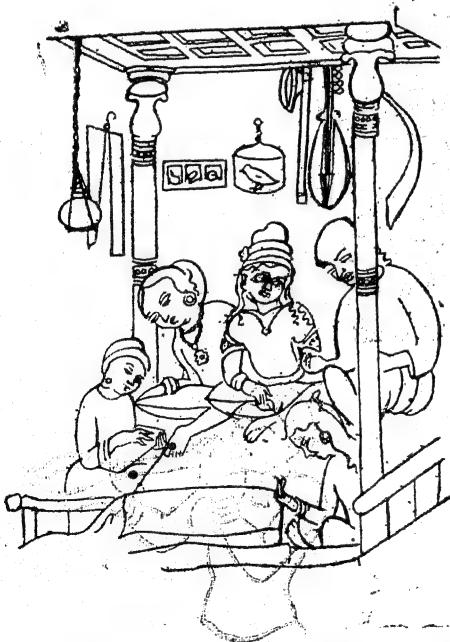
चित्र ५६ : पृ० ४७८ (अजंता)

चित्र ५७ : पृ० ४७८ (अमरावती)

चित्र ५८ : पृ० ४७८ (नागार्जुनकुण्ड)

चित्र ५९ : पृ० ४७८ (अमरावती)

चित्र ६० : पृ० ४७८ (अमरावती

चित्र ६१ : पृ० ४७८
(अमरावती)

चित्र ६२ : पृ० ४८२
(महाराज समुद्रगुप्त की वीणावादिनी मुद्रा)

चित्र ६३ : पृ० ४८२
(अमरावती)

चित्र ६४ : पृ० ४८४
(अंक्य)

चित्र ६५ : पृ० ४८४
(आलिंग्य)
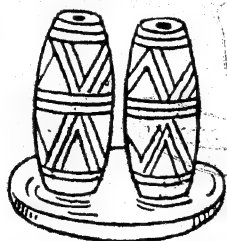
चित्र ६६ : पृ० ४८४
(ऊर्ध्वक)

चित्र ६७ : पृ० ४८५
(दरा कोटा का गुप्त कालीन मन्दिर)

चित्र ६८ : पृ० ४८५ (अजंता)

चित्र ६९ : पृ० ४८५–८६ (पवैया-ग्वालियर)

चित्र ७० : पृ० ४८६ (वाघ गुफा)

चित्र ७१ : पृ० ४८६ (अजंता)

सहायक ग्रन्थों की सूची

(सा) संस्कृत, पाली तथा अपभ्रंश ग्रन्थ ।
(रि) हिन्दी, मराठी तथा बङ्गला ग्रन्थ ।
(ग) अंग्रेजी ग्रन्थ ।
(म) पत्र-पत्रिकाएँ ।

(सा) संस्कृत, पाली तथा अपभ्रंश ग्रंथ

१ ऋग्वेद : (अ) स्वाध्याय मण्डल प्रकाशन, (आ) व्यंकटभाष्यसहित—डा० लक्ष्मणस्वरूप, (इ) सायणभाष्य सहित—मैक्समुलर, (ई) मराठी अनुवाद सहित—घुले ।
२ शुक्ल यजुर्वेद : (अ) माध्यंव उवटमहीधरभाष्यसहित, नि० सा० प्रेस, (आ) काण्व सायणभाष्य, चौखम्बा ।
३ कृष्ण यजुर्वेद : (अ) सायणभाष्य, आनन्दाश्रम, (आ) भट्टभास्करभाष्य, मैसूर ।
४ सामवेद : (अ) सायणभाष्यसहित, पं० सत्यव्रत सामश्रमी, (आ) भाष्यद्वयसहित, के० राजा, (इ) स्वाध्याय मण्डल प्रकाशन ।
५ अथर्ववेद : (अ) स्वाध्याय मण्डल प्रकाशन, (आ) सायणभाष्यसहित, काशीनाथ पंडित, बम्बई, (इ) अंग्रेजी अनुवाद, ग्रिफिथ ।
६ शतपथ ब्राह्मण ।
७ गोपथ ब्राह्मण : सं० जीवानन्द विद्यासागर ।
८ ऐतरेय ब्राह्मण ।
९ तैत्तिरीय ब्राह्मण ।
१० पंचविंश ब्राह्मण : अंग्रेजी अनुवाद—डा० कैलेण्ड, (अ) तांड्य महाब्राह्मण, सं० आनन्दचन्द्र वेदान्तवागीश ।
११ षड्विंश ब्राह्मण : सं० जीवानन्द विद्यासागर ।
१२ सामविधान ब्राह्मण : (अ) सं० सामश्रमी, (आ) सं० डा० बर्नेल ।
१३ आर्षेय-ब्राह्मण : (अ) सं० सामश्रमी, (आ) सं० डा० बर्नेल ।
१४ जैमिनीय ब्राह्मण : सं० डा० रघुवीर, लाहौर ।
१५ संहितोपनिषद् ब्राह्मण : सं० डा० बर्नेल ।
१६ वंश ब्राह्मण : सं० डा० बर्नेल ।
१७ शांखायन ब्राह्मण ।

१८ मन्त्र ब्राह्मण :
१९ अष्टाविंशोत्तरशतोपनिषत् : नि० सा० प्रेस, बम्बई।
२० छान्दोग्य उपनिषद् : (अ) सं० भिडे, (आ) सं० भानु, (इ) गीताधर्म, उपनिषदांक।
२१ बृहदारण्यक : शङ्करटीकासहित, सं० माधवानन्द, अद्वैताश्रम, अलमोडा।
२२ धर्मकोश : मन्त्र, ब्राह्मण तथा उपनिषद् खण्ड। सं० लक्ष्मण शास्त्री जोशी।
२३ लाट्यायन श्रौतसूत्र : (अ) एशियाटिक सोसायटी, बंगाल, (आ) चौखम्बा।
२४ द्राह्यायण श्रौतसूत्र : धन्विटीकासहित, सं० डा० रघुवीर।
२५ गोभिल गृह्यसूत्र : सं० सामश्रमी, कलकत्ता।
२६ पंचविध सूत्र : सं० रिचर्ड सायमन।
२७ पुष्पसूत्र : अजातशत्रुभाष्यसहित, सं० चौखम्बा, बनारस।
२८ ऋग्वेद प्रातिशाख्य : उवटभाष्यसहित, सं० डा० मंगलदेव शास्त्री।
२९ ऋक्तन्त्र : सं० सूर्यकान्त शास्त्री, लाहौर।
३० तैत्तिरीय प्रातिशाख्य : (अ) त्रिभाष्यरत्नटीकासहित, सं० बिब्लिओथैका इण्डिका, (आ) माहिषेयभाष्यसहित, सं० मद्रास विश्वविद्यालय।
३१ अथर्व प्रातिशाख्य : सं० डा० विटने।
३२ पाणिनीय शिक्षा : सं० मनमोहन घोष।
३३ याज्ञवल्क्य शिक्षा :
३४ नारदी शिक्षा : (अ) सं० दत्तात्रेय शास्त्री, (आ) शोभाकरव्याख्यासहित, सं० दीक्षित, मैसूर, १९४६।
३५ माण्डूकी शिक्षा : (अ) सं० भगवद्दत्त, होशियारपुर, (आ) बनारस संस्कृत सि०।
३६ कौहली शिक्षा : सं० साधूराम, लाहौर।
३७ शिक्षा संग्रह : काशी संस्कृत सीरीज, १८९३।
३८ शौनकीय बृहद्देवता : सं० मैकडोनेल।
३९ शौनकीय चरणव्यूह : हस्तलिखित प्रति।
४० निरुक्त (निघण्टुसहित) : सं० प्रो० राजवाडे।
४१ कामसूत्र : (अ) सं० दामोदरलाल गोस्वामी, चौखम्बा, (आ) सं० दुर्गाप्रसाद, जयपुर।
४२ अर्थशास्त्र : सं० डा० शामशास्त्री, मैसूर, १९५६।
४३ अर्थपादसूत्र : सं० डा० बापट।
४४ मनुस्मृति (सटीक) : बम्बई संस्करण।

४५ याज्ञवल्क्यस्मृति (सटीक) बम्बई संस्करण ।
४६ स्मृतीनां समुच्चय : (सटीक) आनन्दाश्रम संस्करण ।
४७ अष्टाध्यायी : पाणिनि ।
४८ महाभाष्य (पतञ्जलि) : (अ) सं० शिवदत्त, १९३५, (आ) सं० अभ्यंकर, मराठी अनुवाद ।
४९ काशिका :
५० बुद्धचरित :
५१ सौन्दरानन्द :
५२ ललितविस्तर : सं० डा० वैद्य ।
५३ जातकमाला :
५४ जातकग्रन्थ :
५५ मिलिन्दपण्ह :
५६ ठाणांग सुत्त : अभयदेवव्याख्यासहित, सं० आगमोदय समिति ग्रन्थमाला क्र० ५३ ।
५७ अनुयोगदार सुत्त : हेमचन्द्रव्याख्यासहित, सं० आगमोदय समिति ग्रंथमाला।
५८ रायापसेणीय सुत्त : सं० वेचरदास ।
५९ आवश्यकवृत्ति : हरिभद्रकृत, सं० जैन पुस्तकोद्धार ग्रन्थमाला, क० ५३ ।
६० बृहत्कल्पसूत्र भाष्य : " " " " " ६१ ।
६१ रामायण : (अ) बम्बई प्रकाशन, तिलकटीकासहित, १९०१,.(आ) दयानन्द म० वि० ग्रन्थमाला, लाहौर, (इ) रामनारायणलाल, प्रयाग ।
६२ महाभारत : बम्बई संस्करण ।
६३ संक्षिप्त महाभारत : सं० वैद्य ।
६४ नाट्यशास्त्र : (अ) काशी संस्करण, (आ) काव्यमाला संस्करण, (इ) बड़ौदा संस्करण, (ई) सं० मनमोहन घोष, अंग्रेजी अनुवाद सहित ।
६५ अभिनवभारती : (अ) बड़ौदा संस्करण, सं० प्रो० रामकृष्ण कवि, (आ) मद्रास हस्तलिखित संस्करण, (इ) पूना संस्करण, अ० २८ से आगे ।
६६ अभिनयदर्पण : (अ) सं० मनमोहन घोष, कलकत्ता, १९३४, (आ) सं० के० के० कुमारस्वामी, हारवर्ड युनि० संस्करण, १९१७ ।
६७ वायुपुराण : आनन्दाश्रम संस्करण ।
६८ मार्कण्डेयपुराण : (अ) आनन्दाश्रम संस्करण, (आ) सं० पंचानन तर्करत्न, कलकत्ता ।
६९ हरिवंशपुराण : बम्बई संस्करण ।

७० चतुर्भाणी : पटना संस्कृत सीरीज ।
७१ शूद्रककृत मृच्छकटिक : निर्णयसागर संस्करण ।
७२ कालिदास के समस्त ग्रन्थ : मालविकाग्निमित्र, सं० साने, गोडवोले ।
७३ बाणभट्टकृत कादम्बरी : बम्बई संस्करण ।
७४ दत्तिलम् : त्रिवेन्द्रम संस्करण ।
७५ बृहद्देशी : ,, ,, ।
७६ रुद्रडमरुद्भवसूत्रविवरण : प्रकाशित 'न्यू एन्टिक्वरी', १९४३ तथा 'जर्नल आफ् मद्रास म्यूजिक अकडेमी', १९ में ।
७७ नान्यदेवकृत भरतभाष्य : भाण्डारकर प्राच्य ग्रन्थसंग्रह में संग्रहीत हस्तलिखित ।
७८ संगीतरत्नाकर (सटीक) : (अ) आनन्दाश्रम तथा (आ) अड्यार संस्करण।
७९ पार्श्वदेवकृत संगीत समयसार ।
८० औमापतम् : सं० वासुदेव शास्त्री, तन्जोर ।
८१ वामनकृत काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ।
८२ राजशेखरकृत काव्यमीमांसा : बड़ौदा संस्करण ।
८३ दशरूपक : काशी संस्करण ।
८४ भावप्रकाश : बड़ौदा संस्करण ।
८५ कुट्टिनीमत ।
८६ जैमिनीकृत मीमांसादर्शन : आनन्दाश्रम संस्करण ।
८७ प्राकृत व्याकरण : वररुचिकृत ।
८८ अपभ्रंश व्याकरण : हेमचन्द्रकृत ।
८९ वैदिक पदानुक्रमकोश : सं० विश्वबन्धु ।
९० वैदिक कोश : सं० हंसराज ।
९१ भट्टभास्करकृत वैदिक कोश : नि० सा० प्रेस प्रकाशन ।

(रि) हिन्दी, मराठी तथा बंगला ग्रन्थ

१ वैदिक साहित्य : प्रो० बलदेव उपाध्याय ।
२ संस्कृत साहित्य का इतिहास : प्रो० बलदेव उपाध्याय पंचम संस्करण ।
३ वैदिक साहित्य : पं० रामगोविन्द त्रिवेदी ।
४ हिन्दू सभ्यता : राधाकुमुद मुकर्जी (हिन्दी अनुवाद डा० अग्रवाल) ।
५ प्राचीन भारतीय वेशभूषा : डा० मोतीचन्द्र ।
६ प्राचीन भारतीय सिक्के : श्री० उपाध्याय ।
७ गुप्तकालीन मुद्राएँ : डा० अलतेकर ।
८ प्राङ्मौर्य बिहार : डा० त्रिवेद ।

९ हर्षचरित, सांस्कृतिक अध्ययन : डा० अग्रवाल ।
१० प्राचीन भारत का कलाविनोद : डा० द्विवेदी ।
११ प्रणवभारती : पं० ओम्कारनाथ ।
१२ संगीतशास्त्र : के० वासुदेव शास्त्री ।
१३ ध्वनि और संगीत : प्रो० ललितकिशोर सिंह ।
१४ भरतसंगीत : प्रो० कैलाशचन्द्र देव ।
१५ भारतवर्षीय प्राचीन चरित्रकोश : सं० चित्राव शास्त्री, पूना ।
१६ महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश : सं० डा० केतकर ।
१७ केकावलि भाष्य : सं० प्रो० श्री० वि० परांजपे, वर्धा ।
१८ ऋग्वेदाचा संदेश : लेखक अप्रबुद्ध ।
१९ वेदांतील गोष्टी : वि० कृ० श्रोत्रिय ।
२० जातकांतील निवडक गोष्टी, भाग १ : चिं० वि० जोशी, बड़ौदा ।
२१ संगीतशास्त्र भाग १–४ : पं० वि० ना० भातखण्डे ।
२२ संगीताचें प्राचीन स्वरूप : श्री० श्रौताचार्य बापट, पूना ।
२३ भारतीय संगीत : प्रो० मुले ।
२४ संगीताचें आत्मचरित्र : प्रो० रानडे ।
२५ भारतीय नाट्यशास्त्र : कु० गोदावरी केतकर ।
२६ संगीत ओ संस्कृति : श्री० प्रज्ञानानन्द, कलकत्ता ।
२७ राग ओ रूप : श्री० प्रज्ञानानन्द, कलकत्ता ।

(ग) अंग्रेजी ग्रन्थ

१ वैदिक इन्डेक्स : मैकडोनेल एण्ड कीथ ।
२ वैदिक ग्रामर : मैकडोनेल ।
३ सोर्सेस् आफ इण्डियन हिस्टरी, क्वाइन्स एट्सेटरा : भाग १, रैपसन ।
४ केम्ब्रीज हिस्टरी आफ् इण्डिया : भाग १, रैपसन ।
५ हेरीटेज आफ् इण्डिया : मैक्सम्यूलर ।
६ सिविलिजेशन आफ् एनशेन्ट इण्डिया : लुई रेनू ।
७ वैदिक बिब्लियाग्राफी । डा० दान्डेकर ।
८ कान्ट्रिब्यूशन टु ए बिब्लियाग्राफी आफ् इण्डियन आर्ट एन्ड ईस्थेटिक्स : हरिदास मित्र ।
९ राक-कट् टेम्पल्स आफ् इण्डिया : फर्ग्यूसन ।
१० आर्ट आफ् इण्डिया थ्रू दि एजेस : स्टेला क्रेमरिश ।
११ भरहुत स्तूप : कनिंघम ।

१२ हैण्डबुक आफ् स्कल्पचर्स इन मथुरा म्यूजियम : डा० अग्रवाल ।
१३ क्लासिकल इण्डियन स्कल्पचर : चिन्तामणि कार ।
१४ स्कल्पचर इन्स्पायर्ड बाय कालिदास : सी० शिवराम मूर्ति; मद्रास ।
१५ हिस्टरी आफ् दि डेक्कन, व्हाल्यूम १, पार्ट ८ : याजदानी एण्ड अदर्स ।
१६ गन्धर्वाज एण्ड किन्नराज इन इण्डियन आयकोनोग्राफी : पंचमुखी ।
१७ कैटेलाग आफ् म्यूजिकल : इन्स्ट्रूमेन्ट्स इन कलकत्ता म्यूजियम ।
१८ डिस्क्रिप्टिव्ह कैटेलाग आफ् संस्कृत मैनस्क्रिप्ट : व्हाल्यू० १, पार्ट १, शेषगिरिशा० ।
१९ महेन्जोदारो एण्ड इण्डस व्हेली सिविलिजेशन : मार्शल ।
२० अर्ली इण्डस सिविलिजेशन : मैके ।
२१ प्रीहिस्टारिक इण्डिया : स्टुअर्ट पिगाट ।
२२ प्रीहिस्टारिक सिविलिजेशन आफ् इण्डस व्हेली : के० एन० दीक्षित ।
२३ इण्डिया इन दी सिक्स्थ सेन्चुअरी बी० सी० : आर० एल० मेहता ।
२४ बुधिस्ट इण्डिया : रिस् डेव्हिड्स् ।
२५ एन्शण्ट इण्डिया ऐज डिपिक्टेड बाय मेगास्थनीज एण्ड एरियन : मेक्सक्रिण्डस् ।
२६ लाइफ इन एन्शण्ट इण्डिया ऐज डिपिक्टेड इन जैन केवन्स : डा० जे० सी० जैन ।
२७ इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि : डा० वि० एस० अग्रवाल ।
२८ इण्डिया इन पतंजलि : डा० पुरी ।
२९ सोशल लाइफ् इन एन्शण्ट इण्डिया : एच० सी० चकलादार ।
३० हेलनिजम इन एन्शण्ट इण्डिया : जी० एन० बेनर्जी ।
३१ प्रीहिस्टारिक साउथ इण्डिया : वि० आर० रामचन्द्र दीक्षितार ।
३२ तामिल्स एटीन हण्ड्रैड यिअर्स अगो : वि० कनकाक्षभाई ।
३३ सिलप्पद्दिकारम् अंग्रेजी अनुवाद : वि० आर० आर० दीक्षित ।
३४ स्टडीज इन रामायण : के० एस० रामस्वामी शास्त्री ।
३५ कल्चरल हिस्टरी फ्राम दि वायुपुराण : डी० आर० पाटिल ।
३६ सम आस्पेक्ट्स् आफ् वायुपुराण : डि० आर० आर० दीक्षितार ।
३७ पुराणाज : विल्सन ।
३८ इण्ट्रोडक्शन टु ऋग्वेद बाय सायन : सं० पशुपतनाथ शास्त्री ।
३९ इण्डिया इन कालिदास : डा० बी० एस० उपाध्याय ।
४० हिस्टरी आफ् धर्मशास्त्र : डा० पी० वी० काणे ।
४१ हिस्टरी आफ् संस्कृत पोएटिक्स : डा० पी० वी० काणे ।
४२ हिस्टरी आफ् क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर : कृष्णमाचार्य ।

४३ हिस्टरी आफ् संस्कृत लिटरेचर : डा० कीथ।
४४ हिस्टरी आफ् इण्डियन लिटरेचर : विण्टरनिज।
४५ टाइप्स आफ् संस्कृत ड्रामा : डी० आर० मंकड।
४६ ड्रामा इन संस्कृत लिटरेचर : जागिरदार।
४७ दि नम्बर आफ् रसाज् : डा० राघवन्।
४८ संस्कृत लिटरेचर एण्ड आर्ट : आर्कियालाजिकल सर्वे आफ् इण्डिया शिवराममूर्ति।
४९ अभिनवगुप्त, हिस्टारिकल एण्ड फिलासफिकल स्टडी : डा० के० सी० पाण्डेय।
५० कुडिमियमलाई इन्स्क्रिप्शन : प्रकाशित भाण्डारकर प्राच्यपत्रिका, पूना में।
५१ इण्डियन कल्चरल इन्फ्लुएन्स इन कम्बोडिया : डा० वी० आर० चटर्जी।
५२ सम् कान्ट्रिब्यूशन आफ् साउथ इण्डिया टु इण्डियन कल्चर : आयंगर।
५३ ऐतरेय ब्राह्मण आफ् ऋग्वेद : प्रो० हौग।
५४ फोनैटिक्स इन एन्शण्ट इण्डिया : डब्लू० एस० ऐलेन।
५५ वैदिक आक्टेवह् : सं० आर० सत्यनारायण, मैसूर।
५६ वैदिक चैण्ट स्टडीड इन इट्स टेक्स्चुअल एण्ड मेलिडक फार्म : जे० एम० हूट।
५७ एन्शण्ट मोड आफ् सिंगिग सामगान : लक्ष्मणशास्त्री द्रविड, पूना।
५८ म्यूजिक आफ् हिन्दुस्थान : फाक्स स्ट्रैन्गवेज।
५९ म्यूजिक आफ् इण्डिया : पोपलै।
६० इण्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी आफ् म्यूजिकल स्केल्स् : एलां डैनेल्यू।
६१ नार्दर्न इण्डियन म्यूजिक : एलां डैनेल्यू।
६२ हिन्दू म्यूजिक फ्राम व्हेरियस आथर्स : राजा एस० एम० टागोर।
६३ ओरिजिन आफ् म्यूजिक : वाल्डीवोन।
६४ रागाज् एण्ड रागिणीज् : ओ० सी० गांगुली।
६५ हिस्टारिकल डेवेलपमेण्ट आफ् इण्डियन म्यूजिक : श्री० प्रज्ञानानन्द।
६६ म्यूजिक आफ् ओरियण्ट एण्ड आक्सीडेण्ट : मार्गरेट कजिन्स।
६७ डान्सेस् आफ् इण्डिया : रागिणी देवी।
६८ सायकालोजी आफ् म्यूजिक : श्री० कृष्णराव।

(म) पत्र-पत्रिकाएँ

१ संगीत : हाथरस।
२ संगीतकलाविहार : बम्बई।

३ लक्ष्यसंगीत : बम्बई ।
४ भारतीय संगीत : पूना ।
५ जरनल आफ् म्यूजिक अकादमी : मद्रास । जम्यूअम ।
६ एनल्स आफ् भाण्डारकर इन्स्टिट्यूट : पूना ।
७ कमिमोरेशन वाल्यूम्स ।
८ एशियाटिक रिसर्चेज : सर विलियम जोन्स ।
९ पूना ओरियण्टलिस्ट ।
१० जरनल आफ् ओरियण्टल रिसर्च : मद्रास ।
११ जरनल आफ् दि प्रिन्सेस आफ् वेल्स : सरस्वती भवन स्टडीज ।
१२ वाल्यूम आफ् इण्डियन एण्ड इरानियन स्टडीज : कत्रे एण्ड गोडे ।
१३ क्वार्टर्ली जरनल आफ् आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसाइटी ।
१४ जनरल आफ् बाम्बे ब्रान्च आफ् रायल एशियाटिक सोसायटी ।
१५ इण्डियन एण्टीक्वरी ।
१६ इण्डियन कल्चर ।
१७ कल्चरल हैरिटेज आफ् इण्डिया ।
१८ प्रबुद्ध भारत, १९४४ ।
१९ आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेन्स की पत्रिकाएँ ।
२० कल्याण : शिव तथा शक्ति विशेषांक ।

॥ इति ॥